आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतो दब्धासो अपरीतासं उद्भिदः ।
देवा नो यथा सदमिद् वृधे असन्न प्रायुवो रक्षितारो दिवे दिवे ।।
देवानां भद्रा, सुमतिर्ऋजूयतां देवानां रातिरभि नो निवर्तताम् ।
देवानां सख्यमुप सेदिमावयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे ।।2।।
(ऋक० 1/89)

(हमें प्राप्त हो जन-समाज की बाधा-धोखा-हीन भावना ।
और करें मंगल भावों से हम समाज-कल्याण कामना ।
शुभ कर्मों में देव-गणों का नित्य अभय-आशीष प्राप्त हो ।
रहें लक्ष्य की ओर अग्रसर, प्रगति हमारी दिशा व्याप्त हो ।
सरल मार्ग से जाने वाले देवों का निर्देशन पाकर,
दीर्घ आयु हों, पूरा जीवन जियें, सुमति के पथ पर चलकर) ।

—वशीर अहमद मयूख

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

सत्यमेव जयते

वर्ष : 27 जनवरी--मार्च, 1985 अंक : 78

...कृतिक विचारों की प्रतिनिधि
त्रैमासिक पत्रिका

(...ष्म, पावस, शरद और हेमन्त में प्रकाशित)

...—पाठक अपनी प्रतिक्रिया, सुझाव भी भेज सकते हैं। हम उनका स्वागत करेंगे । संक्षेप में अपने रोचक और मौलिक विचार, संस्मरण, यात्रा वर्णन भेजिए जिसमें देश-विदेश की संस्कृति की झांकी मिलती हो।

पत्र-व्यवहार का पता

सम्पादक--"संस्कृति"
शिक्षा मंत्रालय,
कमरा नं० 327, शास्त्री भवन,
सी-खण्ड,
नई दिल्ली-110 001
टेलीफोन नं० : 384151

वार्षिक चन्दा--बारह रुपये
एक प्रति--तीन रुपया

इस अंक में

पृष्ठ
59
63
65
68
71
72
75
77
81
83
85
88
90
92
93

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

वर्ष : 27 जुलाई--सितम्बर, 1985 अंक : 80

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि त्रैमासिक पत्रिका

(ग्रीष्म, पावस, शरद और हेमन्त में प्रकाशित)

पत्र-व्यवहार का पता

सम्पादक--"संस्कृति"
शिक्षा मंत्रालय,
कमरा नं० 327, शास्त्री भवन, सी-खण्ड,
नई दिल्ली-110 001
टेलीफोन नं० : 38415

वार्षिक चन्दा--बारह रुपये
एक प्रति--तीन रुपये

इस अंक में पृष्ठ

संस्कृति

प्राच्या नव्या विलसतुतरां संस्कृतिर्भारतीया

वर्ष : 27 शरत्, 1985 (अक्तूबर---दिसम्बर, 1985) अंक : 4

सांस्कृतिक विचारों की प्रतिनिधि त्रैमासिक पत्रिका

(हेमन्त, ग्रीष्म, पावस तथा शरत् में प्रकाशित)

सम्पादक : जगदीश प्रसाद

सहयोगः पृथ्वीराज हांडा, भारत भूषण जेतली

पत्र-व्यवहार का पता

सम्पादक---"संस्कृति"
मानव संसाधन विकास मंत्रालय
(शिक्षा विभाग)
कमरा नं० 327, शास्त्री भवन, सी-खण्ड,
नई दिल्ली-110001
टेलीफोन नं० : 384151

एक प्रति---तीन रुपये
वार्षिक चन्दा---बारह रुपये

इस अंक में पृष्ठ

पृष्ठ

बृहत्तर भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति की सामासिकता--एकता में अनेकता

भारतीय लोक जीवन

"संस्कृति" इस अंक से "बहुमूल्य" हो गई है। इसका उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। हमें विश्वास है कि आपका समर्थन, सहयोग और आशीर्वाद पाकर यह प्रगति करती रहेगी। इसलिए भी कि यह हमारी और आपकी, हर भारतीय की, "संस्कृति" है।

इसका रूप, कलेवर, साज-सज्जा, विषयवस्तु अधिक रुचिकर, आकर्षक और सूचनाप्रद हो, इसके लिए हम प्रयत्न करते रहे हैं। इसमें क्या-क्या सामग्री दी जा सकती है, किन-किन विषयों पर (सम्भव हो तो) विशेषांक निकाले जा सकते हैं, उसके लिए किन-किन विद्वानों से संपर्क करना चाहिए–इन सब के बारे में आपके सुझावों की हम प्रतीक्षा करते रहते हैं। लेखकों को मानदेय अथवा पारिश्रमिक की दरें भी हमने बढ़ाई हैं। उनके द्वारा टाइप पर और चित्रों आदि पर हुए खर्च की भी यथोचित प्रतिपूर्ति की जाने लगी है। परन्तु अभी भी हम इतना नहीं कर पा रहे हैं, जितना हम चाहते हैं। सरकार की अपनी सीमाएं हैं। हमें विश्वास है कि विद्वत्-गण केवल इस आधार पर, "संस्कृति" को स्नेहदान करना कम न करेंगे। इसका प्रकाश, उनके माध्यम से, साथ ही हिन्दी भाषा के माध्यम से, आलोक देता रहे यही हमारी आकांक्षा है।

अब आइए इस अंक पर। लोक सभा के पिछले चुनाव से, संसार के सबसे बड़े और सबसे प्राचीन लोकतंत्र ने एक बार फिर स्वयं में अन्तर्निहित शक्तियों का परिचय दिया है। देश की अखंडता और एकता के लिए सतत् जूझती शक्तियों को अवलम्ब प्रदान किया है। साथ ही, नये प्रधान मंत्री श्री राजीव गांधी द्वारा "संस्कृति विभाग" को अपने पास रखना इस बात का प्रमाण है कि वे भारतीय संस्कृति को कितना महत्व देते हैं। "संस्कृति" परिवार उनका अभिनंदन करता है।

भारत की पुरातन संस्कृति में सब कुछ अच्छा ही था और आधुनिक संस्कृति में ऐसा कुछ नहीं है—हम नहीं मानते। परन्तु

"संतः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः
सत्पुरुष नये पुराने की परीक्षा करके दोनों में से जो
गुणयुक्त होता है, उसको ग्रहण करते हैं;
मूढ़ की बुद्धि तो दूसरे के ज्ञान से ही संचालित होती है)

फिर भी बहुत कुछ अच्छा था जो अभी भी हमारे लिए उपादेय है, वरेण्य है—आखिर "कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी, सदियों रहा है दुश्मन, दौरे जमां हमारा"। उसी प्राचीन भारतीय संस्कृति के कुछ पक्षों की झलकियां इस अंक में आपके सामने प्रस्तुत हैं; झरोखे अतीत के हैं।

भारतीय जनमानस पर बौद्ध धर्म की अमिट छाप है। बुद्ध के उपदेश और उनका जीवनदर्शन हमारी संस्कृति की गहराई में उतर कर उसका अभिन्न अंग बन चुका है। "विपश्यना" की संकल्पना के बारे में कल्याणमित्र श्री सत्यनारायण गोयनका और श्री यशपाल जैन के दो लेख आपको विस्तार से बताएंगे। इनके लिए श्री यशपाल जैन जी के साथ-साथ, सयाजी ऊबा खिन मेमोरियल ट्रस्ट, बंबई के भी हम आभारी हैं।

भारत की अनेक प्राचीन विद्याएं, धीरे-धीरे या तो विलुप्त हो गई या कुछ इने-गिने व्यक्तियों तक सीमित रह गई। इनका पुनरुद्धार तभी संभव है जब ऐसी विद्याओं की ओर अपेक्षित ध्यान दिया जाये। डा. रामकृष्ण शर्मा के लेख (हमारी कुछ उपेक्षित विद्याएं) में कुछ ऐसी विद्याओं पर चर्चा की गई है। इन सब के साथ कुछ अन्य लेख, इन्द्रधनुषी रंग में, आशा है आपको रुचिकर लगेंगे।

''संस्कृति'' आपकी अपनी पत्रिका है, प्रबुद्ध वर्ग की पत्रिका है। पत्रिका ही नहीं, एक मंच भी है। केवल एक पत्रिका, और एक मंच, न रहकर यह स्वयं में एक संस्कृति बन जाए--क्या यह संभव हो पाएगा? यदि हां, तो कैसे?

''संस्कृति'' में छपे लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के व्यक्तिगत विचार हैं, भारत सरकार के नहीं।

सामग्री के प्रकाशन के विषय में संपादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा। अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है।

चुनी हुई रचनाओं के छपने में समय लगता है। अतः रचनाओं के बारे में अनावश्यक पत्राचार नहीं किया जाता।

प्राप्ति स्थल

सहायक शिक्षा सलाहकार (प्रकाशन)

शिक्षा मंत्रालय, ए. एफ. ओ. हटमेन्ट्स,

डा. राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-110001

मूल्य : एक प्रति 3/- रुपए

वार्षिक 12/- रुपए

वैदिक संस्कृति : विश्व संस्कृति की प्रथम संहिता

प्रकाश परिमल

"ऋग्वेद" इस पृथ्वी पर मानवीय संस्कृति का प्रथम शुभ यज्ञ रहा है। 3000 वर्ष ईसवी पूर्व सारे मानव समाज के श्रेष्ठतर जीवन यापन की कामना की प्रामाणिक टीकाएं हैं ऋग्वेद की ऋचाएं। उससे बेहतर संस्कृति की परिभाषा इस कारण भी दुर्लभ है कि कालान्तर में संस्कृति की पहचान, देशज और राष्ट्रीय होकर सीमित की गयी। विश्व संस्कृति (यूनिवर्सल कल्चर) का एकमात्र लिखित दस्तावेज इस प्रकार ऋग्वेद ही है। यदि हम गौर से देखें तो पता चलता है कि वे यज्ञ स्वयं संस्कृति स्वरूप ही थे। "अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम" (अध्याय 1 सू. 12, अनुवाक 4/ ऋ.) में यज्ञ से समाज जीवन के श्रेष्ठीकरण की कामना जाहिर होती है। और संस्कृति के लिए यज्ञ केवल सीमित मानव कबीलों के लिए नहीं होकर तत्कालीन समाज में पृथ्वी में सदूर रहने वाले मनुष्य मात्र का कल्याण चाहने वाले भद्रजनों के आह्वान को लेकर है (आ नो भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः)। इस अग्नि की साक्षी में ही "त्वमग्ने मनवे द्यामवाशयः पुरुरव से सुकृते सुकृत्तरः। (अ. 1/अनु. 12/सूक्त 3) उस महनीय घटना की स्मृति करायी गयी है, जब वैवस्वत मनु एवं पुरुरवा द्वारा अपने सत्कर्मों के संचय से स्वर्ग तक पहुंचने का सफल यत्न किया गया था। "संस्कृति" को इससे बेहतर ढंग से परिभाषित करने वाले दूसरे संदर्भ दुष्प्राप्य हैं। जीवन की सुकृतिमात्र न होकर "संस्कृति" उसका "सुकृत्तर" रूप है अर्थात् उसमें श्रेष्ठ को श्रेष्ठतर एवं श्रेष्ठतर को लगातार श्रेष्ठतम बनाने की बलवती कामना है किन्तु उन स्मृतियों के माध्यम से ही जिनके बल पर कालान्तर में पूर्वकालों में मनुष्य ने निजी सुकृत कर्मों से मनुष्य को पार्थिव सीमा से उठाकर स्वर्गासीन, अथवा विष्णुपद तक ले जाने की चेष्टा की है और इस पृथ्वी पर सबका कल्याण चाहने वाली यह अद्वितीय चेतना विकसित की : "सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः सर्वे; भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखभाग भवेत्" (सब लोग सुखी हों, सब लोग नीरोग हों, सब लोगों का कल्याण हो, किसी को कोई दुःख कभी न मिले। इस प्रकार विश्व संस्कृति की ही गूंज, भारतीय संस्कृति के गर्भ में है, उसकी पहचान ही एक समष्टिरूप संस्कृति के साथ ही है : विचार एवं कर्म के क्षेत्र में भारतीय संस्कृति का यही योगदान शेष विश्व को है इस संस्कृति के उदार चित्त को, उसकी उदात्तता को, उसके उत्कर्ष को हम सीमाओं में सीमित नहीं कर सकते। अकेली इस संस्कृति के विश्वतोमुखी होने पर हम गौरव का अनुभव करते हैं।

3000 ई. पू. का तत्कालीन हूबहू विदित आलेख होने से, यह स्वयं प्रमाणित है कि उसमें जिन पूर्व स्मृतियों, संदर्भों एवं घटनाओं के संदर्भ हैं वे, भारतीय भूगोल एवं उसके निवासियों के विषय में हैं, इस प्रकार यदि पाश्चात्य पुराविदों की मान्यताओं पर गौर भी करें तो यह पुनः प्रमाणित होता है कि आर्यों के आगमन से पहले यहां एक विकसित सांस्कृतिक परम्परा थी। आर्यों ने इन्हीं के सम्पर्क से इस विराट्रूप सभ्यता एवं संस्कृति का विकास किया। उस संस्कृति का जो एकाकिनी और सीमित नहीं है, बल्कि जिसकी व्याख्या यही कहकर की जा सकती है।

सहस्त्रशीर्षः पुरुषः सहस्त्राक्ष सहस्त्रपाद।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठ दशांगुलम्।।

परब्रह्म की सगुणात्मक व्याख्या के पीछे, तत्कालीन उस विश्व समाज का परिदृश्य भी इस सूत्र में स्पष्टतः निहित है, जो देशकाल की सीमाओं से परे, सम्पूर्ण पृथ्वी के ओर छोर तक फैले भद्र मानव समुदाय के हम विचार सहयोग, एवं सहभागिता के फलस्वरूप जहां यह विराट विश्वचेतना अभिव्यंजित होती हुई देखी गयी है। आर्य अनार्य एवं श्वेत अश्वेत, जाति प्रजातियों की ओछी कल्पनाओं का यहां आरोप तक करना इनकी सामाजिक सांस्कृतिक महत्ता को कम करके आंकना है। भिन्न-भिन्न अंगों के पुरुष रूप समन्वय की यह विराट चेतना यही दर्शाती है कि, जिस तथाकथित संघर्ष एवं टकराव की झूठी कल्पना पाश्चात्य पुराविदों ने की है, वेदों का एक भी सूत्र इस टकराव की सूचना नहीं देता यहां तक कि देवासुर संग्राम की जो लोक गाथा युगों से प्रचलन में है, देव और दस्युओं का यह प्रकृतिमूलक प्रतीकात्मक संघर्ष, सारी पृथ्वी पर प्रच्छन्नरूप से वेदों में वर्णित हुआ है: "ऋग्वेद" के साथ ही साथ" जेन्दअवेस्तां में भी संघर्ष कथाओं का यह रूप एक स्थान विशेष में न होकर पृथ्वी पर सब क्षेत्रों में फैला हुआ दिखाई देता है, आर्य अनार्यों का प्रचारित भेद इस कारण सर्वदा मिथ्या है। आर्य और अनार्य ये दोनों शब्द ही वेदों में जाति या राष्ट्र सूचक अर्थों में कहीं नहीं मिलते।

"कृण्वन्तो विश्वमार्यम्" अपने कृतित्व अपने कर्म पर जिसका प्रसार विश्वभर में है, वैदिक द्रष्टा की आस्था प्रगट होती है। उसकी देशज स्थिति भौगोलिक न होकर, सहकार्मिक थी। वात्स्यायन ने

("भारतीय संस्कृति और विश्व संस्कृति अपने "आलवाल" में संग्रहीत निबंध में लिखा है:—मेरी समझ में इस विषय स्थिति का कारण यह है कि पिछले बीस बरसों में हमारी एक क्षति-पूरक महत्वाकांक्षा ने हमें विश्व संस्कृति की एक मरीचिका का शिकार हो जाने दिया है। कदाचित् यह विश्व राजनीति के मंच का प्रमुख अभियंता होने की महत्वाकांक्षा का ही सांस्कृतिक पहलू रहा। यह नहीं है कि एक विश्व संस्कृति, विश्व-मानव अथवा विश्व-नागरिक का आदर्श इस देश की परंपरा में नहीं रहा। लेकिन वह आदर्श तभी तक प्राणवान् और प्रेरणा देने वाला रहा जब तक कि उसका आधार एक समृद्ध और समर्थ सार्वदेशिक संस्कृति और और एक आत्म विश्वास भरी देशव्यापी सांस्कृतिक भावना रही। वैदिक काल का सामाजिक जब "कृणवन्तो विश्वमार्यम" की बात सोचता था तब स्वयं अपने आर्यत्व में उसकी आस्था थी)।

आर्य संस्कृति से जो सामाजिक सांस्कृतिक परिवर्तन देखे और भोगे, उसके अंतर्गत इन्द्र के स्थान पर विष्णु, महत्तर स्थिति को प्राप्त कर गये थे—अर्थात् समन्वय का क्रांतिकारी दौर चल रहा था अन्तर्मन्थन हो रहा था—"सागर-मन्थन" का इस प्रक्रिया में अन्तर्बाह्य सभी प्रभावों का समन्वय हो रहा था। और एक स्थानीय भारतीय संस्कृति अपना विशद रूप ग्रहण कर रही थी। ऐसी संस्कृति जिसकी परि-कल्पना सागर-मन्थन जैसी महत् प्रक्रिया के बिना की जानी संभव नहीं है। इस अर्थ में भी विश्व संस्कृतियों के इस समन्वय के कारण भारतीय संस्कृति ने अपनी मूल केन्द्रीय "समष्टि चेतना" का दामन नहीं छोड़ा था, और उन सबकी सुदूरतम स्मृतियों के अंतर्निवेश से इसकी नवनीत काया का रूप साकार हुआ था।

भारतीय संस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसकी ग्रहणशीलता एवं समन्वय की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति पुराऐतिहा-सिक काल से लेकर आज तक एक सांस्कृ-तिक आदर्श के रूप में सदैव उपस्थित रही है। ऐतिहासिक युग में भारतीय समाज ने जहां यवनों, शकों, पहलवों एवं हूणों को आत्मसात किया वहीं पुराऐतिहासिक युग में द्रविड़ (भूमध्य सागरीय) निषाद (प्रोटो आस्ट्रलायड) किरात (मंगोलाइड) एवं आर्य जाति के सम्पर्क एवं सामंजस्य से भार-तीय समाज एवं संस्कृति का स्वरूप निर्धा-रित हुआ। आर्यों के भारत प्रवेश के समय पंजाब और सिन्ध में समृद्ध सैन्धव संस्कृति का विस्तार था। यद्यपि आर्यों ने पराक्रम से सैंधव संस्कृति के भौतिक कलेवर को ध्वस्त कर दिया किन्तु यह विध्वंस निरन्वय नहीं था। सैन्धव संस्कृति की परंपरा उसके बाद भी जीवित रही तथा उत्तर वैदिक युग के अपेक्षतया शांत एवं सहयोगपूर्ण वातावरण में पुनरुन्मज्जित एवं विकसित हुई।

—प्राक्कथन: "उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति"

—डा. विजयबहादुर राव

वेदों में उषा आख्यान एवं पुरुषसूक्त" इस भूमंडल (पृथ्वी) पर (उसके धूमायित अग्नि पिण्ड के ठण्डे होने के शत सहस्र वर्षों के पश्चात्) सूर्य के उज्जवल प्रकाश की प्रथम किरण के अवतरित होने के प्रसंग-से संबद्ध है। पृथ्वी पर उषा की यह प्रथम आभा सारी प्राणवान पार्थिव सृष्टि की काल रात्रि के उपरान्त के प्रथम आदिम संवत्सर की प्रतीक है। सारी मानव जाति का उस पर अपना हक बनता है और जो वैदिक मनीषा उसकी साक्षी है, या उसका स्मरण कर रही है वह भौतिक और भौगो-लिक अर्थों में सीमाबद्ध हो ही कैसे सकती है? वृत्रहन्ता इन्द्र द्वारा उषा को अंधेरे की कैद से छुड़ाया गया—वेदों में इसकी ही अनेक स्थानों पर प्रतीकात्मक बल्कि यों कहें कि वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की गयी है। दोनों दृष्टान्त क्रमश: नीचे दिये जा रहे हैं।

ब्रह्माण्ड के सभी सूर्य अपनी रोशनी ग्रहण करने के लिए, परम प्रकाशवान सबको अपनी आभा से प्रकाशित करने वाले जिस विष्णु की ओर देखते हैं, इन्द्र उनका सखा है विष्णु ही धर्म के धारक हैं। सम्पूर्ण प्रकट वैभव के प्रणेता। सूर्यचन्द्र तारागण, यही प्रकाशित वैभव उनकी लक्ष्मी है। यह विष्णु कर्त्ता। इन्द्र की तरह लायक नहीं इसलिए उनका पद इन्द्र से उत्तम है।

("अतो देवा अवन्तु नो यतो विष्णु चक्रमे।
पृथिव्याः सप्त धामभिः ।। 16)
इदं विष्णु विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्
समूहलमस्य पांसुरे ।। 17 ।।
त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः
अतो धर्माणि धारयत् ।। 18 ।।
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि
पस्पशे/इन्द्रस्य युज्यः सखा ।।19।।
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति
सूरयः/दिवीव चक्षुराततम् ।। 20 ।।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते/
विष्णोर्यत्परमं पदम् ।। 21 ।।
(ऋग्वेद: सूक्त 22 अध्याय 2।।)

"यदिन्द्राहन्प्रथमजा महीनामान्मायिना ममिनाः
प्रोत मायाः।
आत्सूर्यं जनय-धामुषास तादीत्ना शत्रु न
किला विवित्से ।। 4 ।।
अध्न्वृत्रं वृत्रतरं व्यसमिन्दो वज्रेण महता
वधेन।।
स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णाहिः शयत
उप पृथक पृथिव्या ।। 5 ।।
ऋग्वेद सूक्त 32 ।। अध्याय 2 ।।

"प्रथमजा महीनाम" सृष्टि प्रकरण में पृथ्वी के तरल से ठोस रूप ग्रहण करने और उसके ओतप्रोत माया के उस अंधकार को, जिस वृत्र ने फैला रखा है, इन्द्र द्वारा अपने वज्र से वेधने तथा सूर्य के प्रकाश को अनेकानेक व्योम बाधाएं मिटा-कर पृथ्वी पर प्रकट करवाने से स्पष्ट रूप से सम्बन्धित है। "प्रथमजा" शब्द व्या-कुल विवर्तित और दृढ़ अंगारान्ध बादलों से आच्छादित अदृष्ट "मही" के प्रथमतः साक्षात् पृथ्वीरूप ग्रहण करने की ओर संकेत करता है। आज विज्ञान के युग में सर्वसाधारण सूर्य पिण्ड के रूप में पृथ्वी के सौरमण्डल में अपनी निर्धारित कक्षा में अवस्थित होने तथा प्रज्ज्वलित अग्नि के उस पिण्ड के ठण्डे होकर उसके अपने वर्त-मान रूप ग्रहण करने की प्रक्रिया से भली भांति परिचित हो गया है, किन्तु आज से 5000 वर्ष पूर्व पृथ्वी के संबंध में यह जानकारी भारतीय संस्कृति के ज्ञान विज्ञान के विकास का स्वयं में ज्वलंत प्रमाण हो जाता है। वदों में वृत्रासुर का आख्यान अंधकार पर प्रकाश विजय का सर्वोत्कृष्ट विज्ञान रूपक है।

मैंने "सागर-मन्थन" से लक्ष्मी की उत्पत्ति के विषय में यह मन्तव्य प्रकट किया है कि श्री "सूक्त" पृथ्वी पर प्रकाशावतरण की प्राथमिक घटना की ही रूप कात्मक स्मृति है। लक्ष्मी उन अनन्त वैभवों में से प्राप्त एक वैभव थी, जो दृश्य सृष्टि-सागर के मंथन के समय सूर्यचन्द्र तारागणों के साथ उपलब्ध हुई थी। उषा प्रकाश रूप वह लक्ष्मी इसी कारण प्रकाशपर्व दीपावली के रूप में सदा सर्वदा के लिए हमारे सांस्कृतिक जीवन की एक अविस्मरणीय घटना बन कर अवतरित हुई है।

"श्रीश्चते लक्ष्मीश्च पत्न्या वहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूप मश्विनौ व्यात्तम्। ष्णानिनषाणामुं म इषाण सर्वलोंक म इषाण।।

महीधर ने अपने भाष्य में "श्री" की व्याख्या यथा सर्वजनाश्रयणीयो भवति सा श्रीः। कहकर की है तथा "लक्ष्मी" की "यया लक्ष्यते दृश्यते जनैः सा लक्ष्मी।" श्री की उन्होंने सम्पत्ति और वैभवपरक तथा "लक्ष्मी" की दृश्यमान सौन्दर्यपरक व्याख्या भी प्रस्तुत की है। इस प्रकार यह सुस्पष्ट है कि अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त विष्णु के वैभव की पृथ्वीजनों के हेतु उद्भूत ये दो विभूतियां, श्री व लक्ष्मी विष्णु की पत्नियों के रूप में मानी गयी है जो उचित हीं है।

पृथ्वीवासियों के लिए, सबसे पहले प्रकाश के दर्शन का मुहूर्त्त कितना शुभ रहा होगा, उन्होंने सबसे पहले इस प्रकाश में सृष्टि के ओर छोर में फेला वैभव देखा होगा। अपने और अपने आसपास के पार्थिव अन्य., जड़जंगम के रूपाकारों को पहचाना होगा। आकाश को, सूर्य को, चंद्र को, तारागणों को देखा होगा—इससे बड़ी प्रसन्नता का शायद कोई अवसर मनुष्य के जीवन में नहीं आया होगा। इसी कारण इस प्रथम अहोरात्र की घटना को सदा सर्वदा के लिए शुभ मानकर उसे आज तक हम, दीप जलाकर ज्योतिपर्व दीपावली के रूप में मनाते आए हैं और लगभग सागर संतरण मन्थन की यह कथा हमने सारे बाद के महत्तर संदर्भों के साथ भी जोड़कर उन्हें इस महनीय घटना के शुभ संस्कार से अभिषिक्त भी कर दिया है। विजय दशमी में जहां "देवी द्वारा महिषासुर मर्दन की कथा का प्रसंग है वहां सागर पार कर राम की रावण विजय का भी इसी दीपावली की अहोरात्रि की घटना के साथ संयोग कर दिया गया है। यहां तक कि कृष्ण के जन्म पर प्रलयकारी वर्षा एवं यमुना के जल प्रवाह का बढ़ना वृत्र संबंधी वैदिक आख्यान से जिसकी दृढ़ बादलनुमा काया का ध्वंस इन्द्र ने अपने वज्र से किया था, तथा कालिया मर्दन की घटना—दोनों का संबंध जल संबंधी बाधा को पार करना, या मंथन से विभव राशियों का निकालना आदि कृष्ण का कालिया दमन कर गेंद को निकाल लाने से ही जुड़े हुए संदर्भ हैं।

"सिन्धु घाटी की लिपि में ब्राह्मणों एवं उपनिषदों के प्रतीक" नामक अपनी पुस्तक में डा. फतेहसिंह ने अब तक अपठित इस लिपि को पढ़कर इसे वेदोपनिषदों में बाद में आई मान्यताओं का पूर्व रूप ही सिद्ध किया है। "वरुण और वृत्र" के बारे में उन्होंने लिखा है :—

सिन्धु घाटी के वरुण और वृत्र का उक्त संबंध ब्राह्मण-ग्रंथों की मान्यता के प्रतिकूल नहीं है। वरुण और वृत्र एक ही धातु से बने हुए दो शब्द हैं जिनमें से प्रत्येक का अर्थ है आवृत्त करने वाला : ये दोनों वस्तुतः एक ही "परा" शक्ति के दो रूपान्तर हैं, जिनमें से एक को "प्रकाशमय आवरण" तथा दूसरे को अंधकारमय आवरण कहा जा सकता है। "यच्च वृत्वाऽतिष्ठं त्द्वरणो भवंत्ता ना एतं वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण।" (गोपथ ब्राह्मण)।

विश्व सृष्टि के लिए वरुण जितना उपयोगी है उतना ही वृत्र भी। इसीलिए इन्द्र उसका वध करके भी उसे सौम्य और असुरण्य रूपों में जीवित रखकर उसका उपयोग करता है। वरुण यदि प्रदीप्ततर अग्नि के रूप में बाहर प्रकाश और गर्मी देता है, तो वृत्र भी जठराग्नि के रूप में विराजमान हमारे खाए हुए भोजन को हजम करता है। अतः अन्नादि अग्नि मूलतः वृत्र ही है और वही सोम है जो देवों का अन्न कहा जाता है। (वृत्रो वै सोम आसीत)। वृत्र देवों का शाश्वत शत्रु नहीं हैः वह जब देवों के प्रति विद्रोही होकर आप (जल) और प्रकाश (सूर्य ऊषा) को आवृत्त कर के उनके अस्तित्व को खतरे में डाल देता है, तभी वध्य है। उसके विध्वंसक रूप का ही वध किया जाता हैः इसलिए वृत्रवध भी ध्वंसात्मक क्रिया न होकर सर्जनात्मक क्रिया है जिसके द्वारा इन्द्र विश्वकर्मा प्रजापति कहलाने का अधिकारी होता है।

"इन्द्रा हवै वृत्र हत्वा विश्वकर्मा भवत् प्रजापति, प्रजाः सृष्टवा विश्वकर्माभवत्। ऐतरेय ब्राह्मण 4·22" इत्यादि।

अतः वैदिक अवधारणाओं से न केवल एक वृहत्तर विश्व संस्कृति की ठोस पूर्व-पीठिका बनती हुई स्पष्ट परिलक्षित होती है, अपितु, आर्य द्रविड़ संघर्ष की धारणाएं भी गलत सिद्ध होती लगती हैं। वेद विद्या इस प्रकार तत्कालीन श्रेष्ठ विचार-धाराओं एवं वैज्ञानिक गवेषणाओं का सम्यक आकलन है। भारतीय मूल की होकर भी वैदिक संस्कृति विश्व संस्कृति की प्रथम प्रामाणिक संहिता है।

भारतीय इतिहास का आदिम स्वर्णयुग

डा० सत्यकाम वर्मा

पूर्व भूमिका

भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता एवं उसकी सर्वांगीणता को देखते हुए प्रायः ही भारतीय इतिहासविदों के मन में भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल निश्चित करने की इच्छा बलवती होने लगती है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। पश्चिम में जब से भारत-विषयक अध्ययन का आरम्भ हुआ है, वहां के विद्वानों ने भारतीय इतिहास की परीक्षा अपने यहां के इतिहास के परिप्रेक्ष्य में करते हुए उसे अत्यधिक समृद्ध एवं प्रौढ़ पाया है। आरम्भ में उन्होंने अपने यहां की प्राचीनतम ग्रीक, रोमन एवं ट्यूटानिक सभ्यताओं का भी कालांकन बहुत प्राचीन नहीं किया था। इस पर भी जो कालांकन उन्होंने उनका प्राचीनतम रूप में किया था, उन्होंने भारतीय इतिहास को उससे कहीं प्राचीन पाया। परन्तु ठोस प्रमाणों के अभाव में उन्होंने भगवान् बुद्ध को भारतीय इतिहास की आदि विभाजक रेखा के रूप में स्वीकार किया। इससे पूर्व के काल को उन्होंने आंख मूंद कर वैदिक काल घोषित कर दिया। किन्हीं ठोस प्रमाणों के अभाव में उन्होंने रामायण और महाभारत की सत्ता को भी ऐतिहासिक रूप में घटित मानने से इनकार कर दिया। सम्भवतः इसका सबसे बड़ा प्रेरक कारण यह था कि वे भगवान ईसा के कुछ पूर्व की ही फोनीशियन या इज़रायली सभ्यता से कितना पहले किसी अन्य सभ्यता के विकास को मानते?

और यह सब बात है तब तक की, जब तक पुरातत्व और अभिलेख-विद्या का विकास नहीं हुआ था और न ही मिश्र और भारत की प्राचीन संस्कृतियों के ठोस प्रमाण मिलने आरम्भ हुए थे। इसीलिए उस समय भारतीय इतिहास का स्वर्णकाल भी भगवान् बुद्ध से बहुत बाद ही ढूंढ़ा जाने लगा था। परिणामतः, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त, आदि की गरिमा से प्रभावित होकर, और उनके वंशजों के काल को "गुप्तकाल" नाम देकर उसे भारतीय इतिहास का "स्वर्णकाल" घोषित कर दिया गया, और आज तक यही गलती दोहराई जा रही है, तथापि तब से आज तक पुरातत्व एवं अभिलेख विद्या के क्षेत्र में मिस्र, ग्रीस, रोम, पारस, मध्य एशिया एवं भारत कई आश्चर्यजनक प्रमाणों को अपने भूगर्भ से अनावृत्त कर चुके हैं।

पुरातत्व : तुलनात्मक मूल्यांकन

तब आया पुरातत्व का युग। मानो इतिहास भी इन भ्रामक मान्यताओं का विरोध करने के लिए भूगर्भ को विदारित करके बाहर आने को मचल उठा। मिस्र, ग्रीस और भारत के साथ-साथ मैसोपोटामिया, ईरान (पारस), आदि के भूपृष्ठ एवं भूगर्भ के अनेक रहस्य उद्घाटित करने आरम्भ किये। इनमें से मिस्र के पिरामिड़ों और तत्संबद्ध मंदिरादि को तथा भारतीय मोहनजोदड़ो एवं हड़प्पा नामक प्राचीन स्थलों के भूगर्भ से निकले अवशेषों को अभूतपूर्व सफलता मिली। इन दोनों अन्वेषणों ने इतिहास के पुनरीक्षण के लिए विशेषज्ञों को विवश कर दिया। तिथि-विनिश्चय के नए-नए तरीके निकाले गए और इन दोनों अन्वेषणों के आधार-स्थलों को ईसा से तीन चार सहस्राब्दी के पूर्व के लगभग का मान लिया गया।

कितना बड़ा विरोधाभास था। एक ओर संसार के आदिग्रंथ माने जाने वाले वेदों को एवं उनके निधिगोप्ता आर्यों के भारत-प्रवेश को ईसा से कुल बारह सौ वर्ष पूर्व के लगभग स्वीकार किया जा रहा था, दूसरी ओर इन प्रमाणों से भारतीय इतिहास को एक बारगी ही कम से कम दो हज़ार साल और पीछे धकेल दिया गया। इतिहास का सबसे बड़ा मजाक तो तब हुआ, जब कि इन अनुसंधानों का तिथि-निर्णय वैज्ञानिक आधार पर करने का प्रयत्न करने के बावजूद ऐतिहासकों ने वेदों के आविर्भाव एवं आर्यों के भारत-आगमन के संबंध में अपने पूर्वाग्रह को छोड़ने से नितान्त इनकार कर दिया। भारत भूमि पर भूगर्भ से निकले केवल इन दो नगरों को ही भारत के अतीत का प्रतिनिधि मानते हुए भूगर्भविदों एवं भारतीय इतिहासविदों ने इन नगरों के पश्चिमी भागों के आग से जलने के निशान पाकर अपने दुराग्रह को सिद्ध करने का एक अभूतपूर्व प्रमाण भी खोज निकाला। इन दोनों नगरों के उत्तर-पश्चिमी छोर पर कुछ अंश काले पड़ गये थे; मानो वे आग लगने से जले हों। उनकी दृष्टि में भारत में प्रवेश करने वाले आर्यों ने भी इन नगरों को अग्निसात करने का प्रयास किया होगा। दुर्भाग्य से ये दोनों ही नगर भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर थे। आर्यों का भारत प्रवेश भी उसी ओर से हुआ माना जाता था। अतः इन दोनों घटनाओं को समकालीन माना गया। इन नगरों का दाह ईसा के पन्द्रह सौ वर्ष के लगभग पूर्व मान लिया गया, तथा परिणामतः आर्यों के प्रथम विध्वंसक

जत्थों का भारत-प्रवेश भी इसी का समकालीन माना गया। ऐसा करने से उन विद्वानों के अहं को तुष्टि मिलती थी; क्योंकि उन्हें अपनी मूल मान्यताओं में अधिक हेर-फेर न करना पड़ता था।

आर्यों का भारत प्रवेश : प्रमाणों का अभाव

किन्तु ऐसा करते हुए वे एक बात भूल गए। जिन विद्वानों का सारा प्रयास पिछले छह दशकों से यह सिद्ध करने का रहा है कि इन नगरों की सभ्यता नितान्त अनार्य और द्रविड़ थी, तथा जो विद्वान अधुनातम भूगर्भ खोजों, के अनावरण पर भी अपने इस पूर्वाग्रह को छोड़ने का कतई उद्यत नहीं हैं, उन्हीं विद्वानों ने भारतीय इतिहास की "त्रिपुर-दाह" जैसी नगरों के "दाह" की सबसे महत्वपूर्ण घटना को आर्यों के नाम मढ़ते हुए एक क्षण भी न तो साधक प्रमाण को खोजना चाहा और न उसके अभाव में अपने पुर्वाग्रह में कोई अन्तर लाना स्वीकार किया। और फिर आज तो लगभग सारे भारत में ही तथाकथित "सिंधु-घाटी-सभ्यता" के अवशेष मिल रहे हैं, और उनकी अवरतम काल-सीमा भी एक सहस्र ईस्वी पूर्व तक की मानी जा रही है; जबकि उनमें से अनेक की पूर्वतर सीमा "सिन्धु-सभ्यता" से भी एक दो स्तर पहले तक की है। फिर, न तो उनका कोई भाग जला मिला है, न ही उनमें आर्यों के विपक्ष में ही कोई प्रमाण मिले हैं। फिर भी ऐसे विद्वानों की इस मान्यता में कोई अन्तर नहीं आया है कि इस सभ्यता के मिटने पर ही आर्य लोग भारत में बाहर से आए।

लिपि : अनुमान ही अनुमान

यह सब तब हुआ जब कि उनमें से कोई भी आज तक इन सब जगहों पर उपलब्ध लिपि को पढ़ तक नहीं पाया है। जिन लोगों ने भी इस लिपि को पढ़ने के प्रयास अब तक किये हैं, उन सबमें अब तक दो ही पक्षों को पुष्ट करने की प्रवृत्ति रही है। एक पक्ष के अनुसार इस सभ्यता के उपासक द्रविड़ लोग थे और यह लिपि द्रविड़ है। वास्तव में यह निष्कर्ष इस निराधार धारणा पर ही केन्द्रित है कि इस नगर सभ्यता के निवासी आर्य-पूर्व लोग ही रहे होंगे; क्योंकि आर्यों ने उन्हें ही आकर खदेड़ा था। अब एक ऐसी निराधार धारणा बना ली गई, तब अगला कोई भी निष्कर्ष उस पर ही आश्रित हो सकता था; भले ही उसके पक्ष में कोई प्रमाण स्थापित हो या न हो। यद्यपि अधुनातम खोजों के अनुसार इस लिपि को लिखने की दिशा तक स्थायी रूप से निश्चित नहीं की जा सकी है। इस पर भी सन् 1970-71 के फिनलैंड और रूस के विद्वानों ने अलग अलग आधारों पर इस लिपि को निरपवाद रूप से द्रविड़ घोषित कर दिया था। फिन्नी विद्वद्द्वय का परिणाम कम्प्यूटरों की मदद से निकाला गया, जिसके अनुसार शब्दों के अंत में प्रत्ययों के चिन्ह स्पष्टतः अलग से अंकित होने के कारण यह लिपि और इससे लिखित भाषा द्रविड़ ही हो सकती है। परन्तु, क्या वे यह भी निश्चित कर पाए कि इस लिपि को हीं एक दिशा में--दाएं या बाएं--लिखा जाता था, अथवा श्री थापर के मन्तव्यानुसार उभयदिक् रूप में?

इस संबंध में दूसरा पक्ष उन विद्वानों का है, जो इस लिपि को निरपवाद रूप में "आर्य" और इसकी भावभूमि को "वैदिक" मानते हैं। उनके अनुसार इस सभ्यता के मुद्रावशेषों में प्रयुक्त लेख दो या तीन लिपियों के मेल के परिणाम हैं, जिनमें से एक लिपि निश्चय ही ब्राह्मी-पूर्व लिपि से सम्बद्ध है। कुछ विद्वानों ने तो प्रत्येक सील पर अंकित लेख को पढ़ने का भी प्रयास किया है। स्वामी शंकरानन्द ने तो इन मुद्रांकनों को "बीज" के रूप में मानकर वैदिक मंत्रों और भावों के प्रतिनिधि एवं संक्षिप्त रूप सिद्ध किया है। निस्संदेह उनके पक्ष में दो प्रमाण बहुत बली हैं : (1) इनमें से बहुत से लिपि चिन्हों का परवर्ती ब्राह्मी लिपि में यथावत हस्तान्तरण; एवं (2) इन मुद्राओं पर वैदिक सूक्तों और मंत्रों में अभिव्यक्त रूपकों और भावों का प्रत्यंकन। पर "आर्य-द्रविड़-संग्राम" की कल्पना को मूलाधार मानकर चलने वाले विद्वानों से इन तथ्यों को मानने की आशा कैसे की जा सकती है। फिर भले ही उनकी वह कल्पना कितनी ही निराधार एवं अप्रमाणिक हो।

मिस्र-ग्रीक-रोम और पारसी प्राचीनता

इस भ्रामक मान्यता का मूलाधार दो बड़ी ही अजीब धारणाओं पर आधारित है। प्रथम धारणा के अनुसार वैदिक साहित्य और पौराणिक निकाय में जिस "देवासुर-संग्राम" की चर्चा आती है, वह "आर्य-द्रविड़-संग्राम" ही रहा होगा। द्वितीय धारणा के अनुसार वेदों में "आर्यों द्वारा दासों या दस्युओं को पराजित करने" की जो चर्चा बार-बार आती है, वह भी आर्य-द्रविड़ युद्ध की परिचायिका है; क्योंकि "दासों" को इन विद्वानों के अनुसार "कृष्ण वर्ण" का माना गया है और, "कृष्ण वर्ण" पर तो जैसे "द्रविड़ों" का ही एकाधिकार हो सकता था।

पर आर्य-द्रविड़ संग्राम के ये निर्णेता यह भूल जाते हैं कि भारत में प्रवेश करने वाली जिस आर्य जाति की चर्चा ये लोग कर रहे हैं, वही तो आज के तथाकथित भारोपीय-परिवार की भाषाओं के क्षेत्र में पूरी तरह व्याप्त थी। यूरोप से लेकर भारत के पूर्वी सीमान्त तक फैली इस "आर्य" या "वेदानुयायी" जाति में कभी एक समान रूप से ही वैदिक यज्ञ साधना प्रचलित थी और एक ही समान वैदिक देवताओं और मंत्र पद्धति का भी प्रचलन था। विद्वान मिस्र की लिपि और चित्रांकन भाव-भूमि को कुछ भी ठहराते रहें, उसमें अंकित यज्ञ-संस्कृति और "ब्रह्मराजन्याभ्याम्" की वैदिक भावना को वे दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। वहां वही यज्ञ-यूप है; वही यज्ञकुंड; वही यज्ञ-देवी; उसी प्रकार यज्ञ-पशु तक विद्यमान है। आप भले ही इन देवताओं और प्रक्रियाओं को कोई नाम दे लें; पर लगता है जैसे पतंजलि सरीखा कोई ऋषि दोहरा रहा है : "इह पुष्यमित्रं याजयामः।" नील नदी के किनारे पुराने मिस्री सम्राटों को उसी तरह यज्ञ कराये जाते थे, जिस तरह भारत में सरयू और गंगा-यमुना-संगम के किनारे

उन्हीं परिवेशों और उन्हीं रीति-कर्मों तक में। वेश भूषा तक, "उष्णीष-बन्ध समेत", वैदिक ही है। फिर भी मान लिया गया कि "मिस्री-सभ्यता" अवैदिक अथवा वैदिकेतर ही थी।

ग्रीक का 'यूनानी' सभ्यता के प्राचीन अवशेष भी भरपूर मिले हैं। वे विशुद्ध रूप से "आर्य" एवं वैदिक देवों पर आस्थित हैं। परवर्ती होने, एवं तब तक कुछ रूपान्तर आ जाने, मात्र से ही उन्हें वैदिकेतर नहीं कहा जा सकता। तब क्या मिस्र और ग्रीक आर्यों का भी द्रविड़ों से युद्ध हुआ था? या क्या इनसे भारतीय आर्यों के पृथक होने के बाद ही "वेदों" का विकास आरम्भ हुआ था? तब तो निश्चित ही "वेद" विश्व के सबसे प्राचीन ग्रंथ नहीं कहे जा सकते।

यही बात रोम एवं पाम्पेई आदि के प्राचीन भग्नावशेषों के विषय में भी कही जा सकती है। स्वंय रोम की स्थापना ईसा से पर्याप्त पूर्व हो चुकी थी। वहां भी "गार्हपत्य अग्नि" की प्रभुसत्ता और यज्ञ-प्रधानता को ही रोमनआर्यों ने स्वीकार किया था। वहां भी ऋग्वेदीय यज्ञ पुरुष की ही उपासना होती थी। आवश्यकता है आंख खोलकर इन तथ्यों को, वहां की वास्तु-कला एवं चित्र-कला में, साक्षात् अनुभव करने की। वैदिक गृह रचना से परिचित व्यक्ति आज भी उन्हें उन्हीं आदर्शों पर गठित एवं रचित पाएगा। वैदिक देवता वहां भी अपने पूर्ण परिवेश के साथ मान्य थे।

और पारसीक संस्कृतिः वह तो पूर्णतया वैदिक ही थी। भारतीय और पारसीक आर्य-दोनों ही-एक से मूल उत्स को मानने और पूजने वाले लोग थे। उन दोनों में "इन्द्र" और "वृत्र" को लेकर कब विरोध खड़ा हुआ? यह महत्त्वहीन बात है; पर उन दोनों की संस्कृति एक ही मूल उत्स से प्रवाहित हुई है, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता। तब क्या वहां भी आर्य-द्रविड़-संग्राम हुआ था? या, फिर सचमुच ही वेद की रचना क्या "जरथुस्त्र" की गाथाओं की रचना के बाद और उनके अनुकरण पर पर्याप्त बाद में हुई थी? तब क्या वेद जरथुस्त्र की सातवीं शती ईसा पूर्व की रचना के बाद, लगभग बुद्ध के समकाल ही, बनने आरम्भ हुए थे? ऐसा होने पर उन्हें छः सौ ईस्वी पूर्व से भी पूर्वतर क्यों माना जाए?

और फिर मैसोपोटामिया के बोगाजकुई के शिलालेखों में अंकित वैदिक देवताओं और आर्य संस्कृति की बात तो रह ही गई। उसका यह रूप और चौदह सौ ईसा-पूर्व का काल तो स्वयं पाश्चात्य पुराविदों ने तय किया है।

द्रविड़ विरोध : कपोल-कल्पना

इस प्रकार यदि वेदों को सिंधु-घाटी की तथाकथित सभ्यता के बाद का स्वीकार करते हैं और साथ ही यह भी मानते हैं कि उनमें "दस्युओं" या "द्रविड़ों" को हराने की चर्चा का भी समावेश है, तब उन्हें पारस के जरथुस्त्र की गाथाओं के भी बाद का ही मानना चाहिए। उस दशा में उनका रचनाकाल बुद्ध के लगभग समकाल ही ठहरेगा। पर पाश्चात्य विद्वान वेदों को इतना परवर्ती भी ले जाना नहीं चाहते। किन्तु साथ ही, कोई प्रतिरोधक प्रमाण उपस्थित न होने पर भी, वे सिन्धु-घाटी सभ्यता को आर्य-सभ्यता भी मानने को तैयार नहीं क्योंकि उन्हें यह बात समझ में नहीं आती कि ईसा से 3000 वर्ष पूर्व से आरम्भ मानी जाने वाली इस नगर-सभ्यता और वेदों की पूर्वकल्पित तिथि, ईसा से एक सहस्राब्दी पूर्व के बीच के अन्तराल को कैसे पूरा किया जाए? वे "रामायण" और "महाभारत" की घटनाओं का तो अस्तित्व तक मानने को तैयार नहीं है; भले ही इस विषय में पुरातत्त्व, आख्यान, साहित्य, एवं इतिहास पुराण के कितने ही प्रमाणों की अनदेखा करना पड़े। दूसरी ओर, इटली और मिस्र के पुरातत्वाधारित प्रमाणों को भी वे किसी तरह यज्ञप्रधान वैदिक संस्कृति के साथ सन्नद्ध करने को तैयार नहीं हैं; क्योंकि तब भले ही भारत के बाहर ही सही, वेदों का रचनाकाल ईसा से कम-से-कम तीन सहस्राब्दी पूर्व तो मानना ही पड़ेगा। और, वे इसके लिए तैयार नहीं हैं। इसीलिए वे इन सभ्यताओं में परस्पर साम्य या संबंध मानने को तैयार नहीं हैं।

परिणाम यह कि वे न तो "मोहन-जोदड़ों आदि नगरों को वैदिक या [illegible] नगर मानने को तैयार हैं, और न ही वे इन नगरों की सभ्यता का मिस्र तथा पारसादि अन्य पाश्चात्य नगर सभ्यताओं से संबंध मानने को तैयार हैं; जब कि इन सभी नगर सभ्यताओं की अनेकविध समानताएं इनमें अद्भुत पारस्परिक संबंध रहा होने की ओर इंगित करती हैं। अतः इन सब विरोधाभासों को देखते हुए, तथा यह जानने के बाद कि अब इन नगर-सभ्यताओं से भी कम से कम दो स्तर-पूर्व तक की नगर सभ्यताओं के अवशेष सामने आने आरम्भ हो चुके हैं, हमें यह मानने का पूर्वाग्रह छोड़ देना चाहिए कि—

(क) ये नगर और इनकी सभ्यता "द्रविड़ों" से ही संबंध रखती थी;

(ख) इस सभ्यता का ह्रास आर्यों के आगमन और आक्रमण से आरम्भ हुआ; और

(ग) इनकी लिपि और देव-कल्पना का वैदिक या परवर्ती किसी लिपि और देवकल्पना के साथ कोई संबंध नहीं है।

इन पूर्वाग्रहों के परित्याग के बाद ही हम सत्यान्वेषण की दिशा में प्रगति करने में अधिक समर्थ हो सकेंगे और भारतीय इतिहास के वास्तविक "स्वर्णकाल" का विनिश्चय करने में समर्थ हो सकेंगे।

स्वर्णकाल-विनिश्चय : समस्या

जैसा कि हमने आरम्भ में कहा कि भगवान बुद्ध से भारतीय इतिहास का आरंभ मानने वाले विद्वान ईसा के बाद के काल में ही भारतीय इतिहास के स्वर्णकाल को ढूंढ़ने का प्रयास करते रहे हैं। उनके लिए ईसा से पूर्व के भारत के इतिहास की कोई विशेष सामग्री मिलनी अकल्प्य रही है। उनके लिए न तो अशोक-काल के सर्व सुलभ प्रमाण ही विचार्य ठहराते हैं और न ही सिंधु-घाटी की सभ्यता का भारत के इतिहास के साथ कोई प्रमा-

णिक संबंध ठहराता है। लगता है कि अजन्ता और एल्लरा की गुफाओं एवं कुछ विहारों, स्तूपों, और मंदिरों के अवशेषों ने, तथा कुछ अभिलेखों ने, इन ऐतिहासिकों को कुछ इतना अभिभूत कर दिया है कि वे इससे पहले किसी भी इतने समुन्नत काल की कल्पना तक करने को तैयार नहीं हैं। पर इसके विपरीत सत्य यह है कि सम्राट अशोक के काल के अभिलेख, कला एवं साहित्य से सम्बद्ध इतने अधिक प्रमाण इस बात को पुष्ट करते हैं कि वह काल अनेक दृष्टियों से भले हो गुप्त काल से भी आगे बढ़ा रहा होगा; पीछे नहीं था।

तब क्या अशोक के काल को ही भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग कहें? नहीं। कारण यह कि ऐसा करके भी हम एक बड़े भारी तथ्य की उपेक्षा कर रहे होंगे भले ही हम वेदों की तिथि-निर्णय कर सकें हों, और भले ही हम सिंधु-सभ्यता को आर्य-सभ्यता न कह सकते हों; किन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि—

(क) यह नगर सभ्यता अत्यधिक विकसित थी;

(ख) इस काल में वास्तु, स्थापत्य, चित्र आदि कलाएं अत्यधिक समृद्ध थीं;

(ग) इस काल में व्यापार एवं उसके साधन अत्यधिक समृद्ध थे; एवं नदियों, समुद्र आदि के माध्यम से व्यापार होता था; और यह कि

(घ) इस काल की देव कल्पना तत्कालीन साहित्यादि के प्रौढ़-चिन्तन को प्रगट करता है;

(ङ) इस काल का नगर-निर्माण एवं प्रयोजन अत्यधिक उच्च स्तर का एवं वैज्ञानिक पद्धति का सिद्ध होता है; तथा

(च) यह सभ्यता सुदूर-पूर्व एवं सुदूर-दक्षिण तक फैली हुई थी।

इन सब तथ्यों के रहते राज्य-विस्तार, कला-समृद्धि, व्यापार-विस्तार, सभ्यता-समुन्नति; आदि में से किस दृष्टि-विशेष से इस नगर सभ्यता के काल को हम परवर्ती किसी भी काल की अपेक्षा हीन कह सकते हैं? फिर भले ही हम इसकी लिपि को न पढ़ पाए हों। यह हमारे अपने अज्ञान का दोष है, इस सभ्यता का नहीं।

वेद, रामायण और सिंधु-सभ्यता का युग

इस संबंध में दो बातों की चर्चा करनी अत्यधिक अभीष्ट है। सन् 1968-69 की शारदीय भाषणमाला में दिल्ली विश्वविद्यालय में प्रदत्त अपने व्याख्यानों में श्री डा. आर. एन. दाण्डेकर ने इस सत्य को तथ्यात्मक रूप में सिद्ध कर दिया था कि वैदिक सभ्यता और संस्कृति अपने से पूर्वप्रचलित और समकालीन अनेक देव-कल्पनाओं एवं धारणाओं को अपने में अन्तर्निहित किये थे। स्वभावतः ऐसा सांस्कृतिक आदान-प्रदान सदियों-सहस्राब्दियों के मध्यान्तर में ही होना सम्भव था। अनेक प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता अब इस मान्यता को अपनाने लगे हैं। इस पर भी क्या सिंधु-सभ्यता को वैदिक पूर्व और वैदिकेतर सिद्ध करने का पूर्वाग्रह बनाए रखना उचित है?

दूसरी बात रामायण के घटित होने के संबंध में है। अपने विविध लेखों एवं भाषणों में डा. सांकलिया ने इस बात को बार-बार सिद्ध किया है कि अब रामायण को केवल कपोल-कल्पना नहीं माना जा सकता। उन्होंने अत्यधिक प्रमाणों के आधार पर अयोध्या, लंका, आदि की स्थिति को निश्चित करने का गम्भीर प्रयास किया है। उनके विचारानुसार :

(क) रामायण का काल लगभग 900 ई. पू. रहा होगा

(ख) उस समय अयोध्या एक महानगरी न रहकर गांव के रूप में रही होगी, तथा उसके घर और महल मिट्टी के रहे होंगे तथा

(ग) लंका की स्थिति विन्ध्याचल और नर्मदा के बीच रही होगी।

इसमें से प्रथम परिणाम के लिए उनके पास कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। दूसरा परिणाम उन्होंने वाल्मीकि रामायण के कुछ वक्तव्यों के आधार पर निकाला है; जब कि दूसरी ओर उसी ग्रंथ के अन्य अनेक प्रमाणों पर विचार तक करना भी उन्हें स्वीकार्य नहीं रहा। तीसरा परिणाम यदि सही मान लिया जाए, तो उससे अन्य कई समस्याएं उठ खड़ी होंगी। विन्ध्य को पार करने वाले अगस्त्य-ऋषि तो राम से पर्याप्त पर्व हो चुके थे। क्या वाल्मीकि को विन्ध्याचल और लंका की सही स्थिति का भी ज्ञान नहीं था?

अब यदि गम्भीरता से विचार करें तो ज्ञात होगा कि यदि राम के काल में "राज-भवनों" को केवल मिट्टी से बने ही मान लिया जाए तब ऐसा काल उससे कहीं पहले का होना चाहिए जबकि मिट्टी से बनी ईंटों से मकान बनाने की परम्परा चली होगी। जहां तक पक्की ईंटों का प्रश्न है, इनका प्रयोग सिंधु घाटी के पूर्वोक्त दोनों महानगरों के विकास से भी कम से कम दो स्तर पूर्व-अतएव दो सहस्राब्दी पूर्व-आरम्भ हो चुका होगा। यह बात तो किसी भोले और अज्ञ को भी समझ में न आएगी कि इतनी बड़ी उपलब्धि के रहते भी "रथों" और "नावों" के निर्माण एवं प्रयोग में कुशल जाति के महानेता और महान कवि उन ईंटों से बनने वाले मकानों तक से परिचित न थे। यदि उनके लिए मिट्टी की झोंपड़ियां ही "महल" थीं, तब इन महानगरों में बने विशाल भवन उनकी दृष्टि में क्या कहे जाएंगे? स्पष्ट है कि या तो उस काल के महल मिट्टी मात्र के बने नहीं थे: या फिर उस समय का काल सिंधु घाटी-सभ्यता से सहस्राब्दियों पूर्व का मानना उचित होगा। इनमें से कौन सा पक्ष ग्राह्य है। यह तो सांकलिया जी को ही निश्चित करना होगा।

"लंका" के संबंध में स्थिति और भी जटिल है। यह कल्पना कई लोगों ने आरम्भ से ही प्रस्तुत की है। हो सकता है यह सत्य भी हो। परन्तु तब यह कल्पना करना, कि महानगरीय सभ्यता के सामुद्रिक व्यापारियों की तुलना में उस समय के लोग एक सामान्य झील या महानदी के पार स्थित प्रदेश और महासमुद्र के बीच स्थित द्वीप में अन्तर भी नहीं कर

सकते थे, परस्पर विरोधाभास प्रतीत होगा। दूसरी ओर, यदि यह मान लिया जाय कि "लंका" की स्थिति वही थी जो अब पुराकालीन "गोंडवाना" की मानी जा रही है, तब उसका काल आज से दस-बारह सहस्राब्दी पूर्व मानना होगा। उस समय ही गोंडवाना की स्थिति वर्तमान विन्ध्य से कुछ मील की दूरी पर रही होगी। पर तब तक सम्भवतः दोनों महाद्वीपों में टक्कर न हो पाने के कारण विन्ध्याचल भी बना नहीं माना जाना चाहिए।

इस प्रकार यदि ये दोनों प्रमाण सत्य मान लिए जाएं, तब "रामायण" की स्थिति ईसा से कई सहस्राब्दी पूर्व भारत में आ चुकी थी? अथवा, "रामायण" की घटना और काव्य-रचना क्या भारत से बाहर के किसी अन्य प्रदेश में हुई थी?

पर क्या सचमुच ही इस सब दुरूह कल्पना की आवश्यकता है? क्या इन अनेकानेक महानगरों में से, या उनसे भी पूर्ववर्ती स्तर के किन्हीं महानगरों में से, किसी एक के साथ "रामायण" और "महाभारत" का संबंध नहीं रहा हो सकता? क्या यह सम्भव नहीं कि जिस प्रकार "मोहन जोदड़ो" की खुदाई बहुत पूर्व ही, सम्भवतः प्रागैतिहासिक काल से ही, आस-पास की जनश्रुति उस स्थल विशेष को "मुर्दों का टीला" कहकर किसी विशिष्ट परम्परा को बचाये चली आ रही थी और पुराविदों की खुदाई से उसकी धारणा को केवल सम्पुष्ट मात्र किया था, उसी प्रकार कदाचित "रामायण" और "महाभारत" से सम्बद्ध और उस रूप में विख्यात विविध स्थलों की सावधानतापूर्वक खुदाई से तत्सम्बद्ध रहस्यों का उद्घाटन हो सके? हस्तिनापुर की तथाकथित खुदाई यत्किंचित प्रकाश इस ओर डाल ही चुकी है।

इन्द्रप्रस्थ के विकास के भी अनेकानेक स्तरों का अनावरण अकेले दिल्ली के पुराने किले की खुदाई से ही हो चुका है। कुरूक्षेत्र, तरावड़ी करनाल के अनेक स्थल, ऐतिहासिक किवंदन्तियों को अपने साथ जोड़े हुए हैं। आज "महाभारत" के अस्तित्व में संदेह करना अज्ञान के प्रति अपने व्यामोह को व्यक्त करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तब क्या हम "रामायण" की सही तिथि के प्रकाश में आने की प्रतीक्षा किसी अगली खोज तक करें?

पर जब तक ऐसा न हो, सिंधु-घाटी की सभ्यता के एक युग को भारतीय इतिहास का "आदिम स्वर्ण-समृद्धि का युग" मानने में कोई आपत्ति नहीं की जानी चाहिए। और यदि "इन्द्रप्रस्थ" और "हस्तिनापुर" की अधुनायावत् खुदाइयों और उनकी उपलब्धियों को ही किसी संकेत का वाहक माना जाए, तब यह कहना भी अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि ये सभ्यताएं "महाभारत" के अन्तिम चरण के समकाल ही विद्यमान रही होंगी; भले ही उनसे पूर्वतर काल रामायण के समकाल अथवा उससे उत्तरवर्ती रहा होगा। अतः इस सभ्यता के उन पक्षों पर ही सिंहावलोकन मात्र करना हमें अभिप्रेत होगा, जिनके कारण इस काल को हम "भारतीय इतिहास का आदिम स्वर्णयुग" कहने का साहस कर रहे हैं।

इतिहास का उपयोग

इतिहास, जीवन की थाती है। उसमें, हमारे उन गुणों का संचय होता है जिनके कारण हम ऊपर उठे और हमारी उन भूलों की गाथा होती है, जिनके कारण हम गिरे। इतिहास हमें पुकार कर कहता है, संभलो, ये तुम्हारी भूलें थीं; इनसे बचो और अपने उन गुणों की ओर, देखो जिनमें तुम्हारा गौरव, प्रकाशित हुआ था। इतिहास हमारे निराशा से थके हुए मन के अंधकार का प्रकाश स्तम्भ है। वह हमसे कहता है, श्रेय को लो और प्रेय को छोड़ो। यही इतिहास का उपयोग है और यही उसका गौरव है।

--श्री रामनाथ "सुमन", "वेदी के फूल" शीर्षक पुस्तक से--

वैदिक युग में संसदीय प्रणाली

डा० जबर सिंह सेंगर

वैदिक युग में राजा सर्वोपरि होता था परन्तु उसके ऊपर संसदीय (सभा-समिति) दो संस्थाओं का विशेष अंकुश था जिससे वह निरंकुश नहीं हो पाता था। वैदिक युग में शासन का स्वरूप धर्म के साथ-साथ रहता था। पुरोहित एवं सेनापति का विशेष महत्व था ही, परन्तु सभा-समिति का सभी पर अंकुश होता था।

"समिति" शब्द का अर्थ है--दूर दूर से आकर एकत्रित लोग। "अथर्ववेद" सप्तम कांड के 12वें सूक्त में भगवान के उपदेश से पता चलता है कि इन सभाओं में बड़े बड़े विद्वान (ज्ञानी) इकट्ठे होते थे और राजा का राज्य कार्य के लिए शिक्षा देते थे। राजा इन लोक-सभाओं की अवहेलना नहीं कर सकता था, क्योंकि ये सभायें प्रजापति परमात्मा से उत्पन्न समझी जाती थीं। इन सभाओं को नरिष्ठा (कल्याणकारी) के नाम से भी पुकारा जाता था। उनमें उपस्थित ज्ञानी और वर्चस्वी सभापदों की सम्मति के अनुसार ही राजा कार्य करता था। यथा--

सभा चमा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।

येना सगच्छा उप मां न शिक्षाच्चारू वदानि पितरः संगतेषु।।

विद्यते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि।

एषामहं समासीनानां बचर्न्ं विज्ञानमाददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो आभिन्द्र भागिनं कृणु।।

(अथर्ववेद 7/12/1-3)

उक्त मंत्र के अनुसार वेद भगवान का यह वाक्य कि राजा वही श्रेष्ठ है जो इन लोक-सभाओं के पीछे चलने वाला हो। आगे वेद भगवान् कहते हैं:--

राजान सत्यः समितीरियानः ..

((ऋग्वेद 9/92/6)

सभा-समिति, सेना और विद्वान उसी राजा के पीछे चलते हैं जो कि प्रजा की सम्मति के पीछे चलने वाला हो। जो राजा सभा और समिति की परवाह नहीं करता उसे सभा-समिति से सहायता की आशा करना व्यर्थ है। यथा--

सभिशोजनूव्यचलत। स सभा च
समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलत्

(अथर्व. 15/9/1-2)

अतः राजा सभा-समिति के अनुसार आचरण भी करते थे। वेद भगवान राजा को तीन समितियों की आज्ञाओं के पालन का उपदेश देते थे--अर्थात् सभा, समिति, एवं मंत्रिमंडल।

त्रीणि राजाना विदथे पुरूणि परि
विश्वानि भूषथः सदांसि।

(ऋग्वेद 3139)

उक्त आज्ञा का पालन राजा वैदिक युग में करता था। वेद राजा को सभापति के नाम से संबोधित करते हैं--

नः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च।

(यजु. 1624)

इससे स्पष्ट होता है कि राजा सभा की बिना स्वीकृति के कोई कार्य नहीं कर सकता था और वास्तव में शासन करने वाली संस्था सभा ही है। राजा मात्र उसका सभापति है।

प्रो. के. पी. जायसवाल ने सभा-समिति का वर्णन करते हुए लिखा है कि आर्य-जाति के प्राचीन रूप, साहित्य में हम पाते हैं कि उस काल में राष्ट्रीय जीवन और विधियों को लोकप्रिय सभा-समितियों द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था। समिति सम्पूर्ण प्रजा की राष्ट्रीय सभा थी, राजा का चुनाव करती थी। राजा के सभी महत्वपूर्ण मामलों पर विचार किया करती थी। समिति विकसित समाज की संस्था थी। दूसरी संस्था सभा थी, जिसे नरिष्ठा भी कहते थे। सम्भवतः यह चुने हुए विशिष्ट व्यक्तियों की समिति की सत्ता के अंतर्गत काम करने वाली एक स्थायी समिति थी। समिति और सभा प्रजापति की दो पुत्रियां कही गई हैं। सभा के अधिकार क्षेत्र समिति से अधिक थे।

विलसन तथा लुडविग महोदय ने सभा को उच्चतर भवन और समिति को निचला भवन कहा है। त्सिम्मर के अनुसार, जिनका मत अधिक उपयुक्त माना जा सकता है, सभा ग्राम-संस्था कही गई है एवं समिति केन्द्रीय संस्था। "अथर्ववेद" 10(8)8-13 तक दो मंत्रों के आधार पर पहले सभा का, बाद में समिति का, उसके बाद में मंत्रणा-परिषद् का उल्लेख मिलता है। यह क्रम उस समय के संवैधानिक विकास का परिचायक है। प्रारंभिक अवस्था में प्रत्येक ग्राम प्रायः स्वतंत्र रूप में अपना पृथक-पृथक प्रबन्ध करता था। सर्वसाधारण विषयों को तय करने के लिए ग्राम-निवासियों ने प्रबन्धकारिणी स्थानीय संस्था बना ली थी, जो सभा के नाम से विख्यात हुई। कालान्तर में जब राज्य की स्थापना हुई और राजाओं के अंतर्गत अनेक ग्राम आ गये तो सार्वजनिक विषयों के लिए केन्द्रीय प्रशासनिक संस्था की स्थापना हुई जो समिति कहलाई।

डा. राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार "ऋग्वेद" के मंत्रों में कई स्थलों पर सभा का उल्लेख है--(6) 28 (6, 8) 4 (9, 10) 34 (6), किन्तु उनसे उसके स्वरूप एवं कार्यों का उल्लेख नहीं मिलता। उसका अर्थ संसद भी है और सामाजिक सम्मेलन तथा सार्वजनिक विषयों पर विचार करने के लिए सभा-स्थल से भी अभिप्राय है। सभा में श्रेष्ठ व्यक्ति सभासद् [ऋग्वेद (10) 71(10)] और सभा के योग्य व्यक्ति सभेय कहलाते थे [ऋग्वेद 2(24)(13)]। उच्चाकुल में उत्पन्न सुजात ऋग्वेद 10(1)(4) व्यक्ति सभा में आते थे। ऋग्वेद-कालीन सभा वृद्ध या प्रवर जनों की परिषद् या समिति थी--यह मत प्रो. के. पी. जायसवाल ने अपनी पुस्तक "हिन्दू पोलिटी" के अध्याय 2 एवं 3 में व्यक्त किया है।

सभा--

सभा में विजय प्राप्त करने के लिए एक मंत्र पढ़ा जाता था--

विद्म ते सभे नाम नरिष्ठा नाम वा असि।

ये के चे सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः।।

(ऋग्वेद 7/2/25)

अर्थात् हे सभा, मैं तेरा नाम जानता हूं, तेरा नाम नरिष्ठा (अजेय) है। इसलिए तेरे जितने सभासद् हों, वे सब समान विचार रखने वाले हों। डा. आर. के. मुकर्जी की पुस्तक "हिन्दु सभ्यता" (पृष्ठ 83) में भी उक्त मंत्र का विस्तृत समर्थक विश्लेषण मिलता है। विद्वान वेदोपाध्याय का कथन है कि सभा न्याय का कार्य करती थी और उसका प्रधान राजा स्वयं होता था। इसको राष्ट्रीय न्यायालय की भी संज्ञा दी गई है। सभा का अध्यक्ष सभापति कहा जाता है। राजा सभा के निकट रहता था और उससे काफी अच्छे संबंध रखता था।

वैदिक साहित्य में सभा के जो उल्लेख मिलते हैं, उनमें भी सभा का ग्राम-संस्था होना सिद्ध होता है। ऋग्वेद 10/34/6 में अश्व तथा रथ पर आरूढ़ सभा में जाते हुए सभासदों का उल्लेख मिलता है। संभवतः ग्राम के धनी-मानी व्यक्तियों का विशेष स्थान था। वे सब रथ पर या घोड़ों पर चढ़कर जाते होंगे। एक स्थान पर सभा के सदस्यों को न्यायकर्ता माना गया है। न्याय करते समय इनके ऊपर किसी प्रकार की शंका नहीं की जाती थी। यथा--

सर्वे नंदन्ति यशसागतेन सभासाहेन संख्या संखायः।

किल्विषस्पृवत पितुषणिहर्येषाभरं हितो भवति वाजिनाय।।

एक स्थान पर सभा के सदस्यों की विशेषताएं दर्शाते हुए लिखा गया है कि जहां अच्छे आदमी न हों, वह सभा नहीं है और जो अन्याय की बात करें वे भी अच्छे आदमी नहीं हैं और वे पुरुष जो अपने स्वार्थों का त्याग कर न्याय की बात करते हैं वे ही अच्छे पुरुष माने जाते हैं। यथा--

न सा सभा यत्र न सन्तिसन्तो ये नभणन्ति .. धर्मम्।
राग च दोषं च विहाय धर्म भणन्तश्च भवन्ति संताः।

ऋग्वेद 8/4/9 के अनुसार सभा के सदस्य कुछ स्वार्थी तत्वों का संभ्रान्त सभासद बनने के लिए प्रार्थना करते थे--"यहां जो लोग उपस्थित हैं--मैं उनके तेज एवं ज्ञान को ग्रहण करता हूं। हे इन्द्र, मुझे इस सम्पूर्ण संसद का नेता बनाओ। जो तुम्हारा मन किसी अन्य ओर गया हुआ है या तुम्हारा मन किसी बात को पकड़ कर बैठ गया है, मैं तुम्हारे उस मन को हटाता हूं, तुम्हारा मन मेरे अनुकूल हो जाये"। कहने का तात्पर्य यह है कि सभा का मुख्य कार्य न्याय करना होता था, क्योंकि उसे नरिष्ठा कहा गया है।

विदंते सभे नाम नरिष्ठा, नाम वा असि
(जातक पृ. 509)

"ऋग्वेद" में सभा को "किल्विषस्पृत" कहा गया है, जिसका अर्थ है पाप या अपराध का परिमार्जन करने वाली सभा। राजा भी सभा के प्रति उत्तरदायी था। सभा आजकल की संसदों की भांति राष्ट्र नेता अर्थात् राजा को राज्य संबंधी संचालन कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराती थी। एक स्थान पर लिखा गया है कि राजा सभा का सम्मान करता था।

समिति--

प्रो. के. पी. जायसवाल ने समिति को निचला सदन माना है और कुछ विद्वानों ने इसको एक केन्द्रीय राज्य संस्था माना है। "ऋग्वेद" में राजा कहता है--

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमाददे।

अस्याः सर्वस्या संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु।।

यद्व वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।

तद्व आवर्तयामसि मयि वो रमतां मनः

अर्थात् मैं तुम्हारा विचार और तुम्हारी समिति स्वीकार करता हूं। ऋग्वेद में इस समिति के अंतर्गत राजनैतिक कार्यों के सम्पादित होने का आभास पाते हैं। इसमें बुद्धिजीवी अधिकांश रूप में होते थे और इसका प्रधान "पति" या "ईशान" (अथर्ववेद 6/12/2) के नाम से पुकारा जाता था। ईशान को पूरे अधिकारी समिति के संचालन के लिए थे। इनके कुछ सदस्य राजा द्वारा नियुक्त, कुछ जनता द्वारा और कुछ बुद्धिजीवियों या धनी मानी पुरुषों से चुने जाते थे। ग्रामपति की इस समिति में विशेष भूमिका रहती थी। वह समिति के सदस्यों को अपने व्यवहार एवं कार्यों से आकर्षित करता था। राजा और समिति में राष्ट्र की अभिवृद्धि के कारण समानता का होना आवश्यक था। इस मंत्र में प्रार्थना की गई है कि राजा और समिति दोनों के मंत्र, मन, चित्त एवं हृदय समान हों (ऋग्वेद 10/71/10)। सभा और समिति में क्या भेद था--यह वैदिक साहित्य में स्पष्ट नहीं है, पर वैदिक मंत्रों का अनुशीलन कर विद्वान इस मत पर पहुंचे हैं कि समिति सभा की तुलना में बड़ी सभा थी और यह माना जाता था कि वह सम्पूर्ण प्रजा का प्रतिनिधित्व करती थी। राजा समिति में उपस्थित रहता था

और समिति के "पति" अध्यक्ष को ई-शान कहा जाता था (ऋग्वेद 10/191)। समिति के सदस्यों को सम्बोधित कर कहा गया है—"तुम एक साथ मिलकर एकत्र हो, तुम साथ मिलकर एक बात कहो, तुम्हारे मन एकसदृश्य हों। पूर्वकाल के देवता लोग समान रूप से चिंतन करते हुए जैसे बरतते रहे हैं। तुम्हारा मन एकसमान हो, तुम्हारी सम्मति एक समान हो, तुम्हारा मन और चित्त समान हो, तुम्हारे निर्णय समान हों, जिससे तुम प्रसन्नता-पूर्वक एक मत होकर रह सको"। राजा की नियुक्ति समिति द्वारा होती थी और राजा उसके प्रति उत्तरदायी होता था। राजा सभाओं को स्वीकार करते हुए उनके समक्ष निम्न प्रतिज्ञा करता था——

पृष्ठों से राष्ट्रमुदरमंसो ग्रीवाश्च श्रोणीति।

उरू अरत्नी आनुनीविंशों में लगानि सर्वत्।। (यजु. 20/8)

अर्थात् "मेरी प्रजाओं। मैं तुम्हारे विचार और तुम्हारी सभा को स्वीकार करता हूं। तुम्हारी सभायें जो भी निर्णय लेंगी, उसे मैं सदा ही स्वीकार करने की प्रतिज्ञा करता हूं। इससे स्पष्ट है कि राजा समिति के निर्णयों का क्रियान्वयन करता था। संवैधानिक दृष्टि से सार्वभौम सत्ता समिति के हाथ में थी। राज्य की नीति निर्धारित करते समय सभी को एकमत होना पड़ता था——"समानो मंत्रः समितिः समानी, **सभी सदस्यों के समान उद्देश्य और समान** विचार की व्याख्या भी समिति में होती थी। राजा और समिति के संबंध आजकल की संसद और प्रधानमंत्री की तरह थे।

राजा का यह कर्तव्य था कि वह समिति की कार्यवाहियों में उपस्थित रहे यदि वह उपस्थित नहीं होता था तो समिति अपना उद्देश्य पूरा नहीं कर पाती थी। जब तक समिति रही तब तक प्रत्येक कार्यवाही में राजा उपस्थित रहता था। जैसे—

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ।।

समानो मंत्रः समिति समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।

समानं मंत्रमभिमंत्रेय वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।

समानी व आकूतिः समानाः हृदयानि वः।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति

(ऋग्वेद 10/41/2-4)

संधि और विग्रह के समय समिति की बैठकें बुलाई जाती थीं। अथर्ववेद के 2/27 में समिति की स्पष्ट व्याख्या की गई है। समिति में प्रार्थना की जाती थी कि हे ईश्वर हमारा शत्रु परास्त हो और हमारी विजय हो। राष्ट्र की प्रगति के विकास संबंधी कार्य समिति किया करती थी। बुद्धिजीवी समिति में आने की इच्छा प्रदर्शित करते थे—— विशस्त्वा सर्वाः वाच्छन्तु। (ऋग्वेद 21/73, अथर्ववेद 6/87/1, ध्रुवाय ते समितिः कल्पन्तामिह (अथर्ववेद 6/88/3), त्वां विशो वृणतां राज्याय (अथर्ववेद 3/4/2)।

कुछ विदेशी इतिहासकारों ने वैदिक युगीन समिति की आलोचना भी की है। समिति के अंदर शोर होना, बाहुबल का प्रयोग, अनुशासन-हीनता का भी वर्णन किया है। पर हमें जो मंत्र मिले हैं, और जिसमें समिति के सदस्यों ने इन्द्र से एक समान होकर प्रार्थना की है, उनसे स्पष्ट है कि उस समय कोई अनुशासनहीनता या लज्जास्पद बात नहीं थी।

सभा और समिति के अतिरिक्त एक और सभा थी, जिसका नाम बृहद्रथ था। इसका मुख्य कार्य यज्ञ, यज्ञादि विषयक शुद्ध धार्मिक कृत्य करना था। गौतम-गृह्यसूत्र में जो हमें तथा समाज को निर्देश मिलते हैं, उन्हीं का परिपालन यह संस्था करती थी। एक और संस्था का उल्लेख भी मिलता है——सेना। आगे चलकर ब्राह्मण ग्रंथों ने सभा और समिति का स्थान समाप्त कर दिया।

ड्कमियर ने सभा और समिति के पतन की ओर इंगित करते हुए लिखा है कि राजाओं के अधिकार-क्षेत्रों में वृद्धि ने सभा-समिति के पतन में योग दिया और उसी काल में प्रायः धीरे-धीरे सभा-समिति का रूप बिगड़ने लगा। राजा का प्रभुत्व सभा और समिति पर छा गया। राजा को आगे चलकर दैवी शक्ति के रूप में माना जाने लगा। पर वैदिक युगीन राजा सभा और समिति के निर्णयों को क्रियान्वित किया करता था; वास्तविक शक्ति सभा और समिति नामक संसद में निहित थी।

भारतीय विधिशास्त्रियों की आर्थिक संचेतना

डा० सत्यपाल नारंग

स्मृतियों एवं कानून-व्यवस्था के अन्य स्रोतों में उपनिबद्ध नियम एक जैसे नहीं हैं। इसका कारण है उनका कालभेद एवं स्थान भेद। धर्मसूत्रों, महाभारत, कौटिल्य के अर्थशास्त्र तथा पश्चाद्वर्ती निबन्धकारों ने अलग-अलग कालों में नियमों का विधान किया जो मुख्यतः प्रचलित समाजशास्त्र एवं आर्थिक-व्यवस्थाओं से इतने जुड़े हुए थे कि किसी भी काल एवं देश की स्थिति के अनुकूल उनमें परिवर्तन हो सकता था। ये नियम न तो रूढ़िवादी परम्पराओं के घेरे से घिरे हुए थे और न ही इतने प्रगतिशील कि प्रतिदिन उसमें परिवर्तन दिखाई दें। इन नियमों का मुख्य उद्देश्य था--सामाजिक व्यवस्थाओं को स्थिर रखना तथा लोक-कल्याण के लिए उन्हें गति प्रदान करना। भारतीय समाज की संरचना के साथ उनका गहन सम्बन्ध था तथा इनमें मुख्य सिद्धान्त कार्य करता था 'विधान व्यक्ति के लिए है'। इसलिए हमारे विधिशास्त्री दण्ड व्यवस्था का विधान भी व्यक्ति, उसकी योग्यता, देश काल के अनुरूप स्थिति अवस्था, आयु, यश, ज्ञानादि, इस सिद्धान्त से न तो दण्ड व्यवस्था भंग होती थी और न ही दण्ड-व्यवस्था के मात्र घटाने में व्यक्ति पर अत्याचार होता था। हमारे कवियों तथा कालिदास--ने भी रघुवंश में इसे आदर्श के रूप में स्वीकार किया ''यथा-पराधण्डानाम''।

कई विद्वानों का यह आरोप है कि भारतीय नियम परम्परा से एक जैसे चलते आते थे और उसमें किसी प्रकार की लोक-चेतना नहीं थी। राजा अपने कोष की पूर्ति के लिए जैसी भी चाहे व्यवस्थाएं बना लेता था। आर्थिक व्यवस्था को ध्यान में न रखते हुए किसी भी व्यक्ति पर कानून के बोझ के शिकार आज भी कई धनी लोग भीख मांगते दिखाई देते हैं। इसका मुख्य कारण है हमारा सिद्धान्त--''कानून के सामने समता'' Equality before law निस्सन्देह यह सिद्धान्त आधुनिक चेतना का उत्कृष्ट उदाहरण है। परन्तु यदि व्यवस्थाएं व्यक्तिपरक न होकर केवल सिद्धान्तपरक हो जाती हैं तो इससे व्यक्ति, सामाजिक संरचना एवं राष्ट्रीय व्यवस्था को भी धक्का लगता है। इसलिए भारतीय विधिशास्त्री न केवल सिद्धान्त को और न ही केवल व्यक्ति को अथवा समाज को एकांगी बनाकर नियमों का विधान करते थे परन्तु उसे समकालिक लोककल्याण एवं राजकल्याण से जोड़ने की चेष्टा करते थे। यही हमारी कानून व्यवस्था का एक मुख्य आधार है। आज भी सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश उच्चतम निर्णय लेते हुए इन पक्षों का विधिवत् चिन्तन करते हैं जिनसे समाज, राष्ट्र एवं कई बार उच्चतम अधिकारियों को सामंजस्य रहे तथा कानून व्यवस्था केवल संविधानिक ढांचे तक ही सीमित न रहे।

भारतीय विधि शास्त्री इस प्रकार की आर्थिक चेतना से सर्वथा अभिज्ञ थे और लोक में प्रचलित विचारधाराओं एवं ''व्यक्ति की आर्थिक स्थिति'' तथा मानसिक स्थिति को भी उतना महत्व देते थे जितना कि प्रचलित विधिशास्त्र में गुंथित नियमों को। इस बात पर भी ध्यान दिया जाता था कि क्या किसी अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नियम की समाज में उपयोगिता है अथवा नहीं।

व्याज-व्यवस्था : इस व्यवस्था का कोई समनियम उपलब्ध नहीं होता। इसमें भी लोक से जुड़ी हुई वर्णव्यवस्था एवं उसकी व्यावहारिक उपादेयता कार्य करती है। उदाहरणतः ब्राह्मण व्याज के लिए धन उधार नहीं दे सकता और कुछ परिस्थितियों में क्षत्रियों पर भी इस प्रकार का प्रतिबन्ध था (वासिष्ठ धर्म सूत्र 2,40) आवश्यकता के होने पर भी इस पर प्रतिबन्ध था। इसका भी मुख्य कारण है कि ऋण पर धन देने से ब्राह्मण की वृत्ति बिगड़ती है और उसमें धनलोलुपता उत्पन्न हो सकती है जिससे समाज की संरचना एवं संतुलन को आघात पहुंचता है। निस्संदेह इस नियम से ब्राह्मणों को अपने लाभ से वंचित किया गया और उनके लाभ को समग्र संरचना की सुरक्षा पर दांव पर लगाया गया। विधिशास्त्रियों ने इस प्रश्न को पुनः सोचा। याज्ञवल्क्य ने इसमें परिवर्तन

किया कि ब्राह्मण आवश्यकता होने पर अपने धन को उधार दे सकता था । यह विधान ब्राह्मणों की आर्थिक स्थिति एवं आवश्यकता को देखते हुए बनाया गया। [illegible] वर्णों को समान रखने तथा ब्राह्मण को इस अधिकार से वंचित करने के विचार से इसमें पुनः परिवर्तन किया गया और उसे लाभ के लिए उधार देने का अधिकार दे दिया गया व्याज के प्रकार भी आर्थिक स्थिति पर निर्भर थे । इस बात का ध्यान रखा जाता था कि उसके प्रत्यावर्तन की विधि क्या है; उसमें कितनी संभावना मूलक्षति की है तथा व्यक्ति की ऋण वापिस देने की आर्थिक स्थिति कैसी है। कहीं ऐसा तो नहीं कि व्याज के लोभ में मूल का भी नाश हो जाए । व्याज की दर इस बात पर भी निर्भर करती थी कि धन किस कार्य में लगाया जा रहा है । मनु एवं याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि धन कोई वस्तु गिरवी रखकर लिया गया है तो उसका व्याज उस धन के व्याज से अलग होगा जहां कोई भी वस्तु गिरवी रखी हुई नहीं है ।

निस्सन्देह इस बात पर भी ध्यान रखा जाता था कि जिस ऋण की दर सामान्य स्थिति में कम हो, यदि वह ऐसे कार्य में लगाई जाती है जहां मूल के विनाश होने का खतरा अधिक हो तो उसका व्याज बढ़ जाता था और यदि वह सार्थवाहों को दिया जाता था तो दर और भी अधिक हो जाती थी। दर के इस तारतम्य का मुख्य कारण था 'जोखिम का वहन' । सार्थवाहों के व्यापार में जोखिम अधिक था और लाभ भी । अतः ऋण पर दर की राशि भी अधिक थी । कहीं यह 220 प्रतिशत भी हो सकती थी । फार्बेस ने गुजरात के इतिहास 'रासमाला' में इस प्रकार की सार्थवाहों की स्थिति की एक लोकोक्ति उद्धृत की है जिससे यह ऊंची दर स्पष्ट हो सकती है । इस प्रकार की दर आर्थिक परिस्थिति की चेतना एवं लोक-सम्बन्ध को अभिव्यक्त करती है ।

व्यापार में लगाए गए धन की व्याज की दर सामान्य अथवा किसी मित्र को दिए हुए धन से बहुत अधिक भिन्न थी । जैसा पहले कहा जा चुका है कि यह भी गिरवी अथवा बन्धकत्व के कारण बदल सकती थी। दर के परिवर्तन के कारण आर्थिक होने के साथ-साथ सामाजिक भी थे और मित्र विशेष के द्वारा ऋण वापिस न दिए जाने की स्थिति में अधिक व्याज की भी व्यवस्था करते थे। यदि कोई मित्रद्रोह करता है और भावुकता का शोषण करने की चेष्टा करता है तथा धन होने पर भी उसे वापिस नहीं करता तो विधिशास्त्री न केवल उच्चतम दर की व्यवस्था करते हैं जो 60 प्रतिशत तक हो सकता है । यह आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टि के कारण तथा व्यक्ति की सामाजिक संरचना को पुष्ट बनाने के लिए ही विहित है ।

इसके विपरीत यदि कोई गिरवी रखी हुई वस्तु का उपभोग करता है, उसे ऋण पर व्याज लेने का कोई अधिकार नहीं । ऐसी अवस्था में झगड़े की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस स्थिति को और आर्थिक व्यवस्था को समन्वित करने के लिए पश्चाद्वर्ती विधिशास्त्रियों ने इस नियम का विधान किया कि व्याज न देकर गिरवी रखे हुए खेत और उसकी फसल, पशु और उनका दुग्धादि तथा सेवकों की सेवाएं ऋणदाता ले सकता है । यह विधान इसलिए किया गया क्योंकि व्याज लेने की अपेक्षा यह अधिक व्यावहारिक, सुविधाजनक तथा ऋणदाता एवं अधमर्ण में अधिक सामंजस्य करने वाला नियम है ।

इन्हीं सामाजिक एवं आर्थिक सुविधाओं का ध्यान रखते हुए कौटिल्य ने यह नियम बनाया कि यज्ञ में लगे हुए लोगों से, रोगियों से, अध्ययनरत विद्यार्थियों से, अल्प-वयस्क एवं निर्धनों से भी व्याज न लिए जाए। इसका स्पष्ट कारण है कि वे व्याज देने में असमर्थ हैं आर्थिक दृष्टि से और यदि उन पर दबाव डाला जाएगा तो वे और अधिक सामाजिक अव्यवस्था का शिकार होकर दोषों के भागी बनेंगे, और इससे अपराधों को बढ़ावा मिलेगा। आज भी बड़े शहरों में 'स्लम एक्ट' Slum Act में आर्थिक स्थिति का ध्यान रखा जाता है कि गरीब एक झुग्गी से यदि उजाड़ा जाए तो क्या वह दूसरी झुग्गी तो नहीं बना लेगा?

व्याज के दर की स्थिति इस सिद्धान्त पर भी निर्भर करती थी कि जिस पदार्थ के लिए धन उधार दिया जा रहा है— क्या उसकी समाज में कोई उपयोगिता है? यदि वह उपयोगी पदार्थ है तो व्याज की दर कम हो यथा कपड़े, ऊन, खाद्य पदार्थ आदि (दुगुना तिगुना आदि) परन्तु मादक द्रव्यों पर आठ गुणा व्याज भी हो सकता है।

इसी प्रकार फल, फूल, कपास, धागा, चमड़ा, गव्य, नमक, तेल, शक्कर, शहद पर व्याज की दर कम थी जबकि अन्य पदार्थों पर अधिक।

निर्धनों की ओर विशेष ध्यान रखा जाता था अतएव घास और लकड़ी पर व्याज नगण्य सा है अथवा लिया ही नहीं जाता था।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में भारत में उत्पन्न होने वाली तथा बाहर से आने वाली वस्तुओं के मूल्यों का निर्धारण करने के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। इसका मुख्य कारण भी यह है कि जो वस्तुएं भारत में उपलब्ध होती थीं उन पर सामान्य कर था। परन्तु जो आवश्यक वस्तुएं बाहर से आती थीं उन पर कर और भी कम था ताकि बाहर के व्यापारियों को वस्तुएं लाने में प्रोत्साहन मिल सके। आज भी ऐसी नीतियों को देश की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तित किया जाता है।

स्थानीय वस्तुओं के लिए आवश्यक था कि कीमतें बहुत ज्यादा न घटें न बढ़ें। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में स्थानीय कीमतों को बढ़ाने घटाने तथा आर्थिक स्थिति के अनुसार परिवर्तन करने के भी कई सिद्धान्तों का उल्लेख है। इन वस्तुओं की कीमतों का निर्धारण अनेक प्रकार के खर्चों को निकाल कर कुछ लाभ के साथ किया जाता था ताकि बाहर से होने वाला तथा आन्तरिक व्यापार हतोत्साहित न हो जाए। स्थानीय वस्तुओं की कीमतें भी कुछ सिद्धान्तों को तथा लोककल्याण को ध्यान में रखते हुए घटाई बढ़ाई जा सकती थीं। अन्यथा उन पर नियन्त्रण था। यदि कुछ आर्थिक असुविधाएं हों तो वस्तुओं

के क्रयविक्रय के स्थान पर विनिमय के सिद्धान्त को भी लगाया जा सकता था ।

आर्थिक स्थिति एवं भूमिका उपयोग :

बिना कृषि की भूमि तथा ऐसी भूमि जहां लोग नहीं रहते, निष्प्रयोजन सी प्रतीत होती है इस प्रकार की भूमि लोगों तथा राजा दोनों के लिए बोझ सी बन जाती है। अतएव कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार की भूमि में लोगों को बसाने और उपजाऊ बनाने का उल्लेख है। इसमें भी जलसहित एवं जलरहित भूमि का ध्यान किया जाता था। लोगों को ऐसी भूमि में बसाने की व्यवस्था में अन्य स्थानों से लोगों को लाने का भी विधान है। आर्थिक प्रगति को ध्यान में रखते हुए तथा लोगों को आकर्षित करने के लिए अनेक प्रकार की सुविधाएं इस प्रदेश में दी जाती थीं। याज्ञिकों, पुरोहितों, वेदज्ञों को निःशुल्क भूमि दी जाती थी तथा उन्हें कर से मुक्त रखा जाता था। राजकीय प्रशासकों, यथा अध्यक्ष, गणक, वैद्य, पशुवैद्यों को भी इस प्रकार की भूमि दी जाती थी और उन्हें यह भूमि बेचने का अधिकार नहीं था। इस प्रकार के बसाए हुए गांव में अनेक प्रकार की सुविधाएं दी जाती थीं। पशुपालन, व्यापार, सड़कों का निर्माण, मण्डियों, तालाबों का निर्माण तथा लोगों को पुष्ट करने के लिए अन्य सुविधाएं दी जाती थीं। इससे राजा तथा प्रजा की आर्थिक स्थिति पुष्ट होती थी। जो लोग खेती नहीं करते थे उनकी भूमि छीन ली जाती थी। खेती के लिए बीज, पशु तथा धन की भी व्यवस्था थी। इस प्रकार भूमि की समृद्धि लोक-कल्याण से तथा कर की प्राप्ति राज्य कल्याण के समन्वय से आर्थिक संचेतना की अभिव्यक्ति होती है।

कर-व्यवस्था

भारतीय विधिशास्त्रियों के कर-व्यवस्था सम्बन्धी सिद्धान्त भी लोककल्याण तथा आर्थिक सचेतना को अभिव्यक्त करते हैं यद्यपि राजा के कोष खाली होने पर अनेक प्रकार की शक्तियों एवं कपटनाटकों का भी सम्पत्ति हथियाने के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उल्लेख है। राजा लोककल्याण के लिए ही उनसे कर लेता था और उन पर हजारों गुणा अधिक खर्च करता था। इस आदर्श को महाकवि कालिदास ने भी उल्लिखित किया है––

प्रजानामेव भूत्यर्थ स ताभ्यो बलिमग्रहीत्
सहस्त्रगुणं सष्टुमादत्ते हि रसं रविः।
––रघु.-1.18

कर को ग्रहण करने के लिए कुछ सिद्धांतों का विधान किया गया। इसमें करदाता की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को देखना भी आवश्यक है । राजा के शक्तिमान् होने पर भी जब तक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि करदाता कर नहीं देना चाहता तब तक शक्ति का प्रयोग नहीं किया जाता। राजा को प्रजा से मांगना चाहिए––छीनना नहीं चाहिए। कोष के समाप्त हो जाने पर राजा धनिकों से याचना करता था और याचना पर न देने पर ही बल प्रयोग करता था। राजा को प्रजा से कर उसी प्रकार लेना चाहिए जैसे गाय से बछड़ा दूध लेता है या जैसे भ्रमर फूलों से रस लेता है। गाय के स्तन को काटने से न गाय रहेगी और न ही दूध। इसी प्रकार, प्रजा को निर्धन बना कर बलपूर्वक कर-ग्रहण करने से न प्रजा रहेगी, न ही कर। यदि राजा बलपूर्वक प्रजा से कर ग्रहण करता है तो वह अपनी ही हानि करता है। अतएव राजा को प्रतिदिन गाय के समान कर ग्रहण करना चाहिए।

इन उपमाओं में दो बातें स्पष्ट हैं-कम से कम कर का ग्रहण करना और सदयता से ग्रहण करना। (आज भी कुछ लोग इन्कम-टैक्स सरकार को न देकर निरीक्षकों को इसलिए घूस दे देते हैं क्योंकि कर के न देने में कठोर दण्ड-व्यवस्था है और कई बार अधिकारी इस शक्ति का दुरुपयोग भी करते हैं। यह व्यवस्था व्यक्ति की दातृत्व-शक्ति को न देख कर केवल दण्डव्यवस्था से उसे भयभीत करती है। अतएव विधिशास्त्री व्यक्ति की देय शक्ति की ओर अधिक ध्यान देते थे और इसे आर्थिक स्थिति के साथ जोड़ने की चेष्टा करते थे। विषम परिस्थितियों में करों की मुक्ति भी इसी चेतना को अभिव्यक्त करती है। लोभ का अभाव तथा विवेक––ये दो तत्व कर-ग्रहण करने में सिद्धान्त रूप में स्वीकार किए गए हैं। आदर्श राजा के लिए लोभ का अभाव प्रायः संस्कृत साहित्य एवं नीति ग्रन्थों में बिम्बित होता है और विवेक का प्रयोग प्रायः सब क्षेत्रों में विधिशास्त्रियों ने किया है।

इस विवेचना से यह सिद्ध होता है कि भारतीय विधिशास्त्रियों की दृष्टि केवल परम्परावादी, रूढ़िवादी या लकीर की फकीर नहीं थी। यथा काल, देश व नियमों में परिवर्तन का विधान करते थे और राजा को तदनुकूल कार्यान्विति की सलाह भी देते थे। यह उनकी दूरदर्शिता, लोककल्याण तथा आर्थिक चेतना की अभिव्यक्ति करती है।

प्राचीन भारत में नगर जीवन

डा० यशवन्त कठोच

नगर जीवन का विकास "सभ्यता" का विकास है। प्राचीन भारत के राजा और राजशास्त्री इस तत्व को भली-भांति जानते थे। उन्हें पारलौकिक विषयों की जितनी चिन्ता थी उतनी ही इहलौकिक समृद्धि की भी । वे लौकिक जीवन की प्रगति के लिए सदैव सचेष्ट रहते थे। इस प्रगति के लिए पौर जीवन का प्रभूत विकास हुआ, यह सिद्ध करने के लिए हमारे पास यथेष्ट प्रमाण हैं। नगरों की बहुसंख्या, उनका श्रेणी-भेद, उनका विन्यास-विधान और उनके महत्त्व को प्रकट करने वाले हमारे पास अगणित शब्द और विस्तृत विवरण उपलब्ध हैं।

यह बात स्वीकृत हो चुकी है कि संसार को प्राचीनतम नगर और नगर-सभ्यता की देन सिन्धु-सभ्यता के लोगों की ही है। सर लिओनार्ड वूले का यह निष्कर्ष सर्वथा सत्य है कि "इतनी उन्नत सभ्यता वाणिज्य के बिना संभव ही न थी।" निश्चय ही, इस वाणिज्य के अवलम्ब बहुसंख्यक नगर रहे होंगे। हमारे इस अनुमान की पुष्टि बलूचिस्तान के सागर-तट से शिमला-पहाड़ियों तक 1000 मील में फैले इस सभ्यता के चिन्हों से होती है जो मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन के उपरान्त भी प्राप्त होते जा रहे हैं ।

ऋग्वेद में "नगर" शब्द नहीं मिलता। उसमें दस्युओं के आयसी (लौह वा इष्टिका-निर्मित) और अश्ममयी "पुरों" का उल्लेख है। शम्बर के सौ पुरों का वर्णन है (यः शतं श्म्बरस्यपुरो, 2·14·6)। ऋग्वेद में नहीं उत्तर-वैदिक साहित्य में आसन्दीवत्, काम्पिलय, कौशाम्बी, काशी जैसे विशिष्ट नगरों का उल्लेख मिलने लगता है। आर्य-प्रसार के साथ-साथ नगरों की संख्या बढ़ती चली गई होगी। बौद्धकाल में भारतभूमि जनाकीर्ण और समृद्ध नगरों से भरी-पूरी मिलती है। इस काल में चम्पा, राजागृह, सावत्थी आदि उत्तर भारत की छः महानगरियां थीं। प्लिनी (6-17) के अनुसार, सिकन्दर के आक्रमण काल में पश्चिमोत्तर भारत ही में अनेक नगर थे। मैगस्थनीज के कथन से इसकी पुष्टि होती है: "नगरों की संख्या अगणित थी। नदियों और समुद्र-तटों पर बसे नगर काष्ठ द्वारा, परन्तु ऊंचाई पर के नगर इष्टिका और मृत्तिका-निर्मित होते थे" (एरियन, इं०, 10)। तब पालिबोथ्रा (पाटलिपुत्र) भारत का विशालतम नगर था। सिन्धु नदी द्वारा पथ-परिवर्तन के कारण मरु बने प्रदेश में अरिष्टोबुलस ने एक सहस्र से अधिक नगरों और ग्रामों के अवशेष देखे जो कभी जर-संकुल थे। अरिष्टो., अंश 29-स्ट्रेबो, 15)। अकेले झेलम और व्यास के बीच बसी हुई नौ जातियों के राज्य में 500, ग्लो-साइ के राज्य में 37, और वरिष्ठ पौरव के राज्य में 300, नगर थे (स्ट्रेबो)। यूनानी लेखकों के इन वृतान्तों से स्पष्ट होता है कि चतुर्थ शती ई. पू. में केवल उत्तरापथ में ही नगरों की बड़ी संख्या थी।

नगरों की अनेक श्रेणियां थीं। अमर-कोश (2·2) में पुर, पुरी; नगरी, पत्तन, पुट्टभेदन, स्थानीय और निगम शब्द नगर-पर्याय के रूप में आये हैं। अर्थ-शास्त्र (2·1·3) में उत्तरोत्तर क्रम से संग्रहण, कार्वटिक वा खार्वटिक, द्रोणमुख और स्थानीय शब्दों का प्रयोग है जो क्रमशः दश, दो सौ, चार सौ और आठ सौ ग्रामों के केन्द्र होते थे। "विहार" विश्वविद्यालय नगर होते थे। "शिविर", "सेनामुख" और "स्कन्धावार" विभिन्न प्रकार के सैनिक सन्निवेशों के नाम थे। "द्रोणमुख" नदीमुख पर स्थित होता था "जहां जल-थल दोनों से माल उतरता था" (सार्थवाह, पृ. 163) यथा, ताम्रलिप्ति। "पुट्ट-भेदन" व्यापारिक नगर होता था, "एम्पो-रियम" का संवादी जहां माल की गाठें खोली जाती थीं जैसे शाकल। "निगम" शब्द कहीं नगर, कहीं वणिक-पथों पर व्यापारियों व कर्मकारों के नगर के रूप में प्रयुक्त हुआ है। "पत्तन" का प्रयोग राजधानी व समुद्रीपत्तन दोनों रूप में होता था। "समुद्रस्थानपट्टन" "एफी-टोरियम" होता था। "शाखानगर" उप-नगर व प्रत्यन्त-नगर होता था और, "खेट" व "खेटक" गर्हित व कुत्सित नगर । "निवेश" सार्थ की बस्तियां होती थीं। जैन उत्तराध्ययन (30·15·18) में पल्ली कर्वट, स्कन्धावार, सार्थ, दुर्ग, संवाह, मटम्ब, राजधानी आदि नगरवाची शब्द आये हैं जो विभिन्न प्रकार के जन-निवेशों के नाम थे। जैन-साहित्य ही में समुद्री बन्दरगाहों के लिए जल-पट्टन, पोत-पत्तन, बेलातटपुर जैसे शब्द का प्रयोग हुआ है।

प्राचीन भारत में वणिक अथवा जनायन पन्थों का जाल बिछा था। विजेता नृपति, साहसी तीर्थयात्री, व्यापारी सार्थ उन पर संचरण करते थे। भारतीय बेलातटों से व्यापारियों से भरे पोत द्वीपान्तर, पारे-समुद्र, पश्चिमोदधि की ओर, सुदूर पश्चिम के देशों की यात्रा करते थे । ये समस्त उल्लेख भी स्वतः प्रमाणित करते हैं

प्राचीन भारत का प्रमुख वाहन : रथ

कि प्राचीन भारत में नगर-जीवन अपनी तरूणाई पर था ।

नगर-विन्यास के विवरण धार्मिक और शिल्प दोनों प्रकार के ग्रन्थों में मिलते हैं । वास्तुविद्या और शिल्पशास्त्र पर ''म्यम्त'' ''मानसार'', 'विश्वकर्मा प्रकाश' आदि विपुल साहित्य उपलब्ध है । उन में यह विषय भूपरीक्षा, भूमिसंग्रह, दिक्परिच्छेद, पदविन्यास, बलिकर्मविधान, नगर-विन्यास, भूमिविधान, मण्डपविधान इत्यादि प्रकरणों में वर्णित है । दुर्ग व पुर की रक्षार्थ परिखा, वप्र, प्रकार, अट्टालक, गोपुर, प्रतोली और इन्द्रकोष होते थे। उनका श्रृंगार प्रशस्त महारथ्या (राजमार्ग), चत्वर, वीथी, हट्ट (आपण), उपवन और चैत्यों (देवालयों) द्वारा होता था । राजप्रासाद, आस्थानमण्डप सभागृह, अवरोधन या अन्तःपुर, क्रीडायतन, प्रमदवन, वापी या सरोवर, यन्त्रधाराओं से सुशोभित होते थे । उनकी श्रीवृद्धि अट्ट, तोरण, आलोकमार्ग (वातायन), पृष्ठतल (बरामदा) करते थे । नगरों में वेश्म, गृह, शाला, हर्म्य (धनियों का वास), सौध आदि बहुविध अधिवास होते थे । नवद्वार (श्वेता. उपनि., 3.18) और एकादश द्वारयुक्त (कठ उपनि., 1.5.1) पुरों का उल्लेख मिलता है । इन पुरों के रूप भी बहुविध होते थे--वर्ग, आयत, वृत्त, अण्डाकार, पद्माकार, धनुषाकार आदि ।

नगरों के महत्व को प्रकट करने वाले अनेक निर्देश मिलते हैं। दुर्ग या पुर का राज्य के सप्तांग में एक महत्वपूर्ण स्थान है । शुक्र के अनुसार, संकटकाल में यह राजा की रक्षा करता है । अग्निपुराण में वर्णित है कि विस्तृत सीमा, महापरिखा, उच्च प्रकार और गोपुर से युक्त ऐसे पुर में राजा बास करे जो पर्वत-नदी-मरु-वन का आश्रय लेकर बना हो (पृथुसीमं महाखातमुच्चप्रकार गोपुरम्। समावसेत् पुरं शैलसरिन्मरु वनाश्रयम् 11)। इसलिए पुर (राजधानी) की स्थापना राष्ट्र के मध्य में की जाती थी । यथास्थान औदक, पार्वत, वार्क्ष, ऐरिण और धान्व जैसे प्राकृतिक दुर्गों का निर्माण किया जाता था। वृहत्-संहिता में पुर का महत्व बताते हुए कहा गया है कि ''राजा सम्पूर्ण पृथ्वी को जीत ले परन्तु उसमें अपनी राजधानी ही सार है (जयेधरियाः पुरमेवसारं)। इस प्रकार पुर या राजधानी का महत्व तो था ही, परन्तु समृद्धि के केन्द्र राष्ट्र के अन्य नगरों का भी महत्व सुचिन्त्य था। कौटिल्य (2.3.2) का निर्देश है, ''राजा धनोत्पादन के मुख्य केन्द्र बड़े-बड़े नगरों का निर्माण करवाये''। निःसंदेह भारतीय नरेशों ने सोत्साह इसका अनुकरण किया भी ।

भारतीय नगरों के अनुकरण पर वृहत्तर भारत के कई नगरों का नामकरण हुआ है । उदाहरण के लिए, वक्षु के दक्षिणवर्ती बल्ख (प्रा., वैक्ट्रीआना) की राजधानी लघुराजगृह थी और श्याम की प्राचीन राजधानी अयोध्या । सिंहल की नगरियां नालंदा, अरुवेला और उज्जैनी थी तथा वृह्मदेश की श्रीक्षेत्र, मिथिला, राजगृह, वैशाली, वाराणसी और द्वारवती। इस प्रेरणा के कारण थे : भारतीय नगरों की राजनीतिक तथा धार्मिक महत्ता और आर्थिक सम्पन्नता ।[८] इसके वाहक बने--भारतीय राजकुमार, विद्वान और व्यापारी ।

अन्त में, भारतीय नगरों के सम्बन्ध में कुछ अन्य तथ्यों का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। प्रथम, अधिकांश नगरों का नामकरण संस्थापक नरेशों अथवा विजेताओं के नाम पर हुआ है, और कुछ का देवताओं के नाम पर । पार्जीटर (हि. ट्रे. पृ. 137) ने इसे एक ''सार्वभौमिक प्रथा'' बतलाया है । इसीलिए यहां संबंधवाचक स्थान नाम अधिक मिलेंगे । यथा, अंगदिया, पुष्कलावती, वैशाली, कौशाम्बी, हस्तिनापुर इत्यादि । द्वितीय, युग-युगों में नगर-नाम परिवर्तित होकर मृत्तिका-स्तरों की भांति एक दूसरे के ऊपर निर्मित होते रहे। निस्संदेह, जैसा मैक्समूलर ने कहा है, ''भारतीय नदियों के नाम में भारतीय नगरों के नाम से अधिक स्थायित्व है ।'' खाण्डवप्रस्थ (इंन्द्रप्रस्थ), मालिनी (चंपा), कुशस्थल (द्वारका), श्रीनगर (प्रवरसेनपुर-श्रीनगर) जैसे नाम-परिवर्तन के कुछ उदाहरण हैं। तृतीय, जनपद जैसे कभी अपनी प्रधान नदी के नाम से अभिहित होते थे वैसे ही राजधानी के नाम से भी । जनरल कनिंघम के अनुसार, भारतीय शासकों को उनके नगरों के नाम पर पुकारने की प्रथा यूनानियों में सामान्य थी ।

भारत का प्राचीन ज्ञान और आधुनिक विज्ञान

डा० मलय रंजन गोयल

आधुनिक युग विज्ञान का युग है और उसकी चमत्कारपूर्ण उपलब्धियों ने मानव जीवन में एक अभूतपूर्व क्रान्ति ला दी है। वैज्ञानिक अन्वेषणों और आविष्कारों के कारण ऐसी वस्तुएं दृष्टि के सम्मुख आती जा रही है जिनकी पूर्वकल्पना नहीं की जा सकती थी। यदि हम अपने प्राचीन ग्रन्थों का गहन अध्ययन करें और समाज में प्रचलित मान्यताओं पर गहराई से विचार करें तो इस तथ्य की पुष्टि होती है कि जो उपलब्धियां विज्ञान ने आज अर्जित की हैं, प्राचीन भारत में इन उपलब्धियों को प्राप्त करने की दिशा में सफल प्रयास किया गया था। वास्तव में विज्ञान की वर्तमान उपलब्धियां अतीत पर आधारित हैं।

भारत कृषि प्रधान देश है और जल ही उसका जीवन है। अतः वर्षा न होने पर या अपर्याप्त वर्षा होने पर ग्रामीण अंचलों में यज्ञ का सहारा लिया जाता है तथा विविध वर्षा अनुष्ठान सम्पन्न किये जाते हैं। इनकी पृष्ठभूमि में मूल भावना यही होती है कि वर्षा के देवता इन्द्र प्रसन्न होकर जलवृष्टि करा देंगे। भले ही हम इसे इन्द्र की कृपा स्वीकार न करें परन्तु पूना स्थित भारतीय उष्ण प्रदेशीय मौसम विज्ञान संस्था ने इस तथ्य को प्रकट किया है कि खैर की लकड़ी जलाने से प्राप्त धुएं और राख में बादल बनाने के गुण निहित होते हैं। दृष्टव्य है कि यज्ञ कार्य सम्पन्न करने में खैर की ही लकड़ी का प्रयोग किया जाता है। हमारे प्राचीन वेदों में खैर की लकड़ी, खैर वन एवं इसके धुएं से बादलों के बनने, विकसित होने और उन्हें बरसाने का प्रमाण मौजूद है। अब विज्ञान ने भी इस रहस्य का सफलतापूर्वक पता लगा लिया है।

हमारी प्राचीन परम्परा में सूर्य की उपासना का वर्णन मिलता है। उसमें सूर्य की पूजा तथा सूर्य को अर्घ्य देने का विधिवत् विधान है ताकि हम विभिन्न विपदाओं से मुक्त रहकर स्वस्थ जीवन व्यतीत कर सकें। स्नान के पश्चात् सूर्य की ओर देखते हुए जल चढ़ाने की प्रथा आज भी हिन्दू परिवारों में प्राचीन काल से चली आ रही है। चिकित्सा क्षेत्र में किये गये अनुसंधानों ने स्वीकार किया है कि स्नानादि कर बाल-सूर्य की ओर देखना आंख के रेटिना के लिए लाभप्रद होता है तथा सौर विकिरण में निहित अवरक्त किरणें रेटिना को स्वस्थ रखने में सहायक होती हैं। अब तो वैज्ञानिकों ने सौर धब्बों, सौर वायु, सौर ज्वालाओं एवं सौर विकिरणों का संबंध इस धरती पर होने वाली महामारियों, भूकम्पों, हृदय रोगों एवं अन्य प्राकृतिक विपत्तियों से भी जोड़ लिया है। यह भी ज्ञात हुआ है कि सौर गतिविधियों में विशेष चढ़ाव इन आपत्तियों की वृद्धि में सहायक सिद्ध होता है। सौर ज्वालाओं के बढ़ने पर हृदय रोग भी बढ़ जाते हैं। यही नहीं, सौर विकिरण मानव कोशिकाओं को प्रभावित कर जीवन की मूल भूत इकाई "जीन" में भी परिवर्तन ला सकते हैं जिससे हमारे स्वभाव, बुद्धि, व्यवसाय एवं वंश परम्परा भी प्रभावित हो सकती है।

अतिप्राचीन काल से हमारे देश में पूजा, योग एवं तपस्या आदि की श्रेष्ठ परम्पराएं विद्यमान हैं जिनके माध्यम से ध्यानावस्था एवं एकाग्र चित्तावस्था की गति प्राप्ति होती है। कम हवा से जीवित रहने हृदय एवं नाड़ियों की गति धीमी पड़ जाने, रक्त का विकास कम हो जाने आदि चमत्कार इनसे सम्भव हैं। वैज्ञानिकों ने अब इस बात की पुष्टि की है कि इन अवस्थाओं में शारीरिक क्रियाओं में पर्याप्त परिवर्तन होते हैं तथा शरीर की विद्युत को रोकने की क्षमता पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाती है। साथ ही शरीर से विकीर्ण होने वाली तरंगों के गुण में भी परिवर्तन

हो जाता है । इन परिवर्तनों से निश्चय ही विभिन्न रोगों का निदान कर संबंधित व्यक्ति की आयु में वृद्धि की जा सकती है । प्राचीन साहित्य में इस प्रकार के अनेक प्रसंग उपलब्ध हैं ।

सदियों से दैवी शक्ति के चमत्कार की घटनायें जब तब सुनने को मिलती रहती हैं। प्राचीन साहित्य के अनुसार कपिल मुनि की दृष्टि का स्पर्श पाते ही एक राजा के पुत्र भस्म हो गए थे। किसी महात्मा के मात्र देखने या स्पर्श करने से रोगी का स्वस्थ हो जाना, बुरी नजरों से बचने या किसी व्यक्ति द्वारा सम्मोहित हो उसके साथ हो लेना आदि से संबंधित घटनाएं जीवन में घटित होती रहती हैं। इनके संबंध में अमेरिका के एक वैज्ञानिक डा. टेल्मामास का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने चारों ओर प्रकाश-किरणें बिखेरता है, उनका गुण अपने अंदर विकसित आध्यात्मिक शक्ति पर आधारित होता है । अतः व्यक्ति विशेष के पास किसी के आने पर या किसी के उस व्यक्ति विशेष द्वारा स्पर्श करने पर उक्त विकिरण दूसरे व्यक्ति में प्रवेश कर इच्छित प्रभाव डाल देता है। इस शक्ति के दुरुपयोग की स्थिति में दूसरे व्यक्ति की शक्ति खींचकर उसे मृत्यु के द्वार पर भी पहुंचाया जा सकता है। संभव है कि बुरी शक्तियों एवं बुरी नजरों से बचने के लिये शरीर पर काली वस्तुओं का प्रयोग इसीलिए किया जाता है क्योंकि इस रंग की वस्तुओं को सर्वोत्तम अवशोषक माना जाता है। दुरुपयोग की स्थिति में ये काली वस्तुएं उक्त विकिरण को सोख कर शरीर की रक्षा करती हैं।

प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के अनुसार विभिन्न आकाशीय पिण्डों की स्थिति के आधार पर भारतीय ज्योतिषी काफी सही भविष्य-वाणियां करने में निपुण रहे हैं। इन पिण्डों में धरती के समीपवर्ती सूर्य, ग्रह, उपग्रह, तारे, नक्षत्र आदि अधिक प्रभाव-शील हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार ये विभिन्न पिण्ड जन्म से ही मानव जीवन को प्रभावित करना आरम्भ कर देते हैं तथा उनके विविध प्रभाव हमारे स्वभाव, व्यव-साय, लाभ एवं हानि को नियोजित करते रहते हैं। आधुनिक विज्ञान ने स्पष्ट किया है कि अंतरिक्ष में विभिन्न प्रकार के अदृश्य विकिरण तथा रेडियो तरंगें विद्य-मान हैं जिनके स्रोत विभिन्न आकाशीय पिण्ड हैं। जीव चुम्बकीय वैज्ञानिक माइ-केल गाक्वेलिन ने अपने अध्ययन अनुसंधान के आधार पर बताया है कि आकाशीय पिण्डों का, चुम्बकीय पिण्डों का चुम्बकीय-बल हमारे आनुवंशिक कोड को प्रभावित करता है, जिससे हमारा स्वभाव व्यवसाय आदि नियंत्रित होता है। जन्म के समय चन्द्रमा का प्रभाव रहने से संबंधित व्यक्ति साहित्यकार, मंगल एवं शनि ग्रह के प्रभाव की स्थिति में चिकित्सा एवं बृहस्पति के प्रभाव से अभिनेता बनते हैं। अतः स्पष्ट है कि भारतीय फलित ज्योतिष से जन्म-कालीन ग्रहों के अनुसार विभिन्न व्यवसायों के चयन की भविष्यवाणी करने की परम्परा अतिप्राचीन काल से ही चली आ रही है।

भारतीय मनीषियों ने हरे-भरे वृक्ष को काटने का निषेध किया है। अग्नि पुराण में कहा गया है--"यदि तुम स्वयं एवं अपने परिवार को सुखी और सम्पन्न देखना चाहते हो तो फल-फूलदार वृक्षों को कभी मत काटो। वृक्ष से दातौन तोड़ते समय मंत्र पढ़ने का जो विधान बनाया गया है, उसमें वृक्ष से क्षमा मांगने का उल्लेख है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि पेड़-पौधे भी हमारे कार्यकलापों से दुख-दर्द का अनुभव करते हैं। सर्वप्रथम भारतीय वैज्ञानिक जगदीशचन्द्र वसु ने सिद्ध किया था कि पेड़-पौधे भी हंसते-रोते हैं। रुसी वैज्ञा-निकों ने भी पेड़ पौधों की भावनाओं के संबंध में तथ्यों का संकलन किया है। उनके मतानुसार सम्मोहित पौधों को हंसने का आदेश देने पर उनकी कलियां खिल जाती हैं जबकि दण्ड का आदेश देने पर वे थर-थर कांपने लगते हैं।

प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार उत्तर की ओर न सोना, मरणोपरांत उत्तर की ओर सुलाना, दक्षिण की ओर न खाना आदि का विधान भी तथ्यपूर्ण है। आधुनिक अन्वे-षणों से ज्ञात हुआ है कि चुम्बकीय शक्ति हमारे चारों ओर है और हमारे जीवन को विभिन्न प्रकार से प्रभावित कर सकती है। पृथ्वी स्वयं चुम्बक है तथा हम सब चुम्बकमण्डलीय सागर में विचरण करते हैं। सौर-गति-विधियां भी इन चुम्बकीय गुणों में परिवर्तन करती रहती हैं। इससे हमारे प्राचीन विद्वानों के इस मत की पुष्टि होती है कि चुबकीय बल रेखायें तथा चुम्बकीय शक्ति आदि हमारे जीवन के लिए कितनी हानिप्रद या कितनी लाभप्रद हो सकती है। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखकर हमारे यहां आवश्यक विधान रचे गये थे।

पूज्य जनों एवं बड़ों को प्रणाम या साष्टांग दण्डवत् करने की पुनीत परंपरा प्राचीन काल से चली आ रही है परन्तु आज हम आधुनिकता के नाम पर हाथ मिलाने में गौरव का अनुभव करते हैं। नवीनतम वैज्ञानिक अनुसंधानों से पता चला है कि हाथ मिलाने अथवा स्पर्श से छुआछूत वाले रोगों में वृद्धि हुई है। अतः यह चेतावनी भी दी गई है कि फ्लू के रोगी की छींक से बचने की बजाए उससे हाथ मिलाने से बचिए क्योंकि इससे फ्लू के विषाणु स्वस्थ व्यक्ति को प्रभावित करने में तनिक भी विलम्ब पसंद नहीं करते।

प्राचीन काल से--शब्द को "ब्रह्म" की महत्ता प्रदान की गई है। आज का विज्ञान भी इसका समर्थन करने में पीछे नहीं है। इस वैज्ञानिक युग में विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के माध्यम से न केवल चिकित्सा जगत में क्रान्ति आ गई है बल्कि बीजों में परिवर्तन कर उनसे इच्छानुकूल मात्रा प्राप्त करना, दुधारु पशुओं से अधिक दूध पाना, शारीरिक एवं मानसिक तनाव से मुक्ति पाना आदि सहज सम्भव हो गया है। यही नहीं पशु-पक्षियों की बोलियों से भविष्य में घटित होने वाली घटनाओं का पूर्व अनुमान भी सफलतापूर्वक लगाया जाता है। विज्ञान ने भी स्वीकार किया है कि इन जीवों में अश्रव्य ध्वनियां सुनने तथा अदृश्य विकिरण देखने की भी क्षमता होती है जिससे ये सम्बद्ध कार्य बखूबी कर सकते हैं।

आज आधुनिकता के नाम पर खड़े होकर भोजन बनाने एवं खाने का फैशन बढ़ता जा रहा है तथा बैठकर ऐसा करने की प्राचीन विधि को पिछड़ेपन की संज्ञा दी जा रही है। परन्तु हाल ही में वैज्ञानिक अनुसंधानों ने सिद्ध किया है कि खड़े होकर भोजन बनाने से रक्तचाप तथा स्नायुसंबंधी रोगों

में वृद्धि होती है। अब बैठकर भोजन करने की प्रथा को वैज्ञानिक दृष्टि से श्रेष्ठ घोषित किया जा चुका है।

प्राचीन चिकित्सा जगत में चरक और सुश्रुत के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वाग्भट और माधवनिदान नामक ग्रंथों में चिकित्सा विज्ञान का विकास परिलक्षित होता है। अभी भ्रूण के विकास में जो सफलता मिली है, वह कपिल आदि प्राचीन ऋषियों ने सदियों पूर्व अर्जित कर ली थी। प्लाज्मा के द्वारा संबंधित भाग को जलाकर रक्तविहीन शल्यक्रिया की जो संभावना आजकल व्यक्त की जा रही है, वह हमारी प्राचीन शल्यचिकित्सा का तकनीक प्राप्त करने की दिशा में एक प्रयास मात्र है।

प्राचीन ग्रन्थों से पता लगता है कि बारूद का सबसे पहले आविष्कार भारत में ही हुआ था। प्राचीन दुर्गों में बड़े-बड़े यंत्र और तोपें स्थापित की जाती थीं। शत्रुओं को मारने वाले कीटाणु और शत्रुओं के मार्ग में विघ्न डालने के लिये विषों की धूनियां सज्जित रखी जाती थीं। लंका दुर्ग की प्राचीरों पर ऐसे घातक यंत्र लगे थे, जो वज्र, तीर, पत्थर और गदा फेंक-कर सैंकड़ों मनुष्यों को एक ही बार में मार डालते थे। स्मिथ के अनुसार दो सहस्त्र वर्ष से भी अधिक हुए जब भारत ने उस वैज्ञानिक सीमा को प्राप्त किया था, जिसको ब्रिटिश भी न पा सके। आज के नवीनतम संहारक विविध अस्त्र-शस्त्र उनके सामने निरे बौने प्रतीत होते हैं।

इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का ज्ञानविज्ञान अत्यधिक उन्नत था तथा लोग वैज्ञानिक दृष्टिकोणों से सम्पन्न थे। आज अतीत की इस प्रतिष्ठा को पुनः जीवित करने का दायित्व उसके निवासियों और वर्तमान वैज्ञानिक पीढ़ी पर है।

"प्राचीन भारत का प्रमुख वाहन : रथ"

डा० शिवनन्दन कपूर

भारतियों का रथ से अभिन्न संबंध रहा है। यह संबंध इतना पुरातन है कि "ब्रह्मवैवर्त" पुराण में, सृष्टि-निरूपण के प्रसंग में, श्रीकृष्ण द्वारा भव्य रथ के निर्माण की भी चर्चा है। रथ न केवल चतुरंगिणी सेना के अंग थे, अपितु मनोरंजन के साधन, तथा संपत्ति रूप में भी माने जाते थे। कन्या के पिता को रथ देने की चर्चा "ऋग्वेद" में है। बाद में वह दहेज का अंग बन गया।

विभिन्न युगों में स्थिति

वैदिक युग में रथ को अत्यधिक महत्व प्राप्त था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार, रथ में आने वाला अभ्यागत सामान्य नहीं, सामान्य माना जाता था। शुल्क रूप में भी रथ का प्रयोग होता था। अप्तोर्याम यज्ञ में होता को रजत-जटित, और गर्दभियों द्वारा खींचा जाने वाला रथ दिया जाता था। "वाजपेय यज्ञ" के अवसर पर रथों की दौड़ मनोरंजन के प्रमुख अंग के रूप में थी। उत्तर की ओर राजन्य एक वाण छोड़ता था। जहां पर वह शर गिरता वहां से दूसरा तीर छोड़ा जाता था। इस प्रकार सत्रह शरों की दूरी अंतिम लक्ष्य होती। सत्रह नगाड़े ढमढमाते। इस दूरी तक होने वाली दौड़ दोपहर में हुआ करती थी। उन रथों में दाईं ओर एक अतिरिक्त अश्व रहता। पीछे एक चौथा अश्व भी रहा करता था। मौज आने पर बाजियां भी लगतीं। इन रथों की दौड़ को "आजि" कहते थे।

विद्युत से तेजस्वी "ऋष्टि" द्विधार खड्ग, दुधारा तथा लंबे दण्डयुत भालों से पूर्ण रथों पर वीर आरूढ़ होते थे। विद्युन्मद्भिः स्वकः ऋष्टिमद्भिः अश्वपर्णैः रथेभिः आयातं, ऋग्वेद, 1/88/1), उनमें सभी प्रकार के मांगलिक पदार्थ भी रहते थे। उन रथों में घोड़े ही नहीं चितकबरी हिरणियों का भी प्रयोग होता था। बड़े-बड़े मृगों से खींचे गये, बिना पहियों के, स्लैज जैसे रथ भी होते थे। उन पर आर्य सोम के उद्भव-स्थल शर्यणा नदी की ओर जाते थे। रथों में गधे भी जोते जाते थे। सौ पहियों और 6 अश्वों वाले रथों का वर्णन भी मिलता है। युद्ध में जाने वाले चिकित्सकों का रथ अन्न तथा घृत से परिपूर्ण होता था। उन्हीं का आधुनिक रूप "एंबुलेंस" है।

कला-पूर्ण रथों का निर्माण भी होता था। इन रथों को यंत्रों की सहायता से चलाया जाता था। ऐसे अश्व आदि से रहित, बिना सारथी के चलने वाले रथ अश्विनी कुमारों के पास थे। अश्वपर्ण ने तीव्र गति के लिए अपने रथ पर पाल से वस्त्र बांध रखे थे। उनमें वायु भर जाने से वे और गतिमान् हो उठते थे।

रामायण-काल

रामायण-काल तक आते सेना में रथ अनिवार्य हो गए थे। सेना के आवश्यक अंग होने के कारण प्रत्येक सैन्य-शिक्षार्थी के लिये रथ-चर्यात्मक रथ-चालन की शिक्षा अपेक्षित थी। उस काल में रथों के तीन भेद थे। प्रति दिन की सवारी का सामान्य रथ "औपवाह्य" था। वाल्मीकि रामायण में इसका परिचय मिलता है। इसमें दो घोड़े जोते जाते थे. दूसरा "सांग्रामिक रथ" युद्ध का होता था। "पुष्प-रथ" का प्रयोग उत्सव आदि विशेष आयोजनों के हेतु था। फूलों से सजे उस रथ में गहनों से सज्जित चार अश्व संलग्न किये जाते थे। सांग्रामिक रथ में दो पहिये होते थे। 1500 ई. पूर्व रोम, मिश्र, यूनान और असीरीया में भी इस प्रकार के दो पहियों वाले रथ बनाये जाते थे, पर उनमें बैठने के लिये स्थान न होता था। ब्राह्मणों की सवारी के लिए प्रयुक्त विशिष्ट रथ "ब्राह्म-रथ" कहलाते थे।

पशुओं के अनुसार भी उनमें भिन्नता होती थी। रावण-पुत्र अतिकाय के रथ में एक सहस्र अश्व जोते जाते थे। उनके लिये चार सारथी होते थे। अश्वतरी या खच्चरों का रथ भी प्रयोग में आता था। राक्षसगण, व्याघ्र, बिडाल, शूकर, सिंह और गीदड़ आदि पशुओं के रथों पर सवार होकर युद्ध के लिये आये थे। राम से मिलने गये अयोध्यावासियों में कुछ ऊंटों के रथ पर भी आरूढ़ थे। रथ सोने की जालियों से मण्डित किये जाते थे। अश्वों को "ग्रवेयक" आदि आभूषणों से मण्डित करते थे। छत्र, पताका, तथा रत्नयुत ध्वजा से भी रथ की गरिमा बढ़ाई जाती

थी। रावण के रथ पर हाथी दांत की पुतलियां शोभा पाती थीं। उनके अतिरिक्त, झंकार करते रत्न, घण्टियां तथा भूषण उन्हें और ध्वनिमय बनाते थे। "मण्डल" "वीथी", "गति",, "प्रत्यागति" आदि रथ-चालन कौशल दिखाए जाते थे। कभी वे इतने पास आ जाते कि धुरी से धुरी ही नहीं, अश्वों के मुख भी मिल जाते थे।

रथ में बैठे-बैठे गदा, परिध, मुशल ब्रह्मास्त्र, चक्र आदि का सफलता से प्रयोग किया जाता था। धूम्राक्ष के सोने के बने रथ में विशेष जाति के गधे जोते जाते थे। वे सिंह और भेड़ियों जैसे भयानक लगते थे। अंतिम युद्ध में मेघनाद भी गर्दभ-रथ पर आरूढ़ था। रावण के रथ में, दो चंवर डुलाने वाले भृत्य भी रहते थे। भवन भी रथ रखने की सुविधा के अनुसार बनते थे। दशरथ का प्रासाद पांच कक्ष्याओं (चौक) का था। उसमें तीन कक्ष्या तक राम का रथ चला जाता था। शेष दो कक्ष्या वे पैदल पार करते थे।

महाभारत-काल

महाभारत युग में वीरता का परिमाण ही रथ-युद्ध की कुशलता से मापा जाता था। दस हजार धनुर्धरों से अकेले युद्ध कर सकने की क्षमता वाला वीर "महारथी" कहलाता था। इसी प्रकार "अति रथ, अर्द्धरथ, रथ-यूथप, रथोदार" आदि उपाधियां थीं। भीष्म अतिरथ थे। कर्ण अर्द्धरथ, अश्वत्थामा महारथ, भूरिश्रवा, द्रोण आदि रथ-यूथप, तथा युधिष्ठिर रथोदार थे। रथियों से रथी का युद्ध होता था।

महारथियों के रथ में चार अश्व जोते जाते थे। ऋक्ष, रजत, सारंग सांवर्ण, कृष्ण, तित्तिर, शुक आदि रंगों के अश्व उनके रथ की शोभा बढ़ाते थे। उन्हें सोने के हार पहनाये जाते थे। रात्रि के समय रथ पर पंच-प्रदीप प्रज्वलित होते थे। रथी के उपकरण छत्र, ध्वज, त्रिवेणु, चक्र, तूणीर, चक्र-रक्षक आदि थे। कुछ रथियों को छः अंग-रक्षक मिलते थे। अथर्व वेद के व्रात्य सूत्र में रथ के दोनों ओर के पैदल सैनिकों के लिये "परिष्कन्द" शब्द का प्रयोग है। "मैक्रिण्डिल" ने भारतीय रथ के वर्णन में, उसके रक्षक छः सैनिकों का उल्लेख किया है उनमें से दो सारथि, दो ढाल वाले और दो धनुर्धर थे।

आरूढ़ होने के पूर्व

रथ पर आरूढ़ होने के विशेष विधान थे। प्रस्थान से पहले स्नान कर, रथी प्रार्थना करता था। दान देकर, वह कवच धारण करता था। फिर मधुपर्क "कैरातक" "मधु" पीता था। गुरुजन उसे आशीष देते थे। कुमारियां मालायें पहनातीं। लाजा-वृष्टि करतीं।

अर्जुन रथ पर से ही आग्नेय, पर्जन्य, विशोष, शैल, सलिल, आदि दिव्य अस्त्रों का प्रयोग करता था।

हर मार्ग पर चल सकने वाला रथ "सर्व पथीन" कहलाता था। इसी प्रकार सभी पशुओं के रथ को हांक सकने की क्षमता वाला सारथी "सर्व पत्रीण" कहा गया है। अश्वों के अतिरिक्त "गज-रथ" भी होते थे। रोम में उत्सव होने पर सम्राट के रथ में गज युक्त किये जाते थे। अकबर ने भी इस प्रकार के गज-रथ बनवाये थे। रासभ या गधों के रथ को आशुगामी माना जाता था——

"सत्वं" रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमधैव यथा यासि तथा कुरु।।
आदि, पर्व, 132/7

निश्चय ही वे किसी विशिष्ट जाति के रासभ रहे होंगे। पाणिनि ने तो खर-शाला का भी उल्लेख किया है।

बैलों का रथ विशेष प्रतिष्ठाजनक माना जाता था। वैदिक-साहित्य में भी तीन बैलों वाले पुष्टिवाही रथ का वर्णन है। पाणिनि ने उसे "पृष्ठ" की संज्ञा दी है। राज-तरंगिणी में वह "युग्या" के रूप में वर्णित है। रथ उपहार में भी दिए जाते थे। रथ की रक्षा के लिए 10 हाथी, 100 अश्वारोही, तथा सहस्त्र पदाति चलते थे। महाभारत काल में रथों का विशेष महत्व रहा। सुरक्षा तथा दैनंदिन उपयोगिता की दृष्टि से बाद में भी उनका अस्तित्व बना रहा।

पुराणों में

पुराणों में भी अनेक प्रकार के रथों का वर्णन है। अंधकासुर के रथ में काले घोड़ों, तथा हजार पहियों का उल्लेख है। चन्द्र-रथ में 500 हंस बताये गये हैं। प्रह्लाद का रथ आठ अश्वों का था। विष्णु वामन पुराणों में अनेक रथ-युद्धों का वर्णन है। जयद्रथ पौराणिक काल का अद्वितीय रथ-योद्धा था। पाणिनि ने रथों के समूह को रथ कट्या की संज्ञा दी है। वायु वेग वाले रथों में क्रीड़ा-कक्ष, शय्यायें, रत्न-दीप, विचित्र चित्र, रत्नमय कलश, दर्पण, मालाओं और रत्न-कमलों की सज्जा रहती थी।

अन्य भेद

रथों के अन्य भेद भी प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। राज्य-सभाओं में, शास्त्रार्थ में विजय पाने वाले का रथ राजा स्वंय हांकता था। ऐसे रथ को ब्रह्म-रथ-यान" कहते थे। कौटिल्य ने देव-रथ (देवता का रथ), "पुष्प-रथ, (विवाह का), सांग्रामिक", पारियानिक, (सामान्य यात्रा का), "परपुराभियानिक" (टैंक सा दुर्ग-तोड़क). वैनयिका, (अश्वों को प्रशिक्षित करने के लिये), आदि भेद बताये हैं। विवाह के लिये "वधू यान" का भी प्रयोग होता था। सैर के लिये "गोष्ठियान" था। अग्निभीरू रथ पर आग का कोई प्रभाव न पड़ता था। उज्जयिनी के प्रद्योत के पास ऐसा रथ था।

महिलाओं के लिए विशेष रूप से "कर्णीरथ" का प्रयोग होता था। कश्मीर के ललितादित्य की विजय-यात्रा में सवा लक्ष कर्णीरथ साथ चलते थे। कुल-वधुओं तथा वेश्याओं के कर्णी-रथों में अन्तर होता था। रूपांगनाओं के कर्णीरथ पर विशेष ध्वजा फहराती थी। वस्तुतः कर्णीरथ में नाम मात्र के लिये रथ शब्द का प्रयोग होता था। वे मनुष्यों द्वारा ढोये जाने वाला पालकी जैसा वाहन था। सज्जा आदि के कारण, एवं गतिमयता से उन्हें रथ कह दिया गया। (कर्णी चासो रथश्चेति शब्दमात्र रथों न वस्तुतः। पुरुष स्कंधनीयमान रथ "हलायुधः" पृ.-207)।

"रथमुशल" नामक संहारक टैंक जैसे रथों का प्रयोग अजातशत्रु ने वज्जियों के संहार के समय किया था। रथमुशल में मुशल संलग्न रहते थे। "महाशिलाकंटक" रथ शिलाओं और कांटों से युक्त होकर शत्रुओं का संहार करता था।

रथ के वाम भाग में आसीन होने के कारण सारथी को सव्येष्ठा कहते थे। इसके अतिरिक्त सूत, प्राजिता, प्रवेता आदि शब्द भी उसके लिये प्रयुक्त हुए। मढे जाने के अनुसार उसके तीन भेद थे—वास्त्र, कांबल तथा चार्म। "वस्सन्तर जातक" में गांधार के वीर बहुटी जैसे लाल और बहुमूल्य कंबलों का उल्लेख है। उससे धनिकों के रथ मंडित होते थे। द्वैप और वैयाघ्र रथ चार्म-रथ के भेद थे। बाघ के चमड़े वाले वैयाघ्र रथ का प्रयोग राज्याभिषेक पर होता था। सांग्रामिक रथ प्रायः बाघ या हाथी के चमड़े से मढ़े रहते थे। वैदिक काल में भी वैयाघ्र-रथ का वर्णन है।

"मानसार" में रथ-निर्माण का विस्तृत उल्लेख है। उसमें रथ के विभिन्न अंगों यथा चक्र, कुक्षि, अक्ष, शिखा, दंत आदि का संकेत है। रथों में भद्र या मेहराब और नौ तल तक होते थे। आकार के अनुरूप उसके सात वर्ग (यन्नभस्वद, भद्रक, प्रभंजन, निवातभद्रक, भवनभद्रक, पषद्भद्रक, इन्द्रकभद्रक तथा अनिल भद्रक थे। पहला चौकोर, दूसरा षटकोणक था। अंतिम 12 भद्रों का था। नित्य उत्सव में पांच, तथा महोत्सव में 6 से 10 रथ प्रयुक्त होते थे।

"सांग्रामिक" फलकमय वैदिकाओं से युक्त था। उसके पृष्ठ भाग को "रथोपस्थ" कहते थे। रथी घायल होने पर वहां विश्राम करता था। पहिये के मध्य की गोल लकड़ी "नाभि" और वाह्य गोलाकार लकड़ियों को "नभ्य" कहा जाता था। नाभि और नभ्य को जोड़ने वाले "अर" थे। नाभि के मध्य के छिद्र को "अक्ष" कहते थे। उसी में "अर" डाला जाता था। अक्ष में धुरी रहती थी। अक्ष लोहे का, तथा धुरी लकड़ी की होती थी। कमजोर अक्ष को "कक्ष" कहा जाता था।

मुगल-युग में, हिन्दू काल के पश्चात्, धीरे-धीरे रथों का प्रयोग कम होता गया। बैलों के रथ के रूप में बहली रह गई। शोभा यात्राओं में उनका प्रयोग होता था। चंद्रगुप्त के समय तो बैलों के रथों की दौड़ होती थी। जहांगीर ने दक्षिण की यात्रा के लिये "बहली" को उत्तम बताया है। अकबर द्वारा आविष्कृत विशाल गज-रथ में कई कक्षों के साथ स्नान-गृह भी था। सामान्य जन में अजा-रथ, तथा उष्ट्र-रथ का प्रयोग राजस्थान में बाद में भी होता रहा। आज अन्य रथ तो नहीं, हां, कृषि-प्रधान इस देश के अनुरूप बैलों के रथ अब भी अनेक रूपों में विद्यमान हैं।

विवेक के झरोखे से–
हमारी ये अभिवादन–पद्धतियां

देसराज नाग

जब कभी हम किसी से मिलते हैं या हमसे कोई मिलता है तो शिष्टाचार के रूप में हम अपना पहला कर्त्तव्य निभाते हैं उसका अभिवादन करना । शिष्टाचार की यह प्रणाली शाश्वत एवं सार्वभौमिक है। परन्तु, अभिवादन के ढंग देश एवं संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं।

भारतीय संस्कृति में अभिवादन के अनेक ढंग प्रचलित हैं। जैसे––दण्डवत प्रणाम करना, चरण-स्पर्श करना, परस्पर चरण-स्पर्श करना, घुटनों को छूकर प्रणाम करना, हाथ जोड़ कर नमस्कार करना, ''सत श्री अकाल'' या ''धन निरंकार'' कहना आदि, आदि। एक प्रश्न उठता है कि हमारे समाज में, या हमारी संस्कृति में, अभिवादन की ये जो पद्धतियां प्रचलित रही हैं या प्रचलित हैं उनके पीछे कौन सी विवेकधारा प्रवाहित है और उनका प्रयोग कहां-कहां किया जाना चाहिए ? वास्तव में भारतीय संस्कृति का प्रत्येक विधान दिव्यतासंपन्न है जिसमें लौकिक एवं पारलौकिक सभी हितों की पूर्ण रक्षा हुई है। हमारी सभी अभिवादन पद्धतियां एक ओर सामाजिकता का प्रतीक हैं, तो दूसरी ओर आध्यात्मिकता का। तो आइये, तनिक विचार करें, विवेक के झरोखे से हमें इन पद्धतियों में किस भावना आदि के दर्शन होते हैं :––

1. दण्डवत् प्रणाम करना

यह पद्धति शास्त्रसम्मत एवं सर्वोत्कृष्ट है। परन्तु इसका प्रयोग प्रत्येक व्यक्ति के लिए नहीं किया जा सकता। विशिष्ट व्यक्ति ही इस प्रकार के अभिवादन के पात्र होते हैं। विशिष्ट एवं उच्चकोटि की श्रद्धा की प्रतीक यह अभिवादन-पद्धति जिस प्रकार की विभूतियों के लिए प्रयोग की जाती है वे हैं––इष्टदेव, गुरु, माता-पिता, राजा एवं उच्चकोटि के दिव्यतासम्पन्न महात्माजन। दण्डवत् प्रणाम सम्पूर्ण शरीर को जमीन पर डण्डे की तरह सीधा लेटा कर किया जाता है। ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि जिसके निमित्त इस प्रकार का प्रणाम किया जाता है उसके समक्ष अभिवादन करने वाले व्यक्ति ने अपनी शारीरिक, मानसिक बौद्धिक और आत्मिक सम्पूर्ण सत्ता समर्पित करके, स्वयं को अहंम् भाव से पूर्णतः मुक्त कर लिया है और अपने को अकिंचन मान लिया है।

आत्मा ब्रह्म का अंश होता है, अतः प्रत्येक व्यक्ति के आगे आत्मतत्व समर्पित नहीं किया जा सकता । परन्तु अंतःकरण की स्थिति के आधार पर आत्मा की भी विभिन्न स्थितियां होती हैं अर्थात्–– आत्मा, महात्मा और परमात्मा । आत्मा तो प्रत्येक प्राणी में होती है और स्वयं में सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से निर्लिप्त होते हुए भी देह रचना में प्रवेश करने के बाद अपने कई जन्मों के संस्कारों से बने अपने अंतःकरण द्वारा आवृत्त रहती है। आत्मा पर पड़ा अंतःकरण का यह आवरण या पर्दा ही प्राणिमात्र को एक दूसरों से परस्पर भिन्न, गुणप्रधान अथवा अवगुणप्रधान, स्तुत्य अथवा निन्द्य बना देता है। अस्तु, स्पष्ट है कि प्रत्येक प्राणी में आत्मा एकरूप होते हुए भी अपने अंतःकरण के संस्कारों के वशीभूत होकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वों का भोग करती हुई परस्पर भिन्न हो जाती है। परन्तु, जिन व्यक्तियों का अंतःकरण निर्मल होता है उनकी आत्मा अपने महत् रूप में स्थित होती है और ऐसे व्यक्ति ही काम, क्रोधादि षड्विकारों से मुक्त रहकर अथवा इनको पूर्णतः वश में रखते हुए तथा छल-कपटादि अनुचित कर्मों से कोसों दूर रहकर महात्मा कहलाए जाने के पात्र होते हैं। महात्मा की श्रेणी में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति उन प्राणियों से दण्डवत् प्रणाम का पात्र हो जाता है जिनकी आत्माएं अपने पूर्वजन्मों के संस्कार से बने पुण्य-पापमय अंतःकरण से ढकी होने के कारण सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से युक्त सामान्य जीवन भोग रही है ।

''परमात्मा'', आत्मा की उस परम सत्ता का ही नाम है जो अपने वास्तविक रूप में अंतःकरण से रहित होने के कारण संस्कारवश भोगे जाने वाले सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से भी पूरी तरह से विनिर्मुक्त है । अतः ''परमात्मा'' जिसे हम ईश्वर या प्रभु भी कहते हैं न केवल सामान्य आत्माओं, अपितु महात्माओं (महत् आत्माओं) से भी दण्डवत् प्रणाम प्राप्त करने के पूर्ण अधिकारी हैं क्योंकि उनके समक्ष ही कलुषित अंतःकरण, निर्मल

अंतःकरण, महत् अंतःकरण से युक्त सभी प्रकार की आत्माओं की स्थिति अकिंचन है, समर्पणीय है। अस्तु, आत्मा की सामान्य सत्ता, आत्मा की महत् सत्ता और आत्मा की परम सत्ता ही उस अन्तर को दिग्दर्शित करती है जिससे आत्मा, महात्मा और परमात्मा की संज्ञाएं बनती हैं। आत्मा और अंतःकरण की इस स्थिति के आधार पर ही यह निर्णय किया जाता है कि दण्डवत् प्रणाम का अधिकारी व्यक्ति कौन है? "दण्डवत् प्रणाम" का अभिप्राय ही यह है कि आत्मा के साथ-साथ मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार आदि तत्वों से बने अंतःकरण से मुक्त सम्पूर्ण शरीर का सर्वतोभावेन समर्पण।

2. चरण-स्पर्श करना अथवा चरणवन्दना करना

यह अभिवादन पद्धति भी प्रणाम करने की ही है परन्तु "दण्डवत् प्रणाम" करने की पद्धति से निम्न कोटि की है। इसका प्रयोग देहधारी आत्माओं के लिए ही अभिष्ट है। अतः उन सभी व्यक्तियों के निमित्त इसका प्रयोग किया जा सकता है जिन्हें हम गुणों की दृष्टि से या संबंधों की दृष्टि से अपने द्वारा शरीर रूप में पूज्य मानते हैं। महात्माजन, विद्वज्जन, दिव्यतासंपन्न व्यक्ति, अपने से श्रेष्ठ वर्ण के व्यक्ति, योगी, सन्यासी, गुरू, माता-पिता, अपने से बड़े सभी संबंधी तथा पूज्य व्यक्ति आदि हमारे द्वारा इस प्रकार के अभिवादन के अधिकारी पात्र हैं और उनसे आशीर्वाद प्राप्त करने के हम अधिकारी होते हैं।

इस प्रकार के अभिवादन का अभिप्राय यह है कि जिस किसी भी व्यक्ति के प्रति हम ऐसा अभिवादन करते हैं वह हमारी श्रद्धा का पात्र होता है, उसे हम अपने से श्रेष्ठ एवं पूज्य मान चुके होते हैं और उसके समक्ष हम अपनी शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक सत्ता को पूर्णतः समर्पित कर देते हैं और इन तीनों ही दृष्टियों से हम अपने को उसके समक्ष तुच्छ स्वीकार कर लेते हैं। आदर की भावना के प्रतीक इस अभिवादन की सीमा हमारी शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक सत्ता तक ही रहती है। परन्तु, आत्मिक दृष्टि से हम उसके समक्ष नत् नहीं होते क्योंकि आत्मा की दृष्टि से नमन् की स्थिति केवल दण्डवत् प्रणाम में ही है अन्य में नहीं यही दोनों प्रकार की अभिवादन-पद्धतियों में अंतर है। आत्मा की दृष्टि से, इस प्रकार के अभिवादन में हम अपनी सत्ता को स्वतंत्र बनाए रखते हैं, यह मानते हुए कि ब्रह्म का अंश आत्मा, केवल महात्मा एवं परमात्मा के आगे ही नत् हो सकती है प्रत्येक सामान्य आत्मा के समक्ष नहीं क्योंकि एक आत्मा की दूसरी आत्मा के समक्ष स्थिति समकक्ष की है। तथापि, सामान्य आत्माओं में भी, जिन्हें हम चरणवन्दना या चरण-स्पर्श करके अपना आदर प्रदान करते हैं उनके समक्ष अपना शरीर उनके चरणों तक झुकाकर हम यह भी बोध करा देते हैं कि हमारी आत्मा स्वतंत्र होते हुए भी उनकी पूज्यता के प्रति हमारे शरीर के साथ ही किंचित झुकी हुई अवश्य है परन्तु मन, बुद्धि और शरीर की तरह उनके समक्ष समर्पित नहीं। अस्तु, नमन् और झुकाव में जो अंतर है वही अंतर इस प्रकार के अभिवादन में हमारी आत्मिक स्थिति में भी रहता है।

3. परस्पर चरण-स्पर्श करना

तीसरी कोटि की यह अभिवादनपद्धति परस्पर पूज्य एवं सम्मानीय व्यक्तियों के बीच प्रयोग में लायी जाती है। इस अभिवादन-पद्धति में विनमृता एवं समता का उच्च भाव निहित होता है और दूसरे को श्रेष्ठता एवं सम्मान प्रदान करने का बोधक होता है। इस प्रकार का अभिवादन प्रायः एक ही वर्ण के उन व्यक्तियों के बीच जिनमें संबंध की दृष्टि से बड़े-छोटे का अंतर नहीं होता, एक ही वर्ण की भिन्न जातियों के व्यक्तियों के बीच, विद्वज्जनों के बीच, कन्या-पक्ष एवं वर-पक्ष के संबंधियों के बीच प्रयोग में लाया जाता है। इस प्रकार के अभिवादन में आयु को भी आधार नहीं माना जाता है। यदि एक पक्ष 80 वर्ष का वृद्ध भी हो और दूसरा पक्ष 15 वर्ष का किशोर भी तब भी यदि वह इस प्रकार के अभिवादन की कोटि में आता है तो दोनों पक्ष परस्पर चरण-स्पर्श कर, या परस्पर चरण-वन्दना कर, एक-दूसरे के प्रति अपना आदरभाव प्रकट करते हुए परस्पर अभिवादन करेंगे।

आध्यात्मिक दृष्टि से इस प्रकार के अभिवादन का अर्थ है कि दोनों पक्षों ने अपनी आत्मिक स्थिति को पूर्णतः स्वतंत्र रखते हुए, शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक स्थिति को एक-दूसरे के समक्ष समर्पित कर दिया और इस प्रकार एक-दूसरे के चरण-स्पर्श करते हुए एक-दूसरे को अपने से महान एवं पूज्य मान कर उच्च कोटि की विनमृता तथा सम्मान का परस्पर प्रदर्शन किया।

4. घुटनों को छूकर प्रणाम करना

प्रणाम करने की यह पद्धति भी कई इलाकों में प्रचलित है। इस पद्धति के अंतर्गत भी छोटे व्यक्ति अपने से बड़े एवं पूजनीयों के प्रति अपना अभिवादन अपने शरीर को झुकाकर, दूसरी पक्ष के घुटनों को अपने हाथ से स्पर्श करते हुए, करते हैं और दूसरा पक्ष आशीर्वाद देता है। यह पद्धति भी निकटता, पूज्यता, सम्मान और समर्पण की द्योतक है।

इस प्रकार की अभिवादन पद्धति का आध्यात्मिक अर्थ यह है कि जो पक्ष इस प्रकार का प्रणाम करता है उसने दूसरे पक्ष के समक्ष अपनी बुद्धि, मन और शरीर को अर्द्धरूप में झुका दिया परन्तु उसके आगे पूर्णरूपेण इन तीनों का समर्पण नहीं किया। चरण-स्पर्श में जहां इन तीनों के पूर्णरूपेण समर्पण का भाव निहित है वहां जानु-स्पर्श में उनके झुकाव की स्थिति है—यही दोनों में अंतर है।

5. नमस्कार करना

यह बहुप्रचलित अभिवादन पद्धति है जिसे हम एक सामान्य अभिवादन-पद्धति भी कह सकते हैं। जहां उपर्युक्त चारों अभिवादन-पद्धतियां संबंध-विशेषता तथा वर्ग-विशेषता के आधार पर सीमित व्यक्तियों के अभिवादन हेतु प्रयोग में लायी जाती हैं वहां यह पद्धति संबंध-सीमाओं आदि से मुक्त रहकर सार्वभौमिक है। इस पद्धति का प्रयोग किसी भी प्रकार के व्यक्ति के अभिवादन के लिए किया जा सकता है। ऊंच-नीच, बड़े-छोटे, पूज्य-अपूज्य, सुजाति-कुजाति, देश-काल आदि का इस प्रकार की अभिवादन पद्धति में कोई बंधन नहीं है।

नमस्कार कह कर अभिवादन करने के भी तीन ढंग हैं—(1) दोनों हाथ जोड़ कर

मुंह से "नमस्कार" शब्द कहते हुए तनिक सिर को झुका कर अभिवादन करना (2) दोनों हाथ जोड़ कर मात्र मुंह से "नमस्कार" शब्द का उच्चारण करना, अर्थात् सिर को न झुकाना तथा (3) मुंह से केवल "नमस्कार" शब्द कहना।

ये तीनों ढंग तीन प्रकार के भावों को प्रकट करते हैं। अर्थात् जिस व्यक्ति ने दोनों हाथ जोड़कर, मुंह से "नमस्कार" शब्द का उच्चारण करते हुए तनिक सिर को हाथ हिलाकर अभिवादन किया उसका अर्थ है उसने दूसरे व्यक्ति का मनसा, वाचा और कर्मणा (मन से, वाणी से और कर्म से) तीनों प्रकार से अभिनन्दन किया। जिसने दूसरी पद्धति अर्थात् केवल हाथ जोड़ कर मुंह से "नमस्कार" शब्द का उच्चारण करते हुए सिर को न हिलाते हुए अभिवादन किया उसने केवल वाचा (वाणी से) और कर्मणा (कर्म से) अभिनन्दन किया और जिसने तीसरी पद्धति को अर्थात् केवलमात्र "नमस्कार" शब्द का उच्चारण किया उसने केवलमात्र वाणी द्वारा ही अभिनन्दन किया।

"नमस्कार" शब्द का आध्यात्मिक अर्थ है साकार रूप में अर्थात् शरीर रूप में प्रकट उस ब्रह्म के अंश आत्मा के प्रति नमन्। क्योंकि आत्माएं सभी समानरूपा हैं और मात्र अंतःकरण भेद से ही परस्पर भिन्न रूपों में प्रकट दिखायी देती हैं, अतः एक आत्मा द्वारा दूसरी आत्मा का परस्पर अभिनन्दन करना ही इस प्रकार के अभिवादन की प्रतीकात्मकता है। "ईश्वर अंश जीव अविनाशी" के सिद्धांत की दृष्टि से, "नमस्कार" रूपी अभिवादन, साकार आत्मा के माध्यम से, निराकार ब्रह्म का ही अभिवादन है। क्योंकि ब्रह्म जाति, वर्ण, पूज्यता, अपूज्यता, श्रेष्ठ-अश्रेष्ठता, संबंधों, आदि के माया-प्रपंचों से मुक्त सर्वव्यापक है और जीवमात्र में उसकी सत्ता अंशरूप में विद्यमान है, इसलिए यह अभिवादन किसी भी देहधारी व्यक्ति के लिए किया जा सकता है और इसी कारण नमस्कार का उत्तर भी दूसरा पक्ष उसी प्रकार नमस्कार करता हुआ देता है जो परस्पर सम्मान का परिचायक है। अस्तु, समर्पण एवं सम्मान की भावना में जो अन्तर है वही अंतर प्रणामादि उपर्युक्त अभिवादनों और "नमस्कार" अभिवादन में है।

6. "सत् श्री अकाल"/"धन निरंकार" कहना

जहां हिन्दुओं आदि में परस्पर नमस्कार करने की अभिवादन-पद्धति प्रचलित है वहां सिक्खों में "सत् श्री अकाल" की और निरंकारियों में "धन निरंकार" कहने की। इन तीनों ही पद्धतियों का अर्थ भी एक ही है अर्थात् परब्रह्म का अभिनन्दन करना। भारतीय दर्शन में परब्रह्म को मूलतः निर्गुण, सच्चिदानन्द, अक्षर, अनिर्वचनीय, अवर्णनीय, कालरहित आदि कई गुणों से सम्पन्न माना गया है। जब इसकी अवस्थिति हम किसी शरीर में मान लेते हैं तभी यह निर्गुण से सगुण या साकार रूप में हमारे सामने प्रकट होता है। परब्रह्म की अंश आत्मा की भी स्थिति यही है—मूलतः वह निर्गुण है परन्तु किसी शरीर में प्रवेश करने से वह सगुण रूप में या साकार रूप में विचरण करने लगती है। "रामचरितमानस" में ब्रह्म के इसी स्थिति- परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए गोस्वामी तुलसीदास कहते हैं—

"एक अनीह अरूप अनामा,
अज सच्चिदानन्द परधामा।
व्यापक विश्वरूप भगवाना।
तेंहि धरि देह चरित कृत नाना।।"

भारतीय दर्शन में ब्रह्म की इस व्याख्या की दृष्टि से यदि हम देखें तो "सत् श्री अकाल" का अर्थ है वह ब्रह्म जो सत (अर्थात् सत्य) है, श्री (अर्थात् महामाया) से सम्पन्न है और "अकाल" (अर्थात् काल से परे) "अमर या अक्षर" है। इस प्रकार "सत् श्री अकाल" शब्द का उच्चारण करके अभिवादन करने का अर्थ भी यही हुआ कि हमने दूसरे व्यक्ति के शरीर में प्रविष्ट परब्रह्म की अंशभूता तद्रूप अमर आत्मा का अभिनन्दन किया। इसी प्रकार "धन-निरंकार" शब्द का अर्थ है 'हे निरंकार अर्थात् निर्गुण प्रभु! तू धन्य है।' यह कह कर हम उस प्रभु की स्तुति करते हैं। भारतीय दर्शन में ब्रह्म को निर्गुण माना गया है और उसका अंश होने के कारण आत्मा भी निर्गुण है। इस प्रकार जब हम किसी व्यक्ति के समक्ष "नमस्कार", "सत श्री अकाल" या "धन निरंकार" में से किन्हीं भी शब्दों का उच्चारण करके उसका अभिवादन करते हैं तो वह अभिवादन वास्तव में उस व्यक्ति के शरीर का नहीं अपितु उसके शरीर में विद्यमान उस आत्मा का ही होता है जो उस परब्रह्म का अंश होने के कारण उसी के गुणधर्मों से पूंजीभूत है और ऐसा करके हम वास्तव में परब्रह्म परमेश्वर का ही अभिनन्दन करते हैं। अस्तु, "नमस्कार" कहना या "सत श्री अकाल" अथवा "धन निरंकार" कहना मात्र शब्द-भिन्नता ही प्रदर्शित करते हैं, भाव-भिन्नता या प्रयोजन-भिन्नता नहीं।

7. हाथ मिलाकर अभिवादन करना

भारत में एक अन्य अभिवादन-पद्धति प्रचलित है—"परस्पर हाथ मिलाकर अभिवादन करना।" यह पद्धति भारतीय नहीं, विदेशी परंपरा का अनुकरण है। भारतीय मनीषियों ने हाथ मिलाकर अभिवादन करने की प्रथा कई दृष्टियों से प्रचलित नहीं की थी। इनमें से कुछेक इस प्रकार वर्णित की जा सकती हैं।

हाथ मिलाने से हमारी त्वचा दूसरे की त्वचा के संपर्क में आती है। यह कोई नहीं जानता किसके शरीर में कौन सा रोग विद्यमान है या पनप रहा है। त्वचा-सम्पर्क होने से हथेली के छिद्रों द्वारा रोग के कीटाणु दूसरे व्यक्ति के शरीर में भी प्रवेश कर सकते हैं जिससे दूसरा व्यक्ति भी उस रोग के प्रभाव में आ सकता है। अस्तु एक तो इस दृष्टि से हमारी संस्कृति में इस अभिवादन प्रणाली का पूर्वकाल में प्रचलन नहीं हुआ होगा।

दूसरा, हमारी संस्कृति में वही परम्परा या कर्म मान्य रहा जिसका संबंध प्रधान रूप से या गौण रूप से अध्यात्म से जुड़ा हो। ऊपर बतायी गयीं सभी अभिवादन-पद्धतियां किसी-न-किसी रूप में आध्यात्मिक संकेत या संबंध स्थापित करती हैं और आध्यात्मप्रधान भारतीय संस्कृति का बोध कराती हैं। इसके विपरीत हाथ मिलाकर "अभिवादन करने की प्रणाली लौकिक है और व्यवहार प्रधान है। इसका अर्थ है—परस्पर सहयोग करना। दूसरे शब्दों में,

यह आत्मा का अथवा आत्मा के माध्यम से परमेश्वर का अभिनन्दन नहीं है अपितु कर्मक्षेत्र में साथ देने का द्योतक है। हमारी दर्शन की दृष्टि लौकिकता-प्रधान नहीं पारलौकिकता-प्रधान है अतः इस दृष्टि से भी हमारे समाज में तब तक "हाथ मिलाकर" अभिवादन करने की परंपरा प्रचलन में नहीं आयी थी जब तक उस पर विदेशी सभ्यता का प्रभाव नहीं पड़ा था। अस्तु, यह परम्परा हमारी संस्कृति की मूल परंपरा न होकर अनुकरण की हुई परंपरामात्र है।

तीसरा, हाथ मिलाकर अभिवादन करना केवल समानस्तरीय व्यक्तियों के साथ या मैत्री में ही ग्राह्य है। संबंधादि की दृष्टि से अपने से बड़ों के प्रति ऐसा अभिवादन करना अशिष्टता की श्रेणी में आता है। हमारी संस्कृति में शिष्टता, मर्यादा एवं परम्परा सम्मान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है और यही हमारी संस्कृति का प्राणतत्व भी है। अस्तु, यह तीसरा कारण रहा। होगा कि दूरदर्शी एवं मर्यादासमर्थक हमारे ऋषियों आदि ने भारतीय समाज में हाथ मिलाने की परंपरा का अंकुर नहीं बोया होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे समाज में परस्पर अभिवादन की जो अनेक पद्धतियां प्रचलित हैं उनके मूल में कोई विवेकाधार है, चाहे यह आधार समाजप्रधान हो या अध्यात्मप्रधान। इन पद्धतियों में से भी कई पद्धतियां अब प्रायः लुप्त हो चुकी हैं या लुप्त होती जा रही हैं––जैसे "दण्डवत् प्रणाम" करने की अभिवादन-पद्धति अब प्रायः देखने को नहीं मिलती जबकि चरण-स्पर्श करना, या परस्पर चरण-स्पर्श करना, अथवा जानु-स्पर्श करने जैसी अभिवादन-पद्धतियां यद्यपि कई स्थानों पर देखने को मिल जाती हैं फिर भी ये दिनों-दिन घटती जा रही हैं और भविष्य में अपने लुप्तप्राय हो जाने का संकेत कर रही हैं। इस समय सर्वाधिक प्रचलित अभिवादन पद्धति है "नमस्कार करने" की और "हाथ मिलाकर" अभिवादन करने की। इन दोनों में भी यदि देखा जाए तो आदर्श एवं अनुकरणीय अभिवादन पद्धति कहलाएगी––"नमस्कार करने" की जिसका प्रयोग "नमस्ते" "रामसत", "राम-राम", "सत् श्री अकाल", "धन निरंकार" आदि किन्हीं भी शब्दों का प्रयोग करते हुए किया जा सकता है क्योंकि ये सभी शब्द प्रधानतः व्यक्ति विशेष का अभिनन्दन करने के साथ-साथ गौणतः उस प्रभु का ही अभिनन्दन करेंगे जिसके हम सभी खिलौने हैं। इस प्रकार की अभिवादन-पद्धतियों में बड़े-छोटे, ऊंच-नीच, सुजाति-कुजाति आदि सभी प्रकार के सामाजिक भेद समाप्त हो जाते हैं और परस्पर अभिवादन से परस्पर सम्मान की भावना का ही प्रदर्शन होता है।

थके नहीं हम मेरे साथी

युग-युग से हम चलते आए,
गिर-गिर कर हम उठते आए,
घायल पग, घायल तन लेकर,
पग के शूल बीनते आये।
एक सुबह कोई फूल खिलेगा,
एक रात तो चांद हंसेगा,
यही साध ले यही लगन ले,
चलते आए अब तक साथी।
थके नहीं हम मेरे साथी।

अब तो बीती काली रातें,
अब तो मंजिल दूर ही कितनी,
पतझर छोड़ा पीछे हमने,
अंबर अपना, धरती अपनी।
आंसू ने जो गीत पिरोए:
शूलों ने जो दाग दिए हैं,
वही बने हैं विजय-पताका,
अब तो हंस दे मेरे साथी।
थके नहीं हम मेरे साथी।

स्नेह प्रभा चुघ

प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का सम्मिलन– वरदान या अभिशाप ?

डा० हर्ष नारायण

सँस्कृतियों का संगम, समागम, अथवा सम्मिलन, उनका पारस्परिक घात-प्रतिघात, क्रिया-प्रतिक्रिया, एक अपरिहार्य वास्तविकता है, जो किसी न किसी सीमा तक, किसी न किसी रूप में प्राचीन काल से ही घटित हो रही है। आज प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का सम्मिलन व्यापक स्तर पर घटित हो रहा है। कोई चाहे या न चाहे संस्कृतियां अपना व्यक्तित्व सर्वथा पृथक इकाइयों के रूप में सदा अक्षुण्ण नहीं रख सकती। संस्कृतियों का सम्मिलन कई दृष्टियों से एक ऐतिहासिक नियति है।

तथापि यह नियति इतनी सर्वांगीण, सर्वग्राही, सर्वव्यापक नहीं कि उस पर के साथ अपने संबंधों और उनके त्वरित तथा दूरगामी प्रभावों के प्रति सचेत और जागरूक नहीं रहती उसके विकृत अथवा विनष्ट हो जाने की आशंका बनी रहती है। वस्तुतः जिस प्रकार हमें अन्यों से राजनीति और प्रतिरक्षा की दिशा में सजग रहने की आवश्यकता होती है उसी प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान के स्तर पर भी सजग रहने की आवश्यकता है।

संस्कृति-सम्मिलन के अनेक रूप हैं। एक संस्कृति किसी अन्य संस्कृति से तलवार की धार पर सम्पर्क करती है, उस पर सैनिक आक्रमण करती है, और उभय संस्कृतियों में आदान-प्रदान की प्रक्रिया चल पड़ती है। उस प्रकार का संस्कृति की अजेयता के दम्भ को मिट्टी में मिला देने वाली मंगोल-संस्कृति अन्ततः इस्लामी संस्कृति में दीक्षित हो गयी। उसके इस्लामीकरण का स्वागत करते हुए इकबाल ने लिखा है––"पासबां मिल गये काबे को सनमखाने से"।

आजकल संस्कृतियों के बीच सद्भाव-पूर्ण सम्पर्क के अवसर दिनानुदिन बढ़ते जा रहे हैं। विविध संस्कृतियों के प्रामाणिक, सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन की परिपाटी जोरों पर चल निकली है। प्राचीन काल में भी इस प्रक्रिया के उदाहरण यदा-कदा मिल जाते हैं, यद्यपि उनकी संख्या अधिक नहीं। संस्थाबद्ध धर्म-प्रधान संस्कृतियों के बीच शान्तिमय

मनुष्य का नियन्त्रण सर्वथा अकल्प्य हो। किन्हीं दशाओं और दिशाओं में संस्कृति-संगम के प्रभाव का नियमन सम्भव है, कभी-कभी संस्कृति-संगम का निरोध भी असंभव नहीं। अतः यह सर्वथा विचारार्थ है कि क्या संस्कृतियों का संगम वरदान है या अभिशाप––अथवा यूं रखिए संस्कृतियों का संगम किस सीमा तक वरदान है और किसी सीमा तक अभिशाप।

हमारे लिए यह विषय अधिक महत्व-पूर्ण हो जाता है, क्योंकि हम प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के संगम में ही सांस ले रहे हैं। जो संस्कृति अन्य संस्कृतियों सम्मिलन मात्स्य-न्याय का प्रवर्तन करता है। जैसे बड़ी मछली छोटी को खा लेती है वैसे ही सबल संस्कृति निर्बल संस्कृति को उदरस्थ कर लेती है। ऐसी दशा में प्रायः पशु-बल, सामरिक बल, की धनी संस्कृति विजयी होती है। रोम पर बर्बरों के आक्रमण का स्मरण कीजिए। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि विजयी संस्कृति को विजित संस्कृति पचा लेती है। शक, सिथियन, हूण, कुषाण आदि संस्कृतियां भारत में आक्रान्ता के रूप में आयीं, उन्होंने यहां राज्य साम्राज्य भी स्थापित किये, तथापि उन्हें भारतीय संस्कृति ने आत्मसात् कर लिया। इस्लाम सहभाव विरल था। इस्लामी अरब संस्कृति ने जरदुष्ट्री ईरानी संस्कृति और अनेक ईसाई संस्कृतियों का बल-प्रयोग द्वारा उन्मूलन कर के छोड़ा।

प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का समागम मूलतः पाश्चात्य साम्राज्य-लिप्सा का परिणाम है। उसके हाथों प्राच्य संस्कृति औपनिवेशिक संस्कृति बन कर रह गयी। अब साम्राज्य का विघटन हो चुका है, किन्तु प्राच्य की औपनिवेशिक मनोवृत्ति अक्षुण्ण है, बल्कि बढ़ी ही है।

मानना होगा कि साम्राज्य-लिप्सा औपनिवेशक संस्कृति के लिए सदा घातक

नहीं होती । अंग्रेज भारतीय संस्कृति के सर्वनाश में दिलचस्पी नहीं रखते थे। प्राचीन भारत के धर्मशास्त्र की तो व्यवस्था ही यह रही है कि विजित राष्ट्र की संस्कृति की रक्षा विजेता का धर्म है––

यस्मिन् देशे य आचारो, व्यवहारः, कुलस्थितिः
तथैव परिपाल्यो असौ यदा वशमुपागतः।
. . . . (याज्ञवल्क्य- स्मृति

अर्थात् राजा यदि किसी देश पर विजय प्राप्त करे तो उस देश के आचार, व्यवहार और कुल-धर्म की पूरी रक्षा करे ।

व्यक्तियों का संग सत्संग भी हो सकता है और कुसंग भी। यह बहुत-कुछ इस बात पर आश्रित है कि जिस व्यक्ति के संग का प्रसंग है वह कैसा है । ठीक इसी प्रकार संस्कृतियों का संग सत्संग भी हो सकता है और कुसंग भी, वरदान भी हो सकता है और अभिशाप भी। यह बहुत-कुछ इस बात पर आश्रित है जिस संस्कृति के संग का प्रसंग है वह कैसी है, सुसंस्कृति या कुसंस्कृति। अवश्य ही न तो कोई व्यक्ति ही एकान्ततः भला या बुरा होता है और न संस्कृति ही । अतः व्यक्ति के लिए अन्य व्यक्ति का संग अंशतः वरदान भी हो सकता है और अंशतः अभिशाप भी। ठीक यही दशा संस्कृतियों के समागम की है, जो अंशतः अच्छा भी हो सकता है, अंशतः बुरा भी। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम इस दिशा में सचेत रहें। संस्कृतियों में समागम अवश्य होना चाहिए, किन्तु विवेक के साथ। अविवेक-पूर्ण समागम घातक हो सकता है ।

पाश्चात्य संस्कृति में अनेक गुण हैं, जिनका प्रभाव प्राच्य संस्कृति के लिए वरदान सिद्ध हुआ अथवा हो सकता है। पाश्चात्य संस्कृति के निर्णायक तत्वों में एक ओर ईसाई धर्म, दूसरी ओर यूनानी दर्शन, और तीसरी ओर आधुनिक विज्ञान, तीनों का समावेश है। इनके अन्तर्व्यापार-स्वरूप पाश्चात्य संस्कृति को लोकतन्त्र, बुद्धिवाद, व्यक्ति की महत्ता, सामाजिक न्याय, समाज-कल्याण, सामाजिक दायित्व, वैज्ञानिकता, मानवीय साम्य, मानवीय अधिकार, मानववादिता जैसे परम् उदात्त मूल्यों की दृष्टि उत्पन्न हुई। ये मूल्य प्राच्य संस्कृति ने सिद्धान्ततः और बहुत-कुछ व्यवहारतः भी अपना लिये हैं, जिनके लिए हम पाश्चात्य संस्कृति के सदा ऋणी रहेंगे । अतः प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का समागम चाहे साम्राज्य-लिप्सा का ही परिणाम हो वह उक्त संदर्भों में वरदान ही सिद्ध हुआ है ।

ऐसा नहीं कि प्राच्य संस्कृति इन मूल्यों से सर्वथा अनभिज्ञ रही हो । धार्मिक-दार्शनिक सिद्धान्त-सूत्रों के रूप में इस प्रकार के और इससे भी उदात्त-तरतत्त्व प्राच्य परम्परा में बिखरे पड़े हैं। बानगी लें––

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ।।
(यजुर्वेद 36.18)

यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।
यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः
तत्र को मोः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ?
(तत्रैव 40.7-8)

अर्थात् सभी प्राणियों के प्रति मित्र-दृष्टि रखते हुए सभी प्राणियों को अपने में और अपने को सभी प्राणियों में देखना चाहिए, और समझना चाहिए कि मैं ही सभी प्राणियों के रूप में विद्यमान हूं । ऐसी दृष्टि से सम्पन्न, पुरुष मोह (अज्ञान) और शोक (दुःख) से छूट जाता है । गीता ने स्थिति और स्पष्ट कर दी है––

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे,
गवि, हस्तिनी, शुनि, चैव
श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।
(गीता 5.18)

अर्थात् ज्ञानी पुरुष समदर्शी है––विद्वान् गाय, हाथी, कुत्ते, और चण्डाल को समान देखता है । समता का आदर्श हमारे शास्त्रकारों के अनुसार, आद्य युग में कभी व्यवहार में भी आ चुका है ।

समाश्रयं, समाचारं, समज्ञानं, च केवलम् तदा हि समकर्माणो वर्णा-धर्मानवाप्नुवन् ।।
(महाभारत शान्ति-पर्व 149.19)

अर्थात् आद्य युग में सभी वर्णों के लोग आश्रय (आवास आदि), आचार, ज्ञान, और कर्म में समता का आदर्श पालन करते हुए धर्म-मार्ग पर आरूढ़ थे। इसी प्रकार मानववाद का सिद्धान्त सूत्र भी हमारे यहां उपलब्ध है––

गुह्यं ब्रह्म तदिदं वो ब्रवीमि न
मानुषाच्छ्रेष्ठतरं किञ्चित हि।

(महाभारत शान्ति-पर्व 149.19)
अर्थात् पते की बात यह है कि मनुष्य से बढ़ कर कुछ नहीं है।

अवश्य ही ये सूक्तियां हैं, यत्किञ्चित व्यवहार में भी आयी हैं, किन्तु इन के आधार पर समूची संस्कृति के गठन का स्वप्न स्वप्न ही रहा है, व्यवहार में इन का अधिकतर उल्लंघन ही देखने को मिला है।

हां, अनेक सिद्धांत-सूत्रों का बहुत कुछ व्यवहार भी देखने को मिला है । एक पुराण-श्लोक है––

यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम् । अधिकं यो भिमन्येत स . . स्तेनो दण्डमर्हति।। (भागवत)

अर्थात् जितने से पेट भर जाए उतनी ही सम्पत्ति विहित है, इससे अधिक सम्पत्ति रखने वाला चोर के रूप में दण्डित होना चाहिए । मनु की व्यवस्था है कि सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण केवल आज के लिए धन जुटाता है, उससे हीन ब्राह्मण तीन दिन के लिए, उससे भी हीन एक वर्ष के लिए, और इन सबसे हीन ब्राह्मण तीन-वर्ष के लिए जीविका संजोता है––

कुसूल-धान्यको वा स्यात्, कुम्भी-धान्यक एव वा, त्र्यहैहिको वाऽपि भवेद्, अश्वस्तनिक एव वा ।।

चतुर्णामपि च चैतषां द्विजतावां
गृहमेधिनाम् ज्यायान् परः परो नयो
अर्मतो लोकजित्तमः ।।
(मनु. 4: 7-8)

इसी प्रकार इस्लामी अरब संस्कृति ने भी समता के अत्यन्त उच्च कीर्तिमान स्थापित किये हैं । मुहम्मद साहेब का उपदेश था कि फल खा कर छिलके बाहर न फेंको कहीं तुम्हारे निर्धन पड़ोसी को अपनी

निर्धनता के बोध से कष्ट न पहुंचे । उनके प्रथम खलीफा हज़रत अबूबकर को मात्र भारत-पोषण के लिए राज्य से जो वजीफा (वृत्ति) मिलता था उस में मिठाई की व्यवस्था न हो सकने से उनकी पत्नी ने वजीफा बढ़वाना चाहा, जिसे खलीफा ने टाल दिया । किन्तु एक दिन खलीफा के समक्ष मिठाई आ ही गयी । पता चला कि उनकी पत्नी ने वजीफे में से किंचित् बचत कर के उस दिन मिठाई की गुंजाइश निकाल ली थी । इस पर खलीफा ने कोषाधिकारी को लिखा कि उनके वजीफे में उसी अनुपात से कटौती कर दी जाय, क्योंकि उतने से ही उनका काम चल जाएगा ।

अवश्य ही, यदि इन मूल्यों को आधुनिक भाषा में परिभाषित कर के व्यवहृत किया जाय तो मानवता का उद्धार हो सकता है । तथापि मानना होगा कि ये आदर्श, आदर्श ही रह गये, और पाश्चात्य संस्कृति व्यवहार में बाजी मार ले गयी । उस-के सम्पर्क से हमारे सोये हुए प्राचीन मूल्य जाग पड़े तो इससे बड़ी क्या बात हो सकती है ।

प्राय: कहा जाता है कि भारतीय अथवा प्राच्य संस्कृति अध्यात्म-प्रधान है, और पाश्चात्य संस्कृति भौतिकता-प्रधान । जिस रूप में यह बात कही जाती है उस रूप में हम इसे भ्रामक मानते हैं । हमने ऊपर जिन अनेक मूल्यों से पाश्चात्य संस्कृति को मण्डित बतलाया है वे आध्यात्मिक स्तर के मूल्य हैं। वैज्ञानिकता और तज्जन्य भोगवादिता ही पाश्चात्य संस्कृति का सर्वस्व नहीं है, बल्कि, जैसा हम कह आये हैं, उसमें ईसाई धर्म और यूनानी दर्शन के अंश भी सम्मिलित हैं, जिन्हें भोगवादी कह कर उड़ा देना सम्भव नहीं । तथापि उक्त कथन में इतना सत्यांश अवश्य है कि पाश्चात्य संस्कृति पर अतिवैज्ञानिकता के प्रभाव-स्वरूप भौतिकवादिता बुरी तरह हावी होती जा रही है । उपरि-निर्दिष्ट, आध्यात्मिक स्तर के मूल्यों का दर्शन पाश्चात्य ऋषियों को हुआ था और उन्होंने उन्हें व्यवहार में लाने का स्तुत्य प्रयास किया था । पाश्चात्य संस्कृति के गठन में उनकी दृष्टि का महत्वपूर्ण योगदान है। किन्तु वे उन मूल्यों को आध्यात्मिक आधार नहीं प्रदान कर सके, जिसके फलस्वरूप पाश्चात्य संस्कृति मूल्यगत सापेक्षतावाद का शिकार हो गयी ।

यदि प्राच्य संस्कृति भी, कुसंग से पराभूत हो कर, मूल्यगत सापेक्षतावाद का विष पान कर ले, तो इस से मानवता की रही-सही आशा भी समाप्त हो जायेगी।

अस्तु, पाश्चात्य संस्कृति के निर्माणक तत्त्व चाहे जो भी रहे हों, उसका सब से बड़ा अभिशाप है अधिकाधिक प्रवर्द्धमान भौतिकवादिता, जिसके आगे सभी मानवीय मूल्य क्रमश: फीके पड़ने लगे हैं। भौतिकवाद के पक्ष में चाहे जितने तर्क दिये जायें, यह एक ज्वलन्त तथ्य है कि यदि उसका सुसंगत रूप से पालन किया जाय तो मानवीय मूल्यों में सर्वतोभावेन अनास्था अपरिहार्य हो जायेगी। इसी अनास्था को मूल्यगत सापेक्षतावाद शब्द से अभिहित किया जाता है।

हमारे यहां एक संप्रत्यय अथवा अवधारणा है, 'निष्कारण धर्म (Duty for duty sake)अथवा "निष्काम कर्म" । वैसे कान्ट आदि में भी उस प्रकार के तत्त्व मिल जाते हैं, किन्तु जिस प्रकार ये तत्त्व हमारी संस्कृति के अंग के रूप में उभरे थे उस प्रकार वे अन्यत्र नहीं दिखायी देते । यहां के ब्राह्मणों ने भौतिक लाभ की चिन्ता छोड़ विशाल वैदिक वाङ्मय को सहस्त्राब्दियों तक कण्ठ में सुरक्षित रखा। यह एक घटना है, जो फिर कभी घटित होने की नहीं । वस्तुत: यह पूरी ब्राह्मण-जाति की विशेषता रही है कि उसने संस्कृति के संरक्षण में अतुलनीय दायित्व-बोध का परिचय दिया है । मैं आज की बात नहीं करता, परम्परा के सन्दर्भ में कह रहा हूं । ऐसा जातीय आदर्श पाश्चात्य परम्परा में नदारद है। ब्राह्मण का आदर्श वर्णव्यवस्था का सार है। खेद है कि पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण में हमें यह आदर्श सदा के लिए विस्मृत हो गया है। इसी प्रकार हम इस्लामी अरब के खलीफाओं का आदर्श सदा के लिए भुला चुके हैं।

स्थानाभाव के कारण हम विस्तार में जा नहीं सकते, अन्यथा हम कई अन्य प्राच्य मूल्यों की चर्चा करते, जिन्हें हम पाश्चात्य संस्कृति के अन्धानुकरण में गंवा चुके हैं और आगे भी गंवाते जा रहे हैं।

अन्धानुकरण सदा गलत होता है, अच्छी चीज का भी क्योंकि उस से हम एक अच्छी चीज प्राप्त तो करते हैं किन्तु एक अन्य अच्छी चीज विवेक, को गंवा कर। इसी प्रकार जिसे रेजिमेन्टेशन अथवा इनडाकट्रिनेशन कहा जाता है उस से चाहे वही सिद्धांत हाथ लगे जो स्वतन्त्र चिन्तन से प्राप्त होता, तथापि रेजिमेन्टेशन अच्छा नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार के अविवेक का एक अत्यन्त घातक परिणाम यह होता है कि संस्कृति स्वरूप-च्युत हो जाती है, उसकी अस्मिता-इदन्ता, उस की आत्मा, नष्ट हो जाती है, और उसके साथ ही उस की वे विशेषताएं भी नष्ट हो जाती हैं, जिन्हें लेकर वह अवतीर्ण हुई थी। सांस्कृतिक विशेषताओं से जीवन में वैविध्य और वैचित्र्य की सृष्टि होती है, जिससे ही जीवन जीने योग्य होता है । अन्यथा मानव-जीवन पशु-जीवन के समकक्ष होकर रह जायेगा। सांस्कृतिक विशेषताओं का द्वंद्व सांस्कृतिक उत्कर्ष और प्रगति का प्रतिभू है। गति और प्रगति के लिए द्वन्द्व अनिवार्य है । द्वंद्व बाह्यमूलक भी हो सकता है और आन्तरिक भी। अन्य संस्कृतियों के समागम से समुत्थित द्वंद्व प्रथम कोटि के अन्तर्गत है, जबकि संस्कृति के अन्तर से समुद्गत, स्वत: स्फूर्त द्वंद्व द्वितीय कोटि के अन्तर्गत । द्वंद्व के महत्व पर काव्यात्मक, प्रकाश डालते हुए इक्बाल का उद्घोष है––

म जी अन्दर जहाने कोरज़ौके
कि यज़्दां दारदो शैतां न दारद

अर्थात् जो सुरुचि का अन्धा (सुरुचि से वंचित) है वही ऐसे संसार की कामना करता है जिस में ईश्वर तो हो किन्तु शैतान न हो, ऐसे संसार में जी कर क्या होगा? और भी–

मुझे सजा के लिए भी नहीं कबूल
वह आग कि जिस का शोला न हो तुन्दो सर्कशो बेबाक

संस्कृति स्वरूप-च्युति स्वरूप-विसर्जन, आत्मान्तरण से अपनी रक्षा करते हुए यदि अन्य संस्कृतियों से शक्ति ले लें तो उसमें चार चांद लग जाते हैं। अन्यथा अन्य संस्कृतियों से लाभ के बदले हानि हों की आशंका रहती है। गीता की चेतावनी स्मरण रखने योग्य है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् स्वधर्मे निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः ।। (गीता 3.35)

अर्थात् परस्वभावानुरूप धर्म यदि अच्छा भी लगे और स्वस्वभावानुरूप धर्म यदि गुण-हीन भी लगे तो स्वधर्म में मर जाना भी श्रेयस्कर है, क्योंकि और परधर्म सदा भयावह है। कहते हैं कि मुहम्मद साहेब ने भी अन्य संस्कृतियों के अन्धानुकरण के विरुद्ध चेतावनी दी थी।

आज प्राच्य संस्कृति की यह दशा है कि जो कुछ पाश्चात्य संस्कृति के नाम पर उसे प्राप्त होता है वह उसके लिए आतुर हो जाती है। उस दशा पर प्रस्तुत लेखक से एक श्लोक बन गया था—

उच्छिष्ट-भोजनाः केचित्, केचिद् दुर्गीर्ण-भोजनाः, वयं वान्ताशिनः प्रायः पाश्चात्यानां च संस्कृतौ।।

अकबर इलाहाबादी ने आलोच्य स्वरुपच्युति-प्रक्रिया पर करारी चोट की है।

इक बर्ग मुज्महिल ने यह तकरीर में कहा मौसिम की क्या खबर नहीं ऐ डालियो। तुम्हें? अच्छा। जबाबे खुश्क यह इक शाख ने दिया-मौसिम की हो खबर तो क्या हम जड़ को छोड़ दें?

मार्कण्डेय-पुराण में स्वरूप-च्यावक, स्वभाव-खादक राक्षस की कथा आती है, जो दिलचस्प है। उक्त राक्षस ने एक ब्राह्मण की भार्या का हरण कर लिया। उत्तानपाद के पुत्र महाराज उत्तम के पूछने पर वह उत्तर देता है—

न वयं मानुषाहाराः, अन्ये ते नृप! राक्षसाः। सुकृतस्य फलं यत् तु तदि श्नीमो वयं नृप! स्वभावं च मनुष्या णां योषितां च विमानिताः मानिताश च समश्नीमो, न वयं जन्तु-खादकाः ।।

यद्स्माभिर् नृणां क्षान्तिर् भुक्तां, क्रुध्यन्ति ते तदाः; भुक्ते दुष्टे स्व-भावे च गुणवन्तो भवन्ति च ।।

**सन्ति नः प्रमदा भूप; रुपेणाप्सरसां समाः राक्षस्यस्, तासु तिष्ठत्सु मानुषीषु रतिः कथम्? मन्त्रवित् स द्विजश्रेष्ठो यज्ञे यज्ञे गतस्य मे रक्षोध्नमन्त्रपठनात् करोत्युच्चाटनं नृप! वयं बुभुक्षितास् तस्य मन्त्रोच्चाटनं कर्मणा क्व यामः? सर्वयज्ञेषु स ऋत्विग् भवति द्विजः ।।
ततो-स्माभिरिदं तस्य वैकल्व्यमुपपादितम् ।
पत्न्या विना पुमान् इज्याकर्मयोग्यो न जायते।।**

(मार्कण्डेय पुराण 7-16-19, 21-23)

अर्थात् हमने ब्राह्मण की भार्या का अपहरण बुभुक्षा से प्रेरित होकर नहीं किया है। हम मनुष्य अथवा जीव-जन्तु खाने वाले राक्षस नहीं हैं, जन्तु खाने वाले राक्षस और ही होते हैं। हम तो मनुष्यों का स्वभाव खाते हैं, उनके सत्कर्मों का फल खाते हैं। उनके क्षमा-शील स्वभाव को खाकर हम उन्हें क्रोधी बना देते हैं। हमें ब्राह्मण की भार्या से रति की भी लालसा नहीं। हमारी राक्षसियां तो अप्सराओं के समान रुपसी हैं। ब्राह्मण यज्ञों में रक्षोध्न मन्त्र पढ़ कर हमें उखाड़ फेंक रहा है, अतः हमने उसे उसकी भार्या का अपहरण कर यज्ञ-भाग के अयोग्य बना दिया है।

प्रस्तुत प्रसंग का सारांश यह है कि अन्य संस्कृतियों से समागम में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि कहीं वे हमारी संस्कृति का वैशिष्ट्य तो खतरे में नहीं डाल रही हैं। संस्कृतियों से सावधान रहने की आवश्यकता है।

लोक संस्कृति, अभिजात्य संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में

डा० अशोकजेरथ

"संस्कृति" शब्द जहां पर भी दृष्टिगोचर होगा वहीं पर एक उदात्त भावना जन्म लेगी। जो अच्छा है, श्रेष्ठ है वही सुसंस्कृत है, सभ्य है अन्यथा असंस्कृत और असभ्य है। सुसंस्कृत वही है जो आन्तरिक तौर पर व्यवहार कुशल है। यूं तो व्यवहार-कौशल का अन्दर और बाहर दोनों सतहों पर जानना सभ्य व्यक्ति के लिए आवश्यक है। यह व्यवहार-कुशलता क्या है ? इसी में संस्कृति का तत्व निहित है।

'कुशल व्यवहार' में चिन्तन, सोच और उसकी प्रक्रिया का समन्वय रहता है इसीलिए डा. वासुदेव शरण अग्रवाल–ज्ञान और कर्म दोनों के पारस्परिक प्रकाश की संज्ञा को संस्कृति कहते हैं। दूसरी ओर स्वामी ओमानन्द सरस्वती 'संस्कृति' शब्द को सन्धिविच्छेद कर सम्+कृति को दो अर्थों से युक्त मानते हुए लिखते हैं कि सम् का अर्थ शुद्ध, श्रेष्ठ ही है और कृति का अर्थ कार्य अथवा आचरण है। अतः सामूहिक तौर पर संस्कृति का अर्थ होगा–श्रेष्ठ कार्य अथवा आचरण। (हरियाणा सांस्कृतिक दिग्दर्शन पृ. 99) इसी परिभाषा से मिलती-जुलती परिभाषा डा. गणेश भार्गव अपने शोध प्रबन्ध 'डोगरी लोक गीतों का सांस्कृतिक अध्ययन' में देते हुए लिखते हैं–संस्कृति की निष्पत्ति सम् पूर्वक 'कृ' धातु के भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय के योग से हुई है। जिसका अर्थ है परम्परागत अनुस्यूत संस्कार–और संस्कार का अर्थ शोधन करना, सुधार करना आदि लिया गया है। के. एम, मुंशी "संस्कृति" शब्द की व्याख्या बड़े सरल ढंग से देते हैं।

"हमारे रहन-सहन के पीछे जो हमारी मानसिक अवस्था, जो मानसिक प्रकृति है, जिसका उद्देश्य हमारे अपने जीवन को परिष्कृत, शुद्ध और पवित्र बनाना है तथा अपने लक्ष्य की प्राप्ति करना है, वही संस्कृति है।

जीवन में निरन्तर सुधार और परिष्कार के लिए चिन्तन की निरन्तर बहती सरिता में मानस का स्नान होना बहुत आवश्यक है। इसी में निर्लिप्ति व्यक्ति चिन्तन के अलग-अलग धरातल पर, कला के अनेक आयामी पक्षों को पुष्ट करता चला जाता है। साहित्य इसका आधार है तो कलाएं इसका मापदण्ड। अतः किसी भी राष्ट्र की संस्कृति को उसके चिन्तन, दर्शन,, साहित्य और सृजन के दूसरे माध्यमों के आधार पर आंका जा सकता है। ये कलाएं उनके परिष्कृत जीवन का प्रतीक हैं। चिन्तन और दर्शन उनके बौद्धिक पक्ष की ओर संकेत करते हैं। स्थापत्य कला उनके भौतिक सुखों की ओर इंगित करती है और साहित्य उनके सर्वांगीण जीवन का प्रतिबिम्ब है।

संस्कृति वह आधार है जिसकी नींव पर सभ्यताएं अपना आंचल पसारती हैं, प्रसारित करती हैं। जहां संस्कृति, आन्तरिक विकास को हवा देती है, वहीं सभ्यता उसका चोला है, वस्त्र है जो बाहरी विकास की ओर संकेत करते हैं। इसीलिए सभ्यताओं में अक्सर समय के साथ-साथ अनेक परिवर्तन आते रहते हैं–बाहरी विकास के अनेक स्वरूप और रंग अपना प्रभाव छोड़ जाते हैं जिन्हें प्रत्यक्ष तौर पर महसूस किया जा सकता है। दूसरी ओर चिन्तन का विकास इतना सहज, सरल और धीमी गति से होता है कि सदियों तक भी उनमें परिवर्तन महसूस नहीं किया जा सकता। सभ्यताएं समय के साथ-साथ पीछे छूट जाती हैं। पर संस्कृति गुप्तगंगा की तरह बीच में बह कर भी जीवित रहती है। आज मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यताएं गुम हो गई हैं––मृतप्रायः हैं, पर वे संस्कृतियां आज भी अपने चिन्तन और धार्मिक आस्थाओं के माध्यम से हमारे जन-मानस में जीवित हैं।

अक्सर किसी राष्ट्र अथवा जाति की संस्कृति एकान्त में पलती है। अंग्रेजी में हम "इन आइसोलेशन" कह सकते हैं––एकान्त में पलकर ही ये परवान पाती हैं। और उस जाति की अथवा राष्ट्र की विशेषताओं को अपने में समाहित कर उस राष्ट्र अथवा जाति के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करती है। यही कारण है कि यूनान, रोम, चीन, दजला और फरात, नील घाटी, तथा वैदिक काल की संस्कृतियां अपने आप में अलग-अलग

प्रकार की विशिष्टताओं से सम्पन्न रही है । अमरीका के रेड इन्डियन लोगों की ''इन्का'' संस्कृति इन सब से अलग रही है । लेकिन बाद में यातायात के सुलभ साधन, अपने प्रभुत्व की स्थापना हेतु चलाए गए राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय अभियान, युद्ध, सत्ता और वैयक्तिक घुमकाण्ड प्रवृत्तियां इन संस्कृतियों के विकास में यथेष्ट योगदान करती रहती हैं । उत्तरी भारत पर निरन्तर पाश्चात्य शक्तियों के आक्रमण, तद्पश्चात उनके द्वारा स्थापित राज्यों पर उनकी संस्कृति का यथेष्ठ प्रभाव, भारतीय संस्कृति पर पड़ा। यूनान की स्थापत्य कला, शारीरिक सौष्ठव और श्रृंगार-प्रियता भारतीयों के मन में धीरे-धीरे पैठ पाने लगी । यद्यपि यह प्रभाव अतिसूक्ष्म था तथापि इसे आंका जा सकता है । अखनूर (जम्मू के पास) के पास पाई गई टेराकोटा की मूर्तियों में यूनानी केश-सज्जा और शिरवस्त्र को देखा जा सकता है । बाद में आने वाले हूण, शक, मंगोल आदि जातियों न केवल भारत में आकर, रच-बस गई अपितु जहां वे भारतीय संस्कृति से प्रभावित हुए बिना न रही वहीं पर उन्होंने भारतीय संस्कृति को भी अंशतः प्रभावित किया । परिणामतः, कला के हर क्षेत्र में तथा चिन्तन में एक बार फिर विकास के चिन्ह दृष्टिगोचर होने लगे जो अंग्रेजों, फ्रांसीसियों और पुर्तगाल वालों के भारत आगमन के साथ-साथ सम्पूर्णता को प्राप्त हुए। यह अब जो एक भारतीय संस्कृति का हमारे सामने है वह संश्लिष्ट संस्कृति के तौर पर जाना जाता है । इसी प्रकार, भारतीय घुमक्कड़ों तथा बुद्धिजीवी वर्ग ने शेष संसार को भी अपनी संस्कृति के अंश दिए हैं । सम्राट अशोक प्रियदर्शी के काल से जो बुद्धमत का प्रचार-प्रसार हुआ उसने चीन, जापान, जावा, सुमात्रा, मलद्वीप, ब्रह्मदेश, हिन्द-चीन, श्रीलंका तथा दूसरे अनेक देशों में जाकर, उनकी संस्कृति को प्रभावित किया है । सोच के नए सोपान दिए हैं। दूसरी ओर ईसाई मिशनरियों ने तीसरी दुनिया के अनेक बीहड़ स्थानों में पैठ पाकर जहां हजरत ईसा का सन्देश दिया, वहां उनकी आदिमानवीय संस्कृतियों को प्रभावित कर सभ्यता के दीप जलाए । अतिपूर्वीय देशों में भारतीय स्थापत्य कला, मन्दिर, बौद्धमठ, गुफा, और तीसरी दुनिया के अनेक देशों में गिरजाघरों की स्थापना तथा नवीन आचार-संहिताओं का व्यवहार में लाना इस बात का साक्षी है ।

संस्कृति के दो रूप :—हर जाति अथवा राष्ट्र की संस्कृति के दो रूप मिलते हैं :— एक अभिजात्य वर्ग की संस्कृति और दूसरी सामान्य जनता की । अनेक विद्वान, शिक्षित कुछ लोगों की संस्कृति और जन-साधारण की संस्कृति के तौर पर, इन दो रूपों को स्वीकारते हैं । ''मैथ्यू आर्नल्ड'' प्रथम रूप में किसी भी सभ्यता का सर्वोत्तम चिन्तन आभिजात्य संस्कृति को मानते हैं । दूसरी संस्कृति वह है जिसे बहुजन सोचते, अनुभव करते और पसन्द करते हैं। हमारी अधिकांश जनता गांवों में बसती है । जो लोग कस्बों, उपनगरों और नगरों से होते हुए महानगरों में प्रवेश कर जाते हैं, वे अक्सर गांव के रीति-रिवाज, अनुष्ठान, लोक व्यवहार, खान-पान, सोच, रिश्ते-नातों का मेल, गंवई वातावरण आदि भूलकर नगरीय परिवेश में गुम हो जाते हैं । अक्सर उनकी वैचारिकता नगरीय परिवेश के साथ संघर्ष करती हुई अन्ततः शिथिल पड़ जाती है। कई बार बहुविध नगरीय वैचारिकता और कस्बाई सोच के मेल से नई वैचारिकता का सृजन भी संभव हो जाता है । साहित्य में ''गांव की ओर'' नामक आन्दोलन इसी बात का परिचायक है । चूंकि गांव की संस्कृति के विकास की सीमा बहुत निश्चित है अतः नगरीय अथवा महानगरीय वैचारिकता के धरातल, अनेक आयामी व्यवहार तथा सोच, लोगों की समन्वित धाराओं और मान्यताओं के कारण, विकास के उच्च सोपान छूने लगते हैं । कुछ नया करने, सोचने और सृजन के नए धरातल खोजने की ललक में नित नए परिवर्तन होने स्वाभाविक हैं । महानगरीय संघर्षों के कारण जितना परिवर्तन पिछले कुछ दशकों में शीघ्रता के साथ संस्कृतियों में महसूस किया जा रहा है वह सहस्रों वर्षों के इतिहास में कभी नहीं ढूंढा जा सकता । अब तो लगता है इन महानगरों के माध्यम से कहीं कोई सामान्य मन्च खोजा जा रहा है। यही संस्कृति अभिजात्य संस्कृति के तौर पर उभरती है। अक्सर ये वे लोग होते हैं जो सत्ता और राज्य के साथ बहुत करीब से जुड़े होते हैं। राज्याधिकारियों और सत्ताधारियों के मनोरंजन हेतु नित नए आविष्कार, कला और साहित्य के क्षेत्र में किए जाते हैं । कहीं कोई ऐसा मनचला कलाकार अथवा साहित्यकार भी अवश्य जन्म लेता है जो सत्ता के प्रभुत्व को स्वीकार न कर अपनी तुष्टि-हेतु सामान्य अथवा प्रचलित कला अथवा साहित्यिक आन्दोलन को दिशा देकर, या विद्रोह कर, वैयक्तिक सत्ता को स्थापित करता है । शक्तिशाली होने पर वही आन्दोलन का पथ बन जाता है ।

सामान्यतः जनसाधारण की संस्कृति को लोक-संस्कृत (फोक कल्चर) के रूप में स्वीकार कर लिया गया है । अक्सर विद्वान इसी संस्कृति को वास्तविक और श्रेष्ठ मानते हैं । इसका आधार सरल, सहज तथा कल्पनाप्रसूत संवेदनशील वह मन है जिसमें संघर्ष की आग की जांच न के बराबर है । ''यूरोप में इनलाइटमेंन्ट के समय थके नगरों ने ही लोक-संस्कृति और लोक-मन की खोज की थी'' । अनेक बार नगरीय परिवेश से ऊब कर व्यक्ति गांव की ओर उन्मुख हो जाता है । क्योंकि वहां सब कुछ प्राकृतिक है। व्यक्ति-व्यक्ति के साथ जुड़ा समुदाय, रीति-रिवाज, रिश्ते-नाते, अनुष्ठान, रूढ़ियां, रिवाज कुछ भी बनावटी नहीं लगते । वे व्यक्ति को सहज ही अपना लेते हैं और वह उनमें घुल जाता है। यह सब प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है, हम पहचान नहीं पाते। यह सब इतना सहज और सरल है कि व्यक्ति कहीं पर भी अपने को अकेला नहीं पाता । ''लोकमानस......सहज पर भी विश्वास करता है और अनुष्ठानिक जादू-टोने पर भी विश्वास रखता है । इसी द्विमुखता से लोक अभिरुचि में अनंतता के लक्षण उभरते हैं । लोक जीवन के तथ्यों में महासागर की भांति नाना प्रयोजन निहित रहते हैं। यही लोक प्रवृत्ति की मूल विशेषता है ।

लोकवार्ता का सृजक लोकमानस है । वह विवेकपूर्वी है अर्थात् तर्क अवस्था में पहले की स्थिति का है । जीवित और प्रेत में, स्वप्न और जागृत-स्मृति में, अंश और समग्र में, भावांश और मूर्त रूप में

लोकमानस भेद नहीं करता . . . . . . विवेक से लोकमानस का परिष्कार होता है। तब उसमें मनीषा जागृत होती है। वह मुनिमानस बनता है। लोक मानस और मुनिमानस के मध्य में जनमानस की अवस्था है। (हरिचंद पराशर लोकदर्शन और लोकप्रवृत्ति :)-सोमसी-जनवरी 1979

लोक संस्कृति में-लोक का अभिप्राय लोकमानस से है जो सामूहिक रूप से समुदाय का प्रतीक है। लोक विश्वास, लोक परम्पराएं और लोक जीवन से सम्बन्धित दूसरी प्रक्रियाओं को लोक संस्कृति के अन्तर्गत लिया जा सकता है।

यह सत्य है कि साहित्य और कलाओं पर, अभिजात्य संस्कृति का आधिपत्य रहता है पर कला और साहित्य को जो शक्ति जनसाधारण से प्राप्त होती है वह अभिजात्य वर्ग से नहीं। किसी एक वर्ग से कहीं समृद्ध और शक्तिशाली अपेक्षाएं जनता की होती हैं। इसीलिए फ्रैंच बोअस ने कहा है कि "मौलिक मानवीय समस्याओं पर मुझे जनता का निर्णय, वर्ग के निर्णय से अधिक स्वीकार्य होता है। जनता की कामनाएं वर्ग की कामनाओं से अधिक मानवीय होती हैं।" किन्तु कभी-कभी दोनों का निर्णय ग्रहणीय हो जाता है। विशेष कर उस समय जबकि जनता और वर्ग विशेष की अपेक्षाएं एक ही क्षितिज को छूने लगती हैं। अमरीका में लोक संस्कृति के समान्तर 'पापुलर कल्चर' जिसे हिन्दी में 'पापुलर संस्कृति' के तौर पर अपना लिया गया है, जनसाधारण के साथ जुड़ी संस्कृति का वह रूप है जिसके माध्यम से अभिजात्य वर्ग की कला-सामग्री को जन साधारण तक पहुंचा दिया गया है। यह केवल 'पापुलर संस्कृति' की ही बात नहीं यातायात के सुलभ साधनों के कारण हमारी लोक परम्पराओं, लोक कलाओं, और लोक साहित्य की अनेक विद्याओं में नगरीय परिवेश तथा अतिपरिवर्तनशील मान्यताओं का समावेश होने लगा है।

अक्सर लोक गीतों एवं लोक कथाओं में औद्योगिक शब्दावली और वैज्ञानिक तथा तकनीकी प्रतीक तथा बिम्ब स्वतः ही प्रवेश कर गए हैं। दूसरी ओर लोकगीतों की स्वर लहरियां, मुखौटे और भाषा रचनात्मक इकाइयों और सृजन के नवीन सोपानों को छूने लगती हैं।

लोकगीतों को लय,, गति और संगीतात्मकता, अभिजात्य वर्ग के साहित्य-सृजन में सहज ही पैठ पा जाती है। लोक-नृत्यों की थाप और गीत को नृत्यों में प्रयोग के तौर पर बांधा जा रहा है। लोक-संस्कृति से अभिजात्य संस्कृति ने लय, छन्द, गीत, वाणी,, नाट्य, कथावस्तु, अभिनय, शब्दावली आदि को ग्रहण किया है। शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ मध्य-वर्गीय तथा निम्नमध्य-वर्गीय समाज की रुचि नये सांस्कृतिक अनुभवों को ग्रहण करने में है। ऐसे समाज में अभिजात्य और लोक-संस्कृति का अंतर धुंधला पड़ता जाता है। गांव जो तीव्रता के साथ उप-नगर अथवा कस्बे बनते जा रहे हैं इस संस्कृति का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। जहां एक साथ लोक और अभिजात्य कलाएं पलती हैं। यही वे धरातल हैं जहां एक नया क्षितिज उगता है। जिसका मटमैला रंग धरती की सोंधी खुशबू और लालिमा से एकाकार होकर एक तीसरे धरातल को जन्म देता है। जिसमें दोनों की सुगन्धित रश्मियां हैं, दोनों के रंग हैं। पर दोनों एक-दूसरे में रच कर एक नये चित्र को जन्म देते हैं, जिसकी अपनी आकृति है, अपनी आभा है, अपना रंग है।

—●—

मानव की विकास यात्रा

आज मानव ने कितनी प्रगति की है
दुनिया के इस छोर से उस छोर तक
कितना अंतर दिखाई देता है।
इस प्रगति की गवाह धरती है
कि जिसके जिस्म पर हजारों
आड़ी - तिरछी रेखाओं का जाल बुन दिया गया है।
मानव ने अपनी प्रगति यहीं तक सीमित नहीं रखी है
उसने दिए हैं -

विभिन्न धर्म
विभिन्न ग्रन्थ
विभिन्न भाषाएं
और महामानव
कल्पनातीत दर्शन और संस्कृति

क्या इन सबने मानव को
एक सभ्यता से दूसरी सभ्यता में नहीं धकेला है ?
अपनी इस चिरन्तन यात्रा में
मानव कहां से कहां तक पहुंच गया है
कि उसे एक से दूसरे में अलगाव का आभास तक न हुआ।
वास्तव में कितनी प्रगति की है मानव ने
कि वह स्वयं अपने जिस्म को
अब टुकड़ों में बांट देना चाहता है
अपनी बनाई सभ्यता के नवीन औजार से।

रमेश चन्द्र

प्राचीन रोम के शासक—भारतीय दम्पत्ति

—यमुना दत्त वैष्णव 'अशोक'

रोम और सीरिया के इतिहास में बहु-चर्चित उदयनाथ और संसार की महानतम मानी गयी शासिका, उसकी विधवा, जनोबा को भारतीय इतिहासकार एकदम भूला चुके हैं। पश्चिम एशिया में व्यापारिक संघ के महाश्रेष्ठी इस वणिक दम्पत्ति ने ईसा की तीसरी सदी में रोम और ईरान के साम्राज्यों के मध्य में स्थित अपने पामीरा राज्य को उन दोनों से श्रेष्ठ और महत्तर बना दिया था।

उदयनाथ की गौरवपूर्ण राजधानी के ध्वंसावशेष आज भी सीरिया के मरुस्थल में अपनी वास्तुकला से संसार भर को आकर्षित करते हैं। वर्तमान सीरियाई सरकार ने पामीरा के प्राचीन बाल देवता (बालेश्वर) के मन्दिर को पुरातत्व संग्रहालय का रूप दे दिया है। इस मन्दिर के ठीक सामने भारतीय दुर्गों के गोपुर सा एक विशाल विजय द्वार है। उसके आगे दूर तक ऊंचे-ऊंचे विशाल स्तम्भों की वीथिका है। कुल मिलाकर 375 शिला स्तम्भ हैं जो लाल पत्थर के बने हैं। प्रत्येक स्तम्भ की ऊंचाई 18 मीटर है। दर्शकों को अपने से दस गुना ऊंचा प्रत्येक स्तम्भ पास से एक ऊंची मिनार सा लगता है। भारतीय वास्तुशास्त्र में इन्द्र, विष्णु तथा ब्रह्मा के लिए बने स्तम्भों का जो आकार निर्धारित है उसके अनुसार ये स्तम्भ इन्द्र स्तम्भ हैं। स्तम्भों पर पामीरा के वीरगति प्राप्त सैनिकों के अभिलिखित चित्र उत्कीर्ण किए गये हैं। अभिलेखों की भाषा पामीरा की तत्कालीन देशज आर्य भाषा है। कहीं-कहीं मूर्तिकारों ने अपने नाम ग्रीक भाषा में भी अंकित किए हैं। उष्णीष, उत्तरीय और घुटनों तक की देह से चिपकी धोती पहने योद्धा भारतीय लगते हैं। शिला स्तम्भों की यह 1300 मीटर लम्बी अद्भुत वीथिका विजय द्वार से पुराने राजमहल तक जाने के मार्ग को अलंकृत करती है। अब इन स्तम्भों में से 150 स्तम्भ पूरे या आधे खण्डित हो चुके हैं। शेष 225 स्तम्भ लगभग 1700 वर्ष पुराने होते हुए आज ही तक्षित किए जैसे लगते हैं।

पामीरा आज ईराक की भूमध्य सागर तट के त्रिपोली तक जाने वाले खनिज तेल की पाइप लाइन पर स्थित एक उपेक्षित नगरी है। आज से पांच हजार वर्ष पूर्व से ही वह एशिया से योरोप की ओर जाने वाले व्यापारी काफिलों का सीरिया के मरुस्थल में स्थित पड़ाव हुआ करता था। ईसा के 1900 वर्ष पूर्व सुमेरियन सम्राट तिगलाथ पिलेसर (पुल असुर) के समय के अभिलेखों में पामीरा को ताड़गुरू कहा गया है और उसके घूमक्कड़ दलों के लिए आरक्षित व्यापार केन्द्र बना देने के शाही आदेश का उल्लेख है। यहूदी बाइबिल में पामीरा नगर का नाम तमार लिखा हुआ है। तमार संस्कृत में जल को कहते हैं। हिब्रू लकार भी पहले रकार ही लिखा जाता था। इसलिए इस नाम को तमाल भी पढ़ा जा सकता है जिसका अर्थ ताड़ वृक्ष है। एशियावासी हिक्सीस लोग ताड़मरु होकर ही नील नदी की घाटी में घुसे थे उन्होंने वहां मिस्र के सोलहवें राजवंश की स्थापना की थी। सैल्यूकस शासन के समय अनेक नगरों तथा देवी देवताओं के ही नहीं नागरिकों के नामों का भी ग्रीक रुपान्तर कर दिया जाता था। इस नगर का ताड़मरु नाम भी पामीरा (पाम या ताड़ नगर) कर दिया गया था।

ताड़मरु मरुभूमि के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक भागों के केन्द्र पर स्थित मीठे पानी के जलाशयों का एक सुन्दर मरुद्यान नखलिस्तान था। एक सड़क पैंट्रा (पाणिनि वर्णित (अश्मक जनपद) बोट्रा से उत्तर की ओर भूमध्य सागर तट पर सीरिया क्षत्रपी की राजधानी अन्तिओक जाती थी। दूसरी मध्य एशिया और भारत के काफिलों को पामीरा सिनाई होते हुए मिस्र की ओर ले जाती थी। तीसरी ओरोंटिस नदी घाटी होकर उत्तर की ओर अतरपत्तन (अजरबैजान) जाती थी। पश्चिम की ओर के सार्थवाह मार्ग पर सूर्यपुरी (हेरियापोलिस) तथा अलप्पो नगरियां थीं। उदयनाथ ने इस मार्ग पर दूरा योरोपस (योरोप का द्वार) नामक दुर्ग का निर्माण किया। उस ओर दूसरी प्रसिद्ध नगरी अल-रुसाफा (रासभा) थी जैसाकि इस नाम से संकेत मिलता है यह रासभों (गधों) के काफिलों का पड़ाव था। हाल ही में दूरा योरोपस के उत्खनन से उसके खंडहरों की दीवालों पर ताड़मरु के सैनिकों के अभिलिखित चित्र मिले हैं।

गुप्त वंश के शासन काल में भारत का पश्चिम एशिया और रोम से खूब बढ़कर व्यापार होता था। उन दिनों भी राजमार्गों की रक्षा और उन पर गुजरने वाले व्यापारियों के काफिलों से प्राप्त कर, पश्चिमी एशिया के अनेक राष्ट्रों की, शासन व्यवस्था का आधार था। हरियाणा में प्राप्त एक मुद्रा पर खुदे 'यौधेयगण पुरस्कृत्य शंकराज महाराज महाक्षत्रप महा सेनापते' शब्दों से भारतीय योधेयों के रोमन के सम्राट की 23 पूर्वी क्षत्रपियों में राजमार्गों की रक्षा करने की बात प्रमाणित होती है। पाणिनि ने यौधेयों अथवा आयुधजीवी लोगों के अनेक संघराज्यों और जनपदों का उल्लेख अपनी अष्टाध्यायी में किया है। पामीरा भी व्यापारी संघराज्य था। उदयनाथ नाम ही नहीं ताड़मरु, पेट्रा, अत्रिपत्तन, दूर यारोप, आदि स्थलों के नाम और राज हरियाण, सारसेन (यौद्धेय का कमरबंद) आदि पदनाम भी भारतीय हैं। तत्कालीन पामीरा लिपि में लिखा एक लेख हंगरी में और दूसरा इंग्लैण्ड में उपलब्ध है जो ताड़मरु के यौधेयों के माध्यम से वहां पहुंचे होंगे। झज्झर (हरियाणा) के संग्रहालय में रखी एक प्राचीन यौधेय मूर्ति की ताड़मरु के शिला स्तम्भों पर अंकित धनुर्धरों से अद्भुत समानता है। ईरान के हरवमनीश शासक दारयबहूस (धारयेत्वसु) प्रथम के समय में यौधेय यूनान में लड़ने भेजे गए थे। दारय की हिन्द क्षत्रपी में तब (500 ई. पू.) पंजाब तक क्षेत्र था। तत्कालीन ग्रीक अभिलेखों में इन भारतीयों के सूती वस्त्रों का उल्लेख है।

गुप्तकालीन शिल्पी समितियों की भांति पामीरा (ताड़मरु) में भी शिल्पियों की अपनी समितियां थीं। पामीरा में उत्खनन से प्राप्त 258 ई. पू. के एक अभिलेख में स्वर्णकारों की एक समिति का उल्लेख है (जे. कन्टीन इन्स्क्रिप्सनस डे पामीरी (1930, पृष्ठ 30) पिछले तीन दशकों में बहुत से रोमन सिक्के भारत के प्राचीन व्यापारिक नगरों में प्राप्त हुए हैं। सुदूर ब्रह्मपुत्र की घाटी में स्थित अम्बरी (गोहाटी), दक्षिण भारत में त्रिचूर कोयम्बटूर और चन्द्र वल्ली में उत्खनन से रोम के सम्राटों की स्वर्ण मुद्राएं मिली हैं।

पामीरा का जनपद कई शताब्दियों तक पूर्व में पार्थिया और पश्चिम में रोम इन दो प्रतिद्वंद्वियों के बीच अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा। इन दोनों की पहुंच के बाहर वह कभी पार्थिया के पक्ष में रहकर और कभी रोम का पक्ष लेकर शक्ति सन्तुलन का प्रयत्न करता रहा। अपने संघराज्य की स्वायत्तता के लिए उदयनाथ से पहले के पामीरा के वणिक महासंघ के श्रेष्ठियों ने ढाई तीन सौ वर्षों तक निरन्तर संघर्ष किया था। रोमन शासक से पहला सशस्त्र संघर्ष हुआ जब 41 ई. पू. पामीरा के वैभव से प्रभावित रोमन सम्राट मार्क एंटोनी ने अपने घुड़सवार सैनिकों को लेकर पामीरा पर आक्रमण किया और मनमाना कर वसूल किया। कुछ वर्ष तक नये ईरानी शासकों का सहारा लेकर पामीरा अपने को स्वाधीन बनाए रहा किन्तु विस्तारवादी रोमन सम्राट टिबरियस ने सन् 17-18 ई. में वार्षिक कर देने के लिए व्यापार संघ को विवश कर दिया। पामीरा ने कर देना स्वीकार किया किन्तु अपनी स्वतंत्रता नहीं छोड़ी, एक राजदूत को पामीरा में नियुक्त करने की महाश्रेष्ठी ने अनुमति भी दे दी। ताड़मरु को दमिश्क, दजलाफरात के नदी तट के नगरों, सीमान्त दुर्गों तथा लाल सागर के रोम राज्य के सुविख्यात राजमार्गों से जोड़ दिया गया।

हयरान अथवा हरियान--पामीरा में उदयनाथ के पिता हयरान (जिसे कहीं हरियान या हर्यन भी लिखा गया है) के सम्मान में सन् 251 ईसवी में एक मूर्ति की स्थापना की गयी। इस मूर्ति पर "प्रसिद्ध पार्षद (सिनेटर) ताड़मरु राज सैप्टीमियस हयरान" शब्द अंकित हैं। इतिहासकारों का कथन है कि सन् 230 या 231 ईसवी में जब रोमन सम्राट एलिक्जेन्डर सेवरिस पार्थियन शासकों से हो रही लड़ाई के सिलसिले में ताड़मरु आया तो उसने हयरान को 'ताड़मरु राज' की पदवी प्रदान की। हयरान के राज्यकाल से ही ताड़मरु ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख भाग लेना आरम्भ किया। उस समय पार्थिया में शासन की बागडोर ईरानी शासनिक (भारतीय कुषाण) वंश के हाथ आ गयी थी और इस्लाम के अभ्युदय तक इन्हीं सासनियों के हाथ में रही।

विश्व इतिहास में सन् 260 ई. एक महत्वपूर्ण तिथि है। उस वर्ष ईरान का बादशाह शापुर प्रथम रोम की पश्चिम एशियाई राजधानी अन्तिओक पर अधिकार करके रोम सम्राट वलेरियन को बन्दी बनाकर पामीरा होते हुए स्वदेश लौट रहा था। उदयनाथ अपने तथा रोम, अरब और सीरिया के सैनिकों की एक टुकड़ी लेकर वलेरियन की रक्षा करने आगे बढ़ा। उसने शापुर की सेना को फेरात नदी के तट पर हराकर उन्हें उनकी राजधानी परसीपोलिस तक खदेड़ा तथा सासनियों के रणिवास पर आक्रमण किया किन्तु रणिवास में बन्दी वलेरियन को वह नहीं छुड़ा सका। सासनियों ने वलेरियन की हत्या करके उसकी खाल में भुस भरकर उसे जनता के प्रदर्शनार्थ मन्दिर में लटका दिया। रोम के नए सम्राट गैलीनस ने उदयनाथ की राजभक्ति के फलस्वरूप उसे 'डक्स एमरस' ऑरियांटिस अथवा (पूर्वीय प्रदेशों का उपसम्राट) नियुक्त किया।

ताड़मरु के लोगों ने उदयनाथ को अपने प्रिय सम्राट, आज्ञाकारी राजकुमार, आखेट प्रेमी, बलिष्ठ युवक, वीर सैनिक कुशल प्रशासक और अत्यन्त पराक्रमी महारथी के रूप में देखा। अपनी प्रसिद्धि की पराकाष्ठा पर सहसा ही सन् 267 ई. में जब उदयनाथ एक सार्वजनिक समारोह में भाग ले रहा था, रोम से आए हुए कुछ षड्यंत्रकारियों ने उसके बड़े पुत्र सहित उसकी हत्या कर दी। अपनी दानशीलता तथा अपने शालीन सहभोजों धार्मिक समारोहों, शूरवीरता पूर्ण कृत्यों के अतिरिक्त यत्र-तत्र देश भर में बनाए सार्वजनिक स्नानगृहों के लिए उदयनाथ सीरिया के इतिहास में आज भी स्थापित है।

जनोबा या जनुबाई : जनोबा डक्स एम्परर (उप सम्राट) उदयनाथ की पत्नी, रूप-यौवन गर्विता, महत्वाकांक्षा में अपने पति से भी आगे निकल गयी। उसके शौर्य और अप्रतिम सौन्दर्य का सीरिया के इतिहास में अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है। फिलिप के. हिट्टी लिखता है : उसकी बड़ी बड़ी चंचल आंखें खूब चमकीली थी। वह श्याम वर्ण की होते हुए भी बड़ी कमनीय

थी। इतिहासकार जोजेफस लिखता है कि उसकी मुक्तधवल दंतपंक्ति उसके सांवले चेहरे पर बड़ी सुन्दर लगती थी। अपनी अलौकिक प्रतिभा, अपने आकर्षक व्यक्तित्व और अपनी शालीन और उदार प्रवृत्ति के कारण लोग उसे साक्षात् स्वर्ग से उतर कर आई ग्रीक देवी अथैना (वैदिक अदीना) का अवतार मानकर उसके प्रति वैसी ही श्रद्धा और वैसा ही आदर प्रदर्शित करते थे। उसके दर्शन मात्र से वे अपने को कृत-कृत्य समझते थे। जनोबा के शासनकाल को ग्रीक तथा रोमन इतिहासकारों ने उसके पति उदयनाथ से भी अधिक महत्व दिया है तथा उसे क्लियोपेट्रा से अधिक साहसी, कूटनीतिज्ञ और कुशल शासिका माना है।

जनोबा रोमन शासकों के राजसी बैंजनी वस्त्रों में अपने भव्य राजदरबार में बड़ी सज-धज और शान शौकत से आती थी। उसके आते ही दर्शक और सामन्तगण दंड-वत होकर उसका अभिनन्दन करते थे। राजकीय समारोहों पर वह पगड़ी धारण करके रोम सम्राटों के बैंजनी रंग की झिलमलाती उत्तरीय, कमर तक की रत्नखचित चोली पहनती थी और अपनी दाहिनी बांह कंधे तक अनावृत रखती थी। जब वह महल से बाहर आती थी तो रथ का प्रयोग करती थी। उसके रथ के ईषादण्डों और वराओं पर भी रत्न जड़े रहते थे। उसने अपने राज्य में ग्रीक भाषा को समर्थन दिया। स्वयं भी वह आरमीक, ग्रीक तथा थोड़ी बहुत लेटिन बोल लेती थी। कहा जाता है कि उसने पूर्वीय देशों का इतिहास भी लिखा है।

मिश्र पर अधिकार : सत्तारूढ़ होने के बाद जनोबा ने अपने साम्राज्य की प्रतिरक्षा व्यवस्था की। उत्तरी अरब, सीरिया तथा एशिया माइनर को उसने अपने अधिकार में लिया। पश्चिम की ओर अपनी सत्ता का विस्तार करने के लिए भूमध्य सागर तट पर बैजन्टाइन तथा अंकारा में अपने दुर्ग बनाए। सन् 270 ई. में अपने सेनाध्यक्ष जबदा के नेतृत्व में 70,000 सैनिकों को लेकर उसने मिस्र पर आक्रमण करके सिकन्दरिया पर अधिकार कर लिया। क्लियोपेट्रा अपने भाई तालमी की साझेदारी में मिश्र की सहशासिका थी और रोमन सम्राट जूलियस सीजर तथा मार्क एंटनी की प्रेयसी होने के कारण ही, अपनी प्रणय लीला और लुभावनी चाल से मिस्र पर शासन कर पाई थी। इसके विपरीत जनोबा ने अपने को पूर्वी रोमन साम्राज्य की स्वतंत्र शासिका मान लिया। मिस्र में उसने अपने पुत्र के नाम के सिक्के ढलवाए जिनमें इष्ट देवी बहाव और ओरोलियन की आकृतियां बनी थीं। अपने पुत्र को उसने सम्राट की उपाधि से विभूषित किया। ताड़मरु के नागरिकों ने अगस्त सन् 271 ई. में अपने नगर के स्तम्भों के मध्य एक ऊंचे विजय द्वार पर जनोबा की मूर्ति स्थापित की जिस पर ग्रीक और 'पामीरा' कही गयी लिपि में उत्कीर्ण निम्न-लिखित अभिलेख आज भी पढ़ा जा सकता है —

"अपनी सुविख्यात पुण्यात्मा रानी देवी सेप्टीमिया जनोविया को श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष जबदा तथा स्थानीय सेनापति जब्बर द्वारा अगस्त मास संवत 582 (सैल्यू.) में समर्पित।"

इसी विजय स्तम्भ के निकट उदयनाथ की भी मूर्ति है जिस पर केवल पामीर लिपि में ये शब्द शिलांकित हैं :

राज-राजेश्वर, समस्त पूर्व के उद्धारक सेप्टीमियस उदयनाथ की मूर्ति, अपने प्रभु की स्मृति में परम श्रेष्ठ सेनाध्यक्ष जबदा तथा ताड़मरु के सेनापति जब्बय द्वारा अगस्त मास संवत् 582 (सैल्यू.) में निर्मित"।

रोम से युद्ध : रोम के पूर्वी साम्राज्य के इतने बड़े भाग पर स्वतंत्र सत्ता स्थापित कर लिये जाने पर रोमन सम्राट ओरिलियन की तन्द्रा भंग हुई। उसने एशिया माइनर पर आक्रमण किया। ताड़मरु के सीमान्त रक्षक रोम के अश्वारोहियों के सम्मुख न टिक सके। अन्तिओक और हिम्स नामक छोटे से राज्य, जो ताड़मरु से ईर्ष्या करते थे, इस युद्ध में तटस्थ रहे। जनोबा इस युद्ध में ओरिलियन से लड़ती-लड़ती पीछे हटती ताड़मरु लौट आई। ओरिलियन ने मिस्र की सेना को अपने पक्ष में कर लिया। उसकी सहायता से ताड़मरु पर घेरा डाल दिया। घमासान युद्ध हुआ जिसमें जनोबा का पुत्र राजकुमार अदीनदास मारा गया। जनोबा रोम के घेरे से निकलकर एक रात फारस की खाड़ी की ओर भाग निकली। रोम के अश्वारोहियों ने उसे फरात नदी को पार करते हुए देख लिया और बन्दी बना दिया। ताड़मरु में रोमन अधिनायक की नियुक्ति कर दी गयी। रोम सम्राट ओरिलियन रोम के सूर्य देवता के मन्दिर के लिए ताड़मरु से रेशम की गांठें, हीरे, जवाहरात, सोना, चांदी और अनेक बहुमूल्य वस्तुएं लेकर स्वदेश लौट रहा था कि भूमध्य सागर तट पर पहुंचते-पहुंचते उस को समाचार मिला कि ताड़मरु में नियुक्त रोमन अधिनायक की हत्या कर दी गई है और बन्दी गृह से निकल कर जनोबा ने फिर पामीरा पर अधिकार कर लिया है। ओरिलियन वहीं से उल्टे पांव लौटा। ताड़मरु आकर उसने जनोबा की सेना को फिर परास्त किया। इस बार उसने उसे बन्दी बनाकर वहीं छोड़ने की गलती नहीं की। स्वयं रोम सम्राट की अभिरक्षा में स्वर्णजंजीरों में बधी जनोबा अपने ही रत्न-खचित रथों और पालकियों सहित रोम ले आई गयी।

श्याम वर्ण की अतीव कान्तिमान (उसे इतिहासकार 'ब्रूनेटी' कहते हैं) जनोबा का व्यक्तित्व ऐसा शालीन, भाव-भंगी ऐसा आकर्षक और व्यवहार ऐसा मनमोहक था कि सन् 274 ई. में ओरिलियन के रोम में प्रवेश करने के विजय समारोह को अपनी उपस्थिति से सुशोभित करने का उसे आदेश हुआ। बाद को उसे तिवर (त्रिवोली) में एक सुन्दर भवन रहने के लिए दे दिया गया। कालान्तर में अमेरिकन राष्ट्रपति कैनेडी की विधवा जैकलीन की भांति जनोबा ने भी एक धनाढ्य रोमन नागरिक से विवाह कर लिया और उसने शेष दिन एक संभ्रान्त रोमन ग्रहिणी की भांति बिताए।

उदयनाथ और उसकी विधवा ने पश्चिम एशिया, योरोप और मिस्र में भारतीय संस्कृतियों की अमिट छाप छोड़ी है। उनकी यश सुरभि ताड़मरु के ध्वंशावशेषों से निकल कर पश्चिम एशिया को ही नहीं समस्त विश्व को सुरभित करती है। दुःख है कि हमारे प्राचीन प्रवासी श्रेष्ठियों के गौरवपूर्ण इतिहास की इस विभूति को भारतीय इतिहास में अभी यथेष्ट स्थान नहीं मिला है।

हमारी कुछ उपेक्षित विद्याएं

—राम कृष्ण शर्मा

ज्ञान के साधन को विद्या कहा जाता है। ज्ञान के विविध अंशों की जानकारी के लिए विविध साधन अपेक्षित हैं। अतः वे साधन अर्थात् विद्याएं कितनी हैं, यह प्रश्न उठता है। रूद्रहृदयोपनिषद का मत है, "द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा चेति" अर्थात् दो विद्याएं जाननी चाहिए और वे हैं परा तथा अपरा। परा विद्या से उस परम अक्षर का ज्ञान तथा अपरा विद्या से समस्त वेदादि का ज्ञान प्राप्त होता है। उपनिषदों का एक वाक्य विद्वद्वर्ग में सुविदित ही है जिसमें कहा गया है कि जो केवल अपरा विद्या की उपासना करते हैं वे तो अन्धतमस् में प्रवेश करते ही हैं किन्तु जो परा विद्या मात्र के साधक हैं वे तो उससे भी अधिक अन्धकार में पहुंच जाते हैं। अतः अविद्या से मृत्यु का तरण करके विद्या से अमृत लाभ करना चाहिए। इस प्रकार इस तथ्य की ओर संकेत किया गया है कि विशाल विश्व में मानव के लिए विविध अस्वाभाविक एवं अकाल मृत्युएं पग पग पर जाल विछाए बैठी हैं। मानव को उनसे सुरक्षा की विद्याएं भी सीखनी हैं। इसके अतिरिक्त अविद्या के द्वारा भौतिक सुख-समृद्धि भी प्राप्य है। यहां यह उल्लेख आवश्यक है कि उपनिषदादि ने जिसको अविद्या कहा गया है लोक में प्रायः उसी को विद्या नाम से जाना गया है।

समस्त विद्याएं कितनी हैं, यह संख्याबद्ध इसलिए नहीं किया जा सकता कि विश्व के प्रत्येक रहस्य के उन्मीलन की अपनी एक निजी विद्या है और रहस्यों की कोई संख्या नहीं हो सकती है। यही बात है कि भारतीय वाङ्मय में कहीं 64 कलाओं (विद्याओं) की तो कहीं 18 सिप्पों (पाली) विद्याओं की तो कहीं 14 विद्याओं की चर्चा की गई है। वस्तुतः विद्या शब्द से विविध दर्शन, समस्त शिल्प, आयुर्वेद आदि से लेकर तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र तथा विष विज्ञानादि सभी ज्ञानशाखाओं को ग्रहण किया गया है प्रस्तुत लेख में उपर्युक्त तीन विद्याओं की ओर ही ध्यानाकर्षण इसलिए अभीष्ट है कि वर्तमान तकनीकी विद्याओं में उलझे मानव मस्तिष्क ने इन विद्याओं की उपेक्षा तो कर दी है किन्तु इनका मानव जीवन में अब भी वही स्थान है जो इनके विकास काल में था। जब तक विश्व में प्राणियों की समन्वित स्थिति है या वे एक दूसरे के जीवन में अन्योन्यापेक्षित हैं तब तक शाकुन शास्त्र की उपयोगिता जब तक मृत्युभय (अस्वाभाविक मृत्यु) है तथा इससे त्राण की प्रवृत्ति है तब तक गारुड़ी विद्या की आवश्यकता है तथा जब तक निर्भयतापूर्वक तर्क करने की स्वतन्त्रता है तब तक चार्वाक मत का महत्व है। प्रस्तुत लेख में इन्हीं तीन विद्याओं की ओर ध्यानाकर्षण किया गया है।

चार वाक, चारू वाक या चार्वीकी वाक या फिर स्वयं चार्वाक की विद्या को नास्तिक लोकायत दर्शन नाम से जाना जाता है। लोकायत नाम इस मत का इसलिए चल पड़ा, क्योंकि अति सामान्य जन में यही मत, जीवन-प्रवृत्ति आयत अर्थात् फैली हुआ है। फलतः इसकी नकारात्मक प्रगति का प्रचार इसके विरोध से ही अधिक हुआ है। फलतः इसकी नकारात्मक प्रगति ही प्रचुरता से पाई जाती रही है। ब्राह्मण ग्रन्थ, शास्त्र, पुराणादि और बौद्ध-जैन दार्शनिकों ने भी अपने सिद्धान्तों की स्थापना से पूर्व चार्वाक सिद्धान्तों का खण्डन किया है। (द्रष्टव्य-संदर्भ पुण्डरीक, दिव्यावदान, विनय पिटक) इस प्रकार पूर्वपक्ष के रूप में तो इस मत का प्रचुरोल्लेख प्राप्य है परन्तु श्री भट्ट जयराशि ने अपने "तत्वोपप्लवसिंह" नामक ग्रन्थ में उत्तर पक्ष के रूप में ही चार्वाक मत के सिद्धान्तों की विवेचना की है। इस मत का आधार सर्वत्र बृहस्पति रचित सूत्र ही माने गये और ये सूत्र सम्भवतः 20 की संख्या से अधिक उपलभ्य नहीं हैं। अतः चार्वाक मत के आदि आचार्य बृहस्पति ही माने जाते हैं और इसके अनुसरण करने वाले देश और काल के सभी भागों में सदैव रहे हैं। यह एक ऐसी विवेचना प्रणाली है जिससे बड़ों बड़े आस्तिक भी नास्तिकता से ग्रस्त होने लगते हैं।

चार्वाक मत में पृथ्वी, जल, तेज और वायु केवल इन्हीं चार को तत्व माना गया है। आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन इनको उपर्युक्त चारों तत्वों की विकृति या शून्य में समाहित माना गया है। (पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्वानि)। इन्हीं तत्वों के न्यूनाधिक समन्वय से शरीर, इन्द्रिय और विषय, स्थिति में आ जाते हैं। (तत्समुदाये शरीरेन्द्रिय विषय संज्ञा) चेतना की उत्पत्ति भी, पदार्थ की विकृतिविशेष से मदशक्ति की भांति इन्हीं तत्वों से हो जाती है। विश्व के समस्त जीवों को पानी के बुद् बुदों के समान माना गया है। "प्रत्यक्ष के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं और अर्थ तथा काम के अतिरिक्त कोई पुरूषार्थ नहीं" ऐसा माना गया है। आचार और विचार के क्षेत्र में चार्वाक का निम्नलिखित चतुःसूत्री कार्यक्रम सुविदित ही है। "1. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् 2. ऋणकृत्वा घृतंपिवेत् 3. भस्मीभूतस्य देहस्य 4. पुनरागमनं कुतः?"

भौतिकवाद की पराकाष्ठा के सिद्धान्त भी अन्य दार्शनिक सिद्धान्तों की भांति विश्व को भारत की ही देन है। लोक सुख को ही चरम लक्ष्य मानने के कारण चार्वाक ने लोक व्यवस्था के लिए दो विद्याओं को पुष्ट किया। वे हैं—वार्ता और दण्डनीति।

वार्ता में कृषि वाणिज्यादि समस्त सामाजिक अर्थव्यवस्था तथा दण्डनीति में प्रशासन व्यवस्था का प्रावधान रखा गया है। अतः हमें अपनी, अपने परिवार की, अपने समाज की समस्त व्यवस्था स्वयं करनी है और उसके सुख दुख के उत्तरदायी हम स्वयं हैं (न कि कर्म हम करें और फल ईश्वर पर छोड़ दें), अतः समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने अधिकार और कर्तव्य निर्वाह के प्रति-सक्रिय और सावधान रहना ही होगा। अन्यथा प्रशासक (ईश्वर) को समुचित दण्ड देना ही पड़ेगा। चार्वाक मत के अनुसार चलाई गई सामाजिक व्यवस्था को अति उत्तम माना गया है।

(द्रष्टव्यः "चार्वाक दर्शन" या आचार्य आनन्द झा)

चार्वाक मत का प्रचलन त्रेता युग से लेकर आज के युग तक निरन्तर रहा है। वन में श्री राम से मिलने आये भरत ने जब राज्य को श्री राम के पदार्पण किया और श्री राम ने अनेक वेद शास्त्रादि युक्तियों से अपने बनवास को ही उचित ठहराया तो महर्षि जाबालि ने कहा; "प्राणी अकेला जन्म लेता है और अकेला ही नष्ट हो जाता है। कोई किसी का अपना नहीं होता। भाग्य भाग्य चिल्लाना व्यर्थ है। अतः जीवन में जो भी सुख उपलब्ध हो उसे भोग ही लिया जाना चाहिए।" महाभारत के राज्य-धर्मानुशासन पर्व में युधिष्ठिर के साथ एक चार्वाक मतानुयायी व्यक्ति के साक्षात्कार की चर्चा है जिसने भाइयों के रक्त रंजित सिंहासन पर युधिष्ठिर के आरूढ़ होने का विरोध किया। उसके मतानुसार श्रीकृष्ण पाण्डवादि लोग अपने छल के कारण दण्ड-नीय माने गये। कुलपति कण्व के आश्रम में लोकायतिकों का वर्णन अन्य तत्वज्ञों के साथ ही किया गया है। द्वापर के पश्चात् तो चार्वाक धारणा विश्व में उत्तरोत्तर प्रसृत होती दीख ही रही है।

वस्तुतः चार्वाक विद्या पूर्वाग्रहों और परम्पराओं के दृढ़ बन्धनों के प्रति विद्रोह-भाव है, परम यथार्थ और आत्मानुभव को प्रमाण मानने की प्रवृत्ति है। चार्वाक ने निर्भयता का वरदान, हिमाचल के बदरिकाश्रम में तपस्या करके ब्रह्मा जी से प्राप्त किया था। निर्बन्ध और निर्भय चिन्तन का दार्शनिक चिन्तन परम्परा में नगण्य स्थान नहीं है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में भी वह कुछ योगदान कर सकता है। अतः लोकायत विद्या जिसका उत्तर-वर्ती आचार्यों ने परम्पराग्रस्त होने के कारण गला घोट रखा है रस दोहन योग्य है। इस पर अनुसन्धान के लिए प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

शकुनशास्त्र या शाकुनी विद्या में पूर्व संकेतों के आधार पर उत्तर भावीफल का अनुमान किया जाता है। शाकुन शब्द की व्युत्पत्ति शकुनि या शकुन से होती है। ये दोनों ही शब्द पक्षीवाची हैं। शकुन से सम्बद्ध क्रियाकलाप आदि को शकुन कहा जाता है। प्रकृति ने जहां मानव को बुद्धि वैभव से सम्पन्न किया वहां कुछ पशु विशेषों एवं पक्षी-विशेषों को भी अतिमानव क्षमताएं दे डाली हैं। गीध की दृष्टि, शूकर का घ्राण, अश्व का गति वेग तथा काक का वैचक्षण्य विख्यात ही है। जब मानव ने उपर्युक्त प्रकार के जीवों की क्षमता का एवं तत्प्रेरित क्रियाकलाप का सूक्ष्म अध्ययन कर अपने जीवन में उसके प्रभाव का मूल्यांकन करना आरंभ किया तो यह शाकुनी विद्या या शाकुन शास्त्र बनता चला गया।

शाकुन शास्त्र के विकासकाल में इस शब्द का अर्थविस्तार होकर यह पक्षी-संकेत के अतिरिक्त पशु-संकेत एवं प्रकृति प्रेरित घटनाविशेष और भौतिक स्थितिविशेष के समीक्षण एवं तदनुरूप शुभाशुभ परिणाम, विशेषों के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। अतः शाकुन शास्त्र में काक चेष्टादि पक्षी क्रियाकलाप, गो-श्रृंगालादि पशु क्रियाकलाप और पूर्णपात्र, रिक्त पात्र, प्रज्वलिताग्नि, स्वस्तिक चिन्ह, दधि-घृत सन्यासी स्वप्न दर्शनादि सहस्त्रों संकेतों का अर्थानुशीलन तथा तदनुरूप शुभाशुभ परिणाम का अवधारण किया जाने लगा।

इस बात के प्रचुर प्रमाण हैं कि जब तक शाकुन शास्त्र को ज्योतिष विद्या ने अपने आवश्यक अंग के रूप में माना तब तक उसका ग्रहगणित फल के अति समीप तक पहुंचता रहा है। यही बात है कि सफल ज्योतिर्विद होने के लिए देशकालज्ञता और विलक्षण मनोविश्लेषज्ञता अनिवार्यतया अपेक्षित होती है। वस्तुतः गृध्रादि, जो भी पक्षी अनेक योजन दूर तक देख सकते हैं तथा कुछ ही क्षणों में अनेक योजन तक विचरण कर लेते हैं और साथ ही अपने पड़ोसी व्यक्ति-विशेष परिवार विशेष या ग्राम विशेष की स्थिति से भी चिर परिचित हैं, वे बहुत सी उन भौतिक घटनाओं का आकलन सहजरूप से ही कर सकते हैं, जो मानव के लिए सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ किसी परिचित व्यक्ति के किसी स्थानविशेष से प्रयाण करते समय काक को उसके गन्तव्य एवं वहां की स्थिति का या मार्ग की बाधाओं का ज्ञान होना सम्भव है और वह काक चाहे तो उस व्यक्ति को आने वाली बाधा आदि का संकेत दे सकता है इसी प्रकार प्रकृति के नियमों पर चलने वाले गो-गर्दभ-श्रृंगालादि पशु भी अपनी अकुण्ठित प्रकृति प्रदत्त क्षमता से कुछ भवितव्यताओं का आभास पा जाते हैं और अपने निश्छल स्वभाव के कारण वे कभी-कभी उसका मानव के समक्ष प्रस्तावन भी कर देते हैं। इसके अतिरिक्त मानव के जीवन के चारों ओर घूमने वाले भौतिक परमाणु भी अन्यत्र पहुंचकर हमें वहां होने वाली सापेक्ष घटनाओं के प्रति सावधान करते हैं। इस प्रकार की समस्त बातों की जानकारी का विषय ही शाकुन शास्त्र का क्षेत्र है।

विश्व के प्रायः सभी देशों के कथा-पुराणादि ग्रन्थों में अतिपुराकाल से ही ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि अमुक व्यक्ति के अमुक कार्यारम्भ में, मन्द मन्द सुगन्ध वाला पवन या प्रचण्ड विपरीत वायु वेग चला या सवत्सा गौ या भीषण राव करता हुआ। श्रृंगाल या इस प्रकार की विविध घटनाएं घटी और उसका तदनुकूल शुभाशुभ परिणाम निश्चित रूप से प्रकट हुआ। भारतीय वाङ्मय में धूमकेतु का उदय,, अतिवृष्टि, ऊनावृष्टि, शलभ, मूषक, जनकलह और खग ये सभी आनेवाली ईतिभीति के संकेत माने गये हैं। इसके विपरीत सुखद परिणामों की भी घटनाएं मानी गई हैं। महाभारत में तो इन बातों का पर्याप्त उल्लेख है। श्री कृष्ण, वेद व्यास एवं विदुर आदि को शाकुन शास्त्र का बहुत ज्ञान था और वे देशकालपात्रानुसार अपने ज्ञान से अन्य जनों को लाभान्वित भी करते रहे।

आचार्य वराह मिहिर ने कहा है कि ग्राम, अरण्य, जल,, पृथ्वी, आकाश में

सञ्चरण करने वाले दिनचर, रात्रिचर तथा उभयचर जीवों के शब्द, गति, दृष्टि और उक्ति से, शाकुन संकेत जान लेना चाहिए। (बृ. सं: 86-6) बृहत्संहिता के शकुनाध्याय, विरूताध्याय श्वचक्राध्याय शिवाविरूताध्याय, मृगचेष्टिताध्याय, गवेङ्गिताध्याय, अश्वेङ्गिताध्याय, हस्तिचेष्टिताध्याय तथा वायस विरूताध्याय इस बात के सशक्त प्रमाण हैं कि इस क्षेत्र में गहन अध्ययन के लिए विशाल विषय मानव के समक्ष ही प्रस्तुत हैं। हमारे अनुसन्धानकर्ता चाहें तो इस शाकुनी विद्या के रहस्यों में प्रवेश करके उससे लोक कल्याण की कुछ बातें निकाल सकते हैं।

जिस प्रकार विशाल शाकुन शास्त्र, शकुन के नाम से लोक में प्रचलित हुआ उसी प्रकार विविध तन्त्र, मन्त्र यंत्र एवं उपचारों की ज्ञान सामग्री को अपने में समेटे हुई, विद्या का नाम गारूड़ी विद्या हुआ। सुस्पष्ट ही है कि इस विद्या का नामकरण गरूड़ पक्षी से सम्बद्ध है। वेद-पुराणादि में भगवान विष्णु को समस्त शक्तियों का केन्द्र माना गया है और उनके निकट पार्षद वाहन हैं; गरूड़। गरूड़ के नागान्तक, पन्नगाशन आदि नाम भी हैं जिनसे उसका सर्पभक्षकत्व रूप सिद्ध होता है। सर्प विश्व में एक ऐसा प्राणी है जिसको प्रायशः अन्य सभी प्राणी ही क्या स्वयं उसकी औरस सन्तान भी शत्रु के रूप में देखती है। अन्य प्राणियों के साथ मानव कथमपि बल प्रयोग कर सकता है किन्तु सर्प ऐसा प्राणी है कि उसे मृत्यु का पर्याय ही माना जाता है। इस प्रकार मृत्यु के निवारक तथा विष्णुवाहन होने से सुख समृद्धि दायक के रूप में गरूड़ को मानकर उससे सम्बद्ध विद्या को गारूड़ी विद्या नाम दिया गया है।

उपर्युक्त तथ्य से स्पष्ट है कि गारूड़ी विद्या लाक्षणिक अर्थ लेकर समस्त मृत्युओं के भय से मुक्त कराने में समर्थ मानी गई है। अथर्ववेद काण्ड 8 सूक्त 2 मन्त्र 9 में मृत्युओं की संख्या सौ बताई गई है। (मृत्युनेकशतं ब्रूभ) ये समस्त मृत्युएं अस्वाभाविक, और अप्राप्तकाल मृत्युएं हैं। इस प्रकार की मृत्यु से प्रेत-आत्मा सर्वथा अतृप्त होकर भौतिक विषयों की वासनातृप्ति के लिए बहुत बुरी तरह भटकती है। कभी-कभी वह आदमखोर के समान विकराल बन जाती है। इस प्रकार की आत्माएं वायवीय होती हैं और कामरूप भी धारण कर सकती हैं। गरूड़ पुराण में कहा गया है कि ये प्रेतात्मा अपने भूतपूर्व सम्बन्धियों को हानि पहुंचा देती हैं। उसके उद्देश्य विविध होते हैं। वह तड़फती आत्मा अपनी इस असह्य पीड़ा का कारण किसी व्यक्ति विशेष को समझती है, या कदाचित् अपने उपकृत व्यक्ति को कृतघ्न पाती है या अपनी कामना से अभिसिंचित कार्यविशेष के प्रति सम्बद्ध लोगों कार्यविशेष के प्रति सम्बद्ध लोगों का विपरीत आचरण देखती है तो फिर वह अपने आक्रोश को उडेलने लगती है। फलतः उसका विषयीभूत व्यक्ति या परिवार विगलित या मूर्च्छा, उन्माद, मृत्यु आदि के फन्दे में फंसने लगता है। लूता-विस्फोटकादि व्याधियां ईति, भीति, महामारी आदि को भी कभी-कभी इसी क्रम में मान लिया जाता रहा है। इन समस्त पीड़ाओं से मुक्ति दिलाने में भी गारूड़ी विद्या का उपांग रहा है।

इसके अतिरिक्त सम्मोहन, वशीकरण, उच्चाटन तथा मारण के लिए भी गारूड़ी विद्या लोक प्रसिद्ध है। कुछ रोगोपचार भी इस विद्या के द्वारा किये जाते रहे हैं। विषूचिका नामक रोग को राक्षसी कहा गया है। (हिमाद्रे उत्तरे पार्श्वे कर्कटी नाम राक्षसी। विषूचिकाभिधाना सा नाम्नाप्यन्या ध्वाधिका) उसे दूर करने का जो मन्त्र है उसमें भी उसे हिमालय लौट जाने को कहा गया है। (ऊं ह्रीं ऊ हिमवन्तं गच्छ) "कर्मज भव व्याधि दैवी चिकित्सा" गरूड़ोपनिषद् में सर्पविष नाश के अतिरिक्त, लूता, वृश्चिक, जम्बुक, व्याघ्र, वराह, श्वान, मार्जार आदि के विष नाश के साथ ही, भूत, बेताल, कूष्माण्ड, पिशाच, प्रेत, राक्षस तथा यक्षादि के उपद्रव को शान्त करने के लिए इस विद्या का उपयोग बताया गया है। ब्रह्मा, नारद, बृहत्सेन, इन्द्र तथा भरद्वाज इसके शास्त्र प्रसिद्ध आचार्यों में से हैं। किन्तु कर्णात्कर्णपागत होने से इसके पश्चात् भावी आचार्यों का क्रमिक इतिहास अलभ्यप्राय है।

भूत-पिशाच विद्या को शून्य माना जाना अल्पज्ञता है। जो व्यक्ति इसके अस्तित्व के बारे में जिज्ञासु हैं उन्हें कभी भाद्रपद की अमावास्या की रात्रि को किसी निर्जन या पर्वतीयप्रदेश के श्मशानघाट में एकाकी बैठकर कुछ अनुसन्धान अवश्य करना चाहिए। उन्हें कुछ अवश्य मिलेगा और फिर उन्हें यह भी आकांक्षा होगी कि इस सम्बन्ध में गारूड़ी विद्या का ज्ञान परम अपेक्षित है।

भगवती विद्या विपश्यना

—यशपाल जैन

किसी नगर के लोग बड़े दुःखी थे। कोई धन की बहुलता के कारण हैरान था तो कोई धन की कमी के कारण, किसी के बहुत से बच्चे थे, तो किसी के घर में एक भी बच्चा नहीं था। कहने का तात्पर्य यह कि किसी को कोई दुःख था तो किसी को कोई।

एक दिन उस नगर में आकाशवाणी हुई कि नगर के उत्तरी छोर पर सुख की ढेरी लगी है। लोग अपने-अपने दुःख की गठरी ले जाएं और वहां पटक कर सुख ले जाएं।

इस आकाशवाणी के सुनते ही सारा गांव अपना-अपना दुःख गठरी में बांधकर ले गया और वहां पटक कर सुख ले आया।

रास्ते में एक साधु बैठा खिलखिला कर हंस रहा था। लोगों ने उसके पास जाकर कहा, "महाराज आपने आकाशवाणी नहीं सुनी? अगर आपको कोई दुःख हो तो उसे पटक कर सुख ले आइए।

साधु ने उनकी बात सुनी, पर अपनी जगह से टस-से-मस नहीं हुआ। वहीं बैठा हंसता रहा।

नगर में सुख आ गया। सब बड़े खुश थे। एक दिन एक आदमी के घर में खाने को कुछ नहीं था, पर उसके पड़ोसी सेठ के यहां तिजोरियां भरी पड़ी थीं। उस आदमी ने सोचा कि यह कहां का न्याय है।

उसका इतना सोचना था कि दुःख फिर से लौट आया। किन्तु लोगों ने देखा, वह साधु उसी तरह खिल-खिला कर हंस रहा है। उन्होंने उसके पास जाकर पूछा, "महाराज, यह क्या बात है कि जब शहर में दुःख था, आप हंस रहे थे, जब सुख आया तब भी आप हंस रहे थे और अब जबकि दुःख फिर से लौट आया है, आप वैसे ही हंस रहे हैं?"

साधु ने कहा, "तुम लोग अज्ञानी हो। सुख बाहर खोजते हो। सुख बाहर की नहीं, भीतर की चीज है।"

साधु की बात सही थी। इसमें से अधिकांश व्यक्ति सुख-शांति के लिए पदार्थ पर निर्भर करते हैं। यह भूल जाते हैं कि पदार्थ नश्वर है और जो नाशवान है, वह कभी स्थायी सुख नहीं दे सकता।

दुनिया मन का खेल है

कहा जाता है कि सारी दुनिया मन का खेल है। मन शरीर में बसता है। यदि हम अपने शरीर को और उसकी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को जान लें तो दुःख और अशान्ति से मुक्त होने का मार्ग हमें सहज ही मिल जाएगा। शरीर को जानने की सब से उत्तम और वैज्ञानिक पद्धति विपश्यना है। उसका अर्थ है शरीर को देखना और उस प्रक्रिया के द्वारा जो सत्य है, उसका यथाभूत साक्षात्कार करना। इस साक्षात्कार से जीवन का रहस्य मिल जाता है।

विपश्यना का अर्थ है साक्षी भाव से, द्रष्टाभाव से देखना। श्वास के माध्यम से शरीर के अंग-प्रत्यंग का इस प्रकार अवलोकन करना कि जो सुखद अनुभूतियां हों, उनके प्रति राग उत्पन्न न हो, जो दुःखद अनुभूतियां हों, उनके प्रति द्वेष उत्पन्न न हो। राग और द्वेष के साथ सुख और दुःख का घनिष्ट संबंध है। विपश्यना राग और द्वेष से व्यक्ति को ऊपर उठाने का बड़ा ही कारगर रास्ता है।

बुद्ध व महावीर ने अपनाया

विपश्यना की पद्धति हजारों वर्ष पूर्व हमारे देश में प्रचलित हुई थी। बीच में वह लुप्त हो गई। आज से ढाई हजार वर्ष **पूर्व भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने** पुनर्जीवित किया। उन्होंने स्वयं अपने भीतर खोज की ओर पता लगाया कि मानव के अंतर में बड़ा कीमती खजाना भरा पड़ा है। ज्ञान-चक्षु खुलने की देर है कि वह खजाना प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। अनन्त शांति की कुंजी हाथ लग जाती है। अंधकार दूर हो जाता है। अंतर-बाह्य सब जगमगाने लगता है।

चार-पांच सौ वर्ष तक यह विद्या जन-कल्याण स्थापित करती रही और फिर विलुप्त हो गई। किन्तु उसमें ऐसी **शक्ति निहित है कि वह सदा के लिए समाप्त नहीं होती। बार-बार जाग उठती है।**

ऋग्वेद के एक ऋषि ने कहा है :

"यो विश्वाभिः विपश्यति भुवना, सं च पश्यिति, स नः पुयाग्वता भवद्।"

अर्थात्, जो विश्व के अभिमुख होकर वर्तमान में जो हो रहा है, उसे सम्यक रूप से देखता है, वह पूज्य हो जाता है।

यहां विश्व से तात्पर्य है व्यष्टि से आरम्भ होकर समष्टि तक का विस्तार, वर्तमान का अर्थ है, जो क्षण सामने है, सम्यक रूप से अभिप्रेत है सूक्ष्म दृष्टि से, तटस्थ भाव से। इस प्रकार विपश्यना का मूल प्रयोजन है अपने को देखना, अपने को जानना। जो अपने को जान लेता है, उसके लिए जानने और जीतने के लिए कुछ भी नहीं रहता।

मनुष्य जो कुछ क्रिया करता है, उसकी प्रतिक्रिया अनिवार्य है। हमें क्रोध आता है तो हमारी श्वास तेज हो जाती है, नाड़ी की गति और हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। यदि हम शरीर को जान लें तो नाड़ी की रफ्तार हृदय की धड़कन और श्वास की गति तीव्र होते ही समझ जाएंगे कि हमें क्रोध आ रहा है और उसे जीतने के लिए तैयार हो जाएंगे। चोर तभी घर में आता है, जबकि लोग असावधान होते हैं। जागते लोगों के घर में चोर प्रवेश नहीं कर सकता। यही बात हमारे साथ है। हम जागरुक हैं तो क्रोध अथवा अन्य विकार हमारे पास फटक नहीं सकते। विपश्यना चौकीदार का काम करती है। हमारे सिर पर घंटी बांध देती है। यह घंटी कहती रहती है--सावधान रहो। यह हमें अपने अंतर की क्रियाओं को देखने, जानने, पहचानने, मूल्यांकन करने और राग-द्वेष द्वारा बंधनों में जकड़े जाने से मुक्त करती है। अपने भीतर की सच्चाई का शोध करने और अपनी विकृतियों तथा दु:खों से विमुक्त होने की क्षमता प्रदान करती है।

श्री सत्यनारायण गोयनका और बंबई केन्द्र : इस विद्या के टूटे सूत्र को वर्तमान युग में जोड़ने का लोकोपयोगी कार्य किया ब्रह्मदेश ने। वहां के संयाजी ऊबाखिन नामक एक महानुभाव ने इसे अपने देश में ही नहीं, अन्य देशों में भी फैलाया। उन्हीं की प्रेरणा से श्री सत्यनारायण गोयनका विगत पंद्रह वर्ष से इस महान कार्य को कर रहे हैं। सत्यनारायणजी के पूर्वज बर्मा गए थे। वहीं सत्यनारायणजी का जन्म हुआ, शिक्षा हुई, व्यापार किया। इसी दौरान माइग्रेन का रोग हुआ। अनेक देशों में उपचार कराने और लाखों रुपया खर्च करने पर लाभ न हुआ तो ऊबाखिन के केन्द्र में गए। दस दिन के शिविर में सम्मिलित हुए। रोग से ऐसे छुट्टी मिली मानो कभी हुआ ही न हो। इसके बाद उनकी साधना अनवरत चलती रही। सन 1969 में ऊबाखिन के निधन के उपरान्त सत्यनारायणजी ने आचार्य का पद सम्भाला और अपने को इसी अमृतमयी विद्या के प्रसार के लिए समर्पित कर दिया। वह दस दिन का शिविर लगाते हैं। प्रारम्भिक तीन दिन आना-पान (श्वास के आते-जाते देखने) पर केन्द्रित करते हैं, शेष सात दिन विपश्यना अर्थात् मन के द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंग की सूक्ष्म और स्थूल संवेदनाओं को द्रष्टाभाव से देखने पर, इसका अभ्यास हो जाने पर अंतर के सारे मैल स्वत: ही गलते और कटने लगते हैं। सारी ग्रंथियां खुलने लगती हैं। आनन्द का सागर लहराने लगता है।

सत्यनारायणजी ने विपश्यना का स्थायी केन्द्र बम्बई के निकट इगतपुरी की मनोरम भूमि पर स्थापित किया है, पर वह देश-विदेश में घूम कर दस दिन का शिविर लगाते रहते हैं। अब तक वह लगभग 250 शिविर लगा चुके हैं। दिल्ली में भी उनके कई शिविर लग चुके हैं।

स्मरण रहे कि इस विद्या का किसी भी धर्म से सम्बन्ध नहीं है। यह तो विशुद्ध मानव कल्याण की वैज्ञानिक पद्धति है।

विपश्यना क्यों ?

--कल्याणमित्र
श्री सत्यनारायण गोयनका

मन में मैत्री करुण रस, वाणी अमृत घोल।
जन जन के हित के लिए, धर्म वचन ही बोल।।

शांति व चैन किसे नहीं चाहिए जबकि सारे संसार में अशांति और बेचैनी छायी हुई नजर आती है? शांतिपूर्वक जीना आ जाए तो जीने की कला हाथ आ जाए। सच्चा धर्म सचमुच जीने की कला ही है, जिससे कि हम स्वयं भी सुख और शांतिपूर्वक जीएं तथा औरों को भी सुख-शांति से जीने दें। शुद्ध धर्म यही सिखाता है, इसलिए सार्वजनिक, सार्वकालिक और सार्वभौमिक होता है। संप्रदाय धर्म नहीं है। सम्प्रदाय को धर्म मानना प्रवंचना है।

समझें ! धर्म कैसे शांति देता है ?

पहले यह जान लें कि हम अशांत और बेचैन क्यों हो जाते हैं ? गहराई से सोचने पर साफ मालूम होगा कि जब हमारा मन विकारों से विकृत हो उठता है तब वह अशांत हो जाता है। चाहे क्रोध हो, लोभ हो, भय हो, ईर्ष्या हो या और कुछ। उस समय विक्षुब्ध होकर हम संतुलन खो बैठते हैं। क्या इलाज है जिससे हममें क्रोध, ईर्ष्या, भय इत्यादि आएं ही नहीं और आएं भी तो इनसे हम अशांत न हो उठें।

आखिर ये विकार क्यों आते हैं ? अधिकांशतः किसी अप्रिय घटना की प्रतिक्रियास्वरूप आते हैं। तो क्या यह संभव है कि दुनिया में रहते हुए कोई अप्रिय घटना घटे ही नहीं ? कोई प्रतिकूल परिस्थिति पैदा ही न हो? नहीं, यह किसी के लिए भी संभव नहीं। जीवन में प्रिय-अप्रिय दोनों प्रकार की परिस्थितियां आती ही रहती हैं। प्रयास यही करना है कि विषम परिस्थिति पैदा होने के बावजूद भी हम अपने मन को शांत व संतुलित रख सकें। रास्ते में कांटे-कंकर रहेंगे ही। उपाय यही हो सकता है कि हम जूते पहन कर चलें। तेज वर्षा-धूप आयेगी ही, बचाव इसी में है कि हम छाता तानकर चलें। यानी प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी हम अपनी सुरक्षा स्वयं करना सीखें।

सुरक्षा इसी में है कि कोई गाली दे, अपमान करे तो भी मैं क्षुब्ध न होकर निर्विकार बना रहूं। यहां एक बात यह विचारणीय है कि किसी व्यक्ति द्वारा अयोग्य व्यवहार करने पर यानि उसके दोष के कारण क्षोभ या विकार मुझे क्यों होता है ? इसका कारण मुझमें यानि मेरे अचेतन मन में संचित अहंकार, आसक्ति, राग,, द्वेष, मोह आदि की गांठें हैं जिन पर उक्त घटना के आघात लगने पर क्रोध, द्वेष आदि विकार चेतन मन पर उभरते हैं। इसलिए जिस व्यक्ति का अंतर्मन परम शुद्ध है उसे ऐसी घटनाओं से कोई विकार या अशांति नहीं हो पाती।

परन्तु प्रश्न यह है कि जब तक अंतर्मन परम शुद्ध नहीं हो जाता तब तक क्या किया जाए? मन में पूर्व संचित संस्कारों की गंदगियां तो हैं ही और इन्हीं के कारण किसी भी अप्रिय घटना का

संपर्क होते ही नए विकारों का उभार आता ही है। ऐसी अवस्था में क्या करें?

एक उपाय तो यह है कि जब मन में कोई विकार जागे तो उसे दूसरी ओर लगा दें। किसी अन्य चिंतन में अथवा अन्य काम में। यानी वस्तुस्थिति से पलायन करें। परन्तु यह सही उपाय नहीं है। जिसे हमने दूसरी ओर लगाया वह तो ऊपर-ऊपर का चेतन मन है। अन्दर का अचेतन, अर्द्धचेतन मन तो उसी प्रकार क्षुब्ध होकर भीतर ही भीतर मूंज की रस्सी की तरह अकड़ता और गांठें बांधता जाता है। भविष्य में जब कभी ये गांठें उभरकर चेतन मन पर आएंगी तब और अधिक अशांति और बेचैनी पैदा करेंगी। अतः पलायन करना समस्या का सही समाधान नहीं है। रोग का सही इलाज नहीं है।

इसी समस्या के समाधान की खोज आज से लगभग 2500 वर्ष पूर्व इसी देश में भगवान बुद्ध ने की और लोगों के कल्याण के लिए इसे सर्वसुलभ बनाया। उन्होंने अपनी अनुभूतियों के बल पर जाना कि ऐसे अवसर पर पलायन न करके वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। किसी भी घटना के कारण जो भी विकार जागे, उसे यथावत् देखना चाहिए। क्रोध आया तो क्रोध जैसा है उसे वैसा ही देखें। देखते रहें। इससे क्रोध शांत होने लगेगा। इसी प्रकार जो विकार जागे, उसे यथाभूत देखने लगें तो उसकी शक्ति क्षीण हो जाएगी। परन्तु कठिनाई यह है कि जिस समय विकार जागता है उस समय हमें होश नहीं रहता। क्रोध आने पर यह नहीं जानते हैं कि क्रोध आया है। क्रोध निकल जाने के बाद होश आता है। तब सोचते हैं कि बड़ी भूल हुई जो क्रोध में आकर किसी को गाली दी या मार-पीट पर उतारू हो गये। इस बात को लेकर पश्चाताप करते हैं। परन्तु दूसरी बार वैसी परिस्थिति आने पर फिर वैसा ही करते हैं। वस्तुतः क्रोध आने पर तो हमें होश रह नहीं पाता। बाद में होश आने पर पश्चाताप करने से लाभ नहीं होता। चोर आए तब तो सोए रहे, परन्तु उसके द्वारा घर का माल चुरा ले जाने के बाद जल्दी-जल्दी ताले लगाएं तो इससे क्या लाभ? निकल भागने के बाद उस सांप की लकीर पीटते रहें तो क्या लाभ? विकार जागने पर होश कौन दिलाए? क्या हर आदमी अपने साथ सचेतक के रूप में कोई सहायक रखे? यह संभव नहीं है। और मान लीजिए कि संभव हुआ भी, किसी ने अपने लिए कोई सहायक नियुक्त कर भी लिया और ऐसे मौके पर उस सहायक ने सचेत भी कर दिया कि आपको क्रोध आ रहा है, आप क्रोध को देखिये। तो दूसरी कठिनाई यह है कि अमूर्त क्रोध को कोई कैसे देखे? जब क्रोध को देखने का प्रयास करते हैं तब जिसके कारण क्रोध आया है वही आलंबन बार-बार मन में उभरता है और आग में घी का काम करता है। वही तो उद्दीपन है। उसी के चिंतन से विकार से छुटकारा कैसे होगा? बल्कि उसे बढ़ावा मिलेगा। तो एक और बड़ी समस्या यह है कि आलंबन से छुटकारा पाकर अमूर्त विकार को साक्षीभाव से कैसे देखा जाए?

अतः हमारे सामने दो समस्याएं हैं। एक तो यह कि विकार के जागते ही हम सचेत कैसे हों? और दूसरी यह कि सचेत हो जाएं तो अमूर्त विकार का साक्षीभाव से निरीक्षण कैसे कर सकें? उस महापुरुष ने प्रकृति की सच्चाइयों की गहराई तक खोज करके यह देखा कि किसी भी कारण से जब कभी मन में कोई विचार जागता है तब एक तो सांस की गति में अस्वाभाविकता आ जाती और दूसरे शरीर के अंग-प्रत्यंग में सूक्ष्म स्तर पर किसी न किसी प्रकार की जीव-रसायनिक क्रिया होने लगती है। यदि इन दोनों को देखने का अभ्यास किया जाय तो परोक्ष रूप से अपने मन के विकार को देखने का काम ही होने लगता है और विकार स्वतः क्षीण होते-होते निर्मूल होने लगता है। सांस को देखने का अभ्यास आना-पान सति कहलाता है और शरीर में होने वाली जीव-रसायनिक प्रतिक्रियाओं को साक्षीभाव से देखने का अभ्यास विपश्यना कहलाता है। दोनों एक-दूसरे से गहरे संबंधित हैं। इन दोनों का बहुत अच्छा अभ्यास हो जाए तो किसी भी कारण जब मन में विकार उठे तो पहला काम यह होगा कि सांस की बदली हुई गति और शरीर में उत्पन्न हुई किसी भी प्रकार की जीव-रसायनिक प्रतिक्रिया हमें सचेत करेगी कि चित्तधारा में कोई विकार जाग रहा है। सांस और इस सूक्ष्म संवेदना को देखने लगें तो स्वभावतः उस समय के उठते हुए विकार का उपशमन, उन्मूलन होने लगेगा। जिस समय हम अपने सांस के लेने और छोड़ने को साक्षीभाव से देखते हैं अथवा शरीर की जीव-रसायनिक या विद्युत-चुंबकीय प्रतिक्रिया को साक्षीभाव से देखते हैं, उस समय विकार उत्पन्न करने वाले आलंबन से सहज ही संपर्क टूट जाता है। ऐसा होना वस्तुस्थिति से पलायन नहीं है। क्योंकि अंतर्मन तक उस विकार ने जो हलचल पैदा कर दी उस सच्चाई को अभिमुख होकर देख रहे हैं। सतत् अभ्यास द्वारा अपने आपको देखने की यह कला जितनी पुष्ट होती है उतनी ही स्वभाव का अंग बनती है और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति आती है कि विकार जागते ही नहीं अथवा जागते हैं तो बहुत दीर्घ समय तक चल नहीं पाते। बल्कि पानी या बालू पर पड़ी लकीर जैसा हल्का सा संस्कार बनता है जिससे शीघ्र छुटकारा मिल जाता है। संस्कार जितना गहरा होता है, उतना ही अधिक दुखदायी और बंधनकारक होता है। जितनी शक्ति से और जितनी देर तक किसी विकार की प्रक्रिया चलती है, अंतर्मन पर उसकी उतनी ही गहरी लकीर पड़ती है। अतः काम की बात यह है कि विकार जागते ही उसको साक्षीभाव से देखकर उसकी शक्ति क्षीण कर दी जाए ताकि वह अधिक लम्बे अर्से तक चलकर गहराई में न उतर सके। आग लगते ही उस पर पानी छिड़कें। कहीं ऐसा न हो कि पेट्रोल छिड़क कर उस आग को बढ़ावा दे दें। जगे हुए विकार को सचेत होकर तत्क्षण देखने लग जाना उस विकार की आग पर पानी छिड़कना है और जिस आलंबन को लेकर विकार जागा, बार-बार उसका चिंतन करना, उस पर पेट्रोल छिड़कना है। अपने अपमान की अप्रिय घटना को याद करते रहें तो द्वेष की लकीर को याद करके अधिक गहरी बना लेते हैं। उससे बाहर निकलना दूभर हो जाता है।

प्रकृति के कानून को ऋत कहते हैं। हम उसे ही धर्म कहते हैं। यह प्रकृति का नियम है कि जब हमारे मन में कोई विकार जागता है, तब हम अशांत हो

जाते हैं और विकार से छुटकारा पाते ही अशांति से छुटकारा पा लेते हैं। सुख-शांति भोगने लगते हैं। प्रकृति के इस नियम को जानकर विकारों से छुटकारा पाने का कोई तरीका कोई महापुरुष धर्म के रूप में दुखियारे लोगों को देता है। परन्तु अपने पागलपन से उन तरीकों को अपनाने के बजाय, यानि धर्म को धारण करने के बजाय, हम उसे वाद-विवाद का विषय बनाकर सिद्धांतों की लड़ाई में पड़ जाते हैं और कोरे दार्शनिक बुद्धिविलास से पारस्परिक विद्रोह बढ़ाकर अपनी हानि करते हैं। विपश्यना दार्शनिक सिद्धांतों का संघर्ष नहीं है। हर व्यक्ति ज्ञान-चक्षु द्वारा अपने आपको देखे, स्वः का निरीक्षण करे। अपने भीतर जब विकारों की आग लगे तब उसे स्वयं देखकर बुझाया यही सम्यक्दर्शन है। यही "स्व" का निरीक्षण है। ज्ञान चक्षु से निरीक्षण है। अनुभूतियों के स्तर पर सत्य निरीक्षण है। जागरूक रहकर यथावत् सत्य को देखने का अभ्यास विपश्यना है। इसको बुद्धिविलास का विषय बनाने से कोई लाभ नहीं। पढ़ने-सुनने या चर्चा-परिचर्चा से बौद्धिक-स्तर पर विषय समझ लिया जा सकता है। उससे कुछ प्रेरणा भी मिल सकती है। परन्तु वास्तविक लाभ अभ्यास करने में है। अपने मन को विकारों से विकृत न होने दें, सदा सचेत रहकर स्वः का निरीक्षण करते रहें, यह काम बिना अभ्यास के संभव नहीं है। जन्म-जन्मांतरों से मन पर संस्कारों, विकारों की जो परतें पड़ीं और नए-नए विकार बनाते रहने का जो स्वभाव बन गया, उससे छुटकारा पाने के लिए साधना का अभ्यास नितांत आवश्यक है। उसे केवल सैद्धांतिक स्तर पर जान लेना पर्याप्त नहीं है और न केवल दस दिनों का एक शिविर ही काफी है। सतत् अभ्यास की आवश्यकता है।

मात्र दस दिन के अभ्यास से कोई व्यक्ति पारंगत नहीं हो सकता। दस दिन में तो भविष्य में अभ्यास करने की एक विधि हाथ लगती है। अभ्यास पूरे जीवन तक का है। जितना अभ्यास बढ़ता है, उतना धर्म जीवन में उतरता है। जीवन जीने की कला पुष्ट होती है। आत्म-सजगता बढ़ती है तो आचरण सुधरते हैं, चित्त निर्मल-निर्विकार होता है। निर्मल-निर्विकार चित्त मैत्री, करुणा, मुदिता और समता के सद्गुणों से स्वभावतः भरता है। साधक स्वयं तो कृतकृत्य होता ही है, समाज के लिए भी सुख-शांति का कारण बनता है।

सौभाग्य से यह आत्म-निरीक्षण यानी स्व-निरीक्षण का अभ्यास, विपश्यना की साधना-विधि ब्रह्मदेश में दो हजार पच्चीस सौ वर्ष से आज तक अपने शुद्ध रूप में जीवित है। मुझे सौभाग्य से इस विधि को सीखने का कल्याणकारी अवसर प्राप्त हुआ। शारीरिक रोग के साथ-साथ मानसिक विकारों एवं आसक्ति भर तनावों से छुटकारा पाने का रास्ता मिला। सचमुच एक नया जीवन ही मिला। धर्म का मर्म जीवन में उतर सकने की एक मंगल विद्या प्राप्त हुई। अब विगत पांच वर्षों से भारत में आया हूं। यह विधि तो इसी देश की पुरातन निधि है। पवित्र सम्पदा है। किसी भी कारण से यहां विलुप्त हो गई। मैं तो भगीरथ की तरह इस खोई हुई धर्म-गंगा को ब्रह्मदेव से यहां इस देश में पुनः ले आया हूं और जिसे अपना बड़ा सौभाग्य मानता हूं।

याद करता हूं कि विकारों से विकृत होकर मैं कितना दुखी रहा करता था और इन विकारों से छुटकारा पाकर कितना दुःख मुक्त हुआ, सुखलाभी हुआ। इसलिए जी चाहता है कि अधिक से अधिक लोग जो अपने विकारों से विकृत हैं और इसलिए दुखी हैं वे इस कल्याणकारी विधि द्वारा विकारों से छुटकारा पाना सीखें और दुख-मुक्त होकर सुखलाभी हों। याद करता हूं कि जब मैं विकारों से विकृत होकर दुखी होता था तो अपना दुख अपने तक सीमित न रखकर औरों को बांटता था। औरों को भी दुखी बनाता था। उस समय मेरे पास बांटने के लिए दुख ही था। अब जी चाहता है कि इस कल्याणकारी विधि द्वारा जितना-जितना विकारों से उन्मुक्त हुआ और फलतः जो भी यत्किंचित सुख-शांति मिली, उसे लोगों में बांटूं। इसे बांटने पर सुख-संवर्धन होता है। मन प्रसन्न होता है। इस दस दिन के शिविरों में लोग अक्सर मुरझाए हुए चेहरे लेकर आते हैं और शिविर समाप्ति पर खिले हुए चेहरों से घर लौटते हैं तो सचमुच मन सुख-संतोष से भर उठता है। अधिक से अधिक लोग इस मंगलकारी विधि का लाभ उठाकर सुखलाभी हों, अधिक से अधिक लोगों का भला हो, कल्याण हो, मंगल हो—यही धर्मकामना है।

भारत भी तो घर है, घर तो घर ही रहना चाहिए

मेरा ख्याल था
सब कुछ ठीक हो जाएगा
वह रास्ते पर आ जाएगा
भटकन बिखराव और अलगाव की भावना
उसमें इस कदर जड़ नहीं पकड़ लेगी
कि वह इस घर से
दूर बहुत दूर चला जायेगा
घर, तो घर ही रहना चाहिए
जिसमें रहने वाले हर प्राणी को
अपना जीवन अपने ढंग से जीने का
पूरा अधिकार होना चाहिए
लेकिन इसका यह मतलब नहीं है
कि अपने ढंग से जीवन जीने के लिये
घर के किसी भी व्यक्ति का
यह अधिकार बन जाता है
कि वह जो भी चाहे करे,
बात या बेबात पर ही
झगड़ा-फसाद खड़ा कर दे
घर की सारी शान्ति, चैन, सुख
अपने दिमाग के फितूर की खातिर
भंग कर दे
और इस तरह
घर में रहने वाले हर प्राणी का
जीवन खतरे में डाल दे
घर की मर्यादा ताक़ पर उठा कर रख दे।
और खुली हवा खुली रोशनी से भरपूर घर में
एक नई दीवार खड़ी कर दे।

दीवारों में बंटा घर
घर नहीं रह जाता है
एक गलत व्यक्ति की
गलत मानसिकता से
सारा का सारा घर
चौपट हो जाता है
घर तो घर ही रहना चाहिए

मतभेद और झगड़े
किस घर में नहीं होते हैं
छोटे बच्चे रूठ तक जाते हैं
बहुत बार घर छोड़ कर चले जाते हैं
लेकिन घर वाले
उन्हें छोड़ नहीं देते हैं
पुचकारते और मनाते हैं
उनकी गलती का अहसास
उन्हें कराते हैं
पश्चाताप का अवसर देते हैं
और ठीक रास्ते पर उन्हें ले आते हैं।

इसलिये
अब मैं सोचता हूं
फर्ज, आगे चलकर
घर वालों का बन जाता है
जिससे भटका हुआ व्यक्ति
पथभ्रष्ट न होने पाये
घर की मर्यादा भी बनी रहे
और घर में सुखशान्ति भी लौट आये

घर तो घर ही रहना चाहिए

निरंकार नारायण सक्सेना

भारत के बौद्ध तीर्थ

—डॉ० गायत्री नाथ पंत

शाक्य मुनि गौतम को आभास हो गया था कि उनका अन्तिम समय आ गया है। यह जानकर उनके प्रिय शिष्य एक निरीह बालक की तरह बिलखते हुए कहने लगे "महाप्रभु हम लोगों को छोड़कर न जाइये। आपके बाद हमारा मार्गदर्शन कौन करेगा"? गौतम बुद्ध ने सान्त्वना देते हुए कहा "रोते क्यों हो आनंद। मेरे चले जाने के बाद मेरी शिक्षायें जो हैं, मेरा संग जो है।" तुममें से प्रत्येक अपना दीपक स्वयं बनो "अप्प दीपो भव।" जब आनंद ने पूछा कि बौद्ध धर्म के प्रमुख तीर्थ कौन कौन से माने जायेंगे तो गौतम ने आठ स्थलों के नाम गिनाये जो थे : लुम्बिनी ग्राम, बोध गया, सारनाथ, कुशीनगर, राजगृह, वैशाली, श्रावस्ती एवं कौशाम्बी। इन आठों में प्रथम चार का महत्त्व सर्वाधिक है जिनका संबंध गौतम के जन्म, ज्ञान, प्रथम उपदेश एवं निर्वाण से है।

प्रथम तीर्थ है लुम्बिनीग्राम। अपने पिता के घर जाते समय जिस लुम्बिनी बाग में प्रसव पीड़ा के कारण माया देवी ने गौतम को जन्म दिया वह स्थान नेपाल की तराई के भैरवा जिले में रुक्मनदेई ग्राम है। यहां अशोक द्वारा स्थापित स्तंभ है जिसमें साफ लिखा है कि यहां 'शाक्य मुनि का जन्म हुआ था'। अशोक अपने राज्याभिषेक के 22वें वर्ष में यहां गया था। इस समय स्तम्भ के पास में ईंटों के छोटे-छोटे स्तूप मिलते हैं। पास ही एक आधुनिक मन्दिर है जिसमें रूपादेवी एवं रुक्मण-देवी की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। ये दोनों लुम्बिनी की इष्टदेवियां हैं। इसके निकट ही मायादेवी की आदमकद मूर्ति है जो बायें हाथ से पेड़ की टहनी पकड़े हैं एवं उसका दाहिना हाथ कमर पर रखा है। पास ही उनकी बहिन महाप्रजापति की मूर्ति है। गौतम के जन्म के सातवें दिन ही मायादेवी का स्वर्गवास हो गया था और नन्हें गौतम का पालन-पोषण उनकी मौसी महा-प्रजापति ने ही किया था। यहां छठी शती ई. पू. से लेकर 10वीं शती ई. पू. तक की अनेक मूर्तियां हैं जिससे पता चलता

है कि दसवीं शती ई. तक यह प्रदेश काफी वैभवपूर्ण था।

दूसरा प्रसिद्ध तीर्थ है बोधगया। बिहार के गया जिले में स्थित विशाल पीपल के वृक्ष के नीचे सिद्धार्थ को ज्ञान प्राप्त हुआ और वे गौतम बुद्ध कहलाये। आज जो पेड़ वहां लगा है वह मूल वृक्ष का उत्तराधिकारी है। कितनी ही बार यह बोधिवृक्ष नष्ट हुआ पर हर बार उसकी कलम से नये पेड़ का जन्म हुआ। सबसे पहले अशोक की पत्नी तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्या के वशीभूत होकर इस पेड़ को काटने का प्रयास किया उसके बाद सातवीं शती में गौड राजा शशांक ने इसे नष्ट किया पर कुछ ही महीनों बाद मगध के राजा पूर्ण-वर्मन ने इसे पुनः लगाया। सन् 1896 में यह वृक्ष आंधी में गिर पड़ा। उसकी कलम से जो पेड़ लगाया गया वह आज तक विद्यमान है। इस वृक्ष के नीचे गौतम के चरण चिन्ह हैं। पास ही विशाल मन्दिर है जो सातवीं शती से पहले ही बन चुका था। सन् 1880 में इसका जीर्णोद्धार किया गया। इस मन्दिर में गौतम बुद्ध की विशाल प्रतिमा स्थापित है। मन्दिर के चारों ओर अनेकों छोटे-छोटे स्तूप हैं। अशोक के पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा इसी बोधिवृक्ष की एक टहनी को लेकर लंका गये थे। बोधगया में कुछ बहुत ही पुनीत चीजें मानी गई हैं ये हैं बोधिवृक्ष, मन्दिर के अन्दर की बौद्ध प्रतिमा, अशोक द्वारा निर्मित मन्दिर के पास की गन्धकुटी, गौतम का एक दांत एवं दो चरण चिह्न तथा उन्हीं का बैठने को वज्रासन। अब तो बोधगया में जापान, थाईलैंड, श्रीलंका, नेपाल, वर्मा कई देशों ने बहुत ही आलीशान बौद्ध मन्दिरों का निर्माण कराया है। यहां का विश्व-विद्यालय एवं संग्रहालय बहुत ही विख्यात हैं।

बौद्ध धर्म का तीसरा पावन तीर्थ सारनाथ है जो बनारस से चार मील उत्तर में है। पहले इसका नाम ऋषिपत्तन या मृगदाव था। गौतम बुद्ध ने ज्ञानप्राप्ति के बाद अपना प्रथम उपदेश यहीं पर दिया था। यहां पर बौध संघ की नींव पड़ी। यहां अशोक का प्रसिद्ध स्तंभ है। जिसका निचला भाग तो मूल स्थान पर है पर ऊपरी शीर्ष सारनाथ संग्रहालय में रखा है। इस शीर्ष में चार शेर हैं जो हमारा राष्ट्रीय चिह्न है। यहीं पर अशोक द्वारा बनवाया हुआ धर्मराजिका स्तूप भी है तथा कुषाण युग की, वल नामक भिक्षु द्वारा बनवाई हुई, गौतम की विशाल प्रतिभा है। लाल बलुये पत्थर से बनी लेखयुक्त यह मूर्ति वहां के संग्रहालय में रखी है। गुप्तकाल में सारनाथ कला का प्रमुख केन्द्र था एवं यहां गौतम की अनेक शानदार मूर्तियां बनाई गई थीं। जहां पर अब मुख्य मन्दिर है उसी स्थान पर पहले मूलगन्ध् कुटी विहार था जहां गौतम ने प्रथम उपदेश दिया था एवं वे कुछ समय वहां रहे भी थे। सारनाथ के दो अन्य प्रसिद्ध स्तूप हैं धम्मेख एवं चौखण्डी। धम्मेख स्तूप पांचवी शती का है जो नीचे ठोस पत्थरों का एवं ऊपर ईंटों का बना है। चौखण्डी स्तूप तो बहुत पुराना है पर उसके ऊपर एक अष्टभुजी गुम्बद है। जिसे अकबर ने अपने पिता हुमायूं की, इस प्रदेश की यात्रा की स्मृति में, बनवाया था।

गौतम ने जिस स्थल पर निर्वाण प्राप्त किया वह सदैव से ही पावन स्थली बन गया। 80 वर्षीय गौतम बुद्ध अपने धर्म का प्रचार करते उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले में पदरौना नामक स्थान पर पहुंचे तो वे चुण्ड नामक लोहार के आम के बाग में ठहरे। चुण्ड ने न जाने भोजन में क्या मिला दिया था कि गौतम को पेचिश शुरू हो गई। गौतम फिर भी चलते रहे और उसी जीर्ण शीर्ण दशा में कुशीनगर पहुंचे। उनका अन्त समय निकट आ गया। उसी समय सुबुद्ध नामक व्यक्ति बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने आया। गौतम ने स्वयं उसे बौद्ध बनाया और अपने प्राण त्याग दिये। इस प्रकार गौतम बुद्ध के जीवनकाल में संघ में शामिल होने वाले अन्तिम सदस्य का गौरव सुबुद्ध को प्राप्त हुआ।

आज कुशीनगर में एक विशाल निर्वाण चैत्य है जहां ईंटों के एक चबूतरे पर गौतम बुद्ध की निर्वाणमुद्रा में मूर्ति है इसमें एक लेख है जिससे पता चलता है कि इस मूर्ति को हरिबल नामक भिक्षु ने स्थापित किया था। पहले 1876 में एवं दुबारा 1956 में इस चैत्य का पुनरुद्धार किया गया। यहां दो अन्य प्रसिद्ध स्तूप हैं माथाकुआर एवं रामभार।

पांचवें तीर्थ के रूप में राजगीर का नाम आता है जो बिहार के पटना शहर से 62 मील दूर है। छठी शती ई.पू. में यहां के प्रसिद्ध राजा बिम्बसार एवं अजातशत्रु थे जो दोनों बौद्ध थे। यह स्थल गौतम को बहुत प्रिय था। यहीं जैनियों के बारहवें तीर्थकर मुनि सुव्रत का जन्म हुआ था। महावीर स्वामी ने भी यहां बहुत समय निवास किया था। गौतम की मृत्यु के पश्चात सबसे पहली बौद्ध सभा राजगृह में ही हुई थी। जिसके प्रधान को लिपिबद्ध किया गया था। यह सभा जिस गुफा में हुई थी वह आज। सातपणी गुफा के नाम से जानी जाती है। यही वह स्थल है जहां गौतम के चचेरे भाई देवदत्त ने गौतम की कई बार हत्या करने की चेष्टा की थी। एक बार पहाड़ी के ऊपर से भारी पत्थर उनके ऊपर गिराया जो गौतम के पैर को छूकर निकल गया। फिर कुछ गुण्डे भेजे जो गौतम को देखते ही, बजाय उनकी हत्या करने के, उनके शिष्य बन गये एवं अन्त में नीलागिरी नामक क्रोधी हाथी को भेजा जो गौतम के सामने जाते ही बैठ गया। तब देवदत्त को गौतम की क्षमाशीलता का अहसास हुआ और वे भी उनके शिष्य हो गये।

छठे तीर्थ के रूप में वैशाली का नाम आता है जो बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित आधुनिक बसाठ नामक ग्राम है। जब वैशाली में महामारी फैल गई एवं हाहाकार मच गया तो गौतम वहां पहुंचे। उनके पहुंचते ही रोग थम गया। तभी एक बन्दर ने एक बर्तन में शहद लाकर उन्हें दिया। यहां पर गौतम ने अपनी धर्म मां महाप्रजापति को दीक्षा दी थी। यहीं की वेश्या थी आम्रपालि जिसे गौतम ने अपनी प्रिय शिष्य बनाया था। यहां एक स्तूप है जिसमें गौतम के प्रमुख शिष्य आनन्द की अस्थियां रखी है।

सातवें तीर्थ के रूप में विख्यात है श्रावस्ती। उत्तर प्रदेश के बहराइच जिले में बसा हुआ ग्राम 'महटे' एवं गोंडा जिले में स्थिति सहेट ही प्राचीन श्रावस्ती है। ये दोनों गांव सहेट महेट अब खंडहर हैं पर पुराने अनेक अवशेष यहां सुरक्षित हैं। यहीं अनाथपिन्डक नामक व्यापारी ने जेत-वन विहार बनवाया था। यह जगह गौतम

को बहुत प्रिय थी पर उस समय इस स्थान का मालिक जेत नामक व्यक्ति था। अनाथपिन्डक ने इस स्थल को खरीदना चाहा, जेत ने शर्त रखी कि जितनी भूमि पर स्वर्ण मुद्रा बिछा सको वही तुम्हारी हो जायेगी। अनाथपिन्डक ने अपनी सारी सम्पत्ति के बदले जमीन का वह टुकड़ा खरीद लिया और वहां विहार बनवा दिया। यहां के एक अन्य व्यापारी मिगर की बहू, जिसे प्यार से मिगरमाता कहते हैं तथा राजा प्रसेनजित ने अपने सन्यासी जीवन का सबसे अधिक भाग यहीं बिताया। जब हिन्दू, जैन, आदि धर्मों के कट्टर आचार्यों ने गौतम बुद्ध को ढोंगी बताया, उन्हें कुछ चमत्कार दिखाने के लिये मजबूर किया तो गौतम ने श्रावस्ती में सम्राट प्रसेनजित की मौजूदगी में कई चमत्कार दिखाये जैसे उन्होंने विविध मुद्राओं में अपने कई रूप बना लिये एवं वहां उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ही समय पहुंच गये। वैसे गौतम चमत्कारों के विरुद्ध थे। श्रावस्ती में ही खूंखार डाकू अंगुलिमाल रहता था जो प्रत्येक धनी व्यक्ति की हत्या करके उसकी एक उंगली काट कर गले की माला में पिरो लेता था। उसकी माला में 999 उंगलियां हो गई। हजारवीं उंगली के लिये उसने गौतम का वध करना चाहा पर ज्यों ही वह शाक्यमुनि के सामने पहुंचा वह फूट-फूट कर रोने लगा। गौतम ने उसे क्षमा कर दिया और बाद में अंगुलिमाल एक दयावान सन्त बन गया।

अन्तिम तीर्थ था कौशाम्बी। यह कभी वत्स की राजधानी था एवं यहां का प्रसिद्ध सम्राट उदयन था। यहां के तीन व्यापारी बहुत प्रसिद्ध हैं जिनके नाम हैं घोषित, कुक्कुट, एवं पावारि। इनके बनवाये हुये विहार क्रमशः घोषितरात, कुक्कुटीराम एवं पावारिका कहलाते हैं। इन विहारों को 500 ई. में तोरमाण नामक हूण ने नष्ट कर दिया।

उत्तर प्रदेश में इलाहाबाद शहर से 32 मील दूर जो कोसम नामक स्थल है वहां प्राचीन कौशाम्बी थी। यहां बड़े पैमाने पर खुदाई हुई है एवं गौतम के काल से लेकर मुगलकाल तक के अनेकों अवशेष मिले हैं। यहां संग्रहालय भी है जिसमें अनेक, विशेषकर कांस्य, मूर्तियां हैं।

ऊपर बताये गये आठ तीर्थों में से प्रत्येक का सम्बन्ध गौतम के जीवन से रहा है। इनके अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण तीर्थ भी हैं जैसे मध्य प्रदेश में सांची जहां का स्तूप विश्वप्रसिद्ध है। इसी तरह ग्वालियर के पास बाघ की गुफायें तथा महाराष्ट्र में अजन्ता की गुफायें अपनी चित्रकला के लिये, आन्ध्र में अमरावती एवं नागार्जुनकोन्डा अपने स्तूपों के लिये, बिहार में नालन्दा तथा पाकिस्तान स्थित तक्षशिला अपने विश्वविद्यालय के लिये प्रख्यात हैं। ये सभी बौद्ध सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र थे तथा इन्हें भी तीर्थों की तरह का ही महत्व मिला है।

इन तीर्थों में जाने से करुणासिंधु गौतम की वाणी स्वतः प्रस्फुटित हो जाती है और चारों ओर गूंज उठता है :

बुद्धं शरणं गच्छामि ।
धम्मं शरणं गच्छामि ।
संघं शरणं गच्छामि ।

आदि तीर्थ : पुष्कर

—दीना नाथ दुबे

पौराणिक कथाओं में तीर्थों की संख्या करोड़ों में है। देश के विभिन्न भागों में फैले चार धाम, पंच तीर्थ, पंच सरोवर, सात क्षेत्र, सप्त प्रयाग, सप्त गंगा, सप्त पुरियों, द्वादश ज्योतिर्लिंग, बावन शक्तिपीठों का विशेष महत्व है। जिस प्रकार प्रयाग को तीर्थों का राजा माना गया है, उसी प्रकार पुष्कर को तीर्थों का गुरू माना गया है। इसलिए पुष्कर को भी लोग प्रयागराज की तरह पुष्करराज कहते हैं। पुष्कर की गणना पंचतीर्थों और पंच सरोवरों दोनों में है। पंचतीर्थ हैं :—1–पुष्कर, 2–कुरुक्षेत्र, 3–गया, 4-गंगाजी, 5-प्रयाग, और पंच सरोवर हैं :—मानसरोवर, पुष्कर, बिन्दुसरोवर, नारायण सरोवर, पम्पा सरोवर। पद्मपुराण के अनुसार पुष्कर ब्रह्मा की यज्ञस्थली है, और यहीं से सृष्टि का प्रारम्भ हुआ। पद्मपुराण में कहा गया है :—

दुष्करं पुष्करं गन्तुं, दुष्करं पुष्करे तपः।
दुष्करं पुष्करे दानं, वस्तु चैव प्रासवणानिद।
त्रीणी श्रृंगाणि सुभाणि, त्रीण प्रासर्वणानिद।
पुष्कराणयादि सिद्धानि न विधनस्तंभ . कारणम्।।

यानि, पुष्कर में जाना बड़ा कठिन है, पुष्कर में तपस्या दुष्कर है। पुष्कर का दान भी दुष्कर है। पापों के नाशक, देदीप्यमान तीन पुष्कर क्षेत्र हैं। इनमें सरस्वती बहती है। ये आदिकाल से सिद्धतीर्थ हैं। पद्मपुराण के अनुसार ब्रह्माजी ने मृत्यु लोक में यज्ञ करने का विचार कर एक कमलपुष्प गिराया और निश्चय किया, जहां यह पुष्प गिरेगा वहीं यज्ञ किया जायेगा। कमल जिस स्थान पर गिरा, वह ज्येष्ठ पुष्कर या ब्रह्म कमल कहलाता है। पुष्कर राजस्थान का ही नहीं, अपितु देश की सबसे पवित्र तीर्थ नगरी है। विश्व की प्राचीनतम पर्वतमाला अरावली की मुख्य श्रेणी नाग पहाड़ के आंचल में बनी यह अंडाकार झील ही, ब्रह्मा की सृष्टि रचना की यज्ञ-स्थली है। सदियों से यह स्थली हमारे ऋषियों की प्रेरणा स्रोत रही है। महर्षि विश्वामित्र, अगस्त्य, जमदग्नि, भर्तृहरि आदि ने अपने साधना के अनेक वर्ष इस भूमि में बिताये हैं। महर्षि वेदव्यास के अनुसार विश्वामित्र और मेनका की प्रणय-स्थली यही भूमि है। आज इस धर्मस्थली में रामानुज, निम्बार्क, बल्लभाचार्य, रामस्नेही, कबीर, दादू, जैन, सिखों, मुसलमानों के उपासना गृह, धार्मिक सहिष्णुता के अक्षय स्मारक हैं।

पुष्कर का स्वयं कोई मंदिर नहीं। पुष्कर का अर्थ तालाब या झील होता है। सृष्टि-नियन्ता ब्रह्माजी के हाथों से गिरा हुआ पुष्प ही एक स्थान पर जल रूप हो गया। जल रूप ही पुष्कर है। इसकी गहराई 6 से 10 मीटर तक है और विशाल जलराशि 5 किलोमीटर के घेरे में फैली है। चारों ओर पर्वतों का सुरम्य दृश्य है। झील के किनारे घाट हैं, जिसका निर्माण प्राचीन नरेशों ने कराया है। इनमें वराह घाट, गऊ घाट, ब्रह्म घाट, नृसिंह घाट, आदि उल्लेखनीय हैं। वराह घाट का विशेष महत्व है। ऐसी कथा है कि यहां भगवान वराह के रूप में प्रकट हुए थे। ब्रह्मघाट पर ब्रह्माजी ने यज्ञ की पूर्ति कर स्नान किया था। सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्दसिंह ने गऊ घाट पर ग्रन्थ साहब का पाठ किया था। इस तीर्थ नगरी में सर्वप्रथम घाटों का निर्माण मंडोर के परिहार राजा ने करवाया था। इसके बाद अनेक धार्मिक प्रवृत्ति के नरेशों ने नये घाट बनवाये, पुराने घाटों का जीर्णोद्धार कराया। सम्राट जार्ज पंचम की रानी मेरी ने भी पुष्कर से प्रभावित होकर गऊ घाट पर महिलाओं के लिए अलग घाट बनवाया था।

रामायण, महाभारत, पद्मपुराण, नारद पुराण में पुष्कर राज की महिमा का प्रचुर उल्लेख है। इस पवित्र स्थान के प्रति धार्मिक लोगों की भावना इतनी गहन है कि यहां स्नान किये बिना चारों धाम की यात्रा भी अधूरी मानी जाती है। पौराणिक युग से ही पुष्कर तीर्थ का महात्म्य माना जाता है। ब्रह्मा ने पद्मपुराण में किए गये उल्लेख के अनुसार यज्ञ कराने के उद्देश्य से पवित्र स्थल के चयन के लिए एक कमल का पुष्प पृथ्वी पर गिराया। तीन जगह पर उसकी पंखुडियां बिखर गई, जहां से जल प्रकट हुआ। उक्त तीनों

स्थान ही क्रमशः ज्येष्ठ, मध्य व कनिष्ठ पुष्करों के नाम से प्रसिद्ध हुए। इन तीनों पुष्करों के स्वामी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश हुए। ज्येष्ठ पुष्कर ही सामान्यतः पुष्कर कहलाता है। ज्येष्ठ पुष्कर से मध्यम पुष्कर और कनिष्ठ पुष्कर क्रमशः 5 व 8 किलोमीटर पर स्थित हैं। संपूर्ण पुष्कर तीर्थ की परिक्रमा 48 मील की है जिसमें अन्तर्वेदी 6 मील, मध्यवेदी 10 मील, प्रधान वेदी 24 मील है और बहिर्वेदी परिक्रमा 48 मील की है। इन परिक्रमाओं में ऋषियों के आश्रम स्थान हैं।

प्राचीन धार्मिक ग्रंथों के अनुसार कार्तिक शुक्ला एकादशी को यज्ञ प्रारंभ हुआ। एक योजन भूमि ब्रह्मा जी ने यज्ञ के लिए निश्चित की। अतः एक पुण्य क्षेत्र का विस्तार एक योजन है। यज्ञ की संपूर्ण तैयारी पूरी की जा चुकी थी। सभी निमंत्रित देवता अपने-अपने सुनिश्चित कर्म में नियुक्त हो गये और ब्रह्माजी यज्ञ की दीक्षा लेने को तैयार हुए तो अपनी पत्नी सावित्री को वहां अनुपस्थित पाया। नारदजी को उन्हें बुलाने भेजा गया। सावित्री को आने में देर हो गई इस पर इन्द्र एक गुर्जर कन्या को ले आए। यह गायत्री नाम से विख्यात हुई। ब्रह्मा जी ने इसी गायत्री गुर्जर कन्या का वरण करके यज्ञ प्रारंभ किया। ज्यों ही यज्ञ कार्य प्रारंभ किया गया, सावित्री भी यज्ञ स्थल पर आ गयीं। अपने स्थान पर अन्य स्त्री को बैठा देखकर वे क्रोधित हुईं और शाप देकर नारी जाति की गौरव-गरिमा का जिक्र करके वह निकटस्थ पर्वत-शिखर पर जाकर बैठ गई। इसी समय से इस स्थान पर सावित्री मंदिर बना हुआ है।

हिन्दू धर्म में कार्तिक मास में प्रातः-स्नान, जागरण, दीपदान और तुलसी पूजन की प्रचुर महिमा है।

स्नानं जागरणं, दीपं तुलसी वन-पालनम्।
कार्तिक मासि कुर्वीत ते नरा विष्णु-भर्तयः।।

यानि--जो मनुष्य कार्तिक स्नान, जागरण, दीपदान तथा तुलसी की रक्षा करते हैं, वे साक्षात् विष्णु भगवान के तुल्य हैं।

कार्तिक में पुष्कर की आभा द्विगुणित हो जाती है। शीतकाल होते हुए भी सूर्योदय से पूर्व ही पुष्कर झील में स्नान, तर्पण और पुष्करराज की जयध्वनि का वातावरण अत्यंत अह्लादकारी लगता है और फिर मासान्त यानि कार्तिक पूर्णिमा के दिन तो पुष्कर में समूचा आस्तिक जगत उमड़ पड़ता है।

कार्तिक महात्म्य की कथाओं के अनुसार एक बार ब्राह्मणों ने ब्रह्माजी से पूछा कि हम कहां नहाएं, तब ब्रह्माजी ने उन्हें प्राचीन सरस्वती में स्नान करने को कहा। सरस्वती जो वर्तमान में लुप्त है, परन्तु गुप्तरूपेण पुष्कर में पांच धाराओं-- 1-सुप्रभा, 2-कांचना, 3-प्राची, 4-नंदा और 5-विशालिका के नाम से बहती है। इन पांचों में से प्रथम तीन तो क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यमम और कनिष्ठ पुष्कर में गिरती हैं तथा दो नन्दा और विशालिका नन्द के पास मिलती हैं और वहां से लूनी नदी नाम से जानी जाती हैं।

पुष्कर क्षेत्र में अनेक गुफाएं, कुंड और मंदिर हैं। इनमें नाग कुंड, चक्र-कुंड, सूर्यकुंड, पद्म कुंड, गंगा कुंड, गया कुंड, अगत्स्य कुंड, सुधा कुंड आदि हैं। मंदिरों में ब्रह्मा जी का मंदिर देश का एक मात्र मंदिर है। ब्रह्मा-मंदिर के अलावा सावित्री मंदिर, गायत्री मंदिर, अटमटेश्वर महादेव मंदिर, श्री रमावेकुंठ मंदिर (रंगनाथ जी) और वराह-मंदिर मुख्य हैं। किंवदंति है कि किसी समय यहां चार सौ से ऊपर मंदिर थे। गायत्री मंदिर 51 शक्तिपीठों में से है। यहां सती का मणिबंध गिरा था। वराह मंदिर चौहान राजा आरणोराज द्वारा 1123 ई. के आसपास बनवाया गया था जो 150 फुट ऊंचा था। औरंगजेब ने इस मंदिर को नष्ट करा दिया था। बाद में इसे पुनः बनवाया गया। वर्तमान में दक्षिण भारतीय शैली पर बना श्री रमावेकुंठ मंदिर अत्यंत ही सुन्दर है। महादेवजी का मंदिर भी रमणीक है।

हमारे देश में ऐसे गिने चुने मेले हैं, जिनमें धार्मिक आस्था के साथ लोक-संस्कृति का साक्षात्कार संभव हो सके। राजस्थान का पुष्कर मेला इनमें से एक है, जहां हमें तीर्थ राज की पावनता के साथ राजस्थानी जन-जीवन और लोक-संस्कृति के अनायास दर्शन हो जाते हैं। कार्तिक पूर्णिमा पर आयोजित होने वाले इस मेले में जहां धार्मिकता का तत्व मुख्य है, वहीं यह मेला लोक संस्कृति का भी प्रतीक है। सजी-धजी बैलगाड़ियां, कौड़ियों से मंडित ऊंटों पर लोकगीत गाती रंग बिरंगी वेशभूषा में अलंकृत रमणियां और प्रफुल्लित आबाल वृद्धों के उत्साह को देखकर पुष्कर में एक अद्भुत इन्द्रधनुषी वातावरण के दर्शन होते हैं। राजस्थानी लोक संस्कृति में ऊंट का सम्मानपूर्ण स्थान है। यह रेगिस्तान का जहाज ही नहीं वरन् नायकों का चहेता भी है। पुष्कर मेले में ऊंटों की दौड़ की अपनी अलग ही विशेषता है, जिसे देखने के लिए अब काफी विदेशी पर्यटक आने लगे हैं। वे इसकी तुलना स्पेन के मैटाडोर और कनाडा के स्टाम्पीड़ से किया करते हैं।

प्रार्थना के क्षण

छेनी से मूर्ति गढ़ता जब मूर्तिकार
तूलिका से रंग भरता हुआ चित्रकार–
वीणा-स्वर पर थिरकता-सा कलाकार,
प्रेम की जोत जगाता इक काव्यकार–

ये हैं सृजन के क्रियमाण क्षण,
एकाग्र सर्जन में लीन कण-कण,
बने जो प्रार्थना के क्षण;
जो जीवन को जीवंत बनाते,

कुछ और जरा-सी सुंदरता लाते,
जीवन में नये रंग नित भर कर–
कुछ और नई उमंगे भरते,
अगली सीढ़ी पे पग धरते,

अतः आओ दोहराओ–
सृजन के वे सक्रिय क्षण,
बने प्रार्थना के ये प्यारे क्षण,
छेनी से मूर्ति गढ़, बनो मूर्तिकार,

तूलिका से रंग भर कर, बनो चित्रकार
वीणा-तारों पर झंकृत कर कवि की वाणी–
करलो तुम परमात्मा से साक्षात्कार,
छेनी व प्रस्तर से, तूलिका व रंग से,

वीणा की झंकार से जन्में जो सृजन के क्षण
मनन के हों ये आत्मिक क्षण.
गहन-चिंतन के हों एकात्म-साधन-प्रण–
बन जाएंगे वे ही तब प्रार्थना के क्षण

—प्रो० रमेश चंद्र सुकुल, "चंद्र"

भारतीय कशीदा : उत्थान, पतन और पुनरुत्थान की एक कहानी

—आशा रानी व्होरा

कढ़ाई में 'लेजीडेजी' 'फ्रेन्च नाट', 'स्टेम स्टिच', जैसे सरल आधुनिक टांकों के नाम आज हमने पश्चिम से भले ही उधार ले रखे हों, ऐसे अनगिनत सरल व जटिल टांकों का स्थान हमारी प्राचीन भारतीय कढ़ाई में है और हमारी यह कशीदा-परम्परा इतनी समृद्ध है कि पर्शियन व चीनी कढ़ाई को छोड़ कर ऐसे उदाहरण संसार में अन्यत्र नहीं मिलते। हमारे यहां प्राचीन संस्कृत साहित्य में 'सूची कर्म' का जो उल्लेख है, वह सुईकारी या कढ़ाई ही है। समय के साथ इसमें मुगल प्रभाव और पश्चिमी प्रभाव मिलते गए, पर विशुद्ध भारतीय कुछ उत्कृष्ट प्राचीन नमूने फिर भी कहीं-कहीं, किसी न किसी रूप में जीवित रह गए।

प्रागैतिहासिक काल

यह सच है कि मुगल काल से पूर्व की प्राचीन भारतीय समृद्ध कढ़ाई के आज कुछ ही नमूने उपलब्ध हैं, पर जो भी प्रमाण मिले हैं, उनसे स्पष्ट है कि भारत के लोग यह कला, प्रागैतिहासिक काल से जानते थे। मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त पीतल की सुइयां, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की मूर्तियों के वस्त्रों पर कढ़ाई के डिजाइन इसकी कहानी कहते हैं। चूंकि हजारों साल तक मिट्टी में दबे वस्त्र गल-सड़ जाते हैं, इसलिए इन नमूनों को हम केवल पत्थर की मूर्तियों से ही पहचान सकते हैं।

प्रारंभिक काल

हमारे प्राचीन साहित्य तथा मूर्तिकला में कढ़ाई-कला के सैकड़ों प्रमाण बिखरे पड़े हैं। चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी दूत मेगस्थनीज ने ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अंत में लिखा, "भारतीय लोग पहनने के वस्त्रों में बहुत ललित रुचि रखते हैं। उनके चोगों-अंगरखों की महीन मलमल पर जैसा रेशम व जरी का फूलदार काम होता है, वैसा और कहीं नहीं देखा गया।" इसके दो हजार साल बाद मुगल काल में भी बढ़िया मलमल पर जरी के काम के बारे में भारतीयों की प्रसिद्धि थी। नमूने फर्क हो सकते हैं, पर यह निश्चित है कि मलमल पर महीन कढ़ाई की यह परंपरा लंबे समय तक जारी रही। भरहुत और सांची की मूर्तियों के दुपट्टे भी इसके साक्षी हैं।

मध्यकाल

मध्यकाल के उत्कृष्ट प्रमाण हैं: अजन्ता गुफाओं के चित्रांकन। नायक-नायिकाओं के रूमाल, दुपट्टे, वास्कट, कुरते और चोलियां, उनके गले, बाहों व कमर पर बने कशीदाकारी के चित्रित नमूने। कहीं-कहीं पूरे घेर पर भी ये मिलेंगे। अब प्रत्यक्ष प्रमाण के अभाव में यह तो स्पष्ट नहीं होता कि यह कढ़ाई रेशम की है या जरी की पर यह खूब स्पष्ट है कि यह परंपरा तब खूब विकसित थी। बेलों, बूटियों के अलावा धारियां और चैक भी इनमें हैं, ज्यामिति नमूने भी। पर मुगल व इंडो-ईरानी परंपरा की तरह प्राकृतिक बेलबूटे वहां अनुपस्थित हैं। पुरानी अप्रभावित कढ़ाइयों में आज पंजाब की फुलकारी व इस तरह की अन्य रफूगीरी टांके की कढ़ाइयां ही प्रायः मिलती हैं, शेष मिश्रित।

कई रूपों में विकास

भारतीय कढ़ाई का विकास कई रूपों में हुआ। कुछ शैलियां दरबारी संरक्षण में फली-फूलीं और कारीगरी के उन्नत शिखर पर पहुंचीं। कुछ शैलियों का अच्छे व्यवसायिक ढंग से विकास हुआ और यूरोपीय देशों में निर्यात का साधन बन, उन्होंने भरपूर विदेशी मुद्रा कमाई। कुछ शैलियां शुद्ध धार्मिक प्रभाव से विकसित हुईं और देवता या आराध्य को समर्पण हेतु जी-जान से श्रम कर उन्हें खूब निखार दिया गया। कुछ लोक शैलियां, बिना किसी बाहरी प्रभाव के, पीढ़ी-दर-पीढ़ी परंपरागत ढंग से ही विकसित होती रहीं और हमारे उत्सवों-त्योहारों व दैनिक लोकजीवन का अंग बन, फलती-फूलती रहीं। कुछेक लोक कढ़ाइयां कुशल हाथों
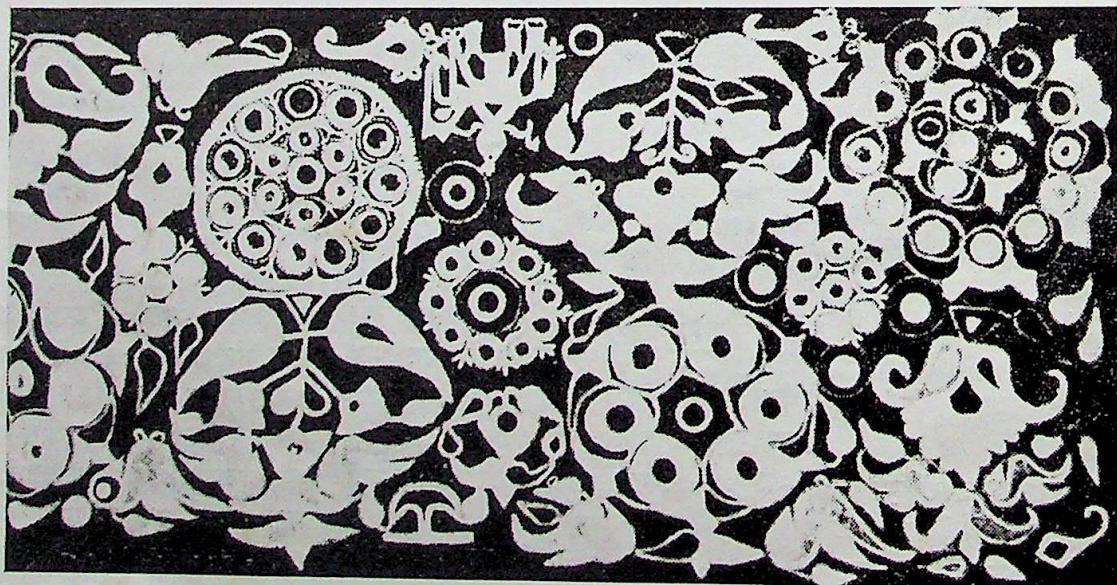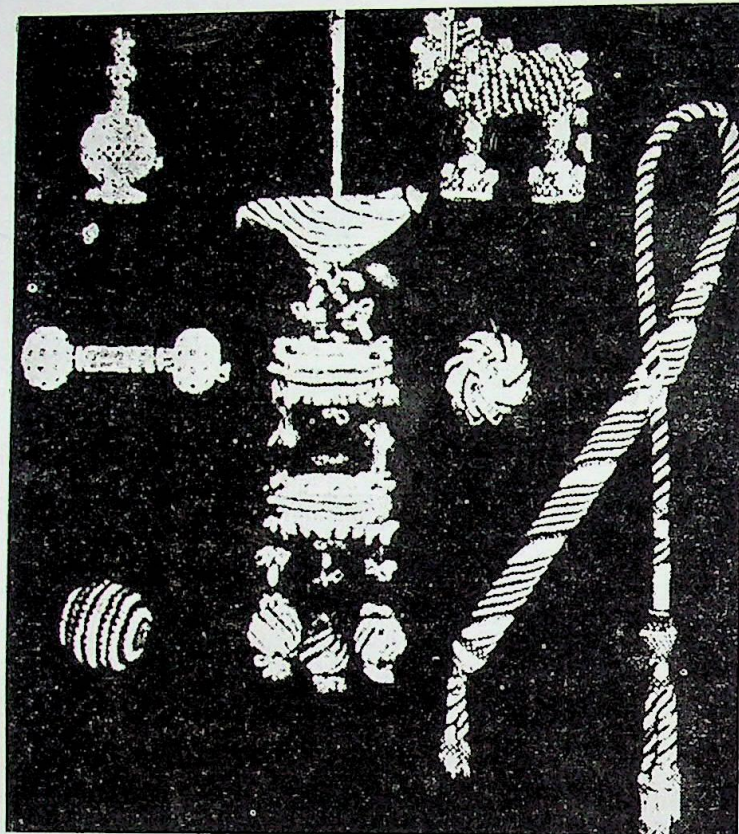
में पहुंच, दरबारी और व्यावसायिक कढ़ाइयों में भी घुलमिल गई। कुछ स्थान विशेष तक सीमित रह गई, तो कुछ घूमंतू जातियों और तीर्थयात्रियों द्वारा एक जगह से दूसरी जगह पहुंचाई जाती रहीं, जिससे आगे चल कर मिश्रित या एक-दूसरी से प्रभावित, पर स्थानीय रंग लिए नई शैलियों का जन्म हुआ। बाद में जब आवागमन के साधनों का विस्तार हुआ और एक स्थान पर दूसरे स्थान का प्रभाव ही नहीं, विदेशी प्रभाव भी उनमें आ मिला तो विशुद्ध शैलियों की पहचान करना ही कठिन हो गया।

फिर भी स्थान विशेष और परिवेश विशेष में पनपीं कुछ विशिष्ट शैलियां अभी भी कम से कम मिश्रित या अप्रभावित रूप में विद्यमान हैं। स्वतंत्रता के बाद 'अखिल भारतीय हस्तशिल्प बोर्ड' ने इस दिशा में जो विशेष अनुसंधान करवाए, उससे यह पहचान अब विशेष पारखी लोगों को ही नहीं, कलाप्रेमी औसत भारतीय को भी स्पष्ट हो चली है। अहमदाबाद स्थित 'केलीको संग्रहालय' में संग्रहीत नमूनों को सुविधा के लिए चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है––मंदिरों से सम्बद्ध कढ़ाई, दरबारी कढ़ाई, व्यावसायिक कढ़ाई और लोक कढ़ाई।

मंदिर–कढ़ाई

मंदिरों से सम्बद्ध कढ़ाई चूंकि तीर्थयात्रियों द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुंचाई जाती रही, उसकी स्थानीय पहचान बहुत कम शेष है। संग्रहालयों में इसके विरले ही नमूने मिलते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि मंदिरों की दीवारों पर टंगे फलक या भित्ति चित्र तब तक टंगे रहते थे, जब तक कि वे फट नहीं जाते थे। उसके बाद भी उन्हें कहीं संजोया नहीं जाता था, बल्कि बहते पानी में बहा दिया जाता था। आध्यात्मिक मनःस्थितियां और पौराणिक कथाएं इसके विषय हैं।

मंदिर-कढ़ाई के निर्माता कुशल शिल्पी होते थे व खरीददार मुख्यतः तीर्थ यात्री। पूरा पश्चिम भारत, विशेष रूप से गुजरात इस समृद्ध परम्परा का सृजक रहा। बाद में द्वारका से चल कर यह परम्परा मध्य भारत के मंदिरों में और राजस्थान में पहुंची और फिर राजस्थान में नाथद्वारा की विशेष शैली के रूप में विकसित हुई। राजस्थानी मंदिरों की कढ़ाई पर जयपुर की दरबारी कला की भी छाप है। दीवारों पर टांगे जाने वाले बड़े फलक (पिछवई)., माला फेरते समय हाथ पर चढ़ाई जाने वाली 'गोमुखी' और धार्मिक पोथी को लपेटने वाले रूमाल इस कढ़ाई के मुख्य वाहक रहे और मंदिर, मठ, प्रहरी, श्रीनाथजी, गोप-गोपियां और राधा-कृष्ण, चार भुजाओं वाले देवता, चार सिर वाले ब्रह्मा, गाय, सांड, बैलों मंगल-कलश आदि इस कढ़ाई के कुछ नमूने। पर कढ़ाई का काम रंग-कूची से चित्रित तस्वीरों को भी मात कर देने वाला, भावपूर्ण अथक श्रम से भरापूरा।

दरबारी कढ़ाई

प्राप्त प्रमाणों के आधार पर कहा जाता है कि पंजाब, गुजरात व राजस्थान दरबारी कढ़ाई के सम्भवतः प्रमुख प्राचीन केन्द्र थे। राज्याश्रय में सर्वाधिक विकसित होने व फलने-फूलने वाली कढ़ाई है : मुगल शैली की कढ़ाई। 'आयना-ए-अकबरी' में ऐसे शाही कारखानों का उल्लेख है, जहां मुगल शासकों द्वारा नियुक्त चुने हुए देशी व ईरानी कुशल शिल्पी साथ-साथ काम करते थे। इन कारखानों की स्थापना कैसे हुई., प्रबन्ध क्या था, कारीगरों की स्थिति क्या थी, इस बारे में स्पष्ट विवरण नहीं मिलते। पर इतना पता चलता है कि एक मास्टर शिल्पी के निर्देशन में दूर-दूर से आए शिल्पी न केवल काम करते थे, अपनी कला-कारीगरी दिखाने में होड़ भी लगाए रखते थे., 'न जाने किस के काम पर बादशाह की निगाह पड़ जाए और वह खुश हो, उसे पुरस्कृत कर दे'। यह पुरस्कार कभी-कभी जागीरों तक भी होता था, तरक्की तो थी ही। मुगल बादशाह स्वयं भी कारखानों का निरीक्षण करते थे और बेहतरीन काम की अच्छी समझ रखते थे। यह उन्नति उसी का फल थी।

इसके प्रमाण काफी मिलते हैं कि लाहौर, आगरा., फतेहपुर, अहमदाबाद, जयपुर और चंबा में दरबारी कढ़ाई की उत्कृष्ट शैलियां विकसित हुईं। कीमखाब, जरदोजी व कलाबत्तू का काम तो मुख्यतः मुगलों की ही देन है, जो ईरानी कारीगरों द्वारा प्रस्तुत किया गया था। औरंगजेब के राज्य में एक बड़े शाही कारखाने का वर्णन जिस फ्रेंच यात्री ने किया है, उसने जामे, पटके और चोलियों पर महीन जरी के काम की बहुत प्रशंसा करते हुए लिखा कि जरी के काम की चोलियां तो इतनी महीन थीं कि बेहद कीमती और खूबसूरत होते हुए भी उनका जीवन एक रात के लिए ही लगता था।

अन्य रेशम व जरी-कढ़ाई के उपकरण थे : हाथी की झूल, घोड़ों की काठियां., बड़े-बड़े फलक, छत्तर, फर्श की जाजमें., गाव तकिए, परदे आदि। जरी व कलाबत्तू के काम में रंगों की मीनाकारी, सूक्ष्म व जटिल कारीगरी देखते ही बनती थी। मुख्य नमूने थे : प्राकृतिक दृश्य बेलबूटे, पक्षी, हाथी, युद्ध के दृश्य आदि।

औरंगजेब के बाद मुगल साम्राज्य की पतनशील स्थितियों में ये बहुत से संरक्षित शिल्पी और कारीगर इन केन्द्रों से चल कर सारे उत्तर पश्चिम भारत में फैल गए और व्यावसायिक कढ़ाई का विकास होने लगा। लखनऊ की चिकनकारी, कश्मीरी कढ़ाई बाद में विकसित इसी व्यावसायिक कढ़ाई के नमूने हैं।

व्यावसायिक कढ़ाई

व्यावसायिक कढ़ाई 16वीं और 17वीं शताब्दी में बंगाल और गुजरात में अधिक पनपी। गुजरात सबसे बड़ा केन्द्र था–– सुप्रसिद्ध और प्रतिष्ठित। इसके पूर्व तेरहवीं शताब्दी में भी मार्को पोलो ने यहां की कढ़ाई और चमड़े के काम का वर्णन किया है और कच्छ-कढ़ाई को विश्व की सर्वाधिक उत्कृष्ट कढ़ाई ठहराया है। 16वीं-17वीं शताब्दी में तो निर्यात व्यापार का मुख्य अंग बन कर कच्छ-काठियावाड़ी कढ़ाई विश्वविख्यात हो गई थी। कैम्बे, पाटन., बारबोसा इसके मुख्य केन्द्र थे। डरबी शायर के हार्डविक हाल में कैम्बे की मुस्लिम मोची स्त्रियों द्वारा बनाया गया प्राचीनतम नमूना (1603) उपलब्ध है। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पुराने रिकार्ड में भारत से व्यापार की शुरूआत में कैम्बे की बनी हुई सफेद साटन पर विविध रंगों की रेशमी दुलाइयों
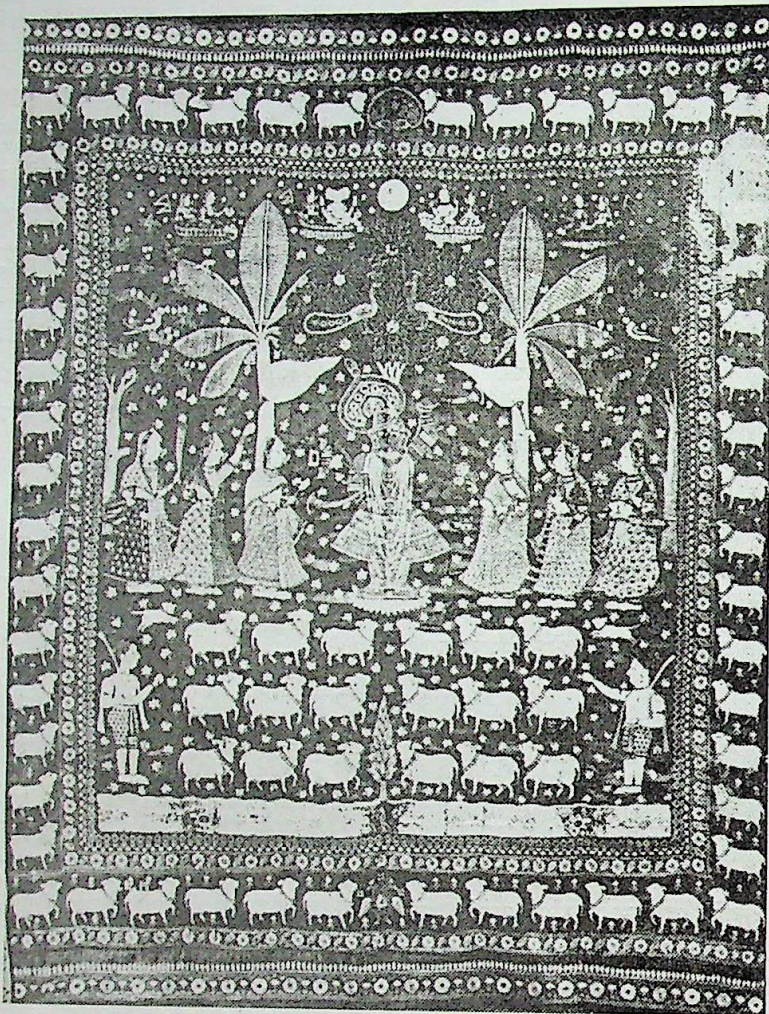
की खरीद का विशेष निर्देश है। इसके पूर्व का निर्यात-इतिहास नहीं मिलता। कोरे सूती कपड़े पर चटख रंगों के रेशम से जंजीरा टांके (चेन स्टिच) से यह भरवां कढ़ाई बनाई जाती थी। पाटन से ही बाद में 'पटोला' शैली का विकास हुआ। 18वीं शताब्दी के अनेक नमूने तो हमारे यहां आज भी उपलब्ध हैं। पर 1725 में छपी एलैग्जेन्डर हैमिल्टन की यात्रा-पुस्तक के अनुसार, तब तक इस कला में ह्रास आ चुका था, यद्यपि हमारे लिए 18वीं शताब्दी की गुजराती कढ़ाई भी कम आश्चर्यजनक नहीं। पर शिल्पी इस क्षेत्र से ही चल कर इधर-उधर बिखर चुके होंगे, इसका प्रमाण बाद में विकसित मिलती-जुलती सूरत शैली से भी मिलता है।

बंगाल में कलकत्ता से 23 मील उत्तर में सतगांव की कढ़ाई भी विदेशी निर्यात के लिए 16वीं-17वीं शताब्दी में बहुत प्रसिद्ध थी। पहले पुर्तगालियों ने व फिर अंग्रेजों ने इसे व्यापार का साधन बनाया। आज इस कढ़ाई के तीन अच्छे नमूने 'केलिको संग्रहालय' में मौजूद हैं। भारतीय व विदेशी पसंद दोनों तरह के नमूने इस कढ़ाई में बनाए जाते थे--हिन्दू पुराणों की कथाएं, समुद्र-मंथन, शेषनाग की शैय्या पर विष्णु, मत्स्यावतार आदि और 'ओल्ड टैस्टामेन्ट' की कथाएं, पुर्तगाली जहाज, नौकाएं, मछलियां आदि भी। पीले टस्सर जैसे 'मोनोक्रोम' या 'रा सिल्क' पर रेशमी धागों से हर इंच पर तस्वीरों वाली यह कढ़ाई विदेशियों के लिए एक अजूबा थी, जिसे 1585 में एक डच मैन ने 'हर्ब वर्क' या जड़ी बूटियों का काम लिखा। ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक खरीद में 'बांगला पिक्चर्स क्विल्ट्स' का महत्वपूर्ण उल्लेख है। इस कढ़ाई पर बंगाल के मंदिरों पर चित्रित टैराकोटा के नमूनों और पुर्तगाली सैनिक गतिविधियों--दोनों का समान प्रभाव है। पता नहीं, पुर्तगाल के पतन के साथ इसका क्या सम्बन्ध रहा कि आगे बंगाल के व्यापार में अब वैसे उत्कृष्ट नमूनों का उल्लेख नहीं मिलता? व्यावसायिक कढ़ाई के कुछ उत्कृष्ट नमूने अब 'विक्टोरिया एंड अलबर्ट म्यूजियम' लंदन में सुरक्षित हैं, कुछ भारतीय शिल्प-संग्रहालय दिल्ली में भी।

लोक कढ़ाई

लोक कढ़ाई में भारत के दो समृद्ध क्षेत्र थे--एक, उत्तर पश्चिम भारत और दूसरा, गंगा तलहटी क्षेत्र। पहले क्षेत्र में कच्छ-काठियावाड़ी, सिंध, पंजाब और उत्तरी राजस्थान आते हैं। दूसरे में बंगाल, बिहार और उड़ीसा के कुछ क्षेत्र। पंजाब की फुलकारी, बंगाल का कांथा, सिंधी और कच्छ-काठियावाड़ी कढ़ाई लोक कढ़ाई की कुछ उत्कृष्ट शैलियां हैं। इनमें से पंजाब के चंबा के रूमाल दरबारी शैली में कढ़ाई की ऊंचाइयों को छू गए। कच्छ-काठियावाड़ी लोक कढ़ाई के साथ दरबारी, व्यावसायिक और मंदिरों की कढ़ाई के उन्नत स्तरों तक भी गई, कांथा तथा फुलकारी अधिकतर स्थानीय विकसित लोकशैलियों की श्रेणी में रह गई और राजस्थानी कढ़ाई ने कई मिश्रित प्रभाव ग्रहण किए।

इन विभिन्न कढ़ाई-शैलियों का अपना एक अलग विकास-क्रम है, अपना अलग एक इतिहास है। यहां इस एक लेख में इस सब पर रोशनी डालना सम्भव नहीं है। प्राचीन भारतीय कला-शिल्प के आलेख-क्रम में उन पर अलग से ही लिखना ठीक होगा।

मकर संक्रांति की धूम

प्रभात कुमार सिंघल

उत्तर में हिमाचल से दक्षिण में कन्या-कुमारी तक वर्ष पर्यन्त पर्वों की धूम रहती है। पर्व जो सदियों से इस हरी भरी वसुन्धरा पर मनाये जाते रहे हैं और भारत की संस्कृति को निरन्तर मुखरित एवं पुष्ट करते हैं। नव वर्ष में मकर संक्रांति से लेकर दीपावली तक यहां की धरती पर अनेक नृत्य, गीत मेले होते रहते हैं जो भारत की सांस्कृतिक धरोहर है। माघ माह में जैसे ही सूर्य शीत की जड़ता को कम करता हुआ मकर राशि में प्रवेश करता है तो असम के अंचलों में मुखर हो उठता है। माघ का बिहू, दक्षिण में पोंगल, पंजाब में लोहड़ी, बंगाल में संक्रांति और समस्त उत्तर भारत में मकर संक्रांति, 14 जनवरी मकर संक्रांति से उषाकाल में कल छल बहने वाली सरिताओं पर भक्ति और भावना के मेले जुट जाते हैं स्नान, ध्यान और दान का पावन कार्य पूरे भारत की अपनी ही परम्परा है।

बहार बिहू की :

खेतों की हरियाली में मुस्कराते असम, नागालैंड, मणिपुर, अरुणाचल और मीजोरम अलग अलग संस्कृति और सभ्यता का दिग्दर्शन कराते हैं असम तो माघ माह में बिहू की बहार से मुखरित हो उठता है। यहां के कृषि प्रधान समाज का प्रमुख उत्सव है।

माघ में मनाये जाने वाले बिहू को भोगाली बिहू कहते हैं। इसके आयोजन के विषय में डिबूगढ़ की एक युवती ज्योति कालिया से एक बार भेंट हुई, जब वह कोटा में एक शिविर में भाग लेने आई थी। उसने बताया माघ माह में होने वाले बिहू नृत्य में लोक गीत एवं वाद्य यंत्रों के साथ लय मिला कर युवक-युवतियां थिरकते हैं। इस अवसर पर मेंहदी भी लगाते हैं। इसका आयोजन फसल काटने के उपलक्ष्य में होता है। लोग एक दूसरे के घर जाते हैं तथा मिठाइयां बांटी जाती हैं।

आकाश में उड़ती पतंगें

मकर संक्रांति पर आकर्षक पतंगबाजी मैच एवं पतंग प्रतियोगिताओं का आयोजन देखना हो तो चले आइये राजस्थान की शौर्य भूमि पर। गुलाबी नगर जयपुर में आसमान पतंगों की बहार से इन्द्रधनुषी हो उठता है। बड़े, बूढ़े, और बच्चे सभी उत्साह पूर्वक पतंग उड़ाने में पेच काटने में, मांझा सूतने में, कटी पतंगों को लूटने में लगे रहते हैं। इसे कनकौआ भी कहा जाता है। पतंग लोकप्रियता का पता इस बात से चलता है कि, एक अनुमान के अनुसार, अकेले जयपुर में ही हर साल 20 लाख रुपए तक के पतंग और डोर का कारोबार हो जाता है।

मकर संक्रांति पर यहां विधिवत पतंग प्रतियोगिताएं आयोजित की जाती हैं। जिन-में विजयी प्रतियोगियों को इनाम दिये जाते हैं। पतंग उड़ाना इस पर्व की परंपरा बन गई है जिसका निर्वाह बड़े ही उल्लास से प्रतिवर्ष किया जाता है।

तिल, गुड़ और खिचड़ी का दान :

तिल, गुड़ एवं खिचड़ी दान की परंपरा वैसे तो समस्त भारत में है परन्तु महाराष्ट्र में विशेष रूप से यह प्रथा प्रचलित है। नाना साहब, पेशवाओं की ओर से महाराष्ट्र में हर वर्ष पूना के पार्वती स्थान पर इस अवसर पर पांच दिन तक दाल व चावल से पकी खिचड़ी का दान असंख्य लोग किया करते थे। अन्तिम दिन बंटने वाली खिचड़ी स्वयं पेशवा बांटते थे। यह खिचड़ी दाल चावल की नहीं वरन मोहर, स्वर्ण एवं रुपयों की होती थी। यह खिचड़ी ऊंटों पर लाद कर ले जाई जाती थी।

हरिद्वार एवं इलाहाबाद (उत्तर प्रदेश) में भक्तगण कल्पवास करते हैं। इसके अनुसार वे एक माह पूर्व ही तटवर्ती किसी झोंपड़ी में रहना प्रारम्भ कर देते हैं। माघ के शुरू होने से पूर्व वे सूर्योदय से पहले तथा माघ शुरू होने पर सूर्योदय के पश्चात स्नान करते हैं। मकर संक्रांति के दिन यह कल्पवास पूर्ण होता है अन्तिम दिन भीष्म

तर्पण किया जाता है। यह परंपरा इस कथा पर आधारित है कि महाभारत में घायल हो कर भीष्म सूर्य के उत्तरायण में आने का इंतजार करते रहे और जब सूर्य उत्तरायण में आया तभी उन्होंने प्राण त्यागे।

मस्ती पोंगल की :

दक्षिण भारत में, विशेष रूप से तमिलनाडू में, मकर संक्रांति को पोंगल उत्सव के रूप में मनाया जाता है। यह उत्सव तीन दिन तक विभिन्न आयोजनों के साथ चलता है। लगभग एक महीने पूर्व लड़कियां पोंगल की तैयारियां प्रारम्भ कर देती हैं। विविध रंगों से रंगबिरंगी रंगोलियां मांडती हैं। त्यौहार वाले दिन उनकी परिक्रमा कर नाचती-गाती हैं।

मकान के आंगन में कंडे जला कर नये चावल, शक्कर तथा दूध मिलाकर खीर बनाते हैं। इसे ही वहां पोंगल कहा जाता है। इसके तैयार होने पर सूर्य की पूजा अर्चना की जाती है। संध्या काल में बैलों की दौड़ प्रतियोगिता एवं मनोरंजन हेतु मुर्गे व बकरे की लड़ाई कराने का भी प्रचलन है।

मदुराई में प्रसिद्ध है कि भगवान सुन्दरेश्वर पोंगल पर स्वर्ग आये और पत्थर के हाथी को गन्ना खिलाया। अतः इस स्थल पर पोंगल पर लोग स्नान कर व मंदिरों में दर्शनार्थ उमड़ पड़ते हैं।

चिड़ियों की मनुहार :

मकर संक्रांति पर चिड़ियों को चावल चुगाने की प्रथा उत्तर भारत में प्रचलित है। गुजरात में चिड़ियों की मनुहार की रोचक प्रथा का पता 1961 की जनगणना में मिलता है। साबर कांथा जिले के आदिवासी प्रातः इकट्ठे होकर देवकली नामक चिड़िया को पकड़ने जाते हैं। दो या तीन चिड़िया पकड़ वे जुलूस बना कर ग्राम के मुखिया के घर जाते हैं। वहां इन चिड़ियों को तिल के बीज खिलाये जाते हैं और तब उन्हें छोड़ दिया जाता है।

चिड़िया उड़कर यदि हरे वृक्ष पर बैठ जाती है तो उसे औसत वर्षा का प्रतीक माना जाता है परन्तु अगर वह सूखे वृक्ष पर बैठती है या दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर उड़ जाती है तो उसे खराब वर्षा का प्रतीक माना जाता है।

इसके पश्चात शाम को राम व रावण के मध्य युद्ध की याद में गेंद खेलते हैं और रात्रि को पुरुष व महिलायें मिलकर नृत्य करते हैं और अपने साथ लाया भोजन मिल कर करते हैं।

चिड़ियों के मनुहार की यह परम्परा किसी न किसी रूप में उत्तर प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा, पंजाब में भी है। खिचड़ी दान करना भी पावन कर्म माना जाता है। उत्तर भारत में इस पर्व पर प्रत्येक घर में तिल के लड्डू व खिचड़ी बनाई जाती है। सधवा नारियां इस दिन वस्तुएं मनसति हैं तथा परिवार के वयोवृद्ध लोगों तथा गरीबों में बांटती हैं। नव विवाहिताएं संक्रांति से प्रायः वे कोई नियम ले कर, वर्ष भर निभा कर, आने वाली संक्रांति पर पूरा करती हैं। इस प्रकार, मकर संक्रांति का यह पर्व भारत के विभिन्न हिस्सों में धूम धाम से मनाया जाता है।

मानस में अद्वैतवाद

डा० सरला शुक्ला

दर्शन के मूल में "दृश" धातु है जिसका अर्थ है देखना। सूक्ष्म प्रज्ञा चक्षुओं से सूक्ष्म तत्वों को देखना दर्शन के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसे देखने के तीन रूप हो सकते हैं जिन्हें क्रमशः ऐन्द्रिय प्रेक्षण, परिकल्पनात्मक ज्ञान अथवा सहजानुभव कह सकते हैं। इन्हीं को हम तथ्यों का निरीक्षण, तार्किक जिज्ञासा अथवा आत्मा की अन्तर्दृष्टि भी कह सकते हैं। अपने पारिभाषिक अर्थों में दर्शन, तत्व-ज्ञानआत्मा-ज्ञान या परमात्मा-ज्ञान का वाचक है। तुलसीदास ने अपने "मानस" में दर्शन के लिए ब्रह्म-विचार, तत्व-विचार और दार्शनिक के लिए ब्रह्मज्ञानी, ब्रह्म वादी, "परमारथ वादी" "परमारथ विंदक" तत्वदर्शी, अद्वैतदर्शी आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इस प्रकार उनके अनुसार परमार्थ रूप ब्रह्म राम, उनके अंशभूत जीव तथा जगत उनकी भक्ति व भक्ति साधनों का सम्यक् ज्ञान दर्शन है। भारतीय मनीषियों की भांति तुलसी ने अपने मुख्य ग्रन्थ "रामचरितमानस" में अनुबन्ध चतुष्टय की शैली का निर्वाह किया है। "अनुबध्नाति लोकानिति अनुबन्धः" ग्रन्थ विशेष में जो विषय प्रयोजन, सम्बन्ध और अधिकारी श्रोताओं की रुचि और प्रवृत्ति को बांध लेते हैं वही अनुबन्ध है। अपने विषय या प्रतिपाद्य वस्तु के बारे में तुलसी ने स्पष्ट कर दिया है कि "प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना" और ये राम या रामकथा भी ऐसी है कि जो "नाना पुराण निगमागम सम्मत: क्वचिद् अन्यतोऽपि" है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास का दार्शनिक मत अपनी मति और रुचि के अनुसार अनेक स्रोतों से ग्रहीत और पुष्ट है। उनका "मानस" दर्शन ग्रंथ नहीं है फिर भी अद्वैतवाद और विशिष्ट अद्वैतवाद के मूल तत्व "मानस", में सहज उपलब्ध हो जाते हैं। क्योंकि कवि और दार्शनिक दोनों ही मंगलमयी भावना से अनुप्राणित होकर जीवन की समीक्षा का चित्र प्रस्तुत करते हैं। तुलसी दर्शन के अनुशीलक विद्वान पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, श्री विजयानन्द त्रिपाठी, डा. बलदेव मिश्र तथा आचार्य पं. रामचंद्र शुक्ल, तुलसी को अद्वैतवादी मानते हैं। वे कहते हैं कि परमार्थदृष्टि से, शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से, गोस्वामी जी का अद्वैत मत मान्य है। यह अद्वैतवाद शंकराचार्य जी के द्वारा प्रतिपादित है।

शंकराचार्य के विचार से उपनिषदों का निचोड़, अद्वैत मत ही है जिसके अनुसार परमात्मा और जीवात्मा दो नहीं हैं, परमार्थतः एक हैं। यह नाम, रूप, गुण, लीला, धामवाला दृश्यमान जगत, परमार्थ सत्य नहीं है। सपने की भांति मिथ्या व भ्रामक है। **"ब्रह्म सत्यं जगत मिथ्या** जीवो ब्रह्मैव नापरः।" शंकराचार्य की अद्वैत विषयक स्थापनाओं को हम संक्षेप में इस प्रकार कह सकते हैं। **"सर्व खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन्** ब्रह्म सर्व व्यापक निर्गुण, चरम सत्य, ज्ञान स्वरूप, मन, बुद्धि, वाणी तथा इन्द्रियों से परे हैं (2) जीवात्मा परमात्मा ही है उससे भिन्न नहीं (3) सृष्टि मानव का भ्रम है मिथ्या है (4) सृष्टि के मिथ्यात्व का ज्ञान "सोऽहमस्मि" का मान कराता है (5) अविद्या या माया के कारण ही जीवात्मा सांसारिक झंझटों या बन्धनों में फंसती है। स्थूल रूप से शंकराचार्य के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म तथा मायावाद से सम्बन्धित पंक्तियां "मानस" में सरलता से मिल जाती हैं। उत्तरकांड में ज्ञान-दीप का रूपक प्रस्तुत करते हुए तुलसी कहते हैं :

(क) **सोहमास्मि इति वृत्ति अखंडा।**
दीप सिखा सोई परम प्रचंडा।
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा ।
तब भव मूल भेद भ्रमनासा ।।
उत्तर 117, 1, पृ. 984

(ख) **जय जय अविनासी घट घट वासी**
व्यापक परमानंदा।।
बाल 185, 1, पृ. 188

(ग) **राम सरूप तुम्हार, बचन अगोचर**
बुद्धि पर अविगत अकथ अपार,
नेति नेति नित निगम कह।।

× × × ×

(घ) **महिमा निगम नेति कहि कहही,**
जो तिहुं काल एक रस अहही।।

(ङ) **राम ब्रह्म चिन्मय अबिनासी**
सर्व रहित सब डर पुरबासी।

(च) **जगत प्रकाश्य प्रकाशक रामू**
मायाधीश ज्ञान गुन धामू।।

(छ) राम ब्रह्म परमारथ रूपा, अविगत अलख अनादि अनूपा ।

ब्रह्म का ही रूप सगुण अवतारी ईश्वर है:,

झुठेउ सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ।

जेहि जाने जग जाई हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई।

अगुन अरूप अलख अज जोई । भगत प्रेम बस सगुन सो होई ।

× × ×

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना।

× × ×

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो। मायापति सोई राम, दास हेतु नरतन धरेउ ।।

नयन दोष जा कहं जब होई, पीत बरन ससि कहं कह सोई ।जदपि विरज व्यापक अविनासी, सबके हृदय निरन्तर बासी।।

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता, अनुभव गम्य भजहि जेहि सन्ता असअब रूप बखानों जानां। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति माना।

जीव और ब्रह्म में तात्विक एकता है:

ईश्वर अंश जीव अविनासी, चेतन अजर सहज सुखरासी। सो माया वस भएउ गोसाई, बधेउ कीर मरकट की नाई।।

ज्ञान अखंड एक सीतावर, माया बस्य जीव सचराचर जो सबके रह ज्ञान एक रस, ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस।।

सो तें ताहि तोहि नहिं भेदा, बारि बीचि इव गावहि वेदा। गुरू की अनिवार्यता गोस्वामी तुलसीदास को स्वीकार है:

बिनु गुरू होई कि ज्ञान, ज्ञान कि होई विराग बिनु। गावहि वेद पुरान सुख कि लहिअ हरि भगति बिनु।।

सेवत साधु द्वैत मय भागे।

तीर्थाटन साधन समुराई, ज्ञान विराग जोग निपुनाई नाना कर्म धर्म ब्रत दाना संजम दम जप तप मख नाना

भूत दया द्विज गुर सेवकाई, विद्या विनय विवेक बड़ाई, जहं लगि साधन वेद बखानी, सब करफल हरि भगति भवानी।।

कैवल्य अथवा मोक्ष प्राप्ति प्रत्येक को अभीष्ट है किन्तु यह मोक्ष माया से मुक्ति भी है।

ज्ञान पंथ कृपान के धारा परत खगेस लगत नहिं बारा। जो निर्विधन पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पर लहई।।

अति दुर्लभ कैवल्य परम पद संत पुरान निगम आगम बरद।

इन पंक्तियों में शंकराचार्य के अद्वैतवाद और मायावाद का समर्थन है। मानस मंगलाचरण में गोस्वामी जी कहते हैं:

यनमायावशवर्ती विश्वमखिलं ब्रह्मादेवासुरा यत्सखादमृषैव भांति सकलं रज्जो यथा हे र्भ्रमः।।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधोति तीर्षावतां। बन्दोहं तमशेषकारणपरं रामास्यमीशं हरिम्।।

अयोध्याकांड को छोड़कर मानस के लगभग सभी कांडों में दार्शनिक विचार बिखरे पड़े हैं।

ब्रह्म अनामय अज भगवन्ता व्यापक अजित अनादि अनन्ता।।

× × ×

एके अनीह अरूप अनामा, अज सच्चिदानन्द पर धामा। व्यापक विश्वरूप भगवाना तेहि धरि देह चरित कृत नाना।

नाम और रूप परमात्मा की उपाधि हैं। इसका वर्णन भी शंकराचार्य के उपाधि वाद की भांति तुलसीदास ने बालकांड में किया है।

नाम रूप दुइ ईस उपाधि, अकप अनाम सुस मुझि साधी।

को बड़ छोट कहत अपराधु, सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू।

देखिअहि रूप नाम अधीना, रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना।

रूप विसेष नाम बिनु जानें, करतल गत न परहिं पहिचाने।।

सुमिरित नाम रूप बिनु देखें, आवत हृदय सनेह बिसेषें।।
नाम रूप गति अकथ कहानी, समुझत सुखद न परति बखानी।।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी, उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी।।

राम नाम मनि दीप धरू जीह देहरीं द्वार। तुलसी भीतर बाहरेहुं जो चाहसि उजिआर।

नाम जीहं जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।

ब्रह्म सखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।

तुलसी दर्शन के अनेक सिद्धांत शंकर मत के अनुकूल हैं। ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। वही परमार्थ तत्व है। परमाद्वैत, एकरूप और कूटस्थनित्य है। वह निर्गुण अफल, निरवयव, निर्विकार, अव्यय, निर्मल, देश काल परिच्छेद रहित, संसार धर्मवर्जित, निरूपाधि, अप्रमेय एवं अजेय है। वेदांतवेद्य और अनिर्वचनीय है। विश्व का अभिन्न निमित्तोपादन है। जगत के जन्म, स्थिति और प्रलय का कारण है। ईश्वर सगुण है, ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल ,वीर्य, तेज आदि से सदा सम्पन्न है। यह सृष्टि व्यापार उसका लीलाविलास है। वह सन्तों के परित्राण आदि के उद्देश्य से अवतार धारण करता है।

परमेश्वर की अनिर्वचनीय शक्ति का नाम माया है। यह विश्व की रचना तथा जीव के बंध का हेतु है। माया ही प्रकृति है ईश्वर उसका प्रेरक है। उसी से महत्व आदि के क्रम से सृष्टि की रचना हुई है। जगत असत्य है, स्वप्न और माया रचित गंधर्वनगर के समान दृष्टनष्ट स्वरूप है, रज्जु में सर्प, शुक्ति में रजत, किरण में जल आदि की भांति अपने अधिष्ठान ब्रह्म में सत्य भासता है। किन्तु वह व्यवहारतः सत्य है, स्वप्न की भांति सर्वथा अलीक नहीं है। मोक्षपरक वेद शास्त्र भी व्यावहारिक है। माया की भांति माया-निर्मित जगत भी अनिर्वचनीय है। जीव

अनेक और ईश्वरांश है। जीवन कर्ता और भोक्ता है। कर्म से ही जगत का चक्र चलता है। कर्मानुसार ही जीव को अनेक शरीर धारण करने पड़ते हैं। उसके स्थूल आदि तीन शरीर, तत्सम्बन्धी जाग्रत आदि तीन अवस्थाएं तथा अन्नमय आदि पांच कोश हैं। जीवात्मा नित्य है और जीर्ण वस्त्र त्याग कर नवीन वस्त्र धारण करने वाले नर की भांति, एक शरीर को त्याग कर, दूसरे शरीर में संक्रमण करता है। उसके दुःख का कारण अविद्या है। अविद्यारूप हृदयग्रंथि का मोक्ष ही मोक्ष है। ब्रह्मात्मैकत्वबोध से मुक्ति की प्राप्ति होती है। कर्म से मुक्ति नहीं मिल सकती, कर्मनाश का उपाय ज्ञान है। ईश्वरार्पित कर्म से बंध नहीं होता। ज्ञान मोक्ष का साधन है। मात्र शास्त्र ज्ञान पर्याप्त नहीं है। अनुभव, विज्ञान, आवश्यक है। ब्रह्मज्ञानी संसार के बंधन में नहीं पड़ता। कर्म आदि ज्ञान के साधन हैं। फलतृष्णारहित कर्मयोग से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अतएव ज्ञान, निष्ठा, योग्यता के लिए वर्णाश्रमधर्म का पालन अपेक्षित है। विवेक, विराग, शमादि और मुमुक्षत्व ज्ञान अंतरंग साधन हैं। मुक्तात्मा ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। आत्मसाक्षात्कार या ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर देहावसान के पूर्व की आत्मा की जीवन्मुक्ति हो जाती है। ज्ञान के सभी साधनों में गुरु का स्थान अन्यतम है। श्रुति सिद्धान्त यही है कि आचार्यवान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। तुलसी काव्य में अद्वैतवाद की चर्चा है किन्तु हमें यह मान कर चलना पड़ेगा कि तुलसीदास दार्शनिक आचार्य नहीं थे। उनका दृष्टिकोण समन्वित था। अतः भारत भूमि में उनके युग तक प्रस्तावित जितने भी दार्शनिक मतवाद थे उन सभी के मुख्य सिद्धांतों को भक्तिभाव की एकसूत्रता में पिरोकर उन्हें जनसुलभ करना ही उनका अभिमत है।

कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन

डा० (श्रीमती) हर्ष नन्दिनी भाटिया

प्राकृतिक सौंदर्य की रम्यस्थली बृज प्रदेश की छटा अत्यधिक मनमोहक होती है। अभी कुछ दिन पूर्व ही तो गेंदा हजारा खिलखिला रहा था, फिर गुलाब महकने लगा और बेला अपनी श्वेत पंक्ति से हास्य छटा बिखेर कर आनन्दित कर रहा था कि कदम्ब की मुग्ध कर देने वाली मादक सुगन्धि ने मानव-मन मोहित कर लिया।

अजब सुगन्धि आली। उड़ रही,
झूकी है कदम्ब की डार।।

कदम्ब बृज प्रदेश का सुप्रसिद्ध फलदार वृक्ष है। यह भारतवर्ष के अतिरिक्त नेपाल की तराई में, हिमालय की तलहटी में, बर्मा के पूर्वी भाग में, बहुतायत से मिला करता था।

बृज प्रदेश की आनन्दमयी भूमि के बीच में श्री यमुना मंथरगति से कलकल करती बहती है। नीला स्वच्छ जल बृज की शोभा को द्विगुणित करता है। यमुना के किनारे-किनारे कदंब के वृक्ष सुशोभित हो रहे हैं। ये फूलों से लदे हुए हैं और इन पर भ्रमर गुंजार कर रहे हैं। कृष्ण और बलराम की लीलाभूमि वृन्दावन में

अधिकतर कदम्ब के वृक्ष रहे हैं। पद्म-पुराण में स्वयं भगवान ने अपने श्रीमुख से कहा है:

कंदबमूल आसीनं पीतवाससमुद्भवम् वनं वृन्दावनं नाम नवपल्लव-मंडितम्।।

संस्कृत भाषा में "कदम्ब" शब्द प्रयुक्त होता है। हिन्दी में कदंब और बृजभाषा में "कदम" का ही प्रचलन है। कदम्ब के अनेक पर्यायवाची नाम भी मिलते हैं गंध, तूल, नीप, मदरा, सुवांसमद, हरप्रिय, प्रियक, सुरभि, ललनाप्रिय, कर्णपूरक आदि। भागवत आख्यान के अनुसार महामुनि कर्दम ऋषि ने कदम्ब वृक्ष के रूप में बृज में अवतार लिया है। इस कारण पवित्र वृक्षों में कदम्ब का वृक्ष सम्मिलित किया जाता है।

कदम्ब का वृक्ष 30 फीट तक ऊंचा होता है और इसकी परिधि दो से तीन मीटर तक होती है। इसकी डालियां झुकती हुई नोकदार होती हैं। इसके पत्ते महुए से छोटे और चमकीले होते हैं। बादल की गरज और आषाढ़ की प्रथम फुहार इसकी कलियों को दुलरा जाती है और वर्षा ऋतु के पग की आहट पाकर यह एक साथ पुष्पित होकर स्वयं को पीले सुगन्धित फूलों से सुसज्जित कर देता है। इसकी मन्द सुगन्ध सम्पूर्ण बृजमण्डल को सुवासित कर देती है। भ्रमर गुंजार करने लगते हैं। रूप और सौन्दर्य का धनी यह पेड़ बादलों की गरज को बड़े ध्यान से सुन लेता है।

वर्षा में जब कदम्ब फूलता है, तब सम्पूर्ण वृक्ष हल्के पीले रंग के गोलाकार पुष्पों से लद जाता है। ये गोल-गोल पीले फूल लड्डू के आकार के होते हैं। पीले रंग की किरणों के झड़ जाने के बाद गोल हरे फल लगे रह जाते हैं, जो पकने पर लाल रंग के हो जाते हैं। ये फल स्वाद में खट्टे-मिट्ठे होते हैं। इन लाल फूलों की डारन पे डोलत हैं अंगारन के पुंज हैं" कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसकी सघन छाया अति शीतल होती है। बृज में कदम्ब की अनेक उपजातियां भी प्राप्त होती हैं जिनमें श्वेत, पीताभ और लाल रंग मिलते हैं। द्रोण जाति के कदम्ब भी विशेष रूप से पाये जाते हैं। इनके पत्ते दोनों की भांति मुड़े होते हैं अतएव इन्हें "द्रोण कदम्ब" कहते हैं। कदम्ब प्रायः सफेद, पीले रंग के फूलों से सजे हुए होते हैं, किन्तु "कुमुदवन" में लाल रंग के कदम्ब मिलते हैं।

गोवर्धन क्षेत्र में परिक्रमा मार्ग तथा समीपवर्ती भागों में जो वृक्ष लगाये गए हैं उनमें कई प्रकार के कदम्ब सम्मिलित किये गए हैं। इनके पत्ते विभिन्न प्रकार के होते हैं। इनमें फूल तो बड़े आकार के लगते हैं किन्तु सुगन्धविहीन होते हैं।

जिन उपवनों में अनेक कदम्ब के वृक्ष लगाये जाते हैं अथवा लगे हुए हैं, उन्हें "कदम्बखण्डी" कहा जाता है। देखा जाए तो बृज में सुरक्षित वनों के रूप में ये वनखंड और जहां कहीं भी कदम्ब के वृक्षों की बहुलता थी, उन्हें "कदमखण्डी" नाम दिया गया कदम्बखंडी के रूप में रमणीक, सुवासित तथा सुन्दर उपवनों में लोग अपना निवास बना लेते हैं। ऐसे सुषमास्थल एकान्त होने के कारण बृजप्रदेश के अनेक भक्त और महात्माओं की साधना-स्थली रहे। अनेक कदम्बखंडी बृजप्रदेश में थे। कवि जगतनन्द ने चार खंडियों का वर्णन किया है:

दोहि सुनहरा, पास गिरि, जल-बिहार नंदगांव। कदमखंडि बृज चार हैं, जगतनंद इहि ठांव।।

इसके अतिरिक्त कुमुदवन, बहुलावन, पेंठा, श्यामढाक, पियासा, दोमिल वन, कोटवन और करहला आदि स्थानों पर कदम्बखंडियां प्राप्त होती हैं। कदम्बखंड तीर्थ भी मथुरा की परिक्रमा करने वालों के मार्ग में पड़ता है जहां चर्चिका देवी के दर्शन करते हैं। कमई स्थान बृजप्रदेश में यात्रा का एक पड़ाव-स्थल है जिसको कामना वन भी कहते हैं। यहां की कदम्ब-खण्डी में मुचकुन्द ऋषि की गुफा तथा उनका तपस्यास्थल है।

प्राचीन काल में कदम्ब के फल के रस से प्राप्त पदार्थ ही "कादम्बरी" माना गया है जो देवताओं को प्रिय था।

जहां पर्यावरण को शुद्ध रखने का कदम्ब का महत्व है वहां इसको पवित्र तथा पुनीत भी माना गया है। बृज की लीला स्थली इन्हीं कदम्बखंडियों के उपवनों में है। राधाकृष्ण की लीलाएं कदम्ब की गहन छाया और सुगन्धित वातावरण के महकते स्थलों के बीच रचाई गई। इस वृक्ष का संबंध अनेक लीलाओं से जुड़ा हुआ है— बंशी लीला, चीरहरण लीला, गोचारण लीला, नाग लीला, हिंडोला लीला और सबसे महत्वपूर्ण रास लीला आदि।

बंशीलीला में कृष्ण कदम्ब के पेड़ तले खड़े होकर बंसी द्वारा गोपियों का नाम ले लेकर बुलाते हैं। कभी पेड़ पर चढ़कर मुरली की मधुर ध्वनि बजाते हैं जिसे सुनकर गोपी-ग्वाल उनके समीप पहुंचने को व्याकुल हो उठते हैं। मनुष्यों की क्या कहें, देवता भी मोहित हो जाते हैं:

मोहन की बंसी बजी, तीन लोक ध्वनि छाय। सुरनर मुनि मोहित भए वर्ण कियो न जाय।।

केरल के कदली और नारिकेल वृक्षों के वैभव में जीवनयापन करने वाले कविवर भी यमुना-पुलिन के कदम्ब के वृक्षों तले बांसुरी बजाते हुए कृष्ण की छवि को कल्पना से निहारते हैं:

जमुना किनारे प्यारी कदमतर मोहन, बांसुरी बजावे सखी कुंज भवन में।।

चीरहरण लीला में कृष्ण परमात्मा के, गोपियां मर्यादा जीव की, यमुना संसार की, चीर संकोच तथा लज्जा की और कदम्ब ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान रूपी कदम्ब के स्वर्णिम आलोक में उनके संकोच तथा लोक-लज्जा का आवरण धीरे-धीरे हट जाता है। यही चीरहरण लीला का रहस्य माना जाता है।

गोचारण लीला में कृष्ण गाय चराने जाते हैं। गायें दूर-दूर तक चली जाती है। एक स्थान पर एकत्र करने के लिए बंशी में टेर कर बुलाते हैं और कदम्ब के वृक्ष की छांह में वे इकट्ठी हो जाती हैं:

"फूल कलिन्दजा के घनश्याम,
कदंब की छांह में वेन बजावें।
नाम सुनाय सुना अनेकन, गायन कों
निज पास बुलावें।।"

शरद पूर्णिमा की चांदनी छिटक रही थी! रात्रि की शांत और मनोहर सुखद दृश्य, यमुना तट की रमणीक शोभा, किनारे पर कदम्ब के फूलों की मादक सुगन्ध बिखरी हुई है! शीतल मन्द सुगन्धित पवन प्रवाहित हो रही है! ऐसे मनमोहक वातावरण में कृष्ण के मन में रासलीला के बहाने राधा एवं समस्त गोपियों के मन की अभिलाषा पूर्ण करने की इच्छा जागृत हुई। कदम्ब के वृक्ष के तले खड़े होकर ही उन्होंने मुरली में मधुर स्वर फूंके। मुरली की मधुर धुन सुनकर सुर-नर, मुनि मोहित हो गये! पशु-पक्षियों ने अपनी सुध-बुध भुला दी। नदी की गति अवरुद्ध हो गई। चन्द्रमा भी अचल हो गया। ब्रजबालाएं व्याकुल होकर मुरली की धुन की ओर अनेक प्रकार के कार्य-कलाप त्यागकर दौड़ पड़ीं:

कदंब तर ठाड़े पिय प्यारी, मोहन के सिर मुकुट विराजत, इत छह-रिया की सारी।

प्रकृति के सौन्दर्यपक्ष में कदम्ब अद्वितीय है। यही कारण है कि मणिपुरी नृत्य में कदम्ब वृक्ष के नीचे नृत्य प्रदर्शित किये जाते हैं। कदम्ब की मादक, मोहक और मन्द सुगन्ध कवियों का प्रिय विषय रहा। महाकवि विद्यापति ने वसंत गीत में जमुना-तट पर कदम्ब वृक्षों का विशेष वर्णन किया है जिसकी सुरभित छाया के नीचे कृष्ण अपनी लीलाएं करते थे। उनके गीतों में कदम्बेरि, बेल कदंबक तथा कदम्बक का उल्लेख हुआ है :—

नवनव पल्लव सेज ओछा ओल सिर
दहु कदम्बेरि माला।

सूरदास ने अनेक स्थलों पर कदम्ब वृक्ष का उल्लेख किया है। बृज के अन्य वृक्षों के साथ कदम्ब भी है:

कहि धों कुंद कदम्ब, बकुल, बट,
चम्पक, ताल तमाल।

लोकप्रिय कवि रसखान पठान होकर भी बृज और बृजभाषा के प्रेम में पगकर ही परम वैष्णव हो गए। इनकी कविता अत्यधिक भक्तिभाव से पूरित है। बृज में ही पुनर्जन्म लेने की उनकी उत्कट अभिलाषा है:

मानुष हों तो वही रसायन, बसों
बृज गोकुल गांव के ग्वारन
जो पशु हों तो कहा बस मेरों,
चरों नित नन्द की धेनु मंझारन।।

पाहन हों तो वही गिरि को जो
धरयो करछत्र पुरन्दर कारन।
जो खग हों तो बसेरों करों, वही
कालिन्दी कूल कदम्ब की डारन।।

वैद्यक दृष्टि से यह फल भारी, विरेचक, सूखा, वायु कफ को बढ़ाता जरूर है पर त्रिदोष को दूर करने वाला और पौष्टिक तथा कान्तिवर्द्धक बताया जाता है। इसकी छाल का चूर्ण भी बनाया जाता है।

आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व वृन्दावन में कदम्ब के वृक्षों के विस्तृत घने जंगल थे। महाभारत में इसका विवरण मिलता है। आज मथुरा और भरतपुर के बीच केवल कुछ वृक्ष ही अवशिष्ट हैं। पर्यावरण विभाग, वन-विभाग को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए जिससे कम-से-कम उन सभी स्थानों पर कदम्ब के वृक्ष लगा दिए जाएं जहां कदम्बखण्डी होने की सूचना मिलती है।

गुलदस्ते के फूल खिले हैं

रंग बिरंगे फूलों से
भरी हुई है बगिया सारी
सुरभित होती सभी दिशाएं
शोभा इसकी अनुपम न्यारी।

भाँति-भाँति के फूल खिले ये
मिलन-सूत्र में बंधे हुए हैं,
भाषा वेश अलग होकर भी
दिल से केवल एक बने हैं।

अद्भुत इनकी नीति प्रीति है
स्वाभिमान सबका एकल है,
भेदभाव का नाम नहीं कुछ
समता ही सबका सम्बल है।

हिंसा से है शांति असंभव
हम सबको बतलाते आए,
किंतु नहीं कमजोरी है यह
शत्रु जीतते हर दम आए।

कहने को बहु भाषाभाषी।
मन से केवल भारतवासी,
गुलदस्ते के फूल खिले ज्यों
नीले, पीले, लाल, गुलाबी।

एक जाति है, एक धर्म है
भारत माँ के हैं सपूत सब,
तन-मन-धन अर्पित करने में
भला हटे पीछे हम सब कब?

मदन गोपाल शर्मा

भारतीय संस्कृति में कृष्णाष्टमी

—डा० मृत्युँजय उपाध्याय

भारतीय संस्कृति देशकाल, पात्र एवं परिस्थिति के अनुसार समय समय पर हुए अवतारवाद का समर्थक रही है। 'अवतार' का अर्थ होता है अवतरण अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर आना। भगवान नाना लीलाओं, नाना रूपों में भिन्न-भिन्न अवतार ग्रहण करते आए हैं। अवतार का मूल कारण है धर्म की हानि से जगत की रक्षा, धर्म की संस्थापना और सज्जनों की रक्षा। भगवान कृष्ण ने स्वयं अपने अवतार के कारणों का उल्लेख किया है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय: साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भावामि युगे युगे।।

हमारा वैदिक मंत्र है "असतो मा सद्‌गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय"-- हमें असत् से सत् की ओर और अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलें। हमारी अधोगामिनी चेतना उत्तरोत्तर उर्ध्वमुखी होती चले इसी का प्रयास संस्कृति का मूल उद्देश्य है। तत्वत: अंधकार और असत् की कोई सत्ता नहीं होती--प्रकाश और सत् का अभाव ही दोनों के अस्तित्व का कारण है। कहना नहीं होगा कि अवतारवाद की सुदीर्घ परंपरा से कृष्णावतार का महत्व अन्यतम है। धर्म कभी मरता नहीं संस्कृति की जड़ सूखती नहीं। होता इतना ही है कि असत् तत्व की बाढ़ आ जाती है और सत् का अस्तित्व डगमगाने लगता है। असत् तत्व इतने दुर्धर्ष और बलवान होते हैं कि जल्दी उनसे जूझना सम्भव नहीं होता। इसलिए भगवान् को पृथ्वी पर आना पड़ता है। दुर्गा को रक्तबीज का पान करना पड़ता है, जिससे उनकी संख्या लक्ष्यगुनित न होने पाए। राम को बंदर, भालू की सेना का गठन कर अनार्य संस्कृति के प्रतीक रावण का वध करना पड़ता है, जो आर्य संस्कृति की प्रतीक सीता का हरण करता है। इस प्रकार मनुष्य क्या भगवान तक को आसुरी शक्तियों से जूझने का साहस जुटाना पड़ता है।

कंस, कालियनाग, शकटासुर, अघासुर, बकासुर, चानूर मानूर आदि आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं और सच्चिदानंद (सत्+चित्+आनंद) ब्रह्म अवतरित होकर उनका मूलोच्छेदन करते हैं। कौरव बलशाली होने के कारण अहंकार और मोह की जड़िमा से आबद्ध है। ऐसे लोगों में कभी विवेक का प्रभात नहीं होता। चाहे कौरव हो, चाहे कंस, चाहे रावण-- प्राणपन से जूझकर वे अपनी वीरता का परिचय अवश्य देते हैं पर भगवान उनका नाश कर भागवत धर्म में एक अध्याय और जोड़ देते हैं। ऐसे अवतारी पुरुष न केवल भगवान होते हैं, वरन् युगनेता व भारतीय संस्कृति के प्रेरक, रक्षक और पोषक होते हैं। कालिय नाग का ही एक उदाहरण लें। वह सांप भर नहीं है, वरन आसुरी शक्ति का प्रतिनिधि बनकर आया है। जन सामान्य के लिए पेय जल को विषाक्त बनाने, संस्कृति की जड़ खोदने। कौन नहीं जानता कि भारतीय संस्कृति के विकास में नदियों का क्या महत्व है। यमुना ऐसी सदानीरा नदी का जल विषाक्त हो जाए, तो उसके किनारे बसने वाली जनसंस्कृति पर क्या गुजरेगी। इसीलिए युगपुरुष, लोकनायक कृष्ण कालियनाग का दमन करते हैं और इस बात का अहसास करा देते हैं कि उनका अवतार तीनों लोकों के उद्धार हेतु हुआ है--

विषधारी मत डोल की मेरा आसन बहुत कड़ा है

कृष्ण आज लघुता में भी सांपों से बहुत बड़ा है

आया हूं संसार बीच उद्धार लिए जनगण का

फन पर तेरे खड़ा हुआ हूं भार लिए त्रिभुवन का

बढ़ बढ़ा नासिका रंध्र में मुक्ति सूत्र पहनाऊं

तान तान कण व्याल कि तुझ पर मैं बांसुरी बजाऊं

व्याल विजय : दिनकर

कृष्ण के जमाने में भी यह संकट था--प्रवृत्ति और निवृत्ति का संघर्ष। आज प्रवृत्ति को पालने, पोसने और पूर्ण करने के प्रति तो हम कटिबद्ध हैं, पर निवृत्ति की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखते। द्वापर में दोनों के मध्य सामंजस्य और संतुलन पर काफी बल था, जरा भी संतुलन बिगड़ा कि सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था क्षत-विक्षत हो जाती थी। जमाना संतों, विवेकशीलों का था, परन्तु आज के संकट का मूल कारण प्रवृत्ति की प्रधानता है। सच पूछिए तो, संस्कृति युद्ध नहीं, समझौते का नाम है। संसार में आज जो अशांति देख रहे हैं उसका कारण दुनिया का पूंजीवाद और समाजवाद दो शिविरों में बंटना नहीं, वरन आज के संकट का कारण निवृत्ति और प्रवृत्ति के संघर्ष में निवृत्ति की पराजय है। जिस प्रकार निवृत्ति की अति से दीनता और दौर्बल्य बढ़ता है उसी प्रकार प्रवृत्ति की अति से राक्षसी वृत्ति को बढ़ावा मिलता है। हम शांति, सुव्यवस्था, समानता के आकांक्षी हैं, तो दोनों के मध्य संतुलन स्थापित करना होगा। दिनकर लिखते हैं--

"प्रवृत्ति की गाढ़ी स्याही में जब तक निवृत्ति का पानी मिलाया नहीं जाएगा, तब तक शांति की कविता नहीं लिखी जा सकती।"

कृष्ण, गीता में प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्व से बचने का एक उपाय बताते हैं--'शरणागति। मामेकं शरणं व्रज'--तुम मेरी शरण में आ जाओ। जहां कर्ता होने का भाव है--मैं करता हूं। मेरी यह उपलब्धि है, वहीं प्रवृत्ति को प्रश्रय और अहंकार को पोषण मिलता है जहां संचालक, नियामक कोई और है, आप निमित्त भर हैं। 'निमित्त मात्र भव सव्यसाची धनंजय:' अर्थात् हे अर्जुन तुम निमित्त भर हो आओ। वहां न प्रवृत्ति और निवृत्ति का प्रश्न उठता है और न हार जीत का--वह तो स्थितप्रज्ञ हो जाएगा। शरणागति से अहंकार का तिरोहण होता, फिर जायाजये, लाभालाभौ की स्थिति आ जाती है। उसकी प्रज्ञा की लौ जरा भी नहीं हिलती, जरा भी नहीं कांपती, वह रहती है सदा स्थिर, निष्कंप। जीत से न उसकी महिमा बढ़ती है, और तेज नहीं घटता कभी जीवन में हार से--वह तो विकारों के पार चला जाता है। निर्द्वन्द्व, मुक्त, वीतराग, जो भी कहा जाए।

हमारी संस्कृति आत्मा को श्रेय मानती है और उसके उत्थान तथा सर्वव्यापकता की विश्वासी है। इसीलिए वह सभी जीवों में (पदार्थों में भी) आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करती है--

'आत्मवत् सर्वभूतेषु य: पश्यति स: पंडित:'

और 'दया कौन पै कीजिए का पै निर्दय होय ।

साईं के सब जीव हैं कोड़ीं कुंजर दोय ।।'

सब जीवों में परमात्मा अंश की स्वीकृति आत्मा के सर्वव्यापक प्रसार का द्योतक है

और उधर कृष्ण साफ-साफ कहते हैं--हे अर्जुन, मुझे आत्मा जान, मुझ में अपने को देख और सब कुछ छोड़ दे मुझ पर।' इस प्रकार कृष्ण और गीता भारतीय संस्कृति के विभिन्न आयामों को न केवल औचित्य की वाणी देते चले हैं, वरन् उसे विकास के अवसर भी देते गए हैं।

हमारी संस्कृति कहती है--'चरैवेति चरैवेति' अर्थात् चलते चलो, चलते चलो। यह चलना कर्तव्यपरायणता का व्याख्यान है। कर्मतत्परता का प्रेरक है। कृष्ण कहते हैं 'योगः कर्मसु कौशलम्'। सांसारिक जीवों को योग और कर्म की दीक्षा साथ-साथ। कर्म कौशल को उन्होंने योग कहा न कि उसका पर्याय, उसके समान बताया। एक लकड़ी चीरने वाले तथा लकड़ी चीरने में यदि अभेद हो जाता है, मिट जाता है दोनों का अंतर, साधक साध्य एक हो जाते हैं तो वही योग है। योग जोड़ने का काम करता है। दो को मिलाता है। यहां भी मिलन है। जोड़ है। योग है। पर इसके साथ चाहिए पूरी तन्मयता, पूरा मनोयोग। औपचारिकता और आधे हृदय से काम चलने वाला नहीं है।

कर्मतत्परता तो बनी रहे पूरी उत्कटता और समग्रता के साथ, पर फलाशा उसकी सघनता को लील नहीं जाए। फलासक्ति की तीव्रता और ललक के कारण कहीं कर्म के सोपान को लांघते फांदते हम फल की मंजिल पर पहुंचने का दिवास्वप्न न देखने लगें, प्रयत्नलाघव के आदी नहीं हो जाएं, इसलिए निष्काम कर्मयोग का संदेश दिया कृष्ण ने--'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।' यहां कहीं फल का निषेध नहीं, न फल के प्रति विरक्ति का भाव है, वरन् कर्म के प्रति निष्ठा हो, पूरी ईमानदारी से कर्म हो--फल तो उसका आनुषंगिक रूप है, जो मिलना ही है। कर्म उत्तम तो फल उत्तम, परंतु उत्तम फल के लिए ललक ऐसी बढ़ जाए कि उत्तम कर्म उपेक्षित हो, तो फल कहां सुलभ है? फलासक्ति की इसी दुर्दमनीय लालसा के कारण आज कर्म की उपेक्षा हो रही है। फलतः समाज, व्यवस्था, संस्कृति सब पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। विश्व की कोई भी संस्कृति हो, सब में कर्म पूजा का विधान है और उसे ही ईश्वर का पर्याय माना गया है। निष्काम समर्पण की अलख जगाकर कृष्ण एक ओर कर्म पर पूरा बल देना और दूसरी ओर मनुष्य के कर्तापन किंवा अहंकार को मिटाना चाहते हैं। संस्कृति 'अहं' के 'इदम्' में विसर्जन की आकांक्षी है, कर्मवाद को रोपने की विश्वासी है, जिनके दर्शन कृष्ण कराते हैं।

प्रति वर्ष कृष्णाष्टमी का यह पावन पर्व हमारी सांस्कृतिक परम्परा को सुदीर्घ करता है और इस बात के लिए आश्वस्त करता है कि जहां जहां अत्याचार, अनाचार, व्यभिचार और दुराचार है, धर्म की ग्लानि है, सज्जन संकटापन्न हैं, वहीं कृष्ण हैं। कृष्ण के हाथ सदा असत् और अन्याय के विरोध में उठने के लिए तैयार हैं। प्रति वर्ष एक निश्चित तिथि को कृष्ण का जन्म लेना हमें यह बोध कराता रहता है, 'यतो धर्मः ततो जयः' और जहां कृष्ण हैं वहीं जय है क्योंकि वे कर्म का दामन थामने वाले हैं। भरी सभा में द्रौपदी को नग्न करने की साजिश करने वाले जरा खबरदार हो जाएं कि 'निबहो बांह गहे की लाज' को सार्थक करने वाले कृष्ण आज भी विद्यमान हैं। सार्त्र कहता है कि चुपचाप शोषण सह लेना, विरोध का मूक स्वर भी नहीं निकालना इस बात का सबूत है कि शोषण में हमारी पूरी साझेदारी है। हम पिसते चलें, हम आसुरी शक्ति के आगे गिड़गिड़ाएं, इससे अच्छा है हम अपने आपको पहचानें, अपनी अस्मिता की तलाश करें। महाभारत के युद्ध में कृष्ण ने अर्जुन को क्या दिया? केवल बोध करा दिया उसके क्षात्र तेज का अर्जुन को अपने आपकी पहचान करने की दृष्टि भर दी--फिर तो अर्जुन ने अपनी वीरता का कीर्तिमान स्थापित कर दिया। काश, कृष्णाष्टमी में हम भी अपने आपको पहचान पाते और जूझने, लड़ने की शक्ति अर्जित कर पाते। इसी से हमारी संस्कृति के कुसुम खिलेंगे।

भारतीय पर्व और मांगलिक अलंकरण

—संतोष देवी

शार्ङ्गधर पद्धति का एक श्लोक है:—रत्नानि विभूषयंति योषा भूषयंत वनिता न रत्नकांत्या अर्थात् नारियां ही भूषणों को शोभित करती हैं, भूषण उन्हें भूषित नहीं करते।

यदि ऐसा मान लिया जाए तो फिर नारी को भूषण पहनने अथवा अलंकृत होने की आवश्यकता क्यों पड़ीं? संभवतया प्रारम्भ में अलंकरण मांगलिक रूप में ही धारण किए गए होंगे। कालांतर में उन्होंने फैशन अथवा श्रृंगार का रूप धारण कर लिया होगा। तार्किक आधार पर ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि आभूषणों के प्रचलन से पूर्व नारियां व नर विशेष पर्वों अथवा अवसरों पर अपने-आपको पुष्पों से सुसज्जित करते थे। उसी परम्परा में बाद में आभूषणों अथवा अलंकरणों का प्रचलन हुआ और उसी के फलस्वरूप सामाजिक अथवा धार्मिक उत्सवों पर मांगलिक अलंकरण धारण करने की प्रथा हजारों वर्षों से बराबर चली आ रही है।

संस्कृत के "अलंकरण" शब्द से ही "अलंकार" शब्द बना है। सामाजिक अथवा धार्मिक पर्वों अथवा समारोहों के अवसर पर अलंकार धारण करना मांगलिक माना गया है। भगवान रामचंद्रजी के काल में अयोध्या में तो ऐसा कोई स्त्री-पुरुष ही नहीं था जो पर्वों अथवा उत्सवों पर अलंकृत न होता हो। हर पुरुष मुकुट, कुंडल, माला, अंगद निष्क और हस्ताभरण से अलंकृत होता था। नाकुंडली नामुकुटी, नास्तग्वी नाट्यनंगदनिष्कधृत—नाहस्ताभरणो वापि दृश्यते—और स्त्रियों का तो बिना अलंकृत हुए अपने पतियों के सम्मुख जाना अशुभ अथवा अमांगलिक माना जाता था। सम्भवत: इसी कारण विवाह में अलंकृत कन्या के कन्यादान की लम्बी स्वस्थ परम्परा चली आ रही है। मनुस्मृति में भी स्पष्ट किया गया है कि देवविवाह में अलंकृत कन्या का दान करना धर्मयुक्त है—

अलंकृत सुतादानं दैवं धर्म प्रचक्षते।

यही नहीं, अपितु देवी-देवताओं के लिए अलंकार बनाकर समर्पित करने की रीति भारतवर्ष में कई हजार वर्ष से चली आ रही है। अन्य देशों की तुलना में प्राचीन काल के भारतीय अलंकार काफी समृद्ध व आभूषण कला में श्रेष्ठ हैं। वे अधिक सुंदर व सुरुचिपूर्ण डिजाइनों के हैं। हड़प्पा व मोहनजोदड़ों की खुदाई में न केवल नारियों अपितु देवी-देवताओं की मूर्तियां भी अलंकृत मिली हैं। सिंधु घाटी की सभ्यता भी अलंकरणों के सौष्ठव से परिपूर्ण है। उनमें सोने-चांदी, कांसे, तांबे, शंख तथा बहुमूल्य पत्थरों से बने शीर्षभरण, कर्णकुंडल, हार मेखला, अंगूठी तथा कंगन विशेष रूप से मिले हैं। यही परंपरा हमें वैदिक, बौद्ध तथा जैन संस्कृति में भी काफी समृद्ध मिली है।

अष्ट मांगलिक हार अथवा मालाएं तो भारतीय संस्कृति का सबसे मंगलमय अलंकरण माना गया है।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में 1008 लड़ियों वाले हार को "इन्द्रच्छन्द", 504 लड़ियों वाले हार को "विजयच्छन्द", 100 लड़ियों वाले हार को "देवच्छन्द", 64 लड़ियों वाले हार को "अर्धहार", 54 लड़ियों वाले हार को "रश्मिकलाप", 32 गुच्छे, 20 वाले को "माणवक", 10 वाले को "अर्धमाणवक" और एक लड़ी वाले को "एकावली" कहा गया है। भारत के लगभग हर प्राचीन मंदिर में किसी न किसी प्रकार का अष्टमांगलिक हार अवश्य मिला है। प्राचीन काल में मंगलमय अथवा मांगलिक चिन्हों में चक्र, त्रिरत्न, स्वास्तिक, श्रीवत्स कलश, वर्द्धमान, दर्पण, कमल, श्रीवृक्ष, मीन, मिथुन, खड्ग, परशु, अंकुश, भद्रासन माला, वैजयन्ती हस्ति, अश्व इत्यादि सम्मिलित थे। धीरे-धीरे इन चिह्नों में आठ की संख्या मांगलिक मानी जाने लगी और इन्हें अष्ट मांगलिक चिह्न कहा जाने लगा। उपरोक्त तथा अन्य चिन्हों में से केवल आठ चिह्न चुनकर उनके सम्मिश्रण से अष्ट मांगलिक हार बनने लगे। इनके पहनने से शोभा के साथ-साथ असंगल तथा विघ्नबाधाओं से रक्षा का विश्वास होता था
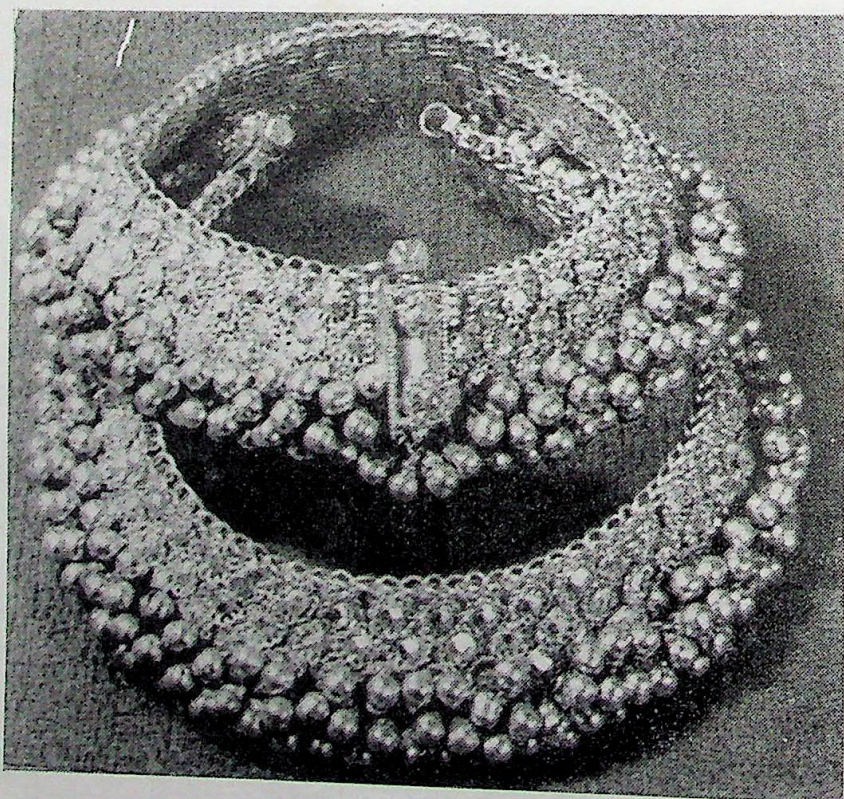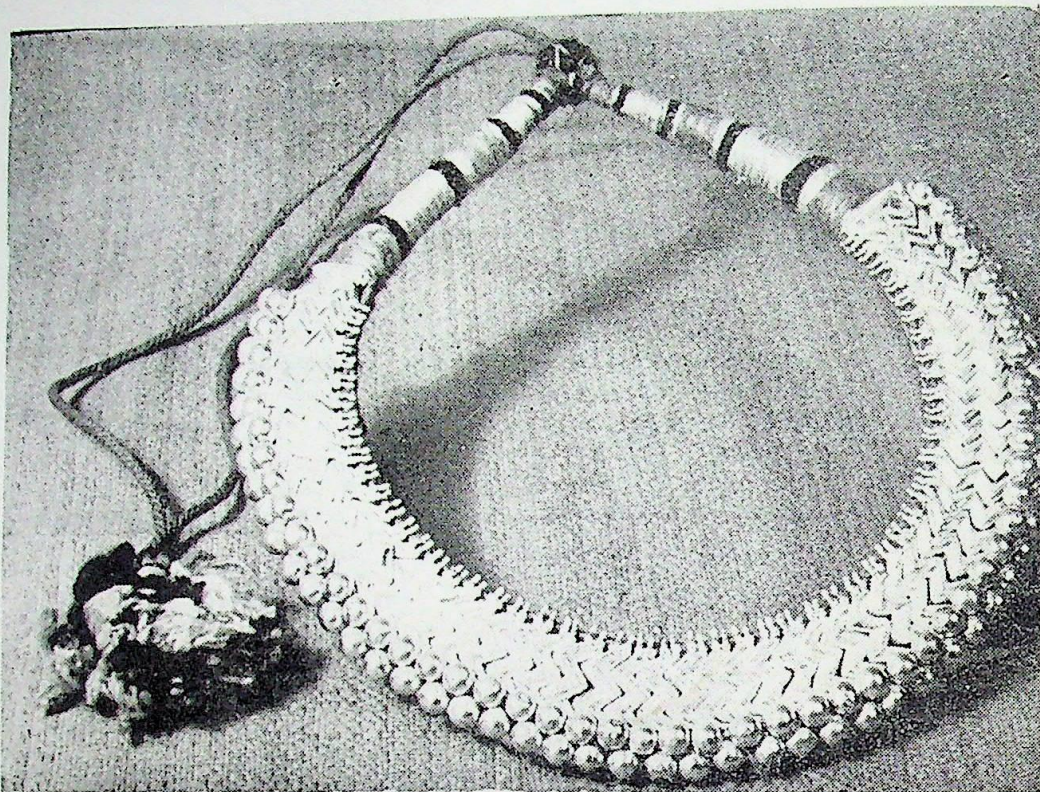
तथा कल्याण मंगल आरक्षा एवं सज्जा की आस्था होती थी।

और फिर धीरे-धीरे नारी के सुहाग अथवा मांगलिक अंलकरण के रूप में आए मंगलसूत्र, टीका, बिंदी, श्रृंगार पट्टी, नथनी, बिछुआ, पाजेब, हार इत्यादि। चूड़ियों को भी भारतीय नारी सुहाग के रूप में धारण करती हैं। इस प्रकार मांगलिक अलंकरणों को पर्वों पर पहनना भारतीय नारी के लिए एक स्वस्थ परंपरा बन गई जो एक लम्बे अरसे तक विकसित हुई और आज भी ज्यों की त्यों है।

मगही लोकगीतों में सूर्य पूजा

डा० आर० एन० रमेश

धर्म प्रधान देश होने के नाते भारत में तरह-तरह के धार्मिक आयोजन होते ही रहते हैं। वर्ष भर किसी न किसी पर्व और त्यौहार की धुन में संलग्न रहना ही सनातन भारतीय संस्कृति का लक्षण बन गया है। पर्वों के इसी मेले के बीच बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश में होने वाली छठ पूजा का अपना सांस्कृतिक एवं सामाजिक महत्त्व है। कार्तिक शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन मनाया जाने वाला सूर्य-पूजा का यह व्रत अपना विशिष्ट पौराणिक एवं सांस्कृतिक वैभव रखता है। इस व्रत में सूर्य पूजा और षष्ठी पूजा का समायोजन एक साथ होता है, स्वभावतः इस कष्ट साध्य व्रत की महता अन्य ढेर सारे व्रतों से अधिक श्रेण्य मानी गई है। छठ व्रत करने वालों की साधना को देखे बिना इस व्रत की गरिमा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। छठ पूजा का सीधा सम्बन्ध सूर्य-पूजा से है जिसके विभिन्न स्रोत प्राचीन भारतीय वैदिक एवं पौराणिक साहित्य में उपलब्ध है। ऋग्वेद में कहा गया है कि सूर्य सबको प्रकाशित करने वाले देवता हैं। सूर्य की स्तुति में ऋग्वेद के 50 वें सुक्त के अन्तर्गत सूर्य को सभी प्राणियों के निमित्त प्रकाश और गति का संचालक घोषित किया गया है:—

उदु त्यं जातवेदसं देव बहन्ति. केतवः।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ।। 1 ।।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः।
सूराय विश्वचक्षसे ।। 2 ।।

अहश्रमस्य केतबो वि रश्मयो जनो अनु।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ।। 3 ।।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योनिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमा भासि रोचनम् ।। 4 ।।

प्रत्यड्ं देवानां विशः प्रत्यड्ड, देषि मानुषान् ।
प्रत्यड् विश्वंस्वृदृशे ।। 5 ।।

इस सूक्त के अनुसार सूर्य की प्रकाशमान रश्मियां आकाश में ही गमन नहीं करतीं, अपितु समुची सृष्टि पर छा जाती है। सूर्य की वन्दना ऋग्वेद के एक अन्य श्लोक मे पवित्रकारक वरुण के नेत्र के रूप में की गई है। अन्धकार के ऊपर विस्तृत प्रकाश को फैलाते हुए समूची सृष्टि को तेज एवं विकास प्रदान करने वाले देवताओं में श्रेष्ठ सूर्य हमें प्राप्त हो यही सूक्तकार की कामना है। केवल दिन को रात से पृथक करना ही सूर्य का अभिप्रेत नहीं, अपितु सूर्य की परिकल्पना अपार शक्ति प्रदान करने वाले स्रोत के रूप में की गई है। समूचे विश्व की प्रेरणा शक्ति के रूप में सूर्य की चर्चा यजुर्वेद में हुई है:—

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य्य।
विश्वमाभासि रोचनम् ।।

तत्सूयर्यस्य देवत्वन्तन्महित्वं
मद्याकर्तोर्विततं संजभार ।।

यदेद युक्त हरितः सधस्थादाद्रायी त्रासस्तनुतं सिमस्मे ।।

सूर्य के कारण ही यह संसार गति प्राप्त करता है, जीवन और कर्म की प्रेरणा पाता है। प्रत्यक्षदेव का उल्लेख आदि कवि बाल्मीकि ने युद्धकांड में किया है, जहां रावण से युद्ध करते समय राम के थक जाने पर अगस्त्य मुनि ने उन्हें सूर्य स्तुति का गोपनीय स्रोत बतलाया। अगस्त्य मुनि ने राम को बताया कि सम्पूर्ण देवता सूर्य के ही स्वरूप हैं और सूर्य ही अपनी रश्मियों का प्रसार कर देवताओं तथा असुरों सहित सम्पूर्ण लोकों का पालन करते हैं, अगस्त्य ने राम के युद्ध विजय की कामना से यह सूर्य स्तोत्र किया:

एष ब्रह्माच विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः।
महेन्द्रो घनदः कालो यमः सोमो क्षपां पतिः ।।

पितरो वसवः साध्या अश्विनो मुरुतो मुनः ।
वायुर्वद्धिः प्रजा प्राण ऋतुकर्ता, प्रभाकरः ।।

आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान् ।
सुबर्णबद्दशो भानुर्हिरण्यरेता दिवाकरः ।।

हरिदश्वः सहस्त्रार्चि सप्तसप्तिमरीचिमान्।
तिमिरोन्मथनः शंभुस्त्वष्टा मार्तण्डको शुभान ।।

हिरण्यगर्भः शिशिर स्तपीत हस्करो रविः
अग्निगर्भोऽडदितेः।

पशुः शड्ग शिशिरनाशनः ।।
व्योम नाथस्तमोमेदी ऋग्यपुः सामपरागः।
घन सृष्टियां मित्रौ विन्ध्यवीथीप्लवगम्।
आतपी मण्डल मृत्युः पिंगलः सर्वतापनः।
कविर्विश्वो महातेजा रक्तः सर्वभवोद्-
भवः ।।

नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वभावनः ।
तेजसामपि तेजस्वी द्वादशात्व नमोस्तु ते ।।
(6-105-8-15)
(6, 105, 16-21)

सूर्य को विभिन्न पुराणों में प्रजापति कश्यप और अदिति का पुत्र बताया गया है। सूर्य की सात रश्मियों की परिकल्पना उनके रथ के साथ घोड़ों के रूप में की गई है। प्रकाश और प्रगति के अनन्य स्रोत सूर्य की कई पत्नियां बतलाई गई हैं, जिनमें विश्वकर्मा की पुत्री संज्ञा सर्वप्रधान है। इन्हीं से सूर्य के पुत्र यम और पुत्री यमुना का जन्म हुआ। सूर्य की दूसरी पत्नि छाया ने सूर्य के पुत्र शनि और पुत्री तपती को जन्म दिया। रामायण और महाभारत जैसे काव्यों में स्पष्ट संकेत है कि सुग्रीव और कर्ण सूर्य के ही औरस पुत्र थे। ऐसे पौराणिक महत्त्व के विशिष्ट देव सूर्य की पूजा के साथ-साथ कार्तिक शुक्ल षष्ठी को होने वाले छठ व्रत में षष्ठी देवी की परिकल्पना भी की गई है। विष्णु धर्मेंतर पुराण में संकेत मिलता है कि प्रत्येक शुक्ला सप्तमी को सूर्य वन्दना करने से सूर्य लोक प्राप्त होता है। इसी कारण शुक्ला सप्तमी के पूर्ववर्ती दिन षष्ठी देवी की आराधना का चलन हुआ होगा, जिनका उल्लेख विभिन्न शास्त्रों में सोलह दिव्य माणिकाओं में से एक के रूप में हुआ है। महाभारत के सभा पर्व में यह संकेत आया है कि ब्रह्म की सेवा में संलग्न रहने वाली देवियों में से एक षष्ठी देवी थीं। सूर्य देव और षष्ठी देवी की सम्मिलित पूजा का यह सांस्कृतिक अनुष्ठान भारत के जिस क्षेत्र में छठ व्रत के नाम से विख्यात है, उसका बहुत बड़ा हिस्सा मगही भाषा-भाषी है। मगही के विभिन्न लोकगीतों में छठ पूजा की भक्त्यात्मक और सामाजिक गरिमा के चित्र मिलते हैं। यह विभिन्न मगही गीतों की परिक्रमा से इंगित होता है। इस गीत में व्रती ने संकेत दिया है कि उसने किन कारणों से छठ व्रत किया है। यह गीत सूर्य पूजा के प्रसिद्ध धाम देव की ओर भी संकेत करता है :--

छठी माइया के बूतिया हमहूं करबै।
मिल के सखिया संग भजनिया हमहूं
गइबै ।।

गंगा में असननिया कर के सूरजदेव
के देबइ अरघिया।
हाथ जोरि के कहबई परभु जी के सोवल
जगाई दे भगिया ।।

धरि के छठी मइया के ध्यानियां ।
हमहूं जअबै ।। छठ ।।
बाकी तिरिया बेटवा मांगे निर्धन मांगे धन।
अंधरा कोढ़िया संमांग मांग दया करयं
भगवान ।।

बेटवा खातिर मांगे कनिया (छठ)
गया जिला में देव धाम है पटना में
उलार ।
सुरुव देव के महिमा भौजी रहे जहां
अपार ।।

इस पवित्र गंगा तट की उपलब्धि सभी जगहों पर कहां पाती है, इसी कारण छोटे-छोटे पोखरों पर भी सूर्य का चरणस्पर्श करने वालों की भीड़ लगी हुई है। इसी चार घाट वाले पोखर का ही एक चित्र है :--

चारहि घाट के पोखरिया जलवा उमडल
जाय ।
लन दुलरैत बाब धोतिया जल करूं
असनान ।।
लन दलरैत धियरिया भेल अरध के
बेरिया ।
फँक न सुरज भल डोरिया छुआव चरण
तोहार ।।
भले सुरज डोरिया लगइल कैली में
वृत तोहार ।।

एक अन्य मगही गीत में सूर्य देवता से यह कामना की गई है कि कन्या का विवाह का संकट केवल सूर्य देवता ही दूर कर सकते हैं। उसकी सारी चूकों को क्षमा करने की शक्ति सूर्य में है :--

नरियल फरले धाउद से उस पर धाजा
फहराय।
बांकी तिरियवा बटिया अगोरे आदित
होहूं न सहाय।।
किए हम चोरनी में चटनी किए मारली
धेनू गाय।
किए हम सेवा में चकलूं देहल उतने
सजाय।।
नहीं तोहे चोरनी ही चटनी नहीं रे
मारल धेनू गाय।
नहीं सोह सेवा में चकलूं देलियो उसने
सजाय।
मात-पिता के कहना टारल तिरिया
ओकरे सजाय।।
गोत्र मिलत नहीं कइल तिरिया ओकरे
सजाय।।
भौ सुर परछइयां धांग दिहल तिरिवा
ओकरे सजाय।

इसी कारण उपवास के बाद सुबह सूर्य को अर्घ्य देने के लिए खड़ी पुजारिन अपने इष्ट देव से उदय होने की कामना करती है। सूर्यदेव उदित होने का समय हो गया है पुजारिन की आंखें आकाश की ओर टंगी है :--

बांधि के किसमिस पूरिया बिगबै
आकाश है।
उगहों सुरुजदेव अरध के बेरिया है।।
उगे केत उगब अपनियों बेरिया है।
बाट भेंटिए गेल निर्धन कसटिया है।।
धन देवैत लगल बड़ी देरिया है।
बांधबै सिन्दूर पूरिया बिगबै आकाश
है।।
उगिहो सुरुज देव अरध के बेरिया
है।
उगे के तो उगद अपनियों बेरिया है।।
बाट भेंटिए गेल अंधा अंधिनियां है।
नैन देवैत लगल एते बडी देरिया है।।
बाट भेंटिए गेल बांझी बंझिनियां है।
पुत्र देवैत लगल एते बडी देरिया है।।

जोड़े कलसूप में अर्ध्य की सामग्री लेकर खड़ी इस पुजारिन की एकमात्र कामना यही है कि सूर्यदेव उगें और अपनी रश्मियां उसके आंचल में छोड़ दें। ये रश्मियां ही तो सूर्य देव के आशीर्वाद है :--

जारले कलसुपवा लिए मनावे है
कसे दल उगिहें सुरुज अलबेलिया हो
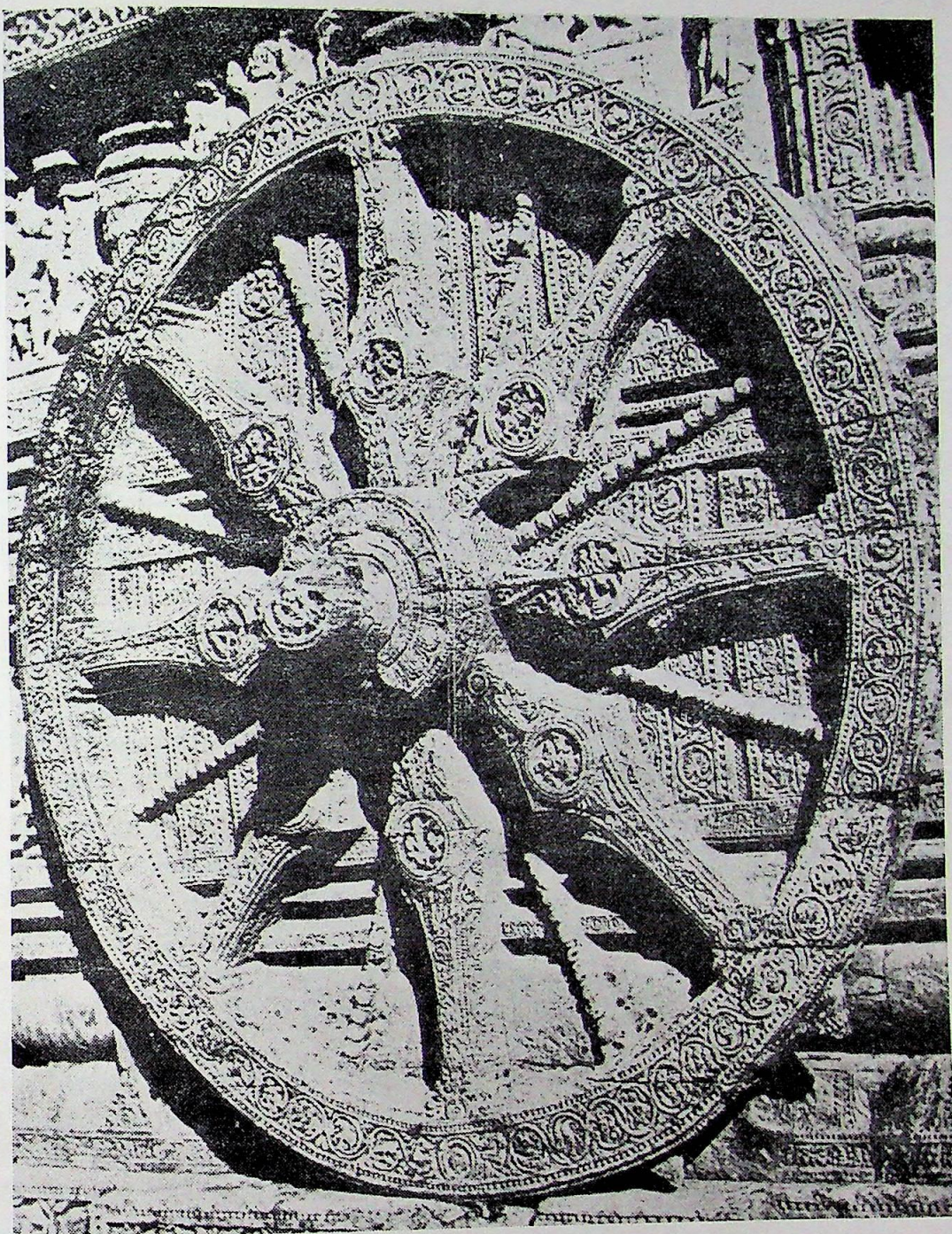
उगं के तो उगिहें सूरुज अपनियो
बेरिया हे
लपटी-झपटी सूरुज धैलन अंचरवा हे।
मोर गोदी रोवे हथिन बबुआ बलकवा हे।
मोर गोदी रोवे हथिन भैया कलइआ
हे।

रात-भर की अलसायी सूर्यदेव की आंखें जल्दी से खुलें, यही व्रत करने वाली पुजारिन की आकांक्षा है :—

जोरले सूपवा लये तिरिया मनावे है
कते दल उगिहें सूरुज अलबेला है।

रैनिया के मातल सूरुज पलको न
फेरे है
सोने चंदन धूप गरदा उड़ावे है।

इस सूर्य स्तुति का अद्भुत सामंजस्य वेदों में अंकित सविता-भानु के साथ है। मगही के विभिन्न गीतों में प्राप्तकालीन सविता का उल्लेख मिलता है तो इसका कारण यही है कि मगही भाषी क्षेत्र की सांस्कृतिक परम्परा की जड़ें हमारे सुदूर अतीत में है। वैदिकयुगीन सविता के मगही संस्करण के उदाहरणस्वरूप ये गीत दृष्टव्य है:—

भोर भिनुसरवा सविता चलली जमुना
के वास लिह है
सविता वारी के अंगना।

रहे केत रहति दुलरैते बाबू के अंगना
ढोल बजनवा सरक परै देखलि।
गाई के गोबर अंगना निपत देखली
जोडवै कलसुपवा अरघ पड़ैत देखली।
सविता के अंगना में सूप बिकत है
सूप मोलेत सविता घैलन अचरवा ।
नरियर मोलेत सविता घेलन अंचरवा।
छोड़ूं-छोड़ूं अहे सविता हमरो अंचरवा।

होइत में संझा देबो अरधिया

होइतो बिहान सविता देबो अरधिया ।

सूर्य-पूजा का यह प्रसंग पुजारिनों की बहुमुखी आकांक्षा का परिचायक ही नहीं, मगही क्षेत्र की सामाजिक गतिविधियों का सूचक भी है। इस गीत में वंशवृद्धि और वैभव समृद्धि के अनेक पक्ष उजागर हुए हैं :--

चोवा यो चंदन सुरुज गरद उडवली है
धीयवे दुधवे सुरुज नदिया बहवली है।
बेटवा पुतहिया सुरुज जइबो पोखरिया है।
पातवे बधइए सुरुज दिहलो अरधिया है।

हमरी दुलरते बाबू के वंशबढ़हिय है
चोवा या चंदन सुरुज गरदा उडवली है।
बेटिए दमदवा सुरुज जैबो पोखरिया है
नतिए, बधइय सुरुज दिलो अरधिया है।
हमररी दुलरते बाबू के वंश बढ़हिए है।

सूर्य-पूजा में तल्लीन गरीब औरतों में जिस बेचैनी और आशा का संचार होता है, इसे मगही के लोकगीतों में लक्षित किया जा सकता है। सुबह हो गई है और भूखी हुई पुजारिन सूर्यदेव के उदय का इन्तजार कर रही है :--

काहे केर नैया रो मलहा कथिए पतवार
कथिए भरल रे मलहा नैया धमसत जाए।

सोने के नैया रे मलहा रुपै पतवार।
इंगुर भरल रे मलहा नैया करे मांग।

कथिए बोझल रे मलहा नैया धमसत जाए।

सूपवे बोझाय रे मलहा नैया धमसत जाए।

जल्दी-जल्दी खेवें रे मलहा अरधिया केर बैर

सबै परवैतिन रे मलहा कलसुपवा ले ले द्वार।

कहा छपित भइल सुरजदेव अरधिया केर बेर

आन दिन उगलन सुरजदेव भोरे भिनुसरवा।

आज काहे कइलें सुरजदेव एते बडी देर

रात में भेंटलइ रे अवला निर्धन वहुत।

निर्धन के धन है देते लागत एते बडी देर।

इन सारे मगही छठ गीतों की परिक्रमा से स्पष्ट है कि केवल आराधना ही इन गीतों का अभिप्रेत नहीं है, अपितु पूजन के वहाने अपने संकटों और परिवेश-गत अभावों का संकेतन भी पुजारिनों ने इन गीतों में किया है। मगही के छठ गीत साधना के एक सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष को रेखांकित करते हैं। इस देश के सनातन धर्म-भावना से मगही क्षेत्र किस अन्तरंगता के साथ जुड़ा हुआ है, यह इन छठ गीतों से स्पष्ट है ।

हम और हमारे पेड़ पौधे

उमा शंकर चतुर्वेदी

वराह पुराण में लिखा है कि जो मनुष्य, छाया, पुष्प तथा फल से युक्त वृक्षों को लगाता है वह परोपकारी व्यक्ति उत्तम गति पाता है

"यः पुमान् रोपयेत वृक्षान्, छाया पुष्प फलोपगान्
सर्व सत्वोपभोगाय स याति परमा गति।।"

हमारी धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय परम्पराओं एवं मान्यताओं की पृष्ठभूमि में मनोरम वृक्षों और पुष्पों का विशिष्ट स्थान है। जीवन में त्याग, परोपकार, सुदृढ़-साधना, तत्परता, पावनता आदि अच्छे गुणों की स्थापना एवं विकास पादप, पुष्पों के साहचर्य से ही हुआ है। पेड़-पौधे और पुष्प हमारी भारतीय संस्कृति के अभिन्न अंग हैं। पेड़-पौधों के माध्यम से हम सृष्टा और नियामक की विभूतियों की अपूर्व सुषमा का दर्शन करते हैं। पेड़ पौधे और पुष्प निराकार ब्रह्म के ही पार्थिव रूप हैं।

हमारे वृक्ष राष्ट्र वैभव के प्रतीक हैं। फूल राष्ट्र सौन्दर्य के सहज रूप हैं। परमेश्वर का परम तत्व वृक्ष में साकार हुआ है तथा उसकी मधुरिमा पुष्प में विकसित हुई है। अतः वृक्ष लगाना और उसकी पूजा करना, परमात्मा की पूजा अर्चना करना ही है। सुन्दर पुष्पों के प्रति स्नेह करना पावन सौन्दर्य का सम्मान है। पेड़-पौधों के बिना हमारी सृष्टि मनोरम नहीं रह सकती है, सुन्दर काव्य की सृष्टि भी न हो सकेगी और न पृथ्वी रसवती रह सकेगी। पेड़-पौधों से ही मानव का अस्तित्व चिरन्तन रहता है। हमारे प्रधान मंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने कहा था कि "उगता पेड़ प्रगतिशील राष्ट्र का प्रतीक है।" श्री के. एम. मुंशी के अनुसार "पेड़ों से वर्षा होती है, वर्षा से अन्न होता है और अन्न ही जीवन है।" वृक्षों की उपादेयता बताते हुए डा. देशमुख का कहना था कि "वन महोत्सव देश की शकल बदल सकता है"।

वृक्ष राष्ट्र की निधि हैं। ये मानवों, पशुओं, पक्षियों के जीवन साथी हैं। प्राणियों को शीतल छाया देते हैं, मधुर फल देकर भूख मिटाते हैं, पक्षियों को नीड़ बनाने, किलोलें करने के लिए उत्तम स्थान देते हैं। पेड़-पौधों के बिना प्राणियों का जीवन भी सम्भव नहीं है। हमारे पूर्वज, ऋषि मुनि जंगलों में ही पेड़ों की छाया तले तपस्या करते थे। पेड़-पौधों से ही जलवृष्टि होती है जिससे जीवन मिलता है। वृक्षों की लकड़ियां, पत्ते, छाल, फल, पुष्प सभी तो बहुत उपयोगी होते हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान देश के लिए वृक्षों की उपादेयता निर्विवाद है।

सभी धर्मशास्त्रों में वृक्षों, पौधों, पुष्पों का उल्लेख है। वृक्षों को मानव जीवन का परम हितैषी और जीवन का आधार बताया गया है। वृक्षों में देवताओं का वास होता है। शनि की कुदृष्टि से बचने के लिए पीपल के वृक्ष की पूजा की जाती है। पीपल के लिए कहा गया है कि––

"मूल ब्रह्मा, त्वचे विष्णु, शाखायांच महेश्वरः
पत्रपंत्रांच देवानाम् वासुदेव नमो स्तुते।"

अर्थात् "पीपल वृक्ष की जड़ में ब्रह्मा जी का निवास, शाखाओं में एकादश रुद्रों तथा पत्तों में देवताओं का निवास है।" ऋग्वेद में लिखा है कि वृक्ष हमारे लिए शान्ति देने वाले हों––

"वनिजो भवन्तुशं नो।"

सामवेद में वृक्षों का दृष्टान्त देकर ब्रह्म का वर्णन स्तवन किया गया है।

"आ यं विश्वत्तीन्दवो वयो न वृक्ष मन्धसः
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनी।"

अर्थात् "जिस प्रकार नाना प्रकार के पक्षी वृक्ष का आश्रय लेते हैं उसी प्रकार प्राण, जीवन शक्ति, विभूति, ऐश्वर्य, ज्योति आदि ब्रह्म के आश्रित है।"

अथर्ववेद में कहा गया है कि वृक्षों से व्याधियां दूर भाग जाती हैं और सुख शांति रहती है––

"यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः
तत् परे परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन।"

अर्थात् जहां पीपल, वट आदि महावृक्ष और मोर आदि पक्षी या चूड़ामणि या काकमाची के पौधे हैं वहां से इनके प्रभाव से, प्रजाओं में फैलने वाली व्याधियों दूर भाग जाओ, क्योंकि तुमको पहचान लिया गया है।

यजुर्वेद में वृक्षों को ईश्वर की तरह महान् बताकर वन्दना की गई है "नमो वृक्षेभ्यो, हरिकेशेभ्यो नमस्तारायः।" "वृक्षों को नमस्कार, महादेव को नमस्कार, उद्धारक को नमस्कार। अग्निपुराण में उल्लेख है कि "फलवाले या फूल वाले, पेड़ काटने वाले व्यक्ति और उसके परिवार के कुशल स्वास्थ्य और समृद्धि के विनाश की आशंका पैदा हो जाती है।"

मत्स्यपुराण के अनुसार "एक वृक्ष लगाना उत्तम पुत्र पैदा करने के बराबर है।"

महाभारत में कहा गया है कि "पेड़ों से मनुष्य का महान् हितसाधन होता है इस कारण पेड़ लगाना सबसे बड़ा धर्म है।" श्री मद्भागवत् पुराण में वृक्षों को ऋषि बताया गया है। कृष्ण भगवान कहते हैं कि "व्रज के पेड़ बड़े-बड़े ऋषि हैं जो वृक्ष बनकर मेरा और श्री बलराम जी का दर्शन करते हैं।"

धम्मपद में भगवान बुद्ध ने कहा है कि भिक्षुओं "वन को काटो--वृक्ष को नहीं" वन से भय उत्पन्न होता है। वन और झाड़ झंकाड़ को काटकर वन रहित हो जाओ वृक्षों से स्नेह रखो।"

कुरान शरीफ में भी कई स्थानों पर बाग, दरख्त आदि का उल्लेख है। कुरान शरीफ में कहा गया है कि हरा पेड़ काटने वाले और जानवर को मारने वाले को खुदा माफ नहीं कर सकता।"

वृहत्पाराशरी में श्री मत्पाराशराचार्य ने वृक्ष लगाने के महत्व को इस प्रकार प्रतिपादित किया है--

अश्वत्थमेकं पिचुमन्दमेकं न्यग्रोधमेकं ,दश चिंचणीभिः।
षट् चम्पकांस्ताल शतत्रयं च नवाम् वृक्षे- ..नैरकं न पश्येत्।
यावन्ति सावन्ति फलानि वृक्षात्क्षुद्धाह्नि दधास्तनु भून्नराधाः।
वर्षाणि तावन्ति वसन्ति नाके वृक्षेक वापा- स्वमराधि सेव्याः।
यावन्ति पुष्पाणि महीरुहाणां, दिवौकयां मूर्धीन भूत लेवा।
पतन्ति तावन्ति च वत्सराणां, शतानि नाके .. रमते अग्रवापी।

अर्थात् "एक पीपल, एक नीम, एक वट, दश इमली, छह चम्पक, तीन सौ तालवृक्ष, नौ आम वृक्ष लगाने वाला पुरुष नरगगामी नहीं होता है। क्षुधा रुपी अग्नि से पीड़ित मनुष्य, पक्षी आदि प्राणी वृक्षों से लेकर जितने फल खाते हैं उतने वर्ष वृक्ष लगाने वाला पुरुष देवतागणों से सेव्यमान स्वर्ग में वास करता है। पुण्यात्मा मनुष्य के लगाए हुए बगीचे के जितने फूल देवताओं के मस्तक पर चढ़ाए जाते हैं या पृथ्वी पर गिरते हैं उतने शतवर्ष तक वह वृक्ष लगाने वाला स्वर्ग में रमण करता है।"

महाकवि कालिदास, वाल्मीकि, सूर, तुलसी, जायसी, केशव, घनानन्द, पद्माकर प्रभृति सभी महाकवियों ने तथा आधुनिक सभी कवियों ने पेड़, पौधों, पुष्पों को अपने काव्य में प्रमुख स्थान दिया है। वस्तुतः पेड़-पौधे, पुष्प ही साहित्य के प्रेरणा स्रोत हैं। सभी भाषा के काव्यों में सुन्दरता के उपमान पौधे, पुष्प और फलों से ही लिए गए हैं। वाल्मीकि के राम, विरह अवस्था में सीता जी के विषय में आम कदम्ब, साखू, कटहल, कुरट, मौलसिरी नागकेशर, चम्पा, केतकी आदि वृक्षों से ही पूछते हैं क्योंकि सीताजी के अंगों के उपमान इन्हीं पेड़ पौधों फलों और पुष्पों के सदृश थे।

"स्निग्ध पल्लव सङ्काशा, पीत कौशेय वासिनी,
शंसस्व यदि वा दृष्टा बिल्व बिल्वोपमस्तनी"

अर्थात् "राम पूछते हैं कि हे बेल। **तुम्हारे चिकने पत्तों के समान स्निग्ध तथा पीत वर्ण के कौशेय वस्त्रों को धारण करने वाली सीता को यदि तुमने देखा हो तो बताओ तुम जानते हो कि उसके स्तन तुम्हारे फल ही के समान थे।"**

प्राकृतिक भव्यता, सुषमा, का चित्रण करने के लिए उर्दू शायरों ने पेड़, पौधों, फूलों और फलों को ललचायी आंखों से देखा है। गालिब ने आम के पेड़ को मौला कहा है।

"आम को मौला कहूं तो है बजा
जिसके शाखों में है लटके सदहा अंबिया।"

अकबर इलाहाबादी लिखते हैं--

"पाई है तुमने चांद सी सूरत, आसमानी रहे नकाब का रंग

धूप सहता अपने सिर ऊपर,
और को छांह करेत,
जो वाही का पाथर मारे,
ताहि को फल देत ।।
धन्य, धन्य हे रि उपकारी,
वृथा मनुज की देह ।

सुबह को आब है गुलाब का फूल, दोपहर को है आफताब का रंग।"

उधर इकबाल फरमाते हैं--"आंखें रश्के-राना और नरगिसी आंखें
चश्मबद्दूर, वाह हंसी आंखें।"

आयुर्वेद में वृक्षों, पुष्पों, फलों की उपयोगिता एवं रोग विनाशक शक्ति के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया गया है। हजारों औषधियों तथा रसों का निर्माण विभिन्न पेड़ों की छाल, पत्ते, फूल, फल और जड़ से किया जाता है। आज भी अनेक ग्रामवासी अथवा शहरी व्यक्ति जड़ी-बूटियों तथा पेड़ पौधों की "छाल से रोग-शमन करते हैं। चिकित्सकों का कथन है कि "सर्व रोग हरो निम्बः" अर्थात् नीम सब रोगों को दूर करने वाला है। पीपल, वट, जामुन, आमला, आम, नीम, गुड़हल, महुआ, पलास, बेल आदि वृक्ष किसी न किसी रूप में उपयोगी, उपकारी होते हैं।

वृक्षों के संबंध में अनेक लोक विश्वास और लोक कथाएं प्रचलित हैं। आंवले के वृक्ष की पूजा करने से सब पापों का नाश हो जाता है। समस्त वृक्षों पर देवता रहते हैं। आदिवासियों के विश्वास के अनुरूप आम के पेड़ की पूजा मनोरथ को पूरा करती है। तिल का वृक्ष सुन्दरी के प्रेममय अवलोकन से फूलने लगता है। मन्दार वृक्ष कामिनी की रसीली वाणीसुन कर फूल उठता है। रमणी के मृदु हास्य से चम्पा फूल उठती है। संस्कृत कवियों के मतानुसार योवनोन्मत रमणी के पदाघात से अशोक पुष्पित होता है। युवती के सुरभित श्वास के स्पर्श से आम पर बौर आ जाता है। कर्णिकार वृक्ष सुन्दरी के नृत्य को देखकर फूल उठता है। अशोक सतीत्व रक्षक होता है। बाग में महान् संत आने पर वृक्ष एक साथ फूल उठते हैं।

वृक्षों के संबंध में अनेक लोकोक्तियां, कहावतें, लोकगीत प्रचलित हैं। साहित्य की जितनी उपमाएं हैं वे वृक्षों, पौधों, पुष्पों फलों से दी गई हैं। वृक्ष पवित्र हैं, देवरूप हैं हमारे जीवन के आधार हैं। वृक्ष हमारी संपत्ति है। वृक्ष हमारे चिरंतन साथी हैं--"नमो वृक्षेभ्यो।"

गांव हमारी संस्कृति के आधार

प्रो० विमला उपाध्याय

भारत की पचहत्तर प्रतिशत आबादी का निवास है गांवों में। देश की आत्मा ही गांवों में निवास करती है। अतएव, गांवों की उपेक्षा कर देश, विकास का कोई चरण नहीं रख सकता। हमारे सर्वांगीण विकास में संस्कृति का अपरिहार्य स्थान है। संस्कृति हमारे संस्कार से बनी है। हमें विरासत में भी मिली है। यह हमारे अंतःकरण की पवित्रता, परिमार्जनशीलता की द्योतिका है। यह जीवन मूल्यों को सहेजती ही नहीं, उसके रक्षार्थ जूझने, बलिदान होने की प्रेरणा भी देती है। संस्कृति बाहरी चमक दमक नहीं। आडंबर नहीं। दिखावा नहीं। यह सभ्यता का न पर्याय है और न उसके निकटवर्ती अर्थ रखने वाली। सभ्यता बाहरी परिष्कार भले हो, पर आंतरिक परिमार्जन नहीं। अंतर के परिष्कार का प्रभात संस्कृति में फटेता है। दिनकर ठीक ही लिखते हैं——

"यह न ब्रह्म उपकरण भार बन,
जो आए ऊपर से,
आत्मा की यह ज्योति फूटती,
सदा विमल अंतर से।"

——कुरूक्षेत्र

ये कैसी विडंबना है कि आज संस्कृति का अर्थ, लोग समझ नहीं पा रहे हैं। सांस्कृतिक कार्यक्रम का अर्थ हुआ——कुछ संगीत, कुछ नृत्य, नाटक आदि यानी सांप्रतिक मनोरंजन का साधन। जब तक हाल में बैठे हैं, मनोरंजन हो रहा है बस, उसका प्रभाव कितना स्थायी और व्यापक होगा——इससे कोई मतलब नहीं। सच पूछिए, तो आज भी गांव हमारी संस्कृति को जितना सुरक्षित रखे हुए हैं और उसे जिस प्रकार वास्तविक जीवन में उतार रहा है, उसी से हमारी संस्कृति जीवित है, पुष्पित, पल्लवित है।

बाबा तुलसी लिखते हैं——भूखे भजन न होहि गोपाला। शास्त्र लिखता है——"बुभुक्षितः किं न करोति पापम्" भूखा कौन सा पाप नहीं कर सकता) गांव इसे जानता है और भोजन की समस्या के हल में आगे रहता है। पूरे खाद्यान्न का नब्बे प्रतिशत वही मुहैय्या करता है। फसल कटकर खलिहान पर आई कि सांस्कृतिक अनुष्ठान प्रारंभ हो गया। दौनी में जी भर दैल खाए, ढेरी से पक्षी गण। फिर जो बचा उसका भी विवेकपूर्ण बंटवारा हुआ। पुरोहित का अंश, राजा का अंश (अब मालगुजारी, लगान), बहन और भगिनी का अंश, धर्म खाता का अंश। जो बचा उसे अपने उपयोग में लाया। बात साधारण लगती है। पर है शास्त्र सम्मत। संस्कृति का संबर्धन करने वाली। हमारी संस्कृति सिखाती है——अपरिग्रह। ग्रहण मत करो। संग्रह नहीं करो। अपनी जरूरत भर रखो।" इससे धन के प्रति आसक्ति नहीं होती। उसे बचाकर रखने के लिए झूठ, फरेब का सहारा लेना नहीं पड़ता है। सच पूछिए, तो हमारी संस्कृति प्रवृति में निवृति का पाठ पढ़ाती है। सब सुख भोगें, पर सबसे विरक्त भी रहें। धन अर्जित करें। पर बंटवारा ऐसा कर दें कि प्रवृत्ति निवृत्ति में बदल जाए। जब तक प्रवृत्ति की गाढ़ी स्याही में निवृत्ति का पानी नहीं मिलाया जाता, संस्कृति और अध्यात्म की कविता नहीं लिखी जा सकती। जरूरत "आप मरे तो जग डूबा" की नहीं है, वरन "अर्पित हो मेरा मनुजकाय, बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, की है। यही संस्कृति है, जिसका केन्द्र है गांव, उसे बल देने वाले हैं ग्रामवासी।

जन्म से मृत्यु तक सोलह संस्कार (गर्भाधान, पुंसवन, सीमंतोन्नयन, जात-कर्म, नामकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, उपनयन, केशांत, समावर्तन, विवाह, कर्णवेध, विद्यारंभ, वेदारंभ तथा अंत्येष्टि) कहे गए हैं। प्रत्येक संस्कार को विधिवत निभाया जाए, तो उसी से हमारी संस्कृति सुरक्षित रहे, पर हम आधुनिकता के प्रवाह में संस्कारों की उपेक्षा करते जा रहे हैं। अन्नप्राशन, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, श्राद्ध आदि को प्रमुख संस्कार माना गया है। इसके अनुपालन में व्यष्टि के साथ समष्टि को आदर दिया जाता है, खिलाया-पिलाया जाता है, दान-दक्षिणा दी जाती है। संस्कृति कहती है——"एकोहं बहुस्याम।" मैं एक हूं, पर बहुत बनूं। गांव कहता है——"अपने संस्कारगत उत्सव में मैं अकेला नहीं हूं। मेरे भाई बन्धु हैं।

पड़ोसी, जवार, हैं। सबको सम्मान देकर मुझे आशीर्वाद मिलेगा।''

सोलहों संस्कारों से संबंधित गीतों में हमारी सांस्कृतिक धरोहर है। उसी की अभिव्यक्ति है। एक गृहस्थ के घर बालक जन्म हुआ है। बधावा बज रहा है। पर गीत है राम जन्म का, कृष्ण जन्म का।

''दशरथ के चारो ललनमा अंगना में खेले।''

''कृष्ण जी के होले जनमवा हो घर घर बाजे बधैया।''

विवाह हो रहा है बुलाकी का। एक साधारण किसान की लड़की है। पर गीत चल रहा है राम-सीता विवाह का। इतना ही नहीं, जानकी के नैहर की स्त्रियों की मनोकामना भी व्यक्त की जा रही है—

''सागपात खोटी खोटी दिवस गमंइबै हम मिथिला में बसबै।
मिथिला में बसबै चारो धाम।''

कैसी पुण्यनगरी है मिथिला, जिसमें चारो धामों का वास है। जीव तरसता है वहां बसने को। परंतु बुलाकी के विवाह से उसका क्या नाता है। गहरा नाता है। अमिट नाता। वर्तमान में रहकर अतीत की सांस्कृतिक परंपरा का गायन। राम-सीता ऐसे महापुरूष की कीर्तियों का बखान कर अपने को तदनुकूल बनाने की चेष्टा। कल्पना कीजिए गीतकार की उस व्यापकत्वा विधायिनी दृष्टि की, जिसने सभी संस्कारों को जोड़ दिया हमारी संस्कृति से। क्यों न हो—जिससे संस्कार बना है, उसी से बनी है संस्कृति और हम संस्कृत होने का दावा करते हैं, तो उन गीतों की भावधारा में डुबकी लगानी पड़ेगी।

सच पूछिए, तो पूरा भारतीय जीवन, उसके स्वप्न अरमान, आशा-आकांक्षाएं, शक्ति-संभावनाएं, भविष्य की योजना ग्रामीण गीतों में प्रतिबिंबित होते हैं। सबका नाभिकेन्द्र हमारी संस्कृति, उसका पल्लवन, रक्षण।

समय है होली का। वसंतोत्सव धूमधाम से मनाया जा रहा है। परंतु हम सदा जुड़े हैं राम, कृष्ण, शिव, राधा से। कारण साधारण नहीं है। उन महापुरूषों के बिना हम रह नहीं पाते। वे हमारे संस्कार में रस, बस, पच गए हैं। मसलन, वर्तमान में रहकर भी हम अतीत की प्रत्यंचा खींचकर भविष्य का संधान करना चाहते हैं। ढोलक पर थाप पड़ी है, मंजीरे खनखनाए हैं। हवा में पंक्ति गूंज रही है—''राम लखन दोऊ भैया वन को डगर चले''। इतना ही नहीं राजकुमारों को वन में कितना कष्ट होगा, उसकी अनुभूति कितनी मार्मिक है—

''कौन गाछतर आसन वासन कौन गाछतर डेरा।
कौन गाछ तक मींगत होई हैं राम लखन दोऊ भैया।''

उधर कृष्ण की गुहार पर गुहार—

''चन्द्रावती पनिया लै जाई कुवां पर कान्हा बजावै बांसुरिया''।

शिव के दर्शन की लालसा में उमड़े भक्तगण—

''मंदिर के खोल किवाड़ सदाशिव खाड़े दुनिया दरसन के''।

चैत का महीना। चैता की गहमागहमी। एक साथ सैकड़ों कंठों का समवेत स्वर—

''राम जी के होले जनमवा हो रामा चैत मासे।''

इसकी पुनरावृत्ति में समय का ध्यान ही नहीं रहता। तात्पर्य है हम अपनी कठोर यथार्थता से जूझते हुए भी अपने सांस्कृतिक उत्सव से कटना नहीं चाहते। उससे अपने को जोड़े रहते हैं। परंपरा को जगाना, उसकी सही अर्थवत्ता को सराहना भी संस्कृति का घटक है।

ग्रामवासियों के भोलेपन में परमात्मा का वास है। उनके उत्सवों में संस्कृति गूंजती है। रामलीला, कृष्णलीला, नौटंकी के खेल आदि सांस्कृतिक आख्यान ही हैं। शुद्ध मनोरंजन, जिससे सात्विकता का जन्म हो। अपनी जमीन से जुड़े रहें। अपनी संस्कृति को जगाए रहें। दुर्गापूजा का समय है। नौटंकी कंपनी आई है। सत्य हरिश्चन्द्र नाटक खेला जा रहा है। नगाड़े बज रहे हैं। कोई मातमी धुन बज रही है। गीत का बोल है—

''रोहित नहीं रघुकुल का मृगराज जा रहा है।
शैव्या को यौवन-वीणा का झंकार जा रहा है।''

भीग गई हैं श्रोताओं की आखें। उधर ''लैला मजनू'' का खेल सितम ढा रहा है। अपनी हड्डियों से पहाड़ खोदकर लैला को पाने का पक्का मंसूबा। आदर्श प्रेम का अप्रतिम उदाहरण। भला इससे ग्रामवासियों का शुद्ध मनोरंजन और सांस्कृतिक उत्थान क्यों न हो।

गांव कहता है—हमारा प्रतिदिन पर्व त्यौहार है। हमारा प्रत्येक कर्म पूजा है। हमारी खेती लक्ष्मी है। बैल विष्णु है। ''वेदों में भी ऐसा रूपक बांधा गया है। वहां भी कामना की गई है—''हमारी खेती को नुकसान नहीं पहुंचे। हमारे मवेशी का कल्याण हो। हम एक नहीं अनेक हैं। सबका कल्याण हो। सर्वे भवन्तु सुखिनः। ये भूमि, जन और उसकी संस्कृति, व्यापक उद्देश्य मिलकर ही राष्ट्र का निर्माण करते हैं। भूमि को माता कहा गया है और मनुष्य को उसका पुत्र। ''माताभूमि पुत्रो अहम्''। यही विराट् कल्पना संस्कृति की संवाहिका है, जिसका आधारभूत केन्द्र गांव है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि एक ओर गांव को शहरी उपनिवेश होने से बचाया जाए, दूसरी ओर उसकी सांस्कृतिक विरासत को सुरक्षित रखा जाए। उनके रीति-रिवाज, पर्व-त्यौहार, संस्कार, उत्सव-अनुष्ठान आदि की मौलिकता की रक्षा हो। उसे आधुनिकता और तथाकथित प्रगतिशीलता की संपूर्णता से बचाया जाए तभी हमारी संस्कृति फूले फलेगी।

वैदिक संस्कृति और राष्ट्रीय एकता उद्बोधन

—डा० हरगोपाल सिंह

शांति स्वतंत्रता और समृद्धि की प्रतीक वैदिक संस्कृति सदैव से राष्ट्र में एकता की दृढ़ स्थापना की पोषक रही है। एकता में ही बल है और राष्ट्र की रक्षा के लिए बल की नितान्त आवश्यकता होती है। बिना एकता के बल के कोई भी राष्ट्र स्थिर नहीं रह सकता और शीघ्र छिन्न-भिन्न होकर नष्ट हो जाता है। धार्मिक संकीर्णता, जातिवाद, और वर्ग-संघर्ष, पतन और विघटन की ओर ले जाते हैं। वेद कालीन ऋषि इस सत्य को अच्छी प्रकार जानते थे और वे ऐसा होने की भावी सम्भवता से भी परिचित थे। इसीलिए वेदों में राष्ट्रीय एकता का प्रसंग बार-बार मिलता है। यह एकता कैसी हो, किस प्रकार स्थापित की जाए, किस प्रकार इसकी रक्षा की जाय और राष्ट्र के किन-किन घटकों में इसकी कितनी आवश्यकता है इन सभी विषयों पर वैदिक मंत्र पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, जो कि चारों वेदों में मिलते हैं।

राष्ट्र में एकता

अथर्व वेद के बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त भूमि अथवा राष्ट्र सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। राष्ट्र प्रेम और वीर भाव से ओत प्रोत इस सूक्त में तिरसेठ मंत्र हैं जिनमें मातृभूमि की विविध रूपों में महत्ता प्रकट की गई है। बारहवें मंत्र में "माता भूमि: पुत्रोअहं पृथिव्या:" कहकर मातृभूमि पर रहने वाले समस्त मनुष्यों को मातृभूमि की संतान बताया है और दसवें मंत्र में "माता पुत्राय में पय:" कहकर मनुष्य का राष्ट्र से बेटे और मां का सम्बन्ध बताया है। पैंतीसवें मंत्र में "मा ते हृदयम अर्पिपम्" कहकर राष्ट्र को नुकसान से बचाने के लिए कहा है। अर्थात् जैसे कोई भी व्यक्ति अपनी मां का अपमान अथवा अहित सहन नहीं कर सकता वैसे ही सभी नागरिकों को राष्ट्र का अहित कदापि सहन नहीं करना चाहिए। बाहर किसी भी तरफ से शत्रु आये हमें चारों दिशाओं से आक्रमण करके शत्रु को परास्त कर भगा देना चाहिए। यदि आन्तरिक दुष्ट तत्वों द्वारा कहीं राष्ट्रीय सम्पत्ति को नुकसान पहुंचाया जा रहा हो तो तुरन्त उसे रोकना चाहिए। विघटनकारी तत्व राष्ट्रद्रोही हैं।

वैदिक मंत्र राष्ट्र के सभी मुख्य घटकों में एकता बनाये रखने की प्रेरणा देते हैं—जैसे शासक और जनता में, राज्य सभासदों में, पारिवारिक जनों में, सामाजिक प्राणियों में, विभिन्न जाति और धर्मों के मानने वालों में इत्यादि। यजुर्वेद के एक (20/8) मंत्र में शासक कहता है कि "दिशो में अंगानि सर्वत:" अर्थात् प्रजाजन ही मेरे शरीर के सब प्रकार के अंग और अवयव हैं। इससे स्पष्ट है कि वेदों में शासकों और प्रजा की एकता का आदर्श कितना उच्च स्तरीय और अभिन्न है। जब प्रजाजन शासक के अंग हैं तो जनता का दुख शासक का दुख है जिसे शासक को दूर करना चाहिए और आवश्यकता पड़ने पर जनता के घर भी जाना चाहिए। वह सभी मानवों के साथ एकसा व्यवहार करे और भेदभाव न करे।

राजसभाओं में एकता

ऋग्वेद का अन्तिम (10/191) मंडल राज सभाओं में एकता का अत्यन्त दिव्य दर्शन निम्न प्रकार प्रस्तुत करता है—

सङ्गच्छध्वं, सं वदध्वं, सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे, संजानाना उपासते।।
ऋग./10/191/2

"हे मनुष्यो! आप सब लोग एक साथ मिलकर चलो, मिलकर समान वचन बोलो, एकसा सोचो। जैसे आपके विद्वान पूर्वज सब सत्कर्मों को जीवन में एक होकर करते रहे हैं वैसे आप भी करते रहो।"

समानो मंत्र:, समिति: समानी, समानं-मन:, सहचित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रम, अभिमन्त्रये व:, समानेन वोहविषा जुहोमि।
ऋग./10/191/3

"आप सबका ध्येय एक हो, राज सभाओं के निर्णय सर्वसम्मति से एक हों, आपके मानसिक विचार और संकल्प एक से हों। हम आपको एक समान लक्ष्य, साधन और उपलब्धियों के लिये प्रेरित करते हैं।"

समानी व आकूतिः, समाना हृदयानि वः।
समान मस्तु वो मनो, यथा वः सुसहासति।।

ऋग./10/191/4

"आप सबकी इच्छा व हृदय की भावना एक सी हो। मन एक से हों, ताकि आप परस्पर प्रेम और सहयोग पूर्वक अच्छा जीवन पालन कर सकें।"

राज्य की सभा, सम्मितियों में एकता की प्रेरणा देने वाला यह सूक्त वेद के समता-पूर्ण दृष्टिकोण का ज्वलन्त उदाहरण है। सभी सभासदों को विवाद रहित होकर समान जनकल्याण का मार्ग अपनाना चाहिए ताकि राष्ट्र की उन्नति निरन्तर होती रहे।

परिवार में एकता

अथर्ववेद के तीसरे काण्ड के तीसवें सूक्त के पांच मंत्र, परिवार में एकता बनाये रखने की प्रेरणा इस प्रकार देते हैं––

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्

अथर्व/3/30/2

"परिवार में पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता के साथ प्रीति युक्त मन रखने वाला हो। पत्नी अपने पति से मीठे वचन बोले ताकि परिवार में शांति रहे।"

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षत् मा स्वसारं उत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

अथर्व/3/30/3

"भाई बहिन से और बहिन बहिन से द्वेष न करे, सभी समान लक्ष्य रखते हुए प्रेम की भावना से रहें।"

येन देवाः न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत् कृण्मः ब्रह्म वः गृहे सज्ञानं पुरुषेभ्यः।

अथर्व/3/30/4

"जिस प्रकार के व्यवहार से विद्वान लोग परस्पर पृथक भाव वाले नहीं होते और द्वेष नहीं करते मैं उसी व्यवहार को तुम्हारे परिवार के लिये निश्चित करता हूं। तुम्हें उसी मार्ग पर चलना है।"

ज्यायस्वन्तः चित्तिनः मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराः चरन्तः।
अन्यः अन्यस्मै वल्गु वदन्तः यात सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि।।

अथर्व./3/30/5

"तुम लोग पूर्वजों के आशीर्वाद से अपने-अपने रिश्ते-नातों को जानते हुए अपनी कर्तव्य शक्ति को सबके समान ध्येय प्राप्ति के लिए प्रयुक्त करो। शुद्ध भावना से साथ-साथ रहो, द्वेष न करो। प्रिय व मीठे वचन बोलकर एक दूसरे के समीप आओ। मैं तुम्हें एक साथ चलने वाला, सोचने वाला और शुभ कर्म करने वाला बनाता हूं।"

समानि प्रपा, सह वः अन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वः युनज्मि।
सम्यंचः अग्निं सपर्यत अराः नाभिं इव अभितः।।

अथर्व./3/30/6

"तुम्हारे पीने के पानी का स्थान एक हो, भोजन सम्मिलित हो, मैं तुम्हें भातृ भाव के समान प्रेम सूत्र में बांधता हूं। मिलकर ईश्वर की प्रार्थना करो और आपस में नियमित समान रूप से मिले रहो। जैसे पहिये के अर एक केन्द्र के चारों ओर घूमते हैं उसी प्रकार तुम परिवार रूपी केन्द्र के चारों ओर बंधे प्रेममय व्यवहार करते रहो।"

समाज में एकता व समानता :––

उपरोक्त सूक्त का पहिला और सातवां मंत्र सामाजिक प्राणियों में एकता स्थापित करने के लिये इस प्रकार प्रेरणा देता है:––

सहृदयं सामनस्यं अविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यः अन्यं अभिहर्यत, वत्सं जातं इव अघ्न्या।।

अथर्व. 3/30/1

"मैं तुम्हें समान हृदय वाला बनाता हूं। तुम्हें आपसी द्वेष से मुक्त करता हूं। तुम एक दूसरे से इस प्रकार प्रेम करो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े से प्रेम करती है।"

सध्रीचीनान् वः संमनसः कृणोमि,
एकश्नुष्टीन् संवेनन सर्वान्।
देवाः इव अमृतं रक्षमाणाः सायं प्रातः सौमनसः वः अस्तु।।

"मैं तुम सबको एक सा व्यवहार करने वाला बनाता हूं। मिलकर सामाजिक कार्यों में भाग लो। तुम्हारे भोजन तथा जीवन-यापन की सामग्री समान हो। देव पुरुषों की तरह तुम सद्कर्म और पुण्य के भागी बनो जिससे तुम्हारी सुबह और शाम शान्ति और प्रसन्नता दायक बनी रहे।"

ऋग्वेद के (5/59/6 व 5/60/5) मंत्रों में कहा है––

अज्येष्ठासः अकनिष्ठासः एते सं भ्रातरः वावृधुः सौभगाय

ऋग. 5/60/5

ते अज्येष्ठाः अकनिष्ठाः उद्भिदः
अमध्यमासः महसा वि वावृधुः

ऋग. 5/59/6

राष्ट्र में सभी मनुष्य जन्म से समान हैं। न कोई बड़ा है न कोई मध्यम और न कोई छोटा है। इस समानता के भाव को धारण करते हुये सब ऐश्वर्य व उन्नति के लिये प्रयत्न करते रहें। सभी वर्गों के मनुष्यों के साथ समान व्यवहार के लिये अथर्ववेद (19/62/1) कहता है––**"प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये"** अर्थात् चाहे आर्य हो चाहे शूद्र हो, राष्ट्र में सबके साथ समान नियम लागू होने चाहियें। ऋग्वेद (10/117/6) में कहा है––

मोघं अन्नं विन्दते अप्रचेता सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
न अर्यमणं पुष्यति न सखायं केवलाघः भवति केवलादी।।

ऋग. 10/117/6

जो मनुष्य धन संचय करता है और उससे अपने मित्रों, बन्धुओं का भला नहीं करता तथा अकेला ही उसका खान पान करता है वह पाप का भागी बनता है। अथर्व वेद में सहभाव के लिये सहभोजन पर इस प्रकार बल दिया है, **"सहभक्षाः स्याम"** (6/47/1) अर्थात् हम मिल बांटकर खान-पान वाले हों।

अथर्व वेद का एक मंत्र (12/1/45) निम्न प्रकार प्रेरणा देता है––

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं
नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

सहस्त्रं धारा द्रविणस्य में दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती।।
अथर्व. 12/1/45

रीति रिवाजों के मनुष्य रहते हैं किन्तु राष्ट्रहित कार्यों में उनको अपनी भिन्नता भुलाकर एक साथ ऐसे दृढ़ होकर खड़े रहना चाहिये जैसे दूध देते समय गाय स्थिर खड़ी रहती है।

इस मंत्र से स्पष्ट है कि हजारों वर्ष पूर्व दिया वैदिक उद्बोधन आज भी हमारे समाज और राष्ट्र की परिस्थिति पर बड़ी सत्यता के साथ लागू होता है। वैदिक ऋषियों को अन्दाज था कि कई प्रकार की भिन्नताओं में अलगाव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इसीलिये उन्होंने सामाजिक विभिन्नता में भी राष्ट्रीय एकता बनाये रखने पर जोर दिया है। सभी नागरिकों में समभाव, सद्भाव और सौहार्द्र की भावना की प्रेरणा दी है। यदि राष्ट्र के शासन तंत्र में, राज्य सभाओं में, समाज और परिवारों में अटूट स्थाई एकता बनी रहे तो राष्ट्र का व्यक्तित्व इतना शक्तिशाली हो जाये कि कोई भी बाहरी शक्ति उसको नुकसान न पहुंचा सके और हमारा राष्ट्र विश्व के समस्त राष्ट्रों में अग्रणी बन जाये।

यजुर्वेद के बाइसवें अध्याय का बाइसवां मंत्र वेद के राष्ट्रीय गीत के नाम से प्रसिद्ध है जोकि राष्ट्रीय विचारों से ओत प्रोत कुछ भारतीय शिक्षण संस्थाओं में प्रातः सामूहिक प्रार्थना के रूप में गाया जाता है। स्वस्थ, सुखी, समृद्ध राष्ट्र के लिये जो भी मूलतः अपेक्षित है उस सबकी अभिलाषा इसमें अभिव्यक्त की गई है। यह राष्ट्रीय गीत इस प्रकार है--

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणः ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्यः शूरः इषव्यः अतिव्याधी महारथः जायताम्। दोग्ध्री धेनुः वोढा अनड्वान्, आशु सप्तिः, पुरंधि योषा, जिष्णुः रथेष्ठा, सभेयः युवा, अस्य यजमानस्य वीरः पुत्रः जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यः वर्षतु। फलवत्यः नः ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमः नः कल्पताम्।।
यजु. 22/22

"प्रभु, हमारे राष्ट्र के ज्ञान विज्ञान में लगे बुद्धिजीवी तप और उत्तम ज्ञान से सदैव सुशोभित रहें। राष्ट्र रक्षक सैनिक प्रभावकारी अस्त्र शस्त्रों से परिपूर्ण रहें और विजय प्राप्त करें। देश धन-धान्य व सभी उपयोगी वस्तुओं से पूर्ण रहे। गृहधर्मिणी महिलायें घरों को सुखी बनाती रहें। सभी सामाजिक प्राणियों में प्रेम बना रहे। वर्षा ठीक समय पर होती रहे। औषधियां मिलती रहें तथा सबका सुख कल्याण निरंतर बना रहे।"। इस प्रकार इस राष्ट्र गीत में देश की सर्वतोमुखी उन्नति की कामना की गई है।

आज देश में उठ रहे वर्ग, जातीय, प्रान्तीय, धार्मिक, भाषागत और अन्य सभी प्रकार के द्वेष और संघर्ष राष्ट्र के हित में नहीं हैं अतः वैदिक सांस्कृतिक सन्देश की दृष्टि में इन्हें समाप्त कर देना चाहिए तथा जो एकता को नष्ट करने वाले असामाजिक और विघटनकारी तत्व हैं उन्हें राज्य की जानकारी में लाना चाहिये। राष्ट्र की सम्पत्ति हम सबकी सम्पत्ति है उसे नुकसान होने से बचाना चाहिये। एक दूसरे की धार्मिक, भाषागत, और प्रान्तीय भावनाओं का आदर करते हुए एकता के साथ शान्ति से रहकर देश की प्रगति और समृद्धि में पूर्ण योगदान करना ही हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है और यी वैदिक संस्कृति का राष्ट्रीय उद्बोधन है।

तुलसी का दार्शनिक दृष्टिकोण

डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामचरितमानस में किस दर्शन का प्रतिपादन है? इस बात को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी ने काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पत्रिका में बड़े विस्तार से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मानस में शाङ्कर अद्वैत का प्रतिपादन है। पण्डित बलदेव मिश्र ने तुलसी के दार्शनिक दृष्टिकोण पर विस्तार से विचार किया है और निष्कर्ष निकाला है कि मानस दर्शन विशिष्टाद्वैत के सन्निकट है, किन्तु मिश्र जी ने यह भी स्वीकार किया है कि मानस में शाङ्कर अद्वैत भी विद्यमान है। इस प्रकार आपने तुलसी को समन्वयवादी दृष्टिकोण पर जोर देने वाला बतलाया है। अब ऊपर के इन दो मनीषियों के विचारों की समीक्षा कर लेना हम आवश्यक समझते हैं और इसके पश्चात् ही हम तुलसी के दार्शनिक पक्ष को प्रस्तुत करेंगे। जहां तक महामहोपाध्याय जी के व्यक्तित्व और ज्ञान का प्रश्न है, उस पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता, किन्तु जब हम तटस्थ दृष्टि से उनके मत की समीक्षा करने लगते हैं, तब उसमें अनेक दोष दिखलायी पड़ते हैं। शांकर दर्शन का मान्य सिद्धान्त है संसार का मिथ्यात्व, जीवेश्वर के अंशांशि-भाव को भी यह दर्शन स्वीकार नहीं करता। अविद्या का स्वरूप और उसका कार्य यह जगत् नितान्त मिथ्या है, ऐसी शाङ्कर दर्शन की मान्यता है। **"ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या"**। किन्तु मानस में स्पष्ट ही जगत् को ब्रह्मस्वरूप मानकर मानसकार गोस्वामी तुलसीदास ने इसकी सत्यता का प्रतिपादन किया है। शाङ्कर दर्शन भक्ति को ज्ञान की अपेक्षा कभी भी श्रेष्ठ नहीं मानता। इस दर्शन के अनुसार भक्ति केवल अन्तःकरण की शुद्धि का साधन है और ज्ञान ही चरम फल है। किन्तु मानसकार ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ माना है। उदाहरण स्वरूप जब भगवान तारा को समझाते हैं तब उसे ज्ञान हो जाता है किन्तु तारा भगवान से भक्ति की प्रार्थना करती है जैसे---

"उपजा ज्ञान चरण तब लागी। लीन्हेंसि परम भक्ति वर मांगी।।"

इतना ही नहीं, शांकर दर्शन भक्ति को भले ही ज्ञान से श्रेष्ठ न मानता हो किन्तु कवि तो भगवान् से यही प्रार्थना करता है कि नाथ!

"कामिहिं नारि पियारि जिमि,
लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर,
प्रिय लागहु मोहिं राम।।"

जीव को तुलसी न तो प्रतिबिम्ब स्वीकार करते हैं और न तो अविद्या का कार्य। किन्तु कवि कहता है---

**"ईश्वर अंश जीव अविनाशी।
चेतन अमल सहज सुखराशी।।"**

जगत को भी कवि ने "सीय राम मय सब जग जानी" कहकर ब्रह्म रूप में ही नमन किया है। कहीं-कहीं मानस में भक्ति से ज्ञान को श्रेष्ठ बतलाया है और इस कारण विद्वानों को यह भ्रम होना स्वाभाविक था कि कवि पर शांकर दर्शन का प्रभाव है, किन्तु मानस के अनुशीलन से पाठकों को यह स्पष्ट हो जाएगा कि जहां भी कवि ने भक्ति से ज्ञान को श्रेष्ठ बताया है वहां कवि का तात्पर्य भक्ति से न होकर उपासना से है।

"सेवक सेव्य भाव बिनु, भव न तरिय उरगारि।"

यह उपासना है और उपासना से ज्ञान निश्चय ही श्रेष्ठ है। यद्यपि यह क्रम शाङ्कर मत में स्वीकृत नहीं है फिर भी कर्म, उपासना, ज्ञान और भक्ति यह मानसकार को अभीष्ट है। इस तरह स्पष्ट ही मानस में हम जिस दार्शनिक दृष्टिकोण को पाते हैं वह शांकर दर्शन से नितान्त भिन्न है।

पण्डित श्री बलदेव मिश्र जी कवि को विशिष्टाद्वैती होना स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि तुलसी रामानन्द की परम्परा में हुए हैं और रामानन्द-दर्शन विशिष्टाद्वैत दर्शन का ही एक विभाग है। अतः मानस कार पर विशिष्टाद्वैत की छाप होना स्वाभाविक एवं आवश्यक है।

मिश्र जी मानस के मर्मज्ञ विद्वानों में फिर भी उनके मत में जो कुछ त्रुटि मुझे दिखलायी पड़ती है उसे निवेदन करना अपना कर्तव्य समझता हूं। सबसे

खटकने वाली बात मिश्र जी की यह है कि वे कवि को रमानन्दी-वैष्णव स्वीकार करते हैं। रामानन्द सम्प्रदाय रामानुज का ऋणी है, यह बात निर्विवाद है। रामानन्द दर्शन पर भी रामानुज दर्शन की ही छाप है। भले ही रामानन्द-सम्प्रदाय का दीक्षामन्त्र या उपासना-प्रणाली उनकी अपनी है। रामानुज मत की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह है उनकी शिव के प्रति द्वेष बुद्धि।

श्री रामानुज भाष्य में भाष्यकार ने स्वयं शिव को जीव-कोटि स्वीकार किया स्वयं रामानुज को इस शिव द्वेश के कारण ही शैव राजा से त्रस्त होकर दक्षिण से भागना पड़ा था, किन्तु मानसकार शिव तत्व को ईश्वर कोटि में स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं शिव की कृपा के बिना जीव भगवद्भक्ति का अधिकारी भी नहीं हो सकता? ऐसी कवि की मान्यता है। ईश्वर साक्षात्कार के लिये कवि ने शिव-कृपा को आवश्यक माना है। जैसे——

"भवानी शंकरौ वन्दी श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धाःस्वान्तस्थमीश्वरम्।।"

कवि ने मोक्ष देने का अधिकारी एकमात्र शिव को ही स्वीकार किया।

कवि कहता है कि ——

"जासु नाम बल शंकर कासी। देत सबहिं समगति अविनासी।"

शिव और विष्णु में कवि की अभेद-बुद्धि है। जो लोग कवि को रामानन्दी-वैष्णव सिद्ध करना चाहते हैं उनसे मेरा एक विनम्र निवेदन है। कवि का प्राकट्य प्रदेश के जिस भाग में हुआ था, वहां सरयूपारीण ब्राह्मण स्मार्त होते हुए भी वैष्णव तिलक लगाते हैं तथा पंचदेवोपासक होते हैं। तुलसी इसी प्रकार के वैष्णव थे एवं कवि पंचदेवोपासक था, क्योंकि कवि की कृतियों को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि कवि ने समान रूप से पंचदेवों की स्तुति ईश्वर बुद्धि से की है ।

रामानुज-दर्शन ने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता को स्वीकार किया है, किन्तु कवि ने ज्ञान को उपेक्षणीय नहीं माना है। कहीं-कहीं उसे भक्ति से भी श्रेष्ठ माना है। रामानन्द ने वर्णाश्रम-व्यवस्था पर जिस प्रकार कठोर प्रहार किया है वह कवि को अभीष्ट नहीं है। तुलसी-वर्णाश्रम व्यवस्था के कट्टर समर्थक हैं। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता उन्हें स्वीकृत है, भले ही वह ब्राह्मण कैसा भी क्यों न हो? कवि के शब्दों में :

"पूजिय विप्र सील गुण हीना।
शूद्र न गुन-गन ज्ञान प्रवीना ।"

वर्णाश्रम-व्यवस्था एवं ब्राह्मणों के प्रति सर्वोच्च भाव कवि के स्मार्त होने की ही पुष्टि करते हैं। ऐसे लोग जो वर्णाश्रम-व्यक्षुब्ध दिखलाई पड़ता है जो वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रति विरोधी रुख अपनाए हुए थे। उन्हें कवि दम्भी-पाखण्डी कहने से भी नहीं चूकता। जैसे ——

"दम्भिन निज मति कलिपि करि प्रकट कीन्ह बहुपन्थ।"

इस प्रकार कवि की दृष्टि स्पष्ट ही रामानन्द या रामानुज से भिन्न है।

उक्त तथ्यों पर ध्यान देने से पता चलता है कि कवि शंकर एवं रामानुज दोनों से स्वतन्त्र एक नए दृष्टिकोण को प्रस्तुत करना चाहता है——वह नया दृष्टिकोण क्या है? इस पर भी इस निबन्ध में संक्षेप से विचार कर लेना आवश्यक है।

कवि की दृष्टि में जगत सत्य है तथा जगत और ब्रह्म में अभेद है। भक्ति की श्रेष्ठता को कवि निर्विवाद रूप में स्वीकार करता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रति कवि की अटूट श्रद्धा है। माया का स्वरूप बतलाते हुए कवि कहता है——

"मैं अरु मोर तोरु तैं माया" अर्थात अहंकार और ममत्व ही माया है और वही बन्धन का कारण है।

सूर के काव्यों में भी दार्शनिक सिद्धान्त स्थिर करते समय विद्वानों को भ्रम हुआ है, किसी को भी स्पष्ट निर्णय करने में कठिनाई हुई है, जबकि सूर श्रीमद्वल्लभाचार्य जी के शिष्य थे। सबसे बड़ी बात मानस में यह है कि मानसकार जीव और ब्रह्म के अभेद को स्वीकार करते हैं। इस जीव और ब्रह्म के अभेद ने ही विद्वानों को यह सोचने के लिये प्रेरित किया कि मानव में शंकर अद्वैत है, किन्तु ऐसा करते समय वे यह भूल गये कि शांकर अद्वैत के साथ मानस की भक्ति का समन्वय कैसे है? और इस कारण ही नाना प्रकार की क्लिष्ट कल्पनायें करनी पड़ीं। तुलसी जिस अद्वैत को स्वीकार करते हैं वह अद्वैत शांकर और रामानुज दोनों अद्वैतों से भिन्न शुद्धाद्वैत है। शुद्धाद्वैत मत के अनुसार जीव ब्रह्म का अभेद, अंश-अंशीभाव, जगत की सत्यता, शिवतत्व की श्रेष्ठता, ज्ञान से भक्ति का उत्कर्ष स्वतः सिद्ध है। इस मत के अनुसार कर्म, उपासना, ज्ञान और भक्ति ये क्रमिक सोपान हैं। जब कवि ज्ञान को भक्ति से श्रेष्ठ बतलाता है तब उसका तात्पर्य उपासना से रहता है, किन्तु जहां ज्ञान से भक्ति को श्रेष्ठ बताया है वहां कवि का तात्पर्य भक्ति से रहता है।

ईश्वरेणेच्छया चिदानन्दाशति रोभावेन सदंशात् प्रादुर्भावितं यत्तज्जगत

पंचयार्यात्मक विषप जीव ने कल्पितो हता-ममतात्मकः संसारः ।

अस्तु। अहंकार और ममत्व ही अर्थात् मैं और मेरा, तैं और तेरा, यह संसार ही मिथ्या है। इस मत के अन्वेषण के लिए कवि को दूर जाने की अपेक्षा भी नहीं थी, कवि के थोड़े ही पहले श्रीमद्-वल्लभाचार्य जी प्रकट होकर इस दार्शनिक सिद्धान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। इन आचार्यों ने भक्त, भक्ति तथा भगवान् का जो उद्घोष किया था, वह कवि श्री गोस्वामी तुलसीदास जी को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त था।

पुस्तक समीक्षा

पुस्तक का नाम : स्मेकल की प्रतिनिधि कविताएं

संपादक : श्री जगदीश चन्द्र 'जीत'

प्रकाशक : श्री शान्ति कुंज प्रकाशन
ए 20/4, मीरा मार्ग,
राणा प्रताप बाग,
दिल्ली-110 007 ।

पृष्ठ संख्या : 64

मूल्य : 25/-रु.

अनुभूति की सरलता में कविता का संसार

डा. ओदोलेन स्मेकल की कविताएं पढ़कर सहज ही यह बात मन में आती है कि उनकी कविताओं को कविता के संसार में अनुभूति की सहजता के रूप में लिया जाए या अनुभूति की सरलता में बुने हुए कविता के संसार की बात की जाए। लेकिन इतना तो मानना पड़ता है कि हिन्दी कविता की संरचनात्मक क्षमता को पूरी तरह से आत्मसात न करते हुए भी कवि स्मेकल ने प्रकृति प्रेम, कोमलता आदि भावों की सहजता को व्यक्त किया है। वे चैकोस्लोवाकिया के हिन्दी कवि हैं अर्थात् विदेशी भाव भूमि और संस्कृति में जीते हुए उन्होंने हिन्दी में भारत भूमि के प्रति, और भारतीय जीवन पद्धति के प्रति अपनी भावनाएं व्यक्त की हैं । इस रूप में इन कविताओं का मूल्य काफी अधिक हो जाता है लेकिन जब हम समकालीन रचना धर्मिता की तुलना में इन्हें देखते हैं तो यह काफी हद तक उसके साथ नहीं चल पाती।

स्मेकल ने लिखा है कि जिस क्षण--

जीवन की छवियां
छूने में समर्थ न हो पाऊं
अस्ताचल गामी सूरज न देख पाऊं ।
सांस का यह हिंडोला चाह कर भी न हिला पाऊं ।
उसी क्षण मेरी देह
पवित्र मां गंगा के तट पर
क्षार कर देना ।

अर्थात् एक व्यक्ति के रूप में स्मेकल गंगा के तट पर अपने चरम क्षणों को जीना चाहते हैं। जहां तक अनुभूत सत्य का प्रश्न है यह गंगा के प्रति भावात्मक अभिव्यक्ति बहुत आन्दोलित करती है। किन्तु रचना पक्ष की दृष्टि से इसमें कविता बहुत कम है और केवल भाव की अभिव्यक्ति हो पाई है । पर किसी भी स्तर पर कविता के कवितात्व के प्रश्न को स्मेकल की कविताओं के आधार पर विश्लेषित भी नहीं किया जाना चाहिए ।

रचना का एक पक्ष हमें बहुत प्रभावित करता है कि स्मेकल का कवि मानव मूल्यों को बड़े व्यापक स्तर पर चित्रित करता है और उन्हें जीवन के विकास का मूल आधार मानता है । यह सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि के कारण है या राजनैतिक-- कि वह--कहता है कि--

यह आनन्द अपने देश में
कहां देखूं--

अर्थात् जीवन जीने की जो सुखात्मक अनुभूति कवि को भारत में होती है वह उसे अपने देश में नहीं हो पाती । यूरोपीय देशों में नई भौतिकता ने जिस जीवन पद्धति को विस्तारित किया है शायद यह उसके विरोध में आश्रम और ग्रामीण संस्कृति के समन्वित रूप का प्रतिपादन करता है और यही नहीं कि वह आत्म के विकास को इस स्तर तक ले जाना चाहता है जहां उसका चिन्तन भारतीय चिन्तन को मूल गुणवत्ता का स्पर्श करता है।

छूट जा
तनिक मौन तो सुनना सीख
मौन
निज अस्मिता की प्रज्ञा
जीते जी बन भुक्तचेता
बन अपरिग्रहवान
जीते ही जीते अपना ले
संतुलित निर्माण ।

इस तरह ये केवल भारतीय चिन्तन के पारिभाषिक शब्दों से बनी कविता मात्र नहीं है वह लेखक की पूरी सोच को व्यक्त करती है। यही कारण है कि वह दीपकों के देश में --धूल भरी आंधियों में--दीपकों, लालटेनी शामों के देश में, अपना घर अनुभव करता है। लेकिन मैं, यह नहीं जान पाता कि स्मेकल

का कवि स्नेहसूत्र की कविताएं लिखते हुए यदि भारत को या भारत की चेतना को पूरी तरह से काव्यानुभव में व्यक्त करते हैं तो उन्हें नन्हीं गुड़िया और छोटे भाई बहनों का प्रेम याद आता है और इस देश में फैली व्यापक गरीबी, भुखमरी, और जीने के संघर्ष की स्थितियों को वे क्यों भूल जाते हैं? मुझे स्मेकल की कविताओं में अनुभूति के स्तर पर दो बातें बहुत बुरी तरह से खटकने वाली लगी। पहली तो यह कि इन कविताओं में उनके अपने देश की संस्कृति, सभ्यता और जीवन पद्धति का संघर्ष तथा साहचर्य व्यक्त नहीं हुआ है। दूसरे भारत को भी उन्होंने नितान्त भावात्मक दृष्टि से देखा है। यथार्थवादी दृष्टि से नहीं। एक यथार्थवादी देश या कहना चाहिए कि समाजवादी देश के कवि से गहरी दृष्टि की अपेक्षा की जा सकती है। क्या कोई विदेशी कवि जब किसी दूसरे देश की सोच और जीवन प्रक्रिया को कविता का आधार बनाता है तो केवल प्रशंसा ही एक मात्र केन्द्र हो सकती है? या कहीं विदेशी होने की भावना भी अभिव्यक्ति के सकुचन में कारण बनती है क्योंकि जब स्मेकल कहते हैं कि

जहां
मां का अंतःकरण
अकाल से नहीं डरता
और बच्चे को न लगे भूख
जहां
गंगाजल
हरियाली से मरुस्थल भरता
वहां
जीना कहलाता सुख

यह सुख जितना स्मेकल अनुभव करते हैं उतना कोई समकालीन भारतीय कवि अनुभव नहीं कर पाता। इसका कारण शायद केवल यही है कि जिस संघर्ष की भूमि पर हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का कवि रचना में दत्तचित है या अपनी पूरी रचनात्मक क्षमता का प्रयोग कर रहा है उस स्तर पर इस देश के संघर्ष को स्मेकल का कवि नहीं देख पाया। और इस प्रकार के अनुभव के संकलन में क्या स्थायी कविता का जन्म हो सकता है और प्रश्न केवल स्थायी कविता का भी नहीं रह जाता प्रभाव सम्पन्न और सार्थक कविता का भी होता है।

डा.. विनय

सम्पादक की डाक से

महोदय,

कल, आपकी पत्रिका पढ़ते-पढ़ते हम दो-चार मित्रों में चर्चा हो गई इसका सारांश नीचे है :—

यदि कोई विश्व संस्कृति सम्मेलन हो, जिसमें विश्व की विभिन्न संस्कृतियों का समागम हो तो उसमें भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व कौन कर सकता है।

यह उल्लेखनीय है कि ऐसे सम्मेलन में, व्यक्तिविशेष भाग नहीं लेंगे, बल्कि किसी भी संस्कृति का प्रतिनिधित्व व्यक्तियों द्वारा होगा।

व्यक्तिविशेष की कीर्ति और यश, संस्कृतिविशेष में उसके योगदान से, व्यक्तित्व का चुनाव किया जायेगा। चूंकि इसमें व्यक्ति विशेष का भौतिक या पार्थिव शरीर भाग नहीं लेगा इसलिए इसमें अतीत के या वर्तमान के किसी भी व्यक्तित्व को शामिल किया जा सकता है।

यह आवश्यक है कि वह व्यक्ति भारत की सामाजिक संस्कृति का जीवंत रूप हो। किसी भी धर्म का हो, किसी भी जाति का हो, किसी भी भाषा का हो, इससे कोई मतलब नहीं।

इस प्रतिनिधि मंडल के नेता, भारतीय संस्कृति की ओर से, इस सम्मेलन के लिए "पांच" संदेश ले जायेंगे। स्वाभाविक है कि ये पांच संदेश भी शाश्वत स्वरूप के होंगे।

आपसे अनुरोध है कि इस बारे में अपने विचार भेजें कि भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने के लिए किस व्यक्तित्व को चुनना चाहिए और भारतीय संस्कृति के पांच शाश्वत सन्देश कौन से होने चाहिए ।

हमारे एक मित्र ने अनौपचारिक रूप से निम्नलिखित कुछ संदेश प्रस्तुत किए हैं :—

1. सत्यमेव जयते
2. वसुधैव कुटुम्बकम्
3. **तत्वमसि**
4. **ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या**
5. **आत्मवत् सर्वभूतेषु**
6. **सर्वे भवंतु सुखिनः**

—आलोक भारद्वाज,
1/7137, शिवाजी पार्क,
शहादरा, दिल्ली-110 032

(आपके पत्र ने हमें भी काफी कुछ सोचने के लिए मजबूर किया। भारत में जन्म लेने वाली ऐसी महान आत्माएं एक-दो नहीं। फिर, यह जरूरी नहीं है कि हमारे विचार से पाठक गण भी सहमत हों, क्योंकि हमारे अधिकांश पाठक स्वयं भी खासे पढ़े-लिखे और विचारक हैं। उनकी राय जानना अधिक उपयुक्त होगा—"मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना"। इसलिए हम आपका पत्र छाप रहे हैं—**सम्पादक**

1. "संस्कृति" पत्रिका ने बेहद उतार चढ़ाव देखें हैं। अब आपने इसकी जिम्मेदारी सम्भाली है। मेरी शुभकामनाएं। पत्रिका का मूल्य बढ़ाने के साथ-साथ पृष्ठों की संख्या और स्तर भी बढ़ा दें तो यह पैम्फलैट के स्तर से उठ जाएगी।"

11. विशेषांक से शुरुआत करें।

मेरी शुभकामनाएं साथ हैं—महाजनों येन गतः स पन्थाः (पृष्ठों की संख्या आप देख ही रहे हैं। स्तर के बारे में कृपया निर्णय दें। —सम्पादक)

रमेश कुंतलमेघ,
प्रोफेसर,
हिंदी विभाग,
गुरू नानक युनिवर्सिटी,
अमृतसर-143 005

शिक्षा-संस्कृति मंत्रालय की पत्रिका "संस्कृति" ने अब तक भारतीय इतिहास और संस्कृति के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण सामग्री प्रकाशित की है।

—डा. कृष्णदत्त बाजपेयी,
एच/15, पदमाकर नगर,
सागर (मध्य प्रदेश)-470 004

"संस्कृति" के द्वारा भारतीय-संस्कृति के अनेकानेक पक्षों के उद्घाटन/प्रकाशन का आपका यह प्रयास प्रशंसापेक्षी है। कामना है, "संस्कृति" की चिरवाहिका बने।

सद्भावनाओं सहित

—डा. ओमप्रकाश सारस्वत,
ओवर-विला,
कैथू, शिमला-3

विनय पत्रिका*

(लेखकों के प्रति/पाठकों के निमित्त)

सत्य परख कर भेजें प्रियवर
लेख सरल भाषा में लिखकर
तथ्यपरक कर; संभव हो तो
दो प्रतियों में टाइप कराकर ।।

ताकि कल की युवा पीढ़ी
कुछ आलोकित हो ।
ज्ञान मिले, जिज्ञासु शांत हों,
भ्रांति दूर, मन यदि शंकित हो।।

तथा आज के पंडित बोलें, आतुर से थे,
यही लेख था, जिसकी थे हम राह देखते ।

राय आपकी, सृजन आपका,
अभिव्यक्ति और भाव आपका ।
वाणी, भाषा, तत्व आपका,
इसीलिए दायित्व आपका ।।

यह "संस्कृति" तो मंच मात्र है,
ज्ञान सुधा दो, दान पात्र है ।
और यदि हों, आप जानते किसी विदुर को,
ज्ञान सरोवर, ज्योतिपुंज को, तत्वविज्ञ को ।

देश-विदेश की संस्कृतियों के, किसी पक्ष के,
किसी क्षेत्र के, भाषा के, और विषयविशेष के ।
पाती डालें, हमें बतायें, हम जायेंगे,
दो बूंदें, अमृत की सब के हित लायेंगे,
सदा आपके गुण गाएंगे ।

हम तो केवल चरण धूलि हैं,
विद्वानों के, सुधीजनों के,
संस्कृतियों के, सरस्वती के
उपासकों के, प्रेमीजन के
हम तो केवल चरण धूलि हैं ।।

यही हमारी आकांक्षा है,
यही हमारा अनुराग है
यही प्रेरणा, यही लक्ष्य है
इच्छाओं का चिर सुहाग है
हम तो केवल चरण धूलि हैं ।।

—सम्पादक

---

*महाकवि तुलसीदास जी के प्रति आभार सहित।

यो सहस्सं सहस्सेन सङ्गामे मानुसे जिने ।
एकं च जेय्यमत्तानं स वे सङ्गामजुत्तमो ।

धम्मपदं--103

हजार संग्रामों में हजारों मनुष्यों को जीतने वाले से भी अपने आपको जीतने वाला कहीं उत्तम संग्राम-विजेता है।

अत्ता हवे जितं सेय्यो या चायं इतरा पजा ।
अत्तदन्तस्स पोसस्स निच्चं सञ्ञतचारिनो ।।

नेव देवो न गन्धब्बो मारो सह ब्रह्मुना ।
जितं अपजितं कयिरा तथा रूपस्स जन्तुनो ।।

धम्मपदं--104/105

अन्य लोगों को जीतने की अपेक्षा अपने आप को जीतना श्रेयस्कर है। जो अपने को दमन करता है, नित्य आत्मसंयम से रहता है, उसकी इस जीत को न कोई देव, न कोई गन्धर्व, न ही ब्रह्मा सहित मार, हार में बदल सकते हैं।

अतीतं नान्वागमेय्य न पटिकंखे अनागतं ।
यं अतीतं पहीणं तं अप्पत्तंच अनागतं ।।

पच्चुपन्नंच यो धम्मं तत्थ तत्थ विपस्सति ।
असंहीर असंकुप्पा तं विद्वा अनुब्रूहये ।।

(मज्झिम निकाय--131)

भूतकाल को यादकर व्यग्र-व्याकुल न हों, भविष्य की कपोल-कल्पना के प्रति कामनाग्रस्त न हों। भूतकाल तो बीत चुका, भविष्य अभी आया नहीं। इस क्षण जो-जो जहां-जहां उत्पन्न हुआ है, उस धर्म को, उस स्थिति को, समझदार आदमी वहां-वहां देखे। परन्तु न राग-रंजित होकर उससे चिपके और न ही द्वेष-दूषित होकर उससे कुपित हो। इस प्रकार अनासक्त हो, साक्षी स्वभाववाली विपश्यना का अभ्यास करे, उसका विकास करे।

धम्म वाणी

सीलमेव इध अग्गं, पञ्ञवा पन उत्तमो ।
मनेस्सेसु च देवेसु, सील पञ्ञाणतो जयं ।।

--थेर गाथा -70 (पुण्णो थेरो)

यहां, धर्म के क्षेत्र में, शील ही प्रमुख है, अग्र है; प्रज्ञा ही प्रधान है, उत्तम है। शील और प्रज्ञा से ही मनुष्यों और देवताओं में सही विजय होती है।

नदस्योस्य नाड्यो प्रयातनु रूहाणि,
महीं रूहा विश्व तनो नृपेन्द्र:
अनन्त वीर्या श्वसितं मातरिश्वा,
गतिर्वयः कर्म गुण प्रवाह ।।

अर्थात् (हे राजन!), नदियां उस विश्व मूर्ति विराट पुरुष की नाड़ियां हैं, वृक्ष रोम कूप हैं, परम प्रबल वायु श्वास है, काल गति है, और गुणों का प्रवर्तन ही उनका कर्म है।"

"संस्कृति" पत्रिका के लिए, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, पर विचारोत्तेजक, ओजपूर्ण और भावपूर्ण लेख आमंत्रित हैं। देश-विदेश की सांस्कृतिक परियोजनाओं, कार्यकलापों तथा प्रयोगों सम्बन्धी वस्तुनिष्ठ, और पूर्णरूपेण निष्पक्ष, सामग्री का भी स्वागत है।

"संस्कृति", के लिये हस्तलिखित अथवा टाइप की हुई दोनों ही प्रकार की रचनाएं स्वीकार की जाती हैं परन्तु रचना की दो टाइप प्रतियां भेजने पर और रचना के प्रकाशित हो जाने पर, लेखकों को 2/- रुपये प्रति पृष्ठ (दोनों प्रतियों के लिए) के हिसाब से टाइपिंग खर्च भी दिया जाता है।

"संस्कृति" में सचित्र लेखों को प्राथमिकता दी जाती है। लेखों के साथ, फोटो, आरेख, चित्र, ट्रांसपरेंसी, आदि पर हुए, खर्च की भी प्रकाशित होने पर, यथोचित प्रतिपूर्ति की जाती है।

"संस्कृति" में छपने के लिए भेजी जाने वाली सामग्री, यथासंभव सरल और सुबोध भाषा में होनी चाहिए ।

"संस्कृति" के लिए लेख आदि सामान्यतः आठ पृष्ठों से (2500 शब्दों) से अधिक न हो और हाशिया छोड़कर कागज़ के एक ओर ही टाइप किए जाने चाहिए/ लिखे जाने चाहिए।

"संस्कृति" में प्रकाशनार्थ अनुवाद तथा लिप्यंतरण के साथ मूल लेखक की अनुमति भेजना आवश्यक है। पूर्व प्रकाशित/प्रसारित लेखों के बारे में भी कापीराइट के स्वामी की अनुमति आनी चाहिए।

चित्र पहेली का उत्तर

भारतीय मूर्तिकला की एक प्रमुख शाखा है कांस्य प्रतिमाएं। धातु ढलाई की कला को भारत में बहुत महत्व प्राप्त था और यह कला एक प्राचीनतम कला है। धातु की मूर्तियां '(साथर परड्यू') अर्थात् मोम को पिघला कर खत्म कर देने की प्रक्रिया से तैयार की जाती थी। इस प्रक्रिया का यह नाम इसलिए पड़ा है कि मोम की वह मूर्ति जो कि सारे धातु कर्म का आधार होती थी उष्णता देकर खत्म कर दी जाती थी और उसके पीछे रह जाता था एक सांचा जिसका प्रयोग वास्तविक ढलाई के लिए किया जाता था। मूर्ति का प्रारुप पहले मोम से बनाया जाता था और फिर इस पर मिट्टी चिपका दी जाती थी जब मोम पिघला दिया जाता था तो तरल धातु को उस सांचे में ढाला जाता था। यही प्रक्रिया थी जो अनेक सुन्दर और ठोस कांसे अथवा पीतल की मूर्तियों के निर्माण के लिए प्रयुक्त की जाती थी। इसमें से अनेक मूर्तियां बहुत बड़े आकार की भी होती थीं। इस तकनीक से तैयार की गई प्राचीनतम कांस्य प्रतिमाएं सिंधु घाटी में मिली हैं। इसमें से एक बहुत ही महत्वपूर्ण कांस्य प्रतिमा है, एक नर्तकी की जिसकी बाहें और टांगे बहुत नाजुक हैं और चूड़ियों और कड़ों आदि से भरी हुई हैं।

यह मूर्ति 2500 ई. पू. से सम्बन्धित है और मोहनजोदड़ो की खुदाई में मिली है।

संपादकीय

समृद्ध सामासिक भारतीय संस्कृति में अभिव्यंजित देश के विभिन्न भागों की विशेषताओं को, अनेकता में एकता को अभिव्यक्त करने वाली भारतीय संस्कृति के विभिन्न रूपों को त्रैमासिक पत्रिका "संस्कृति" के अलग-अलग अंकों में देने की योजना के अनुसरण में "संस्कृति" के पिछले अंक में अर्थात् अंक 79 में भारत के उत्तरांचल से आरम्भ करते हुए जम्मू-कश्मीर और हिमाचल प्रदेश की सांस्कृतिक विशेषताओं को प्रस्तुत करने वाले विभिन्न पहलुओं पर लेख दिए गए थे। उसी क्रम में संस्कृति के इस अंक 80 में भारत के उत्तरांचल के एक और महत्वपूर्ण क्षेत्र कुमाऊं और गढ़वाल की विभिन्न सांस्कृतिक उपलब्धियों और विशेषताओं के कुछ पहलुओं को प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है।

उत्तराखंड अनादिकाल से भारतीय दार्शनिक चिंतन और आध्यात्मिक साधना का स्थल रहा है, अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य स्थल रहा है और साथ ही लोक संस्कृति का भी सुन्दर केन्द्र रहा है। अनेक धार्मिक स्थानों और तीर्थ-स्थलों के लिए प्रसिद्ध यह क्षेत्र अलौकिक प्राकृतिक सौंदर्य तथा शांत और सुरम्य वातावरण के लिए साधकों और पर्यटकों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है। उत्तराखंड की ऐसी समृद्ध और प्रेरक संस्कृति का एक चित्र प्रस्तुत किया है डॉ. शीतांशु भारद्वाज ने इसी शीर्षक के लेख में डॉ. श्याम प्रकाश ने हिमालय की सांस्कृतिक संपदा को उजागर किया है। डॉ. श्रीमती स्नेहलता ने अपने लेख हिमालय का केदार खंड को भारतीय संस्कृतिक के देवालय नाम से अभिहित किया है जो सर्वथा समीचीन और सार्थक है। कुमाऊं के प्राचीन मंदिरों के दर्शन कराएं हैं श्री भुवनलाल शाह ने और श्री यमुनादत्त वैष्णव "अशोक" ने कैलास मानसरोवर यात्रा के परंपरागत और आज के स्वरूप को प्रस्तुत किया है तथा गिरीराज शाह ने फूलों की घाटी की परि–क्रमा प्रस्तुत की है। कुमाऊं प्रदेश लोक साहित्य, लोक कला, स्थापत्य कला, आदि के लिए प्रसिद्ध है। डॉ. नारायण दत्त पालीवाल ने कुमाऊंनी साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है और डॉ. प्रयाग जोशी ने कुमाऊं-गढ़वाल की लोक गाथाओं के अध्ययन की जानकारी दी है। डॉ. परमानंद चौबे ने वहां की समृद्ध और विशिष्ट स्थापत्य कला का विवरण प्रस्तुत किया है। श्री मोहन सिंह मावड़ी ने कुमाऊंनी संस्कारों में लोक चित्रांकन का उल्लेख किया है और डॉ. उमेश पंत ने कुमाऊंनी लोक गीतों में जन जीवन को उजाकर किया है। इसके अतिरिक्त कुमाऊंनी लोक साहित्य, लोक गाथाओं, लोक गीतों, आदि के विभिन्न पहलुओं को श्री प्रेमलाल भट्ट, डॉ. मोहन चन्द्र पंत, कु. दीपा सुधीर, श्री जगदीश जोशी, श्री प्रेम सिंह नेगी, डॉ. उमेश चन्द्र पंत, आदि ने अपने अध्ययन और खोजपूर्ण लेखों में अलग-अलग पक्षों को उजागर किया है। उत्तराखंड के लोक नृत्यों की अपनी ही विशेषता है जिसे श्री मदन थपलियाल ने अपने लेख में प्रस्तुत किया है। हमारे स्वास्थ्य के लिए हिमालय की जड़ी-बुटियां तो आज भी हमारे लिए संजीविनी बनी हुई हैं। सभी चिकित्सा पद्धतियों में आयुर्वेद की चिकित्सा पद्धति का महत्व दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। इस संबंध में डॉ. मायाराम उनियाल का लेख "उत्तराखंड हिमालय से आयुर्वेद का उद्गम" पठनीय है। प्रकृति के सुरम्य वातावरण

में कसकते नारी जीवन की मार्मिक अभिव्यंजना डॉ. श्रीमती पुष्पलता भट्ट ने अपने लेख में प्रस्तुत की है। कुमाऊं के त्यौहारों और बदलते स्वरूप को प्रस्तुत किया है श्री आनंद वल्लभ उप्रेती ने और गढ़वाल की संस्कृति की जानकारी दी है श्री संपूर्णानंद चंचल ने।

इस प्रकार उत्तराखंड की वैविध्यपूर्ण, सहज और समृद्ध संस्कृति की झलक इस अंक में पाठकों को प्राप्त हो सकेगी। इस संबंध में और अधिक सामग्री भावी अंकों में प्रकाशित करने का हमारा प्रयत्न है।

--सम्पादक

"संस्कृति" में छपे लेखों में व्यक्त विचार लेखकों के व्यक्तिगत विचार है, भारत सरकार के नहीं।

सामग्री के प्रकाशन के विषय में संपादक का निर्णय अन्तिम माना जाएगा। अस्वीकृत सामग्री लौटाने का नियम नहीं है।

चुनी हुई रचनाओं के छपने में समय लगता है। अतः रचनाओं के बारे में अनावश्यक पत्राचार नहीं किया जाता।

प्राप्ति स्थल

सहायक शिक्षा सलाहकार (प्रकाशन)
शिक्षा मंत्रालय, ए. एफ. ओ. हटमेन्ट्स,
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद रोड, नई दिल्ली-110 001

मूल्य : एक प्रति 3 रुपए
वार्षिक 12 रुपए

हिमालय की गोद में भारतीय संस्कृति

--डॉ० उर्बादत्त उपाध्याय

सातवीं सदी में सिन्ध में अरबों के हमले के साथ मुहम्मद बिन कासिम की विजय और दाहर सेन की हार के बाद शेष भारत भूमि के इतिहास के भाग्य की भांति यहां का इतिहास भी बदलने लगा। इस्लाम धर्म के प्रसारकों के भय से आक्रान्त होकर मैदानी भागों से धर्मप्राण जनता इस पर्वतीय भू-भाग में आकर रहने लगी, पहले सूर्यवंशी राजवंश (कत्यूरियावंश) और बाद में चन्द्रवंशीय राजवंश (चन्द्र राजा) भी यहां आएं और उन्होंनें यहां सैकड़ों वर्षों तक राज्य किया। आठवीं शताब्दी में जगद्गुरू शंकराचार्य के द्वारा भारत की चारों दिशाओं में चार मठों की स्थापना के अभियान स्वरूप उत्तर में ज्योतिर्मठ ज्योतिपीठ (बद्रीनाथ धाम के पास जोशीमठ) की स्थापना के बाद धर्म-प्रचारकों का यहां आना और सुगम हो गया। आठवीं से बारहवीं सदी तक इस भाग में बौद्ध धर्म और वैदिक धर्म में एक प्रकार का घर्षण हुआ, जिसका लाभ आगे चल कर बौद्ध धर्म की वज्रयान शाखा और हिन्दू धर्म के हठयोगी, तांत्रिक तथा सिद्ध आदि सम्प्रदायों के निःतृत नाथ पंथ ने पार्यप्त लाभ उठाया, इस भू-भाग में नाथ पंथ, विशेष रूप से गुरू महीन्द्र नाथ व गोरख नाथ का प्रभाव विकसित हुआ जिसका स्पष्ट प्रभाव कुमाऊं की लोक गाथाओं, तंत्र व अभिचार साहित्य में आज भी स्पष्टतः सुलभ है। बौद्ध व वैदिक धर्म के घर्षण एवं पुनः अन्योन्याजित प्रभाव के लक्षण अल्मोड़ा जनपद के सोमेश्वर के पास गणानाथ मन्दिर एवं अन्यत्र स्थित कई मन्दिरों एवं मूर्तियों की निर्माण शैलियों में आज भी देखे जा सकते हैं। शंकराचार्य द्वारा स्थापित ज्योतिपीठ जोशीमठ को ही पहले सूर्यवंशी—कत्यूरी राजाओं ने अपनी राजधानी बताया। यद्यपि इसमें भी बहुत पहले सूर्यवंश के राजाओं के राज्य यहां ईसा की दूसरी शताब्दी से ही स्थापित होने शुरू हो गए थे। चूंकि हमारे पौराणिक आख्यानों में तारकासुर के वध के लिए शिव जी के पुत्र कार्तिकेय को देवताओं ने अपना सेनापति बनाया और उसने उत्तरांचल के वर्तमान कत्यूर घाटी (अल्मोड़ा से बागेश्वर के बीच की समतल घाटी) में ही तारकासुर का वध किया और वह स्थान कार्तिकेयपुर कटिपुर कत्यूर नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूर्यवंशीय राजाओं ने जब अपनी राजधानी जोशीमठ से कत्यूरघाटी बदली तो वे कत्यूरी राजा कहलाए। हिमालय तो शिव भूमि है ही, अमरनाथ, केदारनाथ, कैलाशधाम तथा नेपाल में पशुपति धाम आज भी शिव जी के अनन्य व पवित्र धाम माने जाते हैं। पार्वती तो हिम राज की पुत्री थी ही, अतः सारा यह पर्वतीय भू-भाग शिव व पार्वती के नट रूप एवं लास्य नृत्य से पावन-पूत है। देवी के रूप में दुर्गा उसके अवतारों के स्वरूप में हिंगलाज (अब पाकिस्तान में), वैष्णो देवी, ज्वाला देवी, कुमाऊं की प्रसिद्धकाली, पुण्यगिरि आदि देवी के अधिष्ठान हैं। समूचे पर्वतीय भाग में शिव व दुर्गा के मन्दिर व उपासना इसका द्योतक है।

सरयू व गोमती नदियों के संगम (अलमोड़ा जनपद) पर "बागीश्वर" रूप में शिव जी का मन्दिर आज भी प्रसिद्ध है, जहां प्रतिवर्ष मकर सक्रांति और शिवरात्रि के दिन मेले लगते हैं। यह स्थान "बागेश्वर" नाम से प्रसिद्ध है। सरयू नदी का मूल स्त्रोत (सरमूल) वशिष्ट और अरुन्धती के तपोस्थल होने से और वशिष्ट द्वारा नागबन्धन से मुक्त कराई जाने के कारण सरयू रघुवंशियों की पवित्र नदी बनी, क्योंकि वशिष्ट महर्षि, रघुवंशियों के राजगुरु और राज-पुरोहित थे। इस संदर्भ का उल्लेख स्कन्द पुराण के एक दुर्लभ हस्तलिखित प्राप्त मानस खण्ड में स्पष्ट है।

मैदानों में रहने वाले वैदिक धर्म के कट्टर समर्थक राजाओं और प्रजाजनों के आगमन से इस पर्वतीय अंचल में एक बड़ी मिली-जुली प्रक्रिया हुई। अन्ततोगत्वा एक समन्वयात्मक परिणाम ही सामने आया और यहां के मूल निवासी भी शेष भारत की उदात्त सभ्यता व संस्कृति में रंगने लगे। यहां के मूल-निवासियों के कुछ सशक्त रीति-रिवाजों को बाहर से आने वाले लोग भी अपनाने लगे। स्त्रियों में कट्टर पर्दा-प्रथा की कमी और स्त्रियों द्वारा घर से बाहर भी गृहस्थी के कृषि, पशुपालन इत्यादि कार्यों को भी उन्मुक्ता से करना इत्यादि इसके द्योतक हैं। हां, अपने से बड़ों के सामने थोड़ा घूंघट कर लेना ही शेष बचा, वह भी आज की सभ्यता ने लगभग उठा ही दिया है। बाहर से आने वाले राजपूत यहां के मूल खसों को अपनी अपेक्षा कम सभ्य एवं नीच समझते थे। यद्यपि कालान्तर में वे बहुत अंश तक परस्पर घुल-मिल गए। यहां के खसों ने भी स्वयं को अभिजात राजपूत कहलाए जाने के लिए उसी प्रकार खूब संघर्ष किया, जैसा वेद त्रयी के साथ जुड़ने को "अर्थ्ववेद" को करना पड़ा। इसी प्रवृत्ति से औषधि व चिकित्सा शास्त्र को आयुर्वेद, धनुष-चालन की कला को धनुर्वेद कहलाया जाना, प्राचीन उद्धरण है। खसों ने भी अपने नाम के अन्त में राजपूतों की भान्ति "सिंह" शब्द लगाना आवश्यक समझा, स्वयं

अपनी उदात्तता एवं विशिष्टता पृथक स्पष्ट करने के लिए राजपूत राजवंशों ने अपने नाम के अन्त में "पाल" "देव" तथा "शाह" इत्यादि की विशिष्ट राजोपाधियां लगानी शुरु कर दी। और उनमें "सिंह" लगाने की प्रथा कम हो गई। राजपूतों के मानदण्ड में आरूढ़ होने की इच्छुक इस "खस" जाति ने नामान्त में "सिंह" जोड़ने की परम्परा नहीं छोड़ी। आज के अदात्त राजपूतों और खसों को वंशगत या जातिगत रूपेण पूरा अलग-अलग समझ पाना कठिन सा ही है। हां, कुछ राजवंश एवं कुछ खस वंश अभी भी अपनी मूल प्रवृत्ति व विशेषताओं को नहीं छोड़ पाए हैं। कुछ ही वर्ष पूर्व तक खसों की भाषा को "खस कुरा" के नाम से जाना जाता था। "कुरा" शब्द नेपाली भाषा का है। क्योंकि कत्यूरी एवं चन्द राजाओं के राज्य नेपाल सहित इस भाग में भी व्याप्त थे। फिर बीसवीं सदी के प्रारम्भ में गोरखों के कुछ वर्ष के शासन ने भाषा के इस प्रभाव के लिए मानों रिफ्रेशर-कोर्स का काम किया हो। आज भी सामान्य एवं तथाकथित निम्नवर्गीय राजपूतों को यहां "खसिया" कहा जाता है। (यद्यपि यह प्रयोग अब अदात्त एवं शिष्ट नहीं समझा जाता है।) कुमाऊंनी की एक लोकोक्ति "खसिया कि रीस, भैंसा की तीस" अर्थात खस जाति का क्रोध एवं भैंस की प्यास आसानी से शान्त नहीं होती है।) के अनुसार खस जाति बड़ी गुस्से बाज मानी जाती रही है। व्यक्तियों के नामकरण में भी हमें दोनों खसों के प्राचीन नाम (जो अब प्रायः निरर्थक से लगते हैं) और राजपूतों के सार्थक नामों का मिलाजुला रूप सामने आता है। पुरुष-वर्ग में झीम सिंह, खीम सिंह, बचै सिंह, घुर सिंह, उछाप सिंह, फचुवा, हंसुवा, भीम सिंह, धन सिंह इत्यादि तथा स्त्री नामों में हरुली, परुली, सिमुली, बचुली, सरुली, झुपुली, कीटुली, रुखुली, गीतुली, मोतिया, रैपनी तथा गोविन्दी, तुलसी, द्रोपदी इत्यादि नाम अपने मिले-जुले रूप में प्राप्त होते हैं।

जिस प्रकार खसों और बाहर से आई उदात्त जातियों के व्यक्ति-वाचक नामों में पहले पार्थक्य फिर मिश्रणात्मक प्रकृति विकसित हुई, उसी प्रकार उनकी बोली भाषा में भी यही पृथकता एवं कुछ अंश तक समन्वयात्मक प्रवृत्ति भी चलती रही। पार्थक्य के अवशेष-चिन्हों के रूप में बोली और भाषा में भी अन्तर देखना हो तो वह भी स्पष्ट है। आज भी एक ही गांव में रहने वाली ब्राह्मण, क्षत्रियवर्ग, निम्नवर्ग के ब्राह्मण, खस और शूद्र जातियों की भाषा में अन्तर दिखाई देता है। इसका मूल कारण यही रहा है। वेशभूषा में भी खस लोग, स्त्री-पुरुष दोनों, आभूषण प्रिय रहे हैं। अभी भी पुराने विचारों के खस (यहां तक कि आज से कई वर्ष पूर्व तक उच्च स्तरिय राजपूतों में भी कई लोग इसे पहनते थे) परिवारों के पुरुष कानों में सोने के कुन्डर्ल (मुनड़े) स्त्रियों की तरह पहनते आए हैं। इन मुनड़ों को जो एक विशेष आकार (मोटे, कम परिधि के तथा अण्डाकार) के होते हैं खस-ब्राह्मणों (निम्न-स्तरीय-पीतलिया ब्राह्मण) की वृद्धी स्त्रियां भी पहनती देखी गई हैं। खस एवं निम्नवर्ग की जातियों में स्त्रियां अपने नाक का मध्यस्थ नथूना छेद कर उसमें सोने की बुलांकी (पीपल के पत्ते के आकार का सोने का रिंग) पहनती हैं। कानों के ऊपरी छोर से नीचे छोर तक छेद कर उनमें एक साथ चांदी की कई बालियां पहनतीं रही हैं। यद्यपि आधुनिक फैशन की दौड़ में यह परम्परा अब कम होने लगी है। खस वर्ग के आभूषणों में तथा बहुत कुछ राजपूतों की स्त्रियों के वर्ग में कानों के लिए चांदी के लम्बे-लम्बे झुमके (जो स्कंध प्रदेश से नीचे वक्ष तक स्पर्श करते हैं) कान के बाह्य छोरों में चांदी की बालियों की कतारें, माथे पर विस्तीर्ण चांदी का सुहाग-पत्रक, गले व वक्ष प्रदेश में चांदी की जंजीरें तथा जंजीर में लगी लाकेट सहित विक्टोरिया चांदी के रुपयों की लम्बी माला, ग्रीवा में मोटी चांदी की सुत्ता (हसुली), कलाइयों में चांदी की चौड़ी पट्टी की बंहा (कड़े) तथा ठोस व मोटे नल की भान्ति गोलाकार "धागुले", चरणों में मोटी पट्टी के आकार के चांदी के "पैंर" तथा सोने के आभूषणों में नाक की नथुनी, बुलाँकी, बूढ़ी स्त्रियों के कान में "मुनड़े", गले का "टीप" (गुलूबन्द) आदि मुख्य रहे हैं। बाहर से आए ब्राह्मणों के आभूषणों में सोने की अधिकता रही है, जिसमें सोने के विभिन्न प्रकार के कर्णाभरण के, गुलूबन्द, मंगलसूत्र, हाथ में सोने की अंगूठी, मांग-टीका, धनी लोगों की स्त्रियों में पहले कलाई में सोने की "पहुंची" (गरीब चांदी की पहनती रही हैं) या सभ्यता के प्रभाव से सोने की चूड़ियां आदि प्रमुख है। चांदी के आभूषणों में मुख्यतः पैरों के आभूषण है, जिनमें बिच्छू, अंगूठी, नूपुरों की तरह झंकार खकारी "झंवर", (खोखले तथा अन्दर पत्थर के कंकड़ डाले बन्द नल की भांति), चांदी के तारों से गूथें हुई अमिर्ती, छड़ें, पाजेब, पायल चैनपट्टी आदि मुख्य हैं। राजपूतों, खस-ब्राह्मणों एवं निम्नजातियों के आभूषण खस जाति के आभूषणों से बहुत मेल खाते हैं। अन्य जातियां सोने के आभूषण कमर से ऊपरी भाग में ही पहनती हैं, जबकि स्वयं को राजवंशी या राजघरानों से सम्बद्ध जाति वाले उच्च स्तरीय राजपूत सोने के आभूषणों को पैर तक पहन लेते हैं।

जाति, उपजाति, जातिगत-शाखा, उपशाखा, प्रशाखा इत्यादि का जितना वर्गीकरण, भेद, इन पर्वतीय भागों (कुमाऊं व गढ़वाल) में रहा है, सम्भवतः उतना भारत के किसी अंचल में मिलना दुष्कर होगा। इसके मुख्य कारण–इतिहास के प्राचीन युग से यहां के मूल निवासी भारत की उत्तरी सीमा के बाहर से आने वाले लोगों का आगमन, विविध प्राचीन जातियों का यहां आकर शासन करना, तथा सर्वोपरि मैदानी भागों से हजारों वर्षों तक लोगों का आव्रजन इत्यादि हैं। ब्राह्मण वर्गों में भी कितने भेद हैं। राजवंशों एवं राजघराने के राजपुरोहित दीवान, सचिव, अमात्य व मंत्री पद पर स्थित ब्राह्मणों के वंश, उदात्त ब्राह्मणों के वंशज, पंच बीड़या ब्राह्मण वर्ग, चौथानी ब्राह्मण और पीतलिया तथा हलफोड़ (हल चलाने वाले ब्राह्मण) इत्यादि रहे हैं। इनमें परस्पर भोजन, हुक्का-पानी, शादी-रिश्ते आदि में ऊँच नीच का बड़ा भेद है। इसी प्रकार के भेद राजपूत व खस राजपूतों में भी हैं। उच्च वर्गीय क्षत्रिय (राजपूत) वर्ग पीतलिया और हलवाही ब्राह्मणों की बनाई रसोई में नहीं खाते हैं। राजपूतों में भी "पालागत" और "जौति" (जयतु) शब्दों के अभिवादन करने वाले वर्ग अलग-अलग हैं। "जौति" वाला वर्ग स्वयं को राजवंशी अथवा राजघराने या सेनापति वंश का मानता है। राजपूतों के अभिवादन-शब्दों के अनुसार ही ब्राह्मण वर्ग को उन्हें प्रत्युत्तर में (उनके जातिगत वर्गानुसार "स्वीस्त", "आशीर्वाद" और "जीरो" (जिये रहो) आदि अलग-अलग शब्द प्रयुक्त करने होते हैं, जो क्रमशः राजवंशी, उदात्त राजपूत और खस तथा निम्नवर्ग की जातियों के लिए प्रयुक्त होते हैं। ब्राह्मण वर्ग की स्त्रियां अन्य जातियों द्वारा "बौराणिज्यू" (विवाहितों के लिए) तथा "गुस्येंणि (गोसाइन, अविवाहित स्त्रियों और विवाहित स्त्रियों को उनके मायके में संबोधित किया जाने वाला प्रयोग) शब्दों द्वारा संबोधित की जाती हैं। उनकी बहुएं "दुलहणि" (दुलहन) कहलाती हैं,

जबकि और जाति कि बहुएं "ब्वारी" और स्त्रियां "स्येणि" (सयानी) कही जाती हैं ।

ब्राह्मण-स्त्रियां अपनी (त्रिकुटी) भौंहों के मध्य के पास नासिका-मूल से मांग तक लम्बा तिलक (रोली) या "पिठया" लगाती हैं और राजपूत एवं निम्न जाति की स्त्रियां नासिका के अग्रभाग से मांग तक तिलक-रेखा लगाती हैं। ब्राह्मणवर्ग के श्राद्ध के दिन पत्रावली (पातलि पात्रबलि) में पक्वान्न-भात, खीर, दही, घी इत्यादि रखे जाते हैं, जबकि राजपूत एवं खसों की पातली में "कसार" (भिगाए हुए चावलों का सिलवट्टे द्वारा तैयार आटा या चूर्ण) रखा जाता है, जिसमें दाड़िम और अखरोट आदि के बीज मिलाए जाते हैं। यह "कसार" शब्द "खस+आहार" शब्द से व्युत्पन्न जान पड़ता है, जो एक प्रकार के प्राचीन नीवार-चूर्ण और इंगुदी आदि फलों के बीजों के मिश्रण का आधुनिक रूप है, पुत्री के विवाह में भी खस लोग (दूल्हा-पक्ष से कुछ धन) विवाह के खर्च के निमित्त, मूलतः यह भावना कन्या के मूल्य को ग्रहण करने की रही है; लेने में भी नहीं हिचकिचाते हैं। यही प्रथा निम्नजातियों में भी है। दूसरी ओर ब्राह्मण वर्ग कन्या दान के साथ दहेज (यह शब्द दुहितृ+ज, अर्थात् कन्या के निमित्त पैदा की गई सम्पत्ति से निस्यूत जान पड़ता है।) के नाम पर वस्त्रालंकार, शय्या, भूमि, गाय आदि दान में देता है। खस-राजपूतों में वैदिक विवाह पद्धति के अलावा गान्धर्व-विवाह, "डोला" "सरौल" "आंचल" इत्यादि अन्य प्रकार के विवाह भी प्रचलित हैं। खसों में एक घर से व्याह कर लाई गई स्त्री को, या उसके पूर्व पति को या माता-पिता को कुछ रुपए आदि देकर दूसरे घर का पति भी उसे स्वीकार लेता है। इस प्रकार लाई गई स्त्री को "दुधरि" या "नौलि" (नवेली) कहते हैं, जबकि विवाहित स्त्री "व्यक्ति" कहलाती है। खस और राजपूतों में उत्सव-पर्वों में स्त्री पुरुषों के समूह परस्पर झुण्ड बनाकर या हाथ पकड़ कर वृताकार घेरे में चॉचर आदि लोक-गीत व नृत्य का प्रचलन है, जबकि ब्राह्मण-वर्ग में ऐसे समारोहों में स्त्रियों द्वारा नृत्य गीत, जागरण, सोहर-गान के साथ भजनकीर्तन इत्यादि का प्रचलन है।

एक ही गांव में रहते हुए, जाति के आधार पर ही रहन-सहन, बोली-भाषा और रीति-रिवाज में आखिर इतनी भिन्नता क्यों हैं? इसका मूल कारण यहां के मूल निवासी-खसों और मैदानी भागों से आए हुए लोगों की दो विभिन्न सभ्यताओं और संस्कृतियों के मिलान का प्रतिफल है। किसी-किसी गांव में तो दस-बारह जातियों व वर्गों के लोग एक ही साथ रहते हैं। ऐसे गांवों की स्थापना प्रायः तो यहां के माण्डलिक राजाओं ने की है। राजघराने की सेवा करने वाले विविध वर्गों को एक ही स्थान में भूमि देकर उसे गांव का रूप दिया गया। अधिकांश गांवों में प्रायः एक ही वर्ण, जाति या वर्ग के लोग (एक ही बिरादरी के लोग) रहते हैं, केवल सेवा के लिए गांव के दूरस्थ छोर में कुछ हरिजन परिवारों को बसाया गया है। कई जातियां स्थानविशेष में निवास करने के कारण, उसी स्थान के नाम से संजित की जातीं हैं, यथा-काना के कन्याल, ऑकोट के ऑकोटी, धौन के धौंनी, नौटी के नौटियाल, कुटी के कुटियाल, रांची के रधियाल इत्यादि। इसके विपरीत कुछ स्थान बाहर से आई जातियों के निवास स्थल बनने के कारण उन्हीं जातियों के नाम के आधार पर प्रसिद्ध हो गए, जैसे-कोठारी लोगों के रहने का स्थान कोठेरा, उप्रेती लोगों का स्थान उपराड़ा, पंत लोगों का निवास स्थान पन्थयूड़ी आदि। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण-महर्यूड़ी, जोशीखोला, कहैड़ाकोट, बोराकोट, इत्यादि दिए जा सकते हैं। एक ही "जाति संजन" लोग भी कई वर्गों के हैं, जिनमें परस्पर ऊंच-नीच व वर्ग भेद की भावना है, जिसकी गणना परस्पर शादी व्याह के संबंधों व सामाजिक व सामूहिक खान-पान के अवसरों पर की जाती है। अतः ऐसे समय पर स्थान-विशेष में रहने वाली जाति विशेष, या शाखा-विशेष की उच्चता या निम्नता की गणना की जाती है। कुछ लोगों की जातियों के नाम उनके कार्य या पैतृक व्यवसाय के आधार पर पड़े हैं, यथा-धान कूटने वाला वर्ग-धानिक, फूल तोड़ने व देने वाला वर्ग-फुलार या फुलौरिया, खरक (पशु पालन) का कार्य करने वाले लोग खरक्वाल आदि कहलाए। सच पूछा जाए तो कुमाऊं में "वैश्य" नाम की न कोई जाति थी और न कोई वर्ग ही। मुस्लिम शासकों के अत्याचारों से त्रस्त धर्म-प्राणजन मैदानी भागों से आकर इन पर्वतीय भागों में बसने लगे तब उनके साथ ही कुछ "साहू" आदि यहां आ गए तथा छोटे-छोटे कस्बों या ग्रामीण केन्द्रों में व्यापार करने लगे। यही कारण है कि कुछ "साहू" परिवार एक पृथक जाति के रूप में यहां आज भी रहती है।

जहां तक धार्मिकता का प्रश्न है, इस प्रदेश में शिव और शक्ति की उपासना ही प्रधान रही है। साथ ही साथ यहां के लोक-देवताओं और लोक-देवियों की पूजा की जाती है। इन लोक देवताओं की पूजा, अर्चना, मान-मनौती आदि से यहां का लोक-जीवन अनुप्राणित है! इन लोक-देवताओं की अनेकता एवं विविधता भी अपने में अध्ययन व शोध का बड़ा गहरा व रोचक विषय है। कई लोक देवता तो शिव, रुद्र, देवी, चण्डिका के नाम रुपान्तरण जान पड़ते हैं, जिन्होंने अब आंचलिकता का स्थानीय रंग एवं अपने भक्तों के जातिगत संस्कारादि अपना लिए हैं। इसी प्रकार कुछ लोक देवता शिव व शक्ति के सेवक भैरव, रुद्रगण आदि के नामान्तरण व रुपान्तरण हैं। अनेक लोक देवता यहां के प्राचीन माण्डलिक व आंचलिक शासक, मल्ल, वीर, सेना नायक थे, जो या तो लोकोत्तर शक्ति सामर्थ्य से युक्त थे या बहुत प्रजारंजक थे। जहां कुछ लोग देवता अतृप्त आत्माओं के रूप में (भूतासन देवता) है, तो कुछ प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक के रूप में अधिष्ठित हैं। इतना ही नहीं कतिपय लोक देवता आसुरी, राक्षसी, दैत्य प्रवृत्ति से निस्यूत हैं, अर्थात् मूलतः वे दानवी शक्ति हैं, पर उनके भय व अत्याचारों से संत्रस्त लोक जीवन उन्हें लोक देवता का सम्मान देकर पूजता है। इस पर्वतीय अंचल में जहां आप घने पेड़ों का झुरमुट देखें या खेतों में एक-दो बड़े पेड़ देखें, जहां चूल्हे के आकार का केवल चार पत्थरों का कोष्ट देखें (बन्द चौकोर डिब्बा सा) वहीं किसी न किसी लोक देवता का अधिष्ठान है। कुछ लोक देवताओं (प्रायः आसुरी व प्राकृतिक शक्ति के प्रतीक) के अधिष्ठान एकदम खुले स्थान या उन्मुक्त पर्वत श्रृंग में होते हैं। यहां प्रत्येक नदी (नदिया) की घाटी एवं श्मशान पर भैरव सहित शिव का मन्दिर अवश्य मिलेगा। हर घर में देवी की पूजा की जाती है और स्थान-स्थान में देवी के मन्दिर होते हैं। शिव लिंग की पूजा व स्थापना प्रायः घर से बाहर मन्दिरों में ही की जाती है। घरों में शालिग्राम-पत्थर पूजा जाता है। देवी के वैष्णवी रूप और चण्डी रूप दोनों ही व्याप्त हैं, जिनमें क्रमशः पशुबलि के निषेध और विधान का प्रचलन है। यहां का अधिकांश ब्राह्मण वर्ण

मांसाहारी है। इसका कारण यहां की ठण्डी जलवायु (कश्मीर घाटी की तरह, जहां ब्राह्मण प्रायः मांसाहारी होते हैं) चण्डी रूप देवी को पशुबलि देने की प्रथा और वहां के मूल विनासी वर्ग के साथ सम्पर्क व उनका प्रभाव इत्यादि हो सकता है। इतना होने पर कुछ ब्राह्मणवर्ग (शाखा विशेष) मांसाहार से बहुत दूर रहता है।

वस्तुतः समूचे हिमालय की गोंद शिव व पार्वती की लीला भूमि है। प्रस्तुत लेख में पूर्व उल्लिखित शिव व देवी के धाम इसके प्रमाण हैं। कुमाऊं के परिप्रेक्ष में भी इसी बात को कहा जा सकता है। यहां देवी के कई प्रख्यात मन्दिर हैं नैनादेवी, नन्दा–देवी, कोटामाई, पुंगराऊं की भगवती, गंगोलीहाट की कालिका माता, हुकारा की देवी, सोर की भगवती, वाराही देवी इत्यादि। नैनीताल शहर व जनपद का नाम "नयना नैना" देवी के नाम पर पड़ा है। देवी ने "अलमू" नामक दैत्य का जिस स्थान पर वध किया वहां पर आज नन्दादेवी के रूप में स्थापित देवी का प्राचीन मन्दिर है और राक्षस वध स्थल होने के कारण यह स्थान "अल्मोड़ा" कहा जाता है। शुभ राक्षस का स्थान "शमधुर" (दानपुर क्षेत्र में) कहलाता है। कालनेमि राक्षस के वध का स्थल "कालामुनी", मधु कैटम का वध-स्थल "मदकोट" (मुनस्यारी क्षेत्र) और मनुष्याहारी राक्षस के वध का स्थान "मनुस्यारी" कहलाया, चण्ड राक्षस को देवी ने जहां मारा वह "चण्डाक" (दोनों पिथौरागढ़ शहर के पास) कहे जाते हैं।

जहां तक बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार का संबंध है, ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष कालीन, इतिहास के बाद ही उसका प्रसार हुआ। यद्यपि बौद्ध धर्म का यहां अधिक फैलाव न हो सका, फिर भी सीमावर्ती क्षेत्र के कुछ हूण तथा भोटियां लोगों ने उसे अपनाया। यद्यपि इस काल तक बौद्ध धर्म में कई विकास व मतभेद आ चुके थे, तथापि इन पर्वतीय अंचलों में उसके स्वरूप में हिन्दूओं के वैदिक धर्म का बड़ा प्रभाव पड़ा। कुछ इतर जाति के लोग भी गृहस्थाश्रम सहित बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए। ऐसे लोग गृहस्थी जोगी कहलाते हैं। कुमाऊं में पाई जाने वाली "गिरि" जाति इसका उदाहरण मानी जा सकती है, जिस पर बौद्ध एवं हिन्दू धर्म का अनूठा सम्मिश्रण परिलक्षित होता है। इन्हें मरने पर समाधि देकर दफ़नाया जाता है। इनकी जीवन-पद्धति हिन्दू-पद्धति से लगभग पूरी तरह मेल खाती है और मृतक संस्कार में बौद्ध प्रभाव है। बौध धर्म की व्रजयान शाखा एवं हिन्दुओं की दृढ़योग एवं नाथ पंथ से समभूत गोरखपंथियों का प्रभाव इस क्षेत्र में बहुत पड़ा। यहां तक कि नेपाल से आए लोक देवताओं के नाम के अन्त में "नाथ" शब्द लगा रहता है। यथा अलयनाथ, मलयनाथ, गड़नाथ, भोलानाथ इत्यादि। कुमाऊं की प्रायः सभी लोक गाथाओं में गुरू की दीक्षा लेने साधक या भक्त गुरू गोरखनाथ के पास जाकर उनकी कठिन सेवा के बाद सिद्धि या वरदान प्राप्त हुए देखे गए हैं। यहां के लोक देवता–गडनाथ, भोलानाथ, हरु सैम, गोरिल्ल, सिद्ध, बिद्धू, रमौल सभी अपनी सिद्धि के लिए दीक्षा, लेने गोरखनाथ के पास पहुंचे।

संक्षेपतः कहा जा सकता है कि हिमालय के गिरि-प्रान्तों में जहां ऋषि-मुनियों की तपस्या, साधना व चिन्तन द्वारा भारतीय संस्कृति का बीजारोपण एवं अंकुरण हुआ, वहां इस भू-भाग के मूल निवासियों ने शताब्दियों तक इतर भू-भागों से आए निवासियों से अपने संघर्ष, सम्पर्क संसर्ग और समन्वय द्वारा एक ऐसी संस्कृति को जन्म दिया, जो अभी भी भारतीय राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा में अपना अभिन्न एवं अन्यतम स्थान बनाए है। इस क्षेत्र का इतिहास लिखने वाले जितने भी लेखक व इतिहासकार अभी तक हुए हैं, उनमें से अधिकांश लोगों ने इतिहास के दुर्लभ तथ्यों पर हठात् आवरण डालने का प्रयास किया अथवा तथ्यों को तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया है, जिसके मूल में उनके मिथ्या अहं की तुष्टि मात्र ही जान पड़ती है। इसका कारण यह भी है कि यहां के इतिहास, संस्कृति, भाषा, लोक साहित्य, रीति-रिवाज आदि का निष्पक्ष विश्लेषण कर उसके उलझे हुए, बिखरे हुए दुर्लभ तन्तुओं को संजोने का दुरूह कार्य करने से सभी पराड़ मुख से हुए। इसी लिए यदि यह कहा जाय कि सचमुच में सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को देखते हुए अभी तक कुमाऊं का इतिहास लिखा ही नहीं गया है, तो इसमें अत्युक्ति न होगी। कुमाऊं के इतिहासकारों में श्री बद्रीदत्त पाण्डे से लेकर राहुल व वैष्णव तक जितने भी इतिहासकार हुए हैं, उन्होंने कठिन व कष्ट साध्य सांस्कृतिक तन्तुओं की जोड़ने के कार्य से अपनी लेखनी घटना क्रम व वर्णन की ओर सरपट दौड़ाई, जहां का मार्ग कुछ समतल था, इनके इतिहास का मुख्य आधार पुराने ताम्र पत्र, कुछ शिलालेख, वंशावलियां, सिक्के, मन्दिर, मूर्तियां, किंवदन्तियां तथा किंचित पौराणिक साहित्य के संदर्भ रहे हैं। सभी प्रकार के इतिहासों में लगभग एक ही वस्तु की पुनरावृति या रुपान्तरण सा हुआ है तथापि इनके प्रयास स्तुत्य है। आज से लगभग एक सौ वर्ष पूर्व के अंग्रेज अफसरों, यात्रियों और शोधार्थियों (जैसे अठकिन्सन, कनिंघम, ग्रियर्सन इत्यादि) के गजेटियरों, यात्रा वृतान्तों आदि के आधार पर जो सामग्री मिली है वह बड़ी मूल्यवान, है, जिसका उपयोग परवर्ती इतिहासकारों ने अपने इतिहास में किया है। किसी भी क्षेत्र या अंचल की बोली-भाषा, लोक साहित्य, धर्म, संस्कृति, रीति-रिवाज एवं रहन-सहन व जीवन-पद्धति, जीवन-दर्शन इत्यादि, वहां के इतिहास के जीवन्त स्मारक होते हैं, जिन्हें कोई भी तोप या तलवार समाप्त नहीं कर सकती है। अस्तु, इन तत्वों के आधार पर कुमाऊं का इतिहास लिखा जाना एक पुनीत कार्य होगा। आशा है, नवयुग के प्रबुद्ध अध्येता व शोधार्थी अपेक्षित अध्यवसाय एवं निष्ठा से यह कार्य करेंगे। अतः कहा जा सकता है कि हिमालय केवल भारत का प्रहरी व मुकुट ही नहीं बल्कि भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक एवं चारित्रिक गुरु और स्त्रोत रहा है। विश्वास है कि हम इसकी पावनता से पूत, धवलता से उज्जवलित, गुरुता से गौरावान्वित, विस्तार से व्यापक अपनी भारतीय संस्कृति के वैभवशाली धरोहर के सच्चे उत्तराधिकारी स्वयं को सिद्ध कर, उसके उन्नयन के लिए सचेष्ट रहेंगे।

कुमाऊं-गढ़वाल की लोक गाथाएं

—डॉ. प्रयाग जोशी

कुमाऊं-गढ़वाल के दो अंचल भारतवासी के लिए अज्ञात नाम नहीं हैं। एक युग में, हिमालय के गगन स्पर्शी पर्वतों से घिरे इन भू-भागों को देवभूमि की संज्ञा दी गई थी। आज इस संज्ञा को पारिभाषित करने का युग आया है।

कैलास-मानसरोवर, बद्रीकेदारनाथ आदि नामों के साथ राष्ट्र की जो भावनायें बद्ध मूल हैं, उनका ख्याल आते ही उत्तराखण्ड के सांस्कृतिक पक्ष पर दृष्टि थम जाती है। हमारे राष्ट्र के सांस्कृतिक गौरव के शिखरों को जाने का रास्ता इन्हीं अंचलों से हो कर गुजरता है। ये अंचल गंगा-यमुना, मंदाकिनी-अलकनन्दा, पिण्डर आदि नदियों के यात्रापथ हैं जिनके किनारों के साथ पर्वत-शिखरों की ऊंचाइयों को जोड़ने के मानवीय प्रयासों में यह भूमि, देवभूमि कही गई थी। भारतीय नागरिक के लिए इन नदियों और पर्वतों का महत्व यहां निवास करने वाले मानव संतानों से भी ज्यादा है। इतिहास का तर्क कहता है कि मानव-मानव के सांस्कृतिक जुड़ाव का रिश्ता भौगोलिक प्रेम को पुख्ता करता है। आज की जरूरत है कि भारत की संस्कृति के चिन्तन मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में हिमालय के अंचलों की जानपदिक संस्कृति का अध्ययन हो।

कुमाऊं-गढ़वाल भाषा की दृष्टि से दो अंचलों में विभक्त हैं, सामाजिक मान्यताओं, प्राकृतिक परिवेश, आर्थिक हालत तथा राजनैतिक चेतना की दृष्टि से दोनों को एक ही स्तर से अनुप्राणित समझना चाहिए।

उक्त दोनों अंचलों की बोलियों में लिखित साहित्य कुछ पुराने ऐतिहासिक स्मारकों व हस्तलिखित ग्रंथों में ही प्राप्त होता है जो 13वीं-14वीं शताब्दी से अधिक पुराने नहीं हैं। इस सारे भू-भाग की साहित्यिक परम्परायें पूर्णत: मौखिक ही हैं और लोकवार्ता के विभिन्न अंगों में स्वयं को अभिव्यक्त करती हैं।

इन अंचलों में गोरखा हुकूमत और अंग्रेजी शासन व्यवस्था से पहले स्वराज्य कायम था। पहाड़ियों के सीढ़ीदार खेतों से अन्न उपज एवं पशुचारण पर निर्भर यहां की जनता एक विशिष्ट प्रकार की जीवन-संधारिणी अर्थ-व्यवस्था पर अवलम्बित थी। छोटी-छोटी पगडंडियां पहाड़ी ग्रामों को एक-दूसरे से जोड़ती थीं। इन्हीं यात्रा-पथों से पर्वतों की अलग-अलग दरियों में बसे गांव जन-संपर्क करते थे। नगर बहुत कम थे परन्तु सांस्कृतिक और धार्मिक केन्द्रों की कमी नहीं थी। आजीविका के लिए जनता अपनी राज्य-सीमा के बाहर कम जाती थी। इन अंचलों का बाहर से जो भी सम्बन्ध था वह राजनीतिक था। युद्ध-व्यापार एवं संधि-विग्रह के मामलों में राजाओं की परिषदें इन वाह्य सम्बन्धों को व्यवस्थित करती थीं।

ब्रिटिश व्यवस्था के साथ सुदूर देश की अनमेल संस्कृति का शासक जब इस भू-भाग में आया तो उसे अपने चारों ओर एक अजनबीपन दिखाई दिया। अपने कुटिल प्रशासन के जाल को फैलाने के लिए उसे यहां की परम्पराओं की जानकारी प्राप्त करनी आवश्यक अनुभव हुई। यहां की सामाजिक पद्धतियों, भौगोलिक पर्यावरण तथा शेष भारत के साथ इसके सम्बन्धों को जानना जितना आवश्यक था उतना ही आकर्षण यहां के अतीत से परिचित होने में भी था। इस आकर्षण में हिमालय का भव्य रूप, भौगोलिक वैचित्र्य और ग्लेमर प्रेरक हुआ। स्थानीय रस्म रिवाज और वहां के लोगों की मोहक जीवन के तानों-बानों ने नवागंतुक जाति को वहां की आपातिक जानकारियों को प्राप्त करने की दिशा में प्रेरित किया। इन जानकारियों के संकलनों का नाम ही गजेटियर है जिन में इतिहास, नृ-जातियों, भूगोल, धार्मिक विश्वास, लोकवार्ताओं के संकलनों की प्रवृत्ति देखी जाती है। ट्रेल-वैटन, गार्डनर, एठकिंशन, ईलियट, वीम्स, इवटसन, टर्नर आदि बहुत, से नाम इन गजेटियर कर्ताओं की शृंखलाओं में जुड़े हुए हैं। गजेटियरों में जनपद जीवन के चतुर्दिक फैली जानकारियों का जितना क्षेत्र समेटा गया उतना लोक वार्ताओं का नहीं। बहिर्जगत की सामग्री जितनी शीघ्र पकड़ में आयी उतनी शीघ्रता से लोकवार्ता का संकलन संभव नहीं हुआ। फिर भी गजेटियरों के सम्पादन कार्य से इन अंचलों को पढ़े-लिखे संसार के बीच स्थिर करने में मदद मिली। उनमें उल्लिखित ऐतिहासिक तथ्यों ने ही आंचलिक बुद्धिजीवियों को अपनी भूमि के इतिहास से जोड़ा या जुड़ने के लिए दिशा प्रदान की बद्रीदत्त पाण्डेय का "कुमाऊं का इतिहास" तथा वजीर हरिकृष्ण रतूड़ी का "गढ़वाल का इतिहास" शीर्षक से जो दो पुस्तकें प्रकाश में आयी उनकी प्रेरणा का स्रोत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से गजेटियर ही हैं। गजेटियरकारों की अवधारणाओं में वस्तुस्थिति के विश्लेषण के लिए यूरोपीय मन्तव्य थे। क्षेत्रीय लेखकों ने आंचलिक स्वरूप की अधिक सही दृष्टि थी। लेकिन, जैसा कि लाजिमी था उनके कार्यक्षेत्रों को जाने वाली पगडंडियां इलाकाई तंग क्षितिज ही छू सकती थीं। इसलिए उनके काम महत्वपूर्ण होकर भी प्रसारित नहीं हो पाए। आंचलिक दूरियों और विदेशी परिधियों के बीच एक नये क्षितिज का उद्‌घाटन महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की पुस्तकों ने किया। उनकी दो पुस्तकें "कुमाऊं" तथा "हिमालय परिचय" (गढ़वाल) उस क्षितिज को छूने का प्रयास है जिसकी खोज गजेटियरों ने शुरु की थी परन्तु जो आंचलिकता के छोटे वृत्त में सिमटती जा रही थी।

लोकवार्ताओं को संकलित करके वर्गीकृत और प्रकाशित करने का काम कुमाऊं में गंगादत्त उप्रेती और गढ़वाल में पादरी ओकले ने शुरु किया। ओकले को 40 वर्षों की लम्बी अवधि तक उत्तराखण्ड में काम करने का अवसर मिला था और गंगादत्त उप्रेती असिसटेन्ट

कमिश्नर होने के कारण इस कार्य के लिए प्रशासनिक सुविधा और अधिकारों का इस्तेमाल करने में सक्षम थे। उनकी समग्र सामग्री का प्रकाशन शायद नहीं हो पाया परन्तु गंगादत्त उप्रेती की कृति 'कोकलोर ऑफ कुमाऊं' तथा ओकले की कृति 'हिमालयन फोकलोर' काफी चर्चित हुई। इन दो पुस्तकों को ही उक्त अंचलों की लोकवार्ताओं की अध्ययन की शुरुआत माना जाना चाहिए। विशेषकर हिमालयन फोकलोर अपनी समस्त सीमाओं और परिधियों के बावजूद वैज्ञानिक ढंग के प्रस्तुतीकरण की सूझ पर आधृत हैं परन्तु जितना मुश्किल काम लोकवार्ताओं के संकलन और उन्हें पुस्तक का आकार देने का था उससे कम मुश्किल अंग्रेजी की सामग्री को हिन्दी में लाने का नहीं था। इस स्थिति को सुलझाने में तारादत्त गैरोला बड़े कामयाब हुए।

सन् 30-35 के आसपास इन अंचलों के सामाजिक-आर्थिक परिवेश, भूगोल, मुहावरों-कहावतों आदि पर कई पुस्तकें लिखी गईं और अध्ययन करने के कई नये क्षितिजों का अनुसंधान हुआ। प्रायः सभी ने प्राचीन गौरव से अभिभूत हो कर पुस्तकों के आरम्भिक अध्याय लिखे। स्कन्दपुराण के केदार-मानस खण्डों के उद्धरणों की आवृत्ति बार-बार होती रही। सामान्य जानकारी के लेखकों के लिए एटकिंशन के गजेटियर की लिखत आदर्श बनीं। कोई उससे आगे बढ़ा तो महाभारत और कालिदास के ग्रंथों से उद्धरण देकर अपने-अपने इलाकों का यशोगायन करता गया। अतीत के इसी गौरव-स्मरण के सुन्दर प्रयास का अगला सोपान 'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियों' में देखने को मिलता है।

विगत पांचवीं, छठी दशाब्दी में उत्तराखण्ड के पर्वतीय अंचलों से इस क्षेत्र में कुछ महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होने की संभावनायें थीं। उस समय महापंडित राहुल सांकृत्यायन कुमाऊं-गढ़वाल में लिख रहे थे। डॉ० वासुदेव शेरण अग्रवाल और स्वामी प्रणवानन्द सदृश गहरी रूचि के खोजियों द्वारा वहां की धरती में छिपी अनन्त संभावन्नाओं की सूचियां प्रकाशित की जा रही थीं। वहां के भाषा-अवशेषों में मिश्रित इतिहास की प्रभूत सामग्री इतिहासज्ञों के दृष्टिपथों में आ रही थी। पराधीनता से मुक्त होने के दशक में स्वयं अपनी सनातन स्वाधीन वृत्ति से जुड़ने और अवाम के सतत् संपर्क में बने रहने का लोकवार्ता माध्यम राष्ट्र की तरक्की के संदेश को अजगर के पांव देने की क्षमता रखता था। इस क्षमता को जीवन्त करने की शुरुआत संकलन कार्यों से ही हो सकती थी। परन्तु उक्त संभावनाओं का बहुत छोटा हिस्सा ही क्रियान्वित होता देखा गया। व्यवस्था की तरफ से किसी अच्छे प्रभावशाली और कारगर प्रयत्नों का प्रारम्भ न तब देखने में आता था और न अब ही दिखाई देता है। हां, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग इसमें रूचि ले रहा है।

उस बीच गढ़वाल के अंचल से अकेले डा० गोविन्द चातक ही दो अच्छे संकलन दे पाए। एक संकलन 'गढ़वाली लोकगीत' शीर्षक से था दूसरा 'गढ़वाली लोकगाथाएं' शीर्षक से। कुमाऊं में कहावतों और लोकोक्तियों के संकलन प्रकाशित हुए।

अल्मोड़े के हुक्का क्लब ने चन्द्रलाल चौधरी की 'प्यास' जैसे ऐतिहासिक महत्व के संग्रह छापे जिसकी सशक्त 'भूमिका' में निर्मित हो रहा कुमाऊंनी गद्य एक ऐतिहासिक चीज बन कर रह गया। लोकवार्ता की दूसरी विधाओं के संकलन पर किसी ने हाथ डाला हो ऐसी जानकारी नहीं मिलती। हिन्दी साहित्य के वृहद् इतिहास के 16वें भाग में मोहनचन्द्र उप्रेती का 'कुमाऊंनी लोक साहित्येतिहास' पर एक लेख अवश्य दिखता है जिसमें नमूने के बतौर गीत, गाथाएं, और कथा वार्ताएं दी गई हैं। इसे विडम्बना ही माना जाएगा कि मोहन उप्रेती व केशव अनुरागी जैसे अधिकारी लोकसंगीतज्ञों और वृजेन्द्रलाल साह जैसे तल्लीन अन्वेषियों द्वारा इस क्षेत्र में दिये गए कारगर बौद्धिक प्रयत्नों की कोई मिसाल पुस्तक का आकार लेकर अभी तक देखने में नहीं आयी। अलबत्ता शोध उपाधियों के लिए लिखी गई 'कुमाऊं का लोकसाहित्य' तथा 'गढ़वाली लोकगीत : एक सांस्कृतिक अध्ययन' जैसी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। पहली पुस्तक डॉ० त्रिलोचनपाण्डेय द्वारा और दूसरी डॉ० गोविन्द चातक द्वारा आगरा विश्वविद्यालय की पी० एच० डी० उपाधियों के लिए प्रस्तुत की गईं। इन पुस्तकों को अपने-अपने क्षेत्र के लोक साहित्य की समस्त विधाओं का परिचय, वर्गीकरण और चलती समीक्षा देने की प्रारम्भिक कोशिशें माना जाना चाहिए।

7वें दशक के चीनी आक्रमण के बाद उत्तराखण्ड में परिस्थितियां बदलीं। उसका सैन्य महत्व बढ़ गया परन्तु तिब्बत और चीन के साथ सांस्कृतिक व्यावसायिक सम्बन्ध कट गये। वहां सड़कों और शिक्षा का व्यापक प्रबन्ध होने लगा। विकास कार्यक्रम अमल में आए। जनपदों का पुनर्गठन हुआ। 1965 ई० के बाद इसके नतीजे सामने आने लगे। पढ़े-लिखे लोगों की संख्या बढ़ी और साथ ही सांस्कृतिक जीवन प्रभावित भी होने लगा। नये के आगमन के स्वागत की तैयारियां थीं परन्तु सनातन, बिखरा जाता था। इस संक्रमण को लोक गीतों में मूर्तित होता पाते हैं। वहां के मेलों, कौतिकों का रूप बदलने लगा। आकाश में सिर ऊंचा किये रहने के लिए जरूरी था अपनी पथरीली चट्टानों मजबूत धरती को जड़ों से जकड़े रखना। परन्तु धरती थी कि पैरों के नीचे से खिसकती जा रही थी। ब्लास्टिंग के धमाकों से धरती ही नहीं हिलती थी उसी अनुपात में युगों से संचित स्वाभिमान भी हिलता था। अकेले पेड़ ही नहीं कटते थे, परम्परायें भी कटती थीं। स्वाभिमान का अर्थ तब तक कुछ लोगों के समझ में आने लगा था। ज़िलों के लिये लिखे गये भूगोल की पुस्तिकाओं आशु-कविताओं के छोटे-छोटे पेम्फलेटों, न्योली-चांचरी, छड़ा-बाजूबंद की पर्चियों से लेकर अंचल और ज़िलों के स्तरों पर इतिहास की खोजों के अनेक प्रयत्नों में उसकी रक्षा के प्रयत्नों की प्रतीत होती है। इसी बीच हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने मोहनलाल बाबुलकर की पुस्तक 'गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन' प्रकाशित की। कुमाऊंनी भाषा पर इस बीच दो अच्छे शोध प्रबन्ध डी०लिट् की उपाधियों के लिए स्वीकृत हुए। एक प्रबन्ध डॉ० भगतसिंह द्वारा कुमाऊंनी का वर्णनात्मक अध्ययन' शीर्षक से जबलपुर विश्वविद्यालय में प्रस्तुत हुआ। दूसरा डॉ० भवानी दत्त उप्रेती द्वारा कुमाऊंनी भाषा का अध्ययन शीर्षक से इलाहाबाद विश्वविद्यालय में।

"मध्य पहाड़ी का भाषाशास्त्रीय अध्ययन" शीर्षक से डॉ० गोविन्द चातक की पुस्तक "राधाकृष्ण" प्रकाशन से छपी और मध्य पहाड़ी भाषा (कुमाऊंनी गढ़वाली का) का अनुशीलन और उसका हिन्दी से सम्बन्ध प्रकाशित करने वाली एक पुस्तक डॉ० गुणानंद जुआल ने प्रकाशित की।

अग्रेज पीढ़ी के उपर्युक्त समस्त कार्यों के सिंहावलोकन से लगता है—भाषाओं और कहावतों पर कार्य अच्छा हुआ है। संकलन के परिमाण और अध्ययन में गुणात्मकता से उसको आगे बढ़ाया जाना है।

लोक कथा के संकलन और प्रकाशन का कार्य बिक्री की दृष्टि से लाभ-कर होने के कारण हिन्दी भाषा में संकलित होकर बाजार में आया है उसमें खोज की बहुत गुंजायश है। कुमाऊंनी-गढ़वाली टैक्स्ट के प्रचारक-प्रसारक और बिक्री करने वाले दुर्लभ हैं। कुछ प्रयत्नों की शुरुआत हो रही है। बोलियों में साहित्य लिखने और पढ़ने की प्रवृत्ति विकसित होगी तो हिन्दी में छप रही कुमाऊंनी-गढ़वाली लोककथाएं फिर अपने घर जाकर अपनी भाषा की बात करेंगी। लोक गीत, इन अंचलों पर लिखी जाने वाली करीब-करीब प्रत्येक पुस्तक के परिशिष्ट भाग में कुछ न कुछ संकलित होते ही गए हैं। इधर डॉ० कृष्णानन्द जोशी के संकलनों ने उन्हें वरिष्ठ क्रम दिया है। सर्वाधिक अनखोजी और अप्रकाशित है तो लोकगाथा। इसके संकलन में दिक्कतें भी अपेक्षाकृत सबसे ज्यादा हैं। 1966 में, जब मैं इस ओर प्रवृत्त हुआ था, स्थितियां बड़ी निराशाजनक थीं। एक मात्र गढ़वाली लोकगाथा का डॉ० चातक का संकलन मौजूद था। नरेन्द्र धीर के हिमाचल के संकलनों और डॉ० चातक की विधि से आगे बढ़ कर मैंने कुमाऊंनी लोकगाथा के टैक्स्ट तैयार करने की कोशिशें कीं। जिसका प्रथम भाग जनवरी 71 में बाजार में उपलब्ध हुआ था। उसी वर्ष के मध्य में डॉ० कृष्णानंद जोशी का कुमाऊंनी का लोक साहित्य संग्रह छपा था जिसमें कुछ लोक गाथाएं भी हैं परन्तु गीतों में खोई हुई हैं। 1973 में, मैंने अपने गाथा संकलन का दूसरा भाग प्रकाशित किया। एक दशक और बीत गया किसी नये नाम के इस क्षेत्र में आने की सूचना मुझे नहीं है। हां, श्री कृष्णानंद जोशी ने 'रूप्हले शिखरों के सुनहरे स्वर' से जो नया संग्रह दिया है उसमें चार और लोकगाथाएं प्रकाशित हुई हैं। लगता है, छठे दशक के आखिरी वर्षों से हम में लोक गाथा की समझ विकसित होनी शुरु हुई। जबकि हिमालयन फोकलोर पुस्तक में महत्वपूर्ण लोकगाथाओं के संकलन का काम वर्षों पूर्व शुरु हो गया था। उसे इस विधा का पहला प्रकाशन माना जाना चाहिए था। तब गाथाएं गद्य में लिखी जाती थीं। एक तो पहाड़ी भाषाओं से अंग्रेजी में अनूदित और अंग्रेजी से फिर हिन्दी में। दूसरे गद्य होने से वे शुद्ध लोककथाएं हो जाती थीं। लोककथा, लोकगाथा नहीं होती। ओकले की दृष्टि में यह भेद स्पष्ट था। उनकी भूमिका से यह बात प्रकाशित होती है लेकिन जो चीज़ दृष्टि में स्पष्ट थी कृति में भी वैसी ही झलकनी चाहिए थी।

कविता के धर्म की चीज़ को गद्य रूप में प्रस्तुत करने की जो गलती तारादत्त और ओकले से शुरु हुई वही मुक्त दर्शन जी की 'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियों' में पुनः आवृत्त हुई। कई लोकगाथाओं की सामग्री को, हिन्दी भाषा-भाषियों के लिए, सुन्दर ढंग से सुलभ कराने के बावजूद न तो यह लोकगाथा कही जा सकती थी और न उसका अध्ययन ही। हां उससे, धुर हिमालय के अंचलों के शानदार अतीत की झांकी मिलती थी। वहां के आदमी को ही वहां के अतीत का कितना ज्ञान था? पढ़े-लिखे लोगों के, चारों ओर घिरे अंधेरों के बीच कृति ने रोशनी डाली। उससे कुछ लोग अपनी परम्पराओं के खोज के प्रति आकृष्ट हुए।

उपर्युक्त गलतियों की आवृत्ति सन् 1980 के आसपास के कुमाऊंनी-गढ़वाली अनुसंधिनुओं में भी होती रहे तो मानना होगा कि हम आगे नहीं बढ़ रहे हैं। जैसा कि 1970 में प्रकाशित डा० दुर्गादत्त उपाध्याय की पुस्तक कुमाऊँनी लोक गाथाओं का साहित्यक और सांस्कृतिक अध्ययन" देखकर लगता है। इधर नेता जी श्री शिवानन्द नौटियाल ने, गढ़वाली लोकसाहित्य गीतों पर, एक सौ पचास रुपये की कीमत की पुस्तक साहित्य सम्मेलन से प्रकाशित कराकर इस क्षेत्र में कीर्तिमान स्थापित किया।

कुमाऊँ अंचल में कई हिन्दी लेखकों ने लोकगाथाओं की विषय-वस्तु पर उपन्यास लिखे और अब भी लिखते जा रहे हैं। ऐसा करने से लोकगाथाओं के प्रस्तुतीकरण की शैली तो हिन्दी उपन्यास को मिलती है, उसे आचंलिक खूबी का एक विज्ञापन भी मिलता है।

परन्तु लोक गाथा का यह गलत व्यावसायिक उपयोग है। वह एतिहासिक उपन्यास से भी वंचित रह जाता है, लोक की मूल विरासत बने रहने से भी। लोक गाथाओं से उपन्यास रचने वाले मेरी समझ से भारी मुगालते के शिकार हैं। लोक गाथा का स्वभाव विषयनिष्ट कविता के स्वभाव जैसी है। उसकी प्रेरणा से प्रबन्धों की रचना संभव है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में सन्देश रासक से ले कर चन्दायन, मिरगावती, मधुमालती, पद्मावत् आदि पचासों प्रबन्ध काव्यों की प्रेरणा के मूल में लोकगाथाओं की उपस्थिति प्रभावकारी रही है। छन्द शास्त्र के यशस्वी विद्वान डा० पुत्तू लाल शुक्ल 'चन्द्राकर' ने उत्तराखंण्ड की विख्यात लोकगाथा 'मालूसाही' को सातवीं दशाब्दी के उत्तरार्द्ध के वर्षों में प्रबन्ध काव्य का रूप देकर इसकी लोक निर्मिति की है। लोग उसे महाकाव्य कहने लगे किन्तु ऐसे काव्य, लोक प्रबंन्ध कहे जाते हैं जिसके लिए अंग्रेजी में 'फोक ऐपिक' शब्द प्रयुक्त होता है। 'फोक ऐपिक' लोकगाथा नहीं रह जाता। लोक गाथाओं से लोक प्रबन्ध बनते हैं। हिन्दी का 'आल्हा' इसका सुन्दर उदाहरण है। गाथा से विषय उपवृहण करके अनेक दिशाओं में साहित्य विकसित होता है।

सही तो यह है कि लोकगाथा स्वयं में कृति है। कदाचित् कृति के साथ ही प्रस्तुति भी। साहित्य के विकास के इतिहास का तर्क दिया जाय तो कहना होगा कि वाङ्‌मय के उक्त तीनों अंग महाकाव्य, नाटक और नृत्य-नाटक उसके व्यक्तित्व से निर्मित होते हैं। लोकगाथा के स्वरूप का साक्षात्कार किसी महान और चिरन्तन नाट्यकृति के प्रत्यक्ष दर्शन-आस्वादन जैसा रोमांचक है। वह महाकाव्य जैसी उदात्त, नाटक जैसी सार्वजनीन और पुराण जैसी पवित्र रचना है। उपन्यास बिल्कुल दूसरे धरातल की चीज है। गाथा के स्वतन्त्र व्यक्तित्व को समझने के सिवाय उसके अध्ययन की कोई भी इतर दृष्टि सही नहीं ठहराई जा सकती। उसके विराट व्यक्तित्व के करीब जाने की पहली प्रविष्ट है उसका संकलन। यह दीगर बात है कि समग्र लोकगाथा भाषा की सीमा में नहीं बंधती। स्वर लिपि का आविष्कार करके उसका लोक संगीत को नोटेशन की पद्धति के भीतर लाया जाता है और उसका ऑपेरा शैली में मंचन होता है। नाट्य रूपान्तरण और रंगधर्मिता में उसका प्रस्तुतीकरण हूबहू मंच में उतर आता है तथा गाथा प्रत्यक्ष हो जाती है। अतीत की इन भव्य विरासतों को हम लोक से कागज में, कागज से मंच में, मंच से सिने पर्दे पर ला सकते हैं। उसे इस रूप में लाने का प्रयास न करके अपने-अपने ढंग से उसका विकृत करना, हमारी मौलिकता का प्रमाण कतई नहीं हो सकता। कुमाऊंनी-गढ़वाली लोक-गाथा, समूह बद्ध होकर काम कर सकने की हमारी क्षमता के लिए चुनौती बनी है। मुझे विश्वास है हमारी वर्तमान पीढ़ी नहीं तो अगली पीढ़ी इस चुनौती को अपने लिए "वरदान" बना कर रहेगी।

हिमालय की सांस्कृतिक संपदा

—डॉ० श्याम प्रकाश

हिमालय को पृथ्वी का कल्याण करने वाला पर्वत माना गया है। इस हिमालय के पांच खंड माने गए हैं :

खण्डाः पंच हिमालयस्य कथिता नेपालकुमांचलौ ।
केदारोऽथ जलंरोऽथ रूचिरः कश्मीर संज्ञोऽन्तिम्ः ॥

1. नेपाल, 2. कूमांचल (जिस को अब कुमाँयुं कहा जाता है), 3. केदार (जिसे अब गढ़वाल कहते हैं), 4. जालंधर, पंजाब का पर्वतीय भू-भाग और 5. कश्मीर। हिमालय के इन पांच खंडों में एक खंड केदार खंड माना गया है। बृहत्तर हिमालय के मध्यवर्ती हिमालयीय संभाग केदार खंड जिसे सम्प्रति गढ़वाल कहा जाता है वदिक काल से आज तक भारतीय आध्यात्मिक संस्कृति का केन्द्र रहा है। हिमालय की महानता वैदिक युग से आज तक इसी केदार खंड के साथ जुड़ी हुई है। यही क्षेत्र भारतीय धर्म और संस्कृति का मूल स्रोत रहा है। प्राचीन काल से ही यह क्षेत्र ऋषिमुनियों का निवास रहा है। इन में भरद्वाज, वशिष्ठ, अगस्त्य कण्व, जमदग्नि, जन्हु आदि प्रमुख हैं। इन ऋषि-मुनियों में व्यास का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने ग्रन्थ का प्रारंभ ही नर और नारायण को नमस्कार कर के किया है। ये दोनों, पर्वत रूप में बद्रीनाथ के दोनों ओर स्थित हैं। बद्रीनाथ के पास एक गुफा है, जो व्यास गुफा के नाम से आज भी प्रसिद्ध है। भगवान राम ने स्वयं देव प्रयाग में तप किया था। वशिष्ठ ने अपनी पत्नी अरून्धती के साथ इसी भूमि में आ कर तप किया था और जिस गुफा में ये रहे उसे वशिष्ठ गुफा कहते हैं। पाण्डवों को भी यह भूमि बहुत प्रिय थी। राजा भगीरथ का तप लोक प्रसिद्ध है। आज भी पतितपावनी गंगा हिमालय के सिन्धु पर्यन्त एकता एवं तप का पाठ पढ़ा रही है। हिमालय की संस्कृति गंगा की भांति पावन और निर्मल है। जितेन्द्रिय एवं शान्त-चित्त राजा भगीरथ ने इस उत्तराखंड में आ कर तप किया था। विवेका-नन्द, दयानन्द, रामतीर्थ प्रभृति, महात्माओं ने भी इसी उत्तराखड में कुछ काल भ्रमण करके आत्मबल की सिद्धि प्राप्त की थी। इस प्रकार इस क्षेत्र का संबंध समस्त भारत से जुड़ा हुआ है। महर्षियों की यह साधना स्थली सदैव से प्रेरणा-स्रोत रही है और हिमालय का यह भू-भाग आज भी भारतीय संस्कृति के तप, त्याग, अहिंसा, पावनता एवं सादगी का प्रतीक बना हुआ है।

हिमालय समस्त भारतीय चेतना का महान देवालय है। भारतीय संस्कृति और जीवन धारा में इस नगाधिराज देवात्मा हिमालय के महान योगदान का विस्मरण नहीं किया जा सकता। हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों को इस हिमालय से दिव्य सुफरण की प्राप्ति हुई है। इसी क्षेत्र में वेद, पुराण, महाभारत जैसे काव्यों की रचना हुई। महर्षि व्यास ने बद्रीनाथ बदरिकाश्रम में सरस्वती नदी के किनारे बैठ कर अठारह पुराणों की रचना की। यहां पर व्यास गुफा और गणेश गुफा अभी भी विद्यमान हैं। इस क्षेत्र में निवास करने के कारण ही वेदव्यास को बादरायण भी कहते हैं। शंकराचार्य ने बदरीवान में निवास कर के सोलह भाष्य वेदों पर लिखे। संस्कृत के महाकवि कालिदास को भी इसी क्षेत्र ने सर्वप्रथम काव्य-कला के प्रति स्फुरित किया। कालिदास ने अपने महाकाव्य कुमारसंभव में जहां हिमालय का वर्णन किया है, वहां उसे देवताओं की आत्मा एवं विधि द्वारा पूर्व से पश्चिम तक पृथ्वी को नापने के लिए मानों मानदण्ड कहा है :

अस्त्युत्तरस्यां दिशिदेवतात्मा
हिमालयोनाम नगाधिराज।
पूर्वापरौतोयनिधिवग्राहहय
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः ॥

हिमालय की इस भूमि को पृथ्वी के अन्य क्षेत्रों से विलक्षण बतलाना केवल कवि-कल्पना मात्र नहीं है, अपितु इस की विशिष्टता एवं दुर्लभता का अनुभव प्रत्यक्ष दृष्टा ही कर सकता है। इसकी निर्जन वन-वीथिकाएं हिम धवल उत्तुंग पर्वत-मालाएँ, फूलों की घाटियां, ऊँचे-ऊँचे जल प्रपात की दुग्ध धवल धाराएं, विशाल सरोवरों एवं कुंडों की नैसर्गिक सुषमा तथा देवदारु, चीड़ आदि की वृक्षावलियां देवताओं को भी अपनी ओर आकृष्ट करती हैं। इसीलिए केदारखंड में इस भूमि को देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया गया है :

'इति तत्पपम् स्थाने दैवानामार्य दुर्लभम् ।

हिमालय में उन्मुक्त प्रकृति के प्राचीनतम अद्भुत रूपों के विराट दर्शन होते हैं, जिनसे दर्शक का मानस-पटल प्रभावित हो कर इस

प्राकृतिक परिवेश में परिव्याप्त प्रत्येक कुंड पर्वत-शिखर एवं शिला खंडों में दैवी शक्ति पर विश्वास करने को बाध्य हो जाता है। यहां की प्रत्येक घाटी या चोटी किसी न किसी ऋषि या देवता को समर्पित है, जिसके साथ कोई न कोई गाथा जुड़ी हुई है। संपूर्ण उत्तराखंड देवभूमि के नाम से विख्यात है।

हिमालय की सस्कृति सदैव से समन्यवादी रही है। यहां सभी देवी देवताओं की पूजा समान आदर से की जाती है। इस हिमालय-क्षेत्र में शाक्त, शैव, वैष्णव, और स्मार्त सभी धर्मों के विशिष्ट मठ और सिद्धपीठ है परन्तु उनमें कोई अलगाव नहीं है। हिमालय शिव का आदि क्षेत्र है। कैलाश, हिमालय के इस केदार खंड में ही है। केदार अर्थात् शिव की प्रधानता के आधार पर ही इस संपूर्ण क्षेत्र को केदारखंड कहा गया है। यहाँ का कण-कण ही शंकरमय है। पर्वत-पर्वत पर शंकर की इस स्थिति के कारण ही हिमालय के इस क्षेत्र को, केदारखंड कहा गया है।

शिव की ही भांति इस क्षेत्र में शक्ति को विशेष महत्व प्रदान हुआ है। शाक्त और शैव दोनों मतों का हिमालय से पुरातन संबंध रहा है। हिमालय की पुत्री पार्वती उमा हेमवती ही कालान्तर में शाक्तों की आराध्य देवी बनी। यहीं नंदा शिखर पर उमा का निवास स्थान माना जाता है। हिमालय में जितने शैल-शिखर और ऊँची-ऊँची चोटियां हैं, उनमें एक न एक देवी मंदिर अवश्य मिलेगा। संपूर्ण उत्तराखंड इस दृष्टि से जितनी चोटियां उतनी देवियों के रूप में पूजित होता आया है। लगता है, संपूर्ण हिमालय शाक्त ही शाक्त है। परन्तु ऐसा नहीं है। हिमालय सर्वमता-वलम्बी है और यहाँ एक स्थान पर विष्णु, शिव, सूर्य, गणेश तथा देवी की पूजा होती है। ग्राम देवताओं को भी इस क्षेत्र में उतना ही महत्व और आदर दिया जाता है। घण्टाकर्ण, क्षेत्रपाल, भैरव, हरू, सिद्ध कालिका, नृसिंह, गरुड़, आछरी तथा निरंकार एक एक साथ पूजित हुए हैं। वैष्णवों के जहां विष्णुदेव हैं तो खसों के शिव। विष्णु के दर्शन के पूर्व आदि केदार, जो बद्रीनाथ में ही प्रतिष्ठापित हैं, के दर्शन आवश्यक समझे जाते हैं। तात्पर्य यह कि इस क्षेत्र में शाक्त, शैव, वैष्णव, नाम तथा खस मतमतान्तर इस प्रकार पूजित हुए हैं कि जहां शाक्तों ने बलि दे कर चन्द्रबदनी की पूजा की है, वहां वैष्णवों में वैष्णवी देवी के रूप में चन्द्र-बदनी और माता दुर्गा की पूजा विशुद्ध वैष्णवी पद्धति से की है। इस प्रकार जो शाक्त है, वह शैव है, वैष्णव है, खस है, तथा नाथ मतावलम्बी है। एक ही स्थान और एक ही मन्दिर में जहां किसी मत विशेष के देवताओं को प्रतिष्ठापित किया गया है, वहां ग्राम देवताओं से लेकर अन्य विभिन्न मतावलंबियों के देवों को सादर स्थान दिया गया है। यह रूप है इस हिमालय के धर्म का, जो विविधताओं में भी समन्वयकारी एकरूपता लिए हुए है। शक्ति के मन्दिरों में नाग देवता की मूर्ति, सालिगराम और हनुमान और गणेश की प्रतिमाएं एवं नागराज (विष्णु) मंदिर में ग्राम देवताओं के अतिरिक्त स्थानीय शूरवीरों की मूर्तियां तथा विष्णु मंदिरों में घण्टाकर्ण गरुड़ की प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। हिमालय की यह विशेषता है कि यहाँ विभिन्न मत अनन्त काल से एकता में अनेकता और अनेकता में एकता लिए एक सूत्र में बधे हैं। इस प्रकार यहां की विशेषता अभिन्नता है। भिन्न भिन्न विचारों के यहां मंदिर हैं, तथा विचारक हैं, परन्तु किसी को किसी से कोई द्वेष नहीं। यहां विभिन्न प्रदेशों के धार्मिक भावना के लोग समय-समय पर आकर बस गए। सब ने अपने आप को एक दूसरे में मिला दिया।

हिमालय की सांस्कृतिक सम्पदा इस विविधता में एकता तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना में निहित है, जो भारतीय संस्कृति का प्राण है। संपूर्ण उत्तराखंड इसी संस्कृति का देदीप्यमान शुभ्र भाल है। भारतीय संस्कृति विश्वमंगल की भावना से परिपूर्ण है। हिमालय मानव-मात्र की यह कल्याण-भावना से ओत-प्रोत है। इसके विशद् कलेवर में सत्यम् शिवम् और सुन्दरम् का मनोरम समावेश है।

स्कन्द पुराण में भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक छटाओं के साथ वर्णित––मानस खण्ड का लोक-व्यावहारिक नाम है––कुमाऊं, जिसके नामाक्षरों के स्रोत की तलाश में पुरावृत्त के अध्येता चम्पावत के निकट स्थित कूर्म पर्वत का दर्शन-लाभ चाहते हैं। यह पर्वत विष्णु भगवान के कूर्मावतार से सम्बद्ध है। पौराणिक आख्यानों में अपनी रंगीली पंक्तियां रखने वाला कुमाऊं भारत के इतिहास में अपने सजीले पृष्ठ रखता है। उत्तर प्रदेश के नैनीताल, अल्मोड़ा और पिथौरागढ़––तीनों जिले अपनी समस्त जनमानसीय सुकोमलता के साथ सुमधुर शब्द––"कुमाऊं" में समेकित हैं।

जन-संवास की दृष्टि से नदी-उत्तल (रीवर टैरेस, सेरा, बगढ़, सौड़, सोर), हिमानी उत्तल (ग्लेशियर-कृपान्वित भू), हिम गह्वर (उच्च हिमालयीय उपत्यका) एवं मन्द प्रवण (धीमी ढलान) ने अपनी कठोरता तथा कोमलता के कंटक-पुष्पीय मेलजोल के साथ यहां के मानव-समाज पर कृपा की है। यहां युगों पूर्व से जहां भी निवास-योग्य भूमि मानव को मिली है, वहां उसने सीढ़ीदार खेतों तथा जलाशयों की आवश्यक व्यवस्था के साथ उनके ही संनिकट और सिरहाने अपने आवास की योजना की है। वहीं कहीं पर उसकी रक्षा एवं श्रीवृद्धि के निमित्त परिकल्पित "इष्ट" देवता का पूजा-स्थान है, जिसके विनिर्माण में उसके सांस्कृतिक अभ्युत्थान के साथ ही समयानुसार विकासात्मक कदम बढ़े हैं। इन्हीं ऊर्ध्वगामी सोपानों के साथ "कुमाऊं की स्थापत्य कला" का संबंध है।

कुमाऊं की स्थापत्य कला

––डॉ॰ परमानन्द चौबे

कुमाऊं की स्थापत्य कला का अध्ययन करने से पूर्व कला एवं स्थापत्य कला का पारिभाषिक परिचय आवश्यक है। "कलयति-स्वरूपम आवेशयति, वस्तुनि वा तत्र तत्र प्रमातरि कलनमेव कला"[1] का उल्लेख करते हुए हिन्दी के मूर्धन्य कवि जय शंकर प्रसाद ने वस्तु में रूप की खोज को कला माना है। कला मनुष्य के मन एवं मस्तिष्क के साथ सहज संबंध रखती है। वह अपनी कलात्मक सृष्टि के साथ उसके अन्तर्जगत् पर अधिकार प्राप्त कर लेना चाहती है। "मन के सूने प्रदेश को भावों से और लोक को मूर्त रूपों से भरना––यही कलात्मक सृष्टि है।"[2] इस प्रकार कलामन में भावना-तरंगों को एवं बाहर दृश्य जगत् में नए-नए रूप-विधानों को उपस्थित कर देती है।

कला-पारखियों ने शारीरिक सुख तथा सौन्दर्य से संबंधित कला को उपयोगी कला एवं मानसिक, बौद्धिक व सांस्कृतिक विकास से संबंधित कला को ललित कला के अभिधान प्रदान किये हैं। स्थापत्य कला, ललित-लान्तर्गत अभिसूचित पांचों कलाओं––स्थापत्य, मूर्ति, चित्र, संगीत और काव्य––में सर्वाधारस्वरूपा है। इसे ही दूसरे शब्दों में वास्तुकला और अभियंत्रण-जगत् में "आर्किटेक्चर"[3] कहा जाता है। अपनी समस्त कला-बाजियों के साथ इसका सीधा संबंध भवन निर्माण से है। मूलतः मानव की आत्म-रक्षा की भावना ने इसे जन्म दिया है। बाद में क्रमशः उसकी भावयित्री और कारयित्री प्रतिभा के अनुरूप इसके साथ सुख-प्रदायक तथा प्रभावक सौन्दर्य के मान-मूल्यों की संयोजना हुई है। फलतः भवन के स्थापकों एवं उसकी निर्मिति में दत्तचित्त स्थापतियों (राजगीरों) ने "सरलता से विशेषता की ओर" के सिद्धान्त का अनुगमन किया है।

कुमाऊं के संदर्भ में स्थापत्य कला का संबंध लौकिक वास्तु (जन-संवास, जन-रक्षा) तथा धार्मिक वास्तु (पूजा-स्थल, धर्म-कर्म-स्थल) के साथ युगों पुराना है। सभ्यता की यात्रा में जब से यहां के मानव ने घर, परिवार और गांव में रहना उचित समझा है, तब से यथा सुलभ साधनों के द्वारा उसने घर का निर्माण किया है, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में उसे गिरि-कन्दराओं की भी काट-छांट करनी पड़ी है। धार्मिक व सांस्कृतिक भावनाओं के पल्लवन पर उसने पूजा-स्थलों का भी विकास किया है, यद्यपि प्रारम्भिक अवस्था में उसे खुले आसमान के नीचे अभ्रभेदी चोटियों, सुगढ़ पाषाणों एवं शाखान्वित (झुमर्याले) वृक्षों में ईश्वर की सत्ता सुलभ हो गयी थी।

कुमाऊं की स्थापत्य कला का विस्तृत विवेचन करने से पूर्व स्थापत्य कला के दोनों भेदों––लौकिक एवं धार्मिक––का विश्लेषण कर लेना भी युक्ति-संगत होगा। लौकिक स्थापत्य के अन्तर्गत वे सारी निर्मितियां आ जाती हैं, जिनका संबंध घर, परिवार, गांव और नगर में रहने वाले मानव-समाज की सुख-सुविधा से रहता है। इस दृष्टि से जन-साधारण के घर (साधारण गृह, शाल-भवन), राज भवन, किले (दुर्ग), गांव-रचना, नगर-रचना, जलाशय, चबूतरे (प्रस्तार), पशु-मार्ग और जन-मार्ग आदि का समाहार लौकिक वास्तु के अन्तर्गत हो जाता है। धार्मिक वास्तु के अन्तर्गत ईश्वर के साथ जीव के संबंध की सभी परिकल्पनाएं आ जाती हैं, जिनके अनुसार मानव देव-स्थलों, मंदिरों, मस्जिदों, गुरुगृहों, चर्चों, विविध मूर्तियों, चित्रों एवं उच्चित्रों की निर्मिति करता है। इसी के अन्तर्गत वीर पुरुषों के कृत्यों की बिम्बात्मक अभि-व्यक्ति भी समाहित हो जाती है।

लौकिक स्थापत्य की दृष्टि से कुमाऊं की स्थापत्य कला का विवेचन निम्नवत् है :

अ––साधारण गृह :––कुमाऊं में बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक निर्मित साधारण गृहों में यहां के निवासियों की स्वास्थ्य विज्ञानात्मक एवं कलात्मक अभिरुचि के दर्शन होते हैं। यहां की स्थलाकृतिक विशेषता एवं जलवायु के अनुरूप यहां के पुराने घरों को एक सजीव रूप मिला है।

भूकम्प, तेज हवा-पानी और बर्फ से बचाव के निमित्त यहां के अधिकांश पुराने घर छोटे तथा हल्की पहाड़ी ढाल की आड़ में बने हैं। बाहर से देखने में वे "इकमंजले" प्रतीत हो सकते हैं, पर हैं वे "दुमंजले"। पशुओं की रक्षा के निमित्त संरचित उनकी पहली मंजिल (गोठ) काफी नीची रहती है और दूसरी मंजिल भी शीताधिक्य को ध्यान में रखकर बनी हुई है। कुछ सम्पन्न घरों के लोग छज्जेदार मकानों के मालिक हैं। उनके मकान "ठुल कुड़ी" होने के कारण लोगों की निगाहों में ही नहीं, दिलो दिमाग में भी बैठे रहते हैं। लगभग सभी मकान "दुपखिया" (छत के दो ढालू पक्ष वाले) हैं। इक्के-दुक्के मकान तिपखिया और चौपखिया भी रहते हैं। पिछली शताब्दी के मकानों के दरवाजे बहुत छोटे हैं, जिन्हें काफी झुक कर प्रणाम मुद्रा में ही पार किया जा सकता है। कुछ मकानों में मुख्य द्वार लम्बोतरा रहता है, जिसे स्थानीय भाषा में "खोली" कहते हैं और जिसके उत्तरांग में ललाट बिम्ब के रूप में गणेश का उच्चित्र रहता है। द्वार शाखाओं में नक्काशी-दार बेल-बूटे (चित्र वल्लरी), मंगल-अभिप्राय तथा स्वस्तिक चिह्न आदि बने रहते हैं, जो कुमाऊं की पौराणिक संस्कृति को द्यतित करते हैं।

ज्यामितीय अलंकरणों से विभूषित बरामदे (अलिन्द) कुमाऊं के जन आवास को आकर्षण प्रदान करते हैं। मूलतः खेतों के अवलोकन-अभिप्राय से निर्मित ये अलिन्द प्रकृति-निरीक्षण की पावन भावना को भी संजोये हैं।

इन साधारण गृहों की ही परम्परा में कुमाऊं में ब्रिटिश काल में कुछ बंगले, आउट हाउस तथा आश्रम भी बने हैं।

ब--राज भवन :--कुमाऊंनी स्थापत्य कला से विनिर्मित राजभवन चम्पावत, लोहाघाट तथा अस्कोट में दृष्टव्य हैं। चम्पावत का "नौ दुंगिया गृह" (केवल नौ बड़े-बड़े प्रसाधित प्रस्तरों से निर्मित गृह), लोहाघाट के निकट पुरातन किले के भीतर पूर्वाभिमुखी सस्तम्भ गृह तथा अस्कोट में छज्जेदार ऊंची मंजिलों वाले दो राजगृह कुमाऊं की स्थापत्य कला के अनूठे निदर्शन हैं।

स--दुर्ग :-चम्पावत, पिथौरागढ़ और अल्मोड़ा के तहसील कार्यालयों को दुर्गाधिस्थ होने का सौभाग्य प्राप्त है। कुमाऊं के इन तीन किलों के साथ ही एक चौथा किला "तथाकथित बाणासुर का किला", जो लोहाघाट के निकट है, उल्लेखनीय है, जो सभी सम्भावनाओं के साथ कुमाऊं का सबसे पुराना किला है। स्थापत्य कला की दृष्टि से "गिरि दुर्ग परम्परा" का इन चारों किलों में पूर्ण ध्यान रखा गया है। ये सभी दुर्ग अधित्यका (ऊंचाई) में स्थित होने के कारण सही मायने में दुर्गमता के साथ दुर्ग हैं। इनका निर्माण सामरिक दृष्टि से हुआ है, जिसकी पुष्टि इनके चारों ओर बने हुए "प्रवणशील छिद्र" करते हैं, जो आक्रमणकारी पर किले के अन्दर से ही "ईंट का जवाब" देने के लिए बने हैं। किलों के अन्दर कुमाऊंनी पैटर्न पर राजगृह बने हैं।

द--गांव-रचना नगर रचना :--कुमाऊं के पुराने गांव आधुनिक नगरों से कम नहीं हैं, चमक-दमक के मामले में नहीं, नागरिक दायित्व के मामले में। "आड़ मर्यादा" को ध्यान में रखकर कई घरों की एक सम्मिलित "पट्टी" यहाँ बन गयी है। एकता तथा मेलजोल के भाव का इससे द्योतन होता है।

य--जलाशय :--कुमाऊं का स्थापत्य कला यहां के जलाशयों से भी झांकती हुई नजर आती है। वर्गाकार अधः सोपानों के साथ बने हुए यहां के नौले (वापी) अपने स्तम्भों में सुदृढ़ता तथा छत में मनोहारी ढलान लिए हुए हैं। उनकी द्वार-शाखाओं में गंगा-यमुना तथा मकर के उच्चित्र मिलते हैं। उनकी अधिकांश द्वार-शाखाएं एकाश्म (एक ही पत्थर की) हैं। वाणी के अन्दर दीवार में बने हुए खत्तक (रथिका) में विष्णु भगवान की प्रतिष्ठा है।

वापी के साथ ही कुमाऊं में "जलधारा" भी "मकर" मुख के साथ विनिर्मित हैं। यथोपलब्ध जलधारा को मकर मुख से निर्गत किया गया है। मकर मुख को सुदृढ़ पाषाण से घटित किया गया है तथा उसके चारों ओर मंदिरवत् भित्तियां (दीवारें) और ऊपर प्रच्छादन बना रहता है।

जलाशय के संदर्भ में कुमाऊं की स्थापत्य कला के दर्शन गंगोली-हाट (पिथौरागढ़) के जाह्नवी नौले तथा धरगढ़-वाराकोट पिथौरागढ़) के जलधारे में सुलभ हैं।

र--प्रस्ताव (चबूतरे) :--कुमाऊं में गांवों के बीच में, मंदिरों के समक्ष, मार्ग में तथा वनालियों के बीच बड़े-चौड़े परतदार पत्थर (पटालों) को कुछ ऊंचाई तक की गयी चिनाई के ऊपर बिछा दिया गया है, जिससे आरामदेह चबूतरों का निर्माण हो गया है। इन प्रस्तारों में कुछ पत्थर ज्यामितीय अलंकारों-समान्तर रेखाओं द्वारा सबलंकृत हैं। प्रस्तारों के निर्माण में कहीं-कहीं देवदारु की लकड़ी के मोटे और पर्याप्त लम्बे-चौड़े तख्तों का भी प्रयोग किया गया है, जो सदियों पुराने हैं तथा धूप और बरसात से जिनका प्राकृतिक समझौता है। मार्गों और वनालियों के बीच बने हुए लघु वर्गाकार प्रस्तारों के निकट "हिंडोले" की भी कहीं-कहीं योजना है। दो मोटे-लम्बे चतुरस्र (वर्गाकार) काष्ठ स्तम्भों में काफी ऊंचाई में एक अनुप्रस्थ काष्ठ-उत्तरांग (आड़ा मोटा तख्त) रहता है, जिसके सहारे दो लड़ियों वाली लोहे की मोटी जंजीर पटलाधार (बैठने की तख्ती) के साथ भूतल से कुछ ऊपर तक आ जाती है, जिसमें बैठकर हिंडोले की पेंगों का आनन्द लिया जा सकता है। सदियों पुराने होने के कारण अधिकांश हिंडोलों की जंजीरें उसी की धरती में या निकट के मंदिरों में हैं। कुमाऊं में प्रस्तार और हिंडोले की दृष्टि से सुई-लोहाघाट तथा पुलहिंडोला (पिथौरागढ़) स्थल उल्लेखनीय हैं।

धार्मिक स्थापत्य की दृष्टि से "मध्य हिमालयीय शैली" में बने हुए कुमाऊं के मंदिर दृष्टव्य हैं, जिनका अध्ययन निम्नलिखित वास्तुशास्त्रीय शब्दावली प्राप्त करता है:

क--अछादित आदिकालोन्मुखी मंदिर :--कुमाऊं के गांवों के सिरहाने या वहीं कहीं ऊंचाइयों में अपने इर्द-गिर्द की वनस्पति के बीच प्रधान बने हुए वृक्ष के दर्शन होते हैं, जिसके नीचे एक वेदी बनी रहती है, जो चारों ओर पत्थरों के बाड़े से घिरी रहती है। यह वेदी वृक्ष की पूजा के निमित्त निवेदित सामग्री को अर्पित करने के लिए बनी रहती है।

वृक्ष की पूजा प्रकृति के साथ कुमाऊंनी व्यक्ति के प्रागैतिहासिक संबंध को द्योतित करती है। उसने वृक्ष में ईश्वरीय शक्ति का अधिवास माना है।

ख--छादित आदिकालोन्मुखी मंदिर :--प्रायः किसी वृक्ष के ही नीचे तीन ओर से अभिलम्ब पत्थरों के ऊपर चौड़े-लम्बे परतीले एक-दो पत्थर आच्छादनार्थ पड़े रहते हैं, जिनसे एक ओर को खुले एक पिटारीनुमा मन्दिर की संरचना हो गयी है। इन छादित आदिकालोन्मुखी मंदिरों में लोक विश्वासानुसार विशिष्ट शक्ति सम्पन्न विविध दिव्यात्माओं तथा अन्तर-देवताओं की प्रतिष्ठित प्रतिमाएं, चिह्न या लिंग हैं।

ग--मध्यकालीन नागर प्रासाद :--यद्यपि भारतीय इतिहास के अधिकांश विद्वान ईसा की दसवीं शताब्दी से मध्यकाल स्वीकार करते हैं, परन्तु भारतीय स्थापत्य कला की दृष्टि से ईसा पूर्व छटी शताब्दी--महात्मा बुद्ध के समय से लेकर ईसा की अठारहवीं सदी--अंग्रेजों के शुभागमन तक का समय मध्यकाल के अन्तर्गत समाविष्ट हो जाता है। इस अवधि में आर्य-सूर्योपासना की परम्परा के अनुसार ईसा पूर्व पांचवीं सदी से लेकर कुमाऊं में उत्तर भारतीय नगर शैली के जिन मंदिरों का निर्माण अविरल विकासक्रम से होता रहा है, उनका विवरण निम्नवत् है :

1--स्तम्भरहित शिखर प्रासाद :--कुमाऊं की खेतीहर या समतल भूमि में सुदृढ़ और विशद प्रसाधित पत्थरों से निर्मित कुछ मंदिरों के दर्शन होते हैं, जो छोटे और शिखरान्वित हैं। स्थापत्य कला और मंदिर-विकास की दृष्टि से ये मंदिर आज से लगभग दो हजार वर्ष पुराने प्रतीत होते हैं। इन मंदिरों का गर्भगृह (भीतरी भाग) संकीर्ण और वर्गाकार है। प्रवेश द्वार बहुत नीचा है। प्रणाम-मुद्रा में ही मन्दिर में प्रवेश किया जा सकता है। मंदिर की भित्तियां सीधी और सपाट हैं तथा ऊंचाई में एक विशेष समानुपातिक कर्व (रेखा) के साथ इसका शिखर बना है। वास्तुशास्त्र में वर्णित "रेखा प्रासाद" ऐसे ही मंदिरों के लिए आया है। मंदिर के सामने किसी प्रकार का कोई स्तम्भ नहीं है। सोमेश्वर (अल्मोड़ा) और चम्पावत (पिथौरागढ़) की खेतिहर भूमि के बीच ऐसे मंदिरों के दर्शन मिलते हैं।

स्तम्भ रहित शिखर प्रासादों ने कुमाऊं में आदि शंकराचार्य के आगमन के उपरान्त आठवीं सदी से आकार की विशदता प्राप्त कर ली। ऐसे कुछ बड़े मंदिर बागेश्वर, द्वाराहाट और जागेश्वर में मिलते हैं।

2--सस्तम्भ रुचक प्रासाद :--शिखर प्रासाद की जो स्तम्भ युक्त योजना होती है, वह सस्तम्भ रुचक प्रासाद को जन्म देती है। ये भी वर्गाकार, शिखरान्वित तथा गारे रहित समतलीकृत पत्थरों से निर्मित हैं। इनमें गर्भगृह के द्वार से आगे एक हल्का सा मण्डप रहता है, जिसे चतुरस्र अथवा अष्टास्र दो स्तम्भ आधार प्रदान करते हैं।

इनका शिखर क्षैतिज पट्टियों में रेखान्वित डिजाइन लिए रहता है और खूबसूरत नजर आता है। शिखर के ऊपर गोल पत्थर (आमलक) तथा चक्राकार पत्थर रहता है, जो इसका कलश कहलाता है। द्वाराहाट (अल्मोड़ा) और थल (पिथौरागढ़) के निकट बलतिर गांव में ऐसे मंदिर दृष्टव्य हैं।

3--पिढ़ा शिखर :--शिखर प्रासाद के अन्तर्गत "पिढ़ा शिखर" उन मंदिरों को कहा जाता है, जिनके शिखर में चतुरस्र क्षितिज पट्टियां होती हैं। इन मंदिरों का शिखर वक्रता लिया हुआ न होकर ऊपर की ओर क्रमशः घटती हुई सीढ़ीनुमा पट्टियों से कलश-विन्दु तक पहुंच गया है। अधिकांश मंदिरों के शिखरों में बारह क्षितिज पट्टियों के होने से यह परिकल्पना की जा सकती है कि इनका सम्बन्ध द्वादश सूर्य से है। जागेश्वर मंदिर परिवार में ऐसे मंदिरों के निदर्शन मिलते हैं।

4--काष्ठ छत्र प्रासाद :--शिखर प्रासादों की उक्त योजना की पुरातनता के बाद ईसा की आठवीं शताब्दी के आसपास से कुमाऊं में काष्ठ छत्र-प्रासाद बनने लगे। कुमाऊं के इतिहास में आठवीं सदी से ग्यारहवीं सदी तक का काल कत्यूरी राजाओं के साम्राज्य वैभव के कारण कत्यूरी काल माना जाता है। अतः समय विशेष के इस आपसी संबंध के कारण काष्ठ छत्रों को कत्यूरी शिखर भी कहा जाता है। कुमाऊं में बागेश्वर में भगवान बागनाथ का मंदिर एवं बैजनाथ और जागेश्वर के मंदिर "काष्ठ छत्र प्रासाद" हैं। इन मंदिरों के शिखर में आमलक (शिखर के ऊपर गोल पत्थर) के चक्राधार को प्रच्छायित करते हुए काष्ठ और उसके ऊपर धातु या पत्थर के प्रयोग के साथ छत्र की योजना है। छत्र के ऊपर लम्बोतर कलश की योजना है। गर्भगृह वर्गाकार है। उसके आगे अन्तराल (अर्द्ध मण्डप) के ऊपर शुक नासा (शिखर के सामने द्वार के ऊपर आगे को बढ़ी हुई रथिका) बनी है, जिसमें पुराणान्तर्गत[4] वर्णित अष्ठ मंगल-सिंह, वृषभ, हस्ती, व्यजन, कलश, वैजयन्ती, दुंदुभी और दीप--में से प्रथम मंगल चिह्न व्याघ्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित है, जो व्यात्तमुख (नादान्तर्गत खुला मुख) है। बागनाथ बागेश्वर मंदिर इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। गर्भगृह के समक्ष अन्तराल के आगे सभा मण्डप (गूढ़ मण्डप) की योजना है।

ये मंदिर भी नागर शैली के अनुरुप गर्भ गृह में चतुरस्र (वर्गाकार) हैं। मंदिर के तल छन्द (ग्राउण्ड प्लान) में चतुरस्र वेदी बंध है, ऊर्ध्व छन्द (ऊपरी भाग) में कटि-भित्ति में बीच बीच में उत्ल सज्जा पट्टी की योजना के साथ सुन्दरीकरण किया गया है। शिखर से नीचे मेखला भाग में जल निवारक (कपोतपालिका) का निर्माण किया गया है।

गर्भगृह में परिवार देवताओं के आसनार्थ रथिकाएं बनी हैं। भगवान शंकर से संबंधित इन मंदिरों में पिंडिका के बीच प्राकृतिक लिंग की स्थापना है। पिंडिका में अभिषेक के समय पड़ने वाला जल बाद में आधार शक्ति के साथ बने हुए प्रणाल के द्वारा मंदिर के बाहर मकर-मुख में पहुंचता है।

उक्त मंदिरों की दीवारों की मोटाई लगभग चार फीट और ऊंचाई लगभग पचास फीट है। गर्भगृह का क्षेत्रफल लगभग साठ वर्ग फीट होगा।

मंदिर की द्वारशाखाओं में गंगा यमुना तथा अन्य चित्र वल्लरियों का अंकन मिलता है। द्वारोत्तरांग में ललाट विम्ब तथा पार्श्व में श्री गणेश की मूर्ति की प्रतिष्ठा का विधान है।

मंदिर की चिनाई गारे के विना प्रसाधित पत्थरों के सम्यक् मेल से की गई है। दो बड़े, विशेषतः कोने के पत्थरों को जोड़ने के लिए लोहे की कीलों का भी प्रयोग किया गया है। गर्भगृह के वितान दो पंक्तियों में बने हैं। उनमें काफी चौड़े और मोटे पत्थर प्रयुक्त किये गये हैं

5—वलभी : गुम्बदाकार : प्रासाद :—गर्भ गृह में ऐसे मंदिरों की योजना आयताकार है और ऊपर गुम्बदाकार शिखर के साथ कलश प्रतिष्ठित है। कुमाऊं में दुर्गा माता के मंदिरों के लिए यही शैली अपनायी गयी है। निर्माण काल की दृष्टि से ऐसे मंदिर अधिक पुराने नहीं हैं।

6—अष्टास्र मन्दिर :—कुमाऊं में, लोहाघाट के निकट सुईम अष्टास्र मंदिर है, जिसके आठों कोनों में अष्ट दिशाओं और दिग्पालों की पूजा के साथ गर्भ गृह में शंकर भगवान की लिंग पूजा और आदित्य (सूर्य) की पूजा का विधान है। गर्भ गृह द्वार सोपान से गहरा है। मंदिर क बाहर भित्तियों में सुन्दर देवकोष्ठक बने हैं।

7—वीर स्तम्भ :—कुमाऊं में "विरखम" के नाम से जगह-जगह मार्गों के किनारे काफी गहराई तक गाड़े हुए और ऊंचाई में लगभग आठ फीट तक ऊंचे एकाश्म (एक ही पत्थर के) वीर स्तम्भ मिलते हैं, जिनमें कहीं घोड़े में और कहीं हाथी में सवार आयुध धारी वीर पुरुष का उच्चित्र मिलता है। कुछ स्थानों में जैस सुई-लोहाघाट में इसकी देवता तुल्य पूजा भी होती है। उसके परिसर को वहां सजा दिया गया है। पिथौरागढ़ जनपद में डीडीहाट, सातसिलिंग, वेरीनाग, पुलहिण्डोला के वीरस्तम्भ दृष्टव्य हैं। इनकी स्थापना के संबंध में यह अनुमान है कि ईसा की आठवीं से दसवीं शताब्दी में कत्यूरी राज्य के वीर पुरुषों ने इन्हें स्थापित किया है।

कुमाऊं के स्थापत्य का उक्त अध्ययन इस निष्कर्ष की प्रस्तुति करता है कि स्थापत्य कला के विशेषज्ञ कुमाऊंनी स्थापति ने मत्स्य पुराण में वर्णित भवन निर्माता स्थापति की सभी विशेषताओं को चरितार्थ किया है। मत्स्य पुराण की व्यवस्था है कि स्थापति को वास्तु विद्या-विशारद, कुशलहस्त, अध्यवसायी, दूरदर्शी और शूर होना चाहिए :

"वास्तुविद्याविधानज्ञो लघुहस्तो जितश्रमः।
दीर्घदर्शी च शूरश्च स्थपतिः परिकीर्तितः ॥"
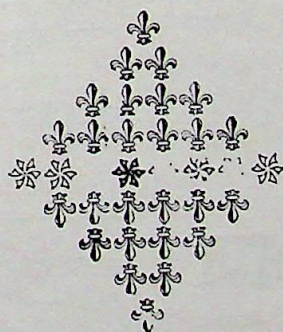
हिमालय सदा ही साहित्यिक प्रेरणा का स्रोत रहा है। कुमाऊं इसी हिमालय की गोद में पलता है। इस प्रदेश ने हिन्दी साहित्य को अनेक उच्च कोटि के साहित्यकार दिये हैं। यह संयोग की ही बात है कि इन विद्वानों का ध्यान कुमाऊंनी भाषा की ओर नहीं गया। अभिव्यक्ति-सामर्थ्य की दृष्टि से कुमाऊंनी अत्यंत समृद्ध भाषा है। इस भाषा में लिखित साहित्य भी उपलब्ध होता है। यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि कुमाऊंनी में साहित्य-सृजन कब से हुआ क्योंकि इसके लिए लिखित प्रमाणों का अभाव है, किन्तु इतना निश्चित है कि यहां की मौखिक साहित्य परम्परा तो प्राचीन काल से चली आ रही है। प्राचीन वीर-गाथाएं, परियों की कहानियां, पशु-पक्षियों की कहानियां, धार्मिक, पौराणिक तथा देवी-देवताओं की कथाएं, कौरव व पाण्डवों की गाथा और शिव-पार्वती तथा हिमालय के गीत कुमाऊं में सर्वत्र प्रचलित है। कुमाऊंनी लोक-साहित्य तो बड़ा ही समृद्ध है। लोक-गीतों में जीवन का कोई पक्ष, कोई कोना अछूता नहीं रहता। वहां के लोक कलाकार ने जहां एक ओर इठलाती हुई प्रकृति के रंग-बिरंगे चित्र और उसके उल्लास को जीवन में समेटने का प्रयत्न किया है, वहीं कुमाऊं के कर्मठ जीवन की झांकी भी दिखाई है। लोक-साहित्य के इस भण्डार ने लिखित साहित्य के लिए प्रेरणा-स्रोत का कार्य किया और कुमाऊंनी में लिखित साहित्य की परम्परा भी चल पड़ी। डा. त्रिलोचन पाण्डे लिखते हैं: "स्थानीय भाषा में मौखिक साहित्य के अतिरिक्त लिखित साहित्य का भी हम विवेचन कर सकते हैं, जिसमें कुछ प्रकाशित, कुछ हस्तलिखित प्रतियों के रूप में है और कुछ बड़े-बूढ़ों के मस्तिष्क में स्मृति रूप में सुरक्षित है।" यह साहित्य डेढ़ सौ वर्ष से भी अधिक समय से धीरे-धीरे विकसित होता चला आ रहा है। साहित्य को रूप तथा रंग देने में वहां के प्राकृतिक वातावरण, राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक आर्थिक और धार्मिक स्थिति ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत की है। अतः इस संदर्भ में उनका संक्षिप्त विवेचन भी आवश्यक है।

कुमाऊंनी साहित्य : एक सर्वेक्षण

--डॉ. नारायण दत्त पालीवाल

प्राकृतिक वातावरण

कुमाऊं प्रकृति की गोद में पलता है। वहां के जन-जीवन पर इस प्राकृतिक वातावरण का बड़ा प्रभाव पड़ता है। हिमालय का लोक-जीवन और लोक-मानस पर प्रभाव पड़ा। गंगा-यमुना के उद्गम-स्थल होने के कारण तथा कैलाश और मानसरोवर की पवित्रता के वातावरण के कारण साहित्यिक रचनाओं में भी पवित्रता समा गई है। जहां पर एक ओर प्राकृतिक छटा का वैभव व उल्लास है वहीं प्राकृतिक स्थितियों के प्रतिकूल प्रभाव के कारण दैनिक जीवन में कर्मठता का भी अनुभव होता है। आने-जाने के मार्गों की कमी, भौगोलिक परिस्थितियों के कारण शिक्षा व उद्योग आदि के क्षेत्र में वांछित विकास न हो सकना आदि कुछ ऐसी बातें हैं जिनका वहां के समाज पर बड़ा प्रभाव पड़ा है। अतः वहां की जीवन प्रकृति के नाना मनोहारी चित्रों के उल्लास में पलते हुए भी कठोर परिश्रम का जीवन हो गया है। कुमाऊंनी साहित्य में श्रम से लथपथ इस जीवन की झांकी के साथ-साथ वहां के प्राकृतिक वातावरण का भी सजीव चित्रण हुआ है। साहित्यकारों ने लता-पादपों, पुष्पों, सरिताओं, निर्झरों, उच्चधवल हिम-शिखरों हरी-भरी उपत्याकाओं के सौन्दर्य से भी काव्य को सजाया। कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय के आंचल में पलने वाले कुमाऊं के कवियों ने कुमाऊंनी साहित्य में उस अंचल के प्राकृतिक वातावरण और उस वातावरण में जीवन-यापन करने वाले मानव दोनों का बड़ा ही सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। बुरूंश, प्योली और दुदभाती के फूल जिस तरह वहां की धरती को सजाते हैं, उसी तरह वहां के साहित्य को भी। वहां के प्रिय पक्षी घुगुती के मीठे-मीठे गीत, कफू और न्यूलड़ी की कुहुक कुमाऊंन साहित्य में सुनाई देती है। यही घुगुती तो है जिसके सामने विरहिणी अपना हृदय खोलकर रखती है। यही घुगुती प्रिय के लिए संदेश लेकर जाती है और नायिका के विरह-व्यथित हृदय की पीड़ा को समझती है। इस प्रकार मानवेतर सृष्टि और उसके विभिन्न अंगों के साथ मानवीय भावनाओं के सुन्दर सामंजस्य के दर्शन कुमाऊंनी साहित्य में होते हैं। सारी प्रकृति मानवीय भावनाओं के रंग में रंगी हुई जान पड़ती है। प्रकृति के इस दिव्य वातावरण में जन-जीवन को जिस अलौकिकता के दर्शन होते हैं तथा जो रहस्यात्मक अनुभूति होती है, उसे कवियों ने स्वर दिया है। ओकले ने तो कुमाऊंनी साहित्य को अपने जन्मदाता हिमालय ही की भांति पवित्र और रहस्यपूर्ण माना है।

राजनीतिक परिस्थितियां

जहां तक कुमाऊँ के आरंभिक इतिहास में खस जाति का संबंध है, यह कहा जा सकता है कि उस समय सभ्यता तथा संस्कृति की दृष्टि से समाज इतना उन्नत न था कि किसी प्रकार के लिखित साहित्य का निर्माण हो सकता। अतः कुमाउँनी में इस काल में किसी प्रकार की रचनाओं की संभावना नहीं है। डा. त्रिलोचन पांडे इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए लिखते है: "स्थानीय इतिहास पर विचार करने से मालूम होता है कि खस काल में ऐसे साहित्य की आशा नहीं की जा सकती थी।" इसी प्रकार कत्यूरी और चंद राजाओं के समय में भी कुमाउँनी में लिखित साहित्य का निर्माण हुआ हो इसका सहज अनुमान लगाना कठिन है क्योंकि ऐतिहासिक तथ्यों तथा उस समय की उस काल में कुमाउँनी में साहित्यिक रचनाएं लिखित रूप में सामने आई होंगी। इस संबंध में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि कुमाउँ में देश के अन्य भागों से लोग आते रहे और बसते रहे। वे लोग अपने साथ

अपनी भाषा, अपनी सभ्यता तथा परम्परायें लाए । यही कारण है कि कुमाऊँ के अनेक लोग संस्कृत तथा ज्योतिष के प्रकांड पंडित रहे है। अतः उन्होंने संस्कृत में रुचि रखी और स्थानीय भाषा उपेक्षित ही रही। हो सकता है कि स्थानीय भोषा में भी कुछ कार्य हुआ हो, किन्तु इसके कोई प्रमाण सुलभ न होने के कारण यही मानना पड़ता है कि कुमाऊँ में बाहर से आये हुए विशिष्ट जन-समुदाय के संस्कृत-प्रेम के कारण तथा यहाँ के स्थानीय लोगों की सामाजिक स्थिति पिछड़ी हुई होने के कारण कुमाउँ में साहित्यिक रचना की ओर इस काल में लोगों का ध्यान न जा सका । परन्तु इसके पश्चात् राजनीतिक परिवर्तनों के कारण समाज में नई जागृति फैली । इस सामाजिक उत्थान तथा नव-जागरण के फलस्वरूप कुमाउँनी भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम बनी और धीरे-धीरे इस भाषा में साहित्यिक रचनाएं सुलभ होने लगी ।

कुमाऊंनी साहित्य के आरंभिक काल में कुमाउँ में गोरखों का राज्य था। जनता उनके अत्याचारों से पीड़ित थी । अतः गोरखों के अत्याचारों से असंतुष्ट जनता की भावना को काव्य का रूप मिलने लगा । गोरखा राज्य के अन्त होने पर अंग्रेजी राज्य की स्थापना हुई जिसके कारण जनता में पुनः असंतोष फैला और अनेक सामाजिक बुराइयां आ गई । अतः अपनी राष्ट्रीय भावनाओं का अभिव्यक्ति, विदेशी राज्य के प्रति असंतोष प्रकट करने और नवीन परिवर्तनों का विरोध करने के लिये कवियों ने लेखनी उठाई और जन-जागरण के गीत गाए इस प्रकार गोरखा और अंग्रेजी राज्य के समय राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों ने कुमाउँनी साहित्य के नवांकुरित पौधे के पनपने के लिए बड़ी अच्छी पृष्ठभूमि का कार्य किया ।

सामाजिक स्थिति का चित्रण

साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है । कुमाउँनी कवियों ने भी अपनी रचनाओं में समाज की विभिन्न परिस्थितियों का यथार्थ चित्रण किया है। सामाजिक जीवन में जिन-जिन समस्याओं का उनको अनुभव हुआ और जो-जो समस्याएँ सामाजिक समानता या विषमता की दृष्टि से उनके समाने आयीं उन सबका प्रभाव उनके लिए अनुभूति का विषय बना और प्रत्येक काल में उन्होंने अपनी उस, अनुभूति को अभिव्यक्त का रूप दिया। कुमाउँनी लोक-साहित्य में तो सामाजिक स्थिति का बहुत ही सजीव चित्र मिलता है । कुमाऊँ के विभिन्न ऐतिहासिक कालों में समाज की जैसी दशा रही उसका ऐतिहासिक उल्लेख करते हुए श्री बद्रीदत्त पाण्डे ने अपने 'कुमाऊँ के इतिहास' में लोक-साहित्य विषयक बड़ी उपयोगी सामग्री दी है, जिससे आरंभिक काल से लेकर वहां की विभिन्न सामाजिक परिस्थितियों का परिचय मिलता है। उन्होंने कत्यूरी वंश, चन्द वंश तथा गोरखा राज्य काल में प्रचलित कुछ विशिष्ट उक्तियों, लोक-गीतों और कहावतों का उल्लेख किया है, जो इन कालों की सामाजिक स्थिति की ओर संकेत करती हैं। इनके अनेक प्रयोग किये गए हैं। लिखित साहित्य में प्राचीन काल के कवियों ने समाज में फैले स्वार्थ, परस्पर द्वेष और अंग्रेजी राज्य के कारण फैले फैशन आदि का वर्णन करते हुए आदर्श समाज-स्थापना की ओर ध्यान आकर्षित किया है : कलियुग के बारे में तो कुमाउँनी के कवियों ने बहुत सी बातें लिखी हैं जिनमें समाज के नैतिक पतन और उच्च आदर्शों के ह्रास का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करते हुए आदर्श चरित्र, शुद्ध आचरण तथा नीति और धर्म के अनुसार चलने की ओर संकेत किया गया है। कवि गुमानी की पंक्ति 'ज्वे कणि है गो खशमों क साँसो' अर्थात् पत्नी के हृदय में पति के लिए वह श्रद्धा न रही तथा कवि कृष्ण पाण्डे की पंक्ति 'भाई बिरादर घरघर मार' में तत्कालीन समाज में प्रचलित बुराइयों की ओर ही संकेत है।

बीसवीं सदी के आरम्भ में अंग्रेजी राज्य की जड़ें मजबूत हो चुकी थीं। कुमाऊँ के हर क्षेत्र में अधिकारी वर्ग मनमाने अत्याचार करता था। शिवदत्त सती की 'पतरौल घस्यारी' नाटक (कविता में) जंगलात विभाग के अधिकारियों की ज्यादतियों का वर्णन है। उससे पतरौलों के रिश्वत लेने, जनता को परेशान करने और चरित्र-भ्रष्ट होने की बातों का पता चलता है। 'मित्र विनोद' में कुमाऊँ के प्रवासी समाज का मार्मिक चित्रण किया गया है। भावर तराई में उनको जो कठिनाइयां होती हैं, उनका सजीव वर्णन कवि ने किया है। इसी प्रकार 'गोपी गीत' में तत्कालीन समाज में विधवाओं की करुण कथा का वर्णन है। इन रचनाओं से उस समय के सामाजिक जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है । इसी प्रकार कवि दीवान सिंह ने अपनी पुस्तक 'दीवानी विनोद' में दो विवाहों की कहानी लिखकर व्यक्तिगत समस्या को एक सामाजिक समस्या के रूप में प्रस्तुत किया है। कुमाऊँ में प्रायः कई लोग कारणवश दो विवाह कर लेते हैं, जिससे उनका कौटुम्बिक जीवन कलहपूर्ण बन जाता है। इस प्रकार के समाज का उन्होंने बहुत ही यथार्थ वर्णन किया है, और आदर्श जीवन की ओर संकेत किया है। इसी तरह बचीराम, हीरावल्लभ तथा चिन्तामणि पालीवाल ने अपनी रचनाओं में सामाजिक समस्याओं को लिया है जिसमें वर्तमान युग में समाज की हालत, उसमें फैली बुराइयां, आपस में चल रहे कटु व्यवहार आदि का मार्मिक वर्णन है। इस दृष्टि से 'जमाना का हाल', 'सास ब्वारी', 'पैमायशी फूल' आदि प्रमुख हैं। 'हिस्सेदार खायकर', 'देश सुधार', 'नया संसार', 'धन्यवाद पत्रिका' तथा 'बलिदान खण्डन' और 'दिल्ली की झलक' में भी सामाजिक तत्व प्रमुख हैं तथा समाज में प्रचलित बुराइयों की आलोचना की गयी है। 'कुमाऊँ के सम्राट' में कत्यूरी राजाओं के समय में सामाजिक संगठन, एकता और परस्पर प्रेम का वर्णन किया गया है। कुमाऊँनी लोगों का 'भोटियों' के किया व्यापार का वर्णन है तथा पाली पछाऊँ के आदर्श समाज का वर्णन साथ गया है। आदर्श समाज का चित्र इन पंक्तियों में दिखाई पड़ता है जहां न कोई गरीब है और न अमीर, सब मेल से रहते हैं और परस्पर समानता का व्यवहार करते है :

संगठन एकता क आदर्श महान
. . .   .
आपस में बैर भाव निछ लवलेख।
. . .   .
येतुक मेशिल देश कां मिलल और,
जति यश मेश मॉंग घन छउ ठौर।
. . .   .
न कोई गरीब उति न कोई अमीर,
सब नर एक सर राजा लै फकीर।

नवीन कवियों के काव्य में दैनिक जीवन की समस्याएँ, कर्जदारी, छोटी-मोटी आवश्यकताओं की पूर्ति न होना, जमीन के बंदोबस्त में

अमीरों का अत्याचार, सामाजिक असमानता, समाज के उत्थान और नव-निर्माण की भावना सभी कुछ वर्तमान है। देश-भक्ति, राष्ट्र की उन्नति तथा मातृभूमि के लिये त्याग की भावनाओं का भी यथार्थ चित्र काव्य में प्रस्तुत किया गया है। स्वतंत्रता के लिए राष्ट्रीय आंदोलन के दिनों में जनता ने जिए लगन से त्याग किया उसको तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारी सामाजिक स्थिति का जो रूप हुआ और समाज में जो परिवर्तन हुए उनको भी कवियों ने अपने काव्य में स्थान दिया वर्तमान कुमाऊँनी काव्य में पंचायती राज्य की बुराई-भलाई, विकास योजनाओं द्वारा समाज का हित, राष्ट्र-निर्माण के कार्य, कांग्रेस सरकार द्वारा सामाजिक असमानता को दूर करने का प्रयत्न आदि सभी बातों का वर्णन मिलता है। नवीन प्रवृत्ति, नव जागरण, सामाजिक संगठन, एकता तथा नव-निर्माण की भावना वर्तमान काल के कवियों के प्रगतिशील विचारों की परिचायक है। वर्ग-भेद, ऊँच-नीच की भावना, असमानता का व्यवहार, छोटे-बड़े का प्रश्न, जाति-पांति का भेद-भाव, अछूतोद्वार आदि के विरुद्ध आवाज़ उठाकर आज का कुमाऊँनी कवि आदर्श समाज की स्थापना में प्रयत्नशील है।

आर्थिक परिस्थितियाँ

आर्थिक दृष्टि से कुमाऊँ क्षेत्र अभी तक पिछड़ा हुआ ही है। कठोर परिश्रम के पश्चात् भी कुमाऊँ के किसान को खेती से उसकी आवश्यकता की पूर्ति के योग्य अनाज नहीं मिल पाता। कवि कृष्ण पाण्डे ने ठीक ही लिखा है कि कुमाउँ की खेती में नौ नाली अनाज का बीज बोया परन्तु फसल पर केवल छै नाली अनाज हुआ। किसी प्रकार के उद्योग धंधे भी ऐसी अवस्था में नहीं हैं जो आजीविका के लिए पर्याप्त हों। यातायात के साधनों की कमी भी इस क्षेत्र में एक बहुत बड़ी बाधा है। कुमाउँनी कवियों ने इस आर्थिक स्थिति की ओर भी ध्यान दिया है तथा अपने काव्य में इस पक्ष को भी वाणी दी है। गुमानी कवि के समय में तो वहां की समृद्धि का ही वर्णन हो पाया है, किन्तु बाद के कवियों ने लोगों की निर्धनता, धनाभाव के कारण जनता का 'परदेश' जाना, जीवन की नितान्त आवश्यकता की वस्तुओं को जुटाने में आर्थिक असमर्थता, साहूकारों के अत्याचार, ऋण तथा ब्याज से संबंधित समस्यायें, छोटी-मोटी नौकरी करके थोड़ा बहुत धन जुटा पाने वाले निम्न वर्ग की समस्यायें, आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण कौटुम्बिक जीवन की दयनीय स्थिति का सजीव वर्णन किया है। वास्तव में देखा जाए तो कुमाऊँनी काव्य में वियोग शृंगार के जो मार्मिक स्थल विद्यमान हैं, उनके मूल में ये आर्थिक परिस्थितियां ही हैं। इसी के कारण मां का अपने बेटे से पिता का पुत्र से, बहिन का भाई से तथा नारी का पति से बिछोह होता है। यह विरह वहां के जीवन पर छाया हुआ है। शिवदत्त सती के काव्य में महाजनों के अत्याचारों का तथा बचीराम व दीवानसिंह की रचनाओं में निर्धन परिवारों का बड़ा ही करुण चित्र दिखाई देता है। चितामणि पालीवाल की रचना 'दिल्ली की झलक' और 'शैलानी' तथा भवानीदत्त पंत 'भारती' की रचना 'नन्द भाभी' में कर्जदारी, निर्धनता तथा आर्थिक संकटों के कारण जनता के दुःखों का मार्मिक वर्णन है। कुमाऊँनी भाषा के अनेक कवि स्वयं इस आर्थिक विपमता के अभिशाप से पीड़ित है। अतः उनकी रचनाओं में स्वाभाविक रूप में अपने अनुभवों की यह अनुभूति मार्मिक अभिव्यक्ति का रूप ले लेती है।

धार्मिक प्रसंग

कुमाउँनी साहित्य में धर्म, संस्कृति, नीति तथा उपदेश की ऊँची से ऊँची बातें बड़ी सरल तथा प्रभावपूर्ण शब्दों में कहीं गई हैं। सामान्य लोकविश्वासों तथा तंत्र-मंत्रों से संबंधित प्रसंगों से भी कुमाउँनी साहित्य भरा पड़ा है। ऋषि-मुनियों, देवी-देवताओं तथा अलौकिक आत्माओं से संबंधित इस भूमि के धार्मिक विश्वासों तथा मान्यताओं की पूरी छाप वहां के काव्य पर है। प्राचीन कवियों ने धार्मिक ग्रन्थों का संस्कृत से कुमाउँनी पद्य में अनुवाद करके बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। कृष्ण पाण्डे ने धर्म की उपेक्षा का विरोध किया—'बद्री केदार बड़ा भया धाम, धर्म-कर्म की केन्हाति फाम।' पतिव्रता धर्म, नारी आदर्श, आचरण की शुद्धता तथा आत्म-परिष्कार के लिए कवियों ने बहुत कुछ लिखा है। प्राचीन कवियों की ही भांति आधुनिक काल में भी अनेक कवियों की रचनाओं में भक्ति तथा धार्मिक प्रसंगों को वाणी मिली है। 'गुमानी नीति', 'श्रीमद्भागवत् का अनुवाद', दुर्गा चंडी पाठ सार', प्राचीन साहित्य में इसके उदाहरण है। वर्तमान साहित्य में शंकर, पार्वती, राम व कृष्ण के गीत, देवी-देवताओं की स्तुति, सरस्वती व लक्ष्मी की आराधना आदि इसके द्योतक है। नवीन प्रवृत्तियां तो धर्म को व्यापक रूप देकर मानव-धर्म तथा विश्वधर्म से संबंधित भावनाओं की अभिव्यक्ति में विशेष रूप से योग दे रही है। दान, दया, परोपकार, सत्य, अहिंसा तथा एकता की महत्ता स्थापित की गई है। वीर बालक हरु हीत, कुमाऊँ के सम्राट, जमानाक हाल, दीदि-भुलि आदि रचनाओं में जिन प्रसंगों को काव्य का जामा पहनाया गया है, उनसे कुमाउँ अंचल के धार्मिक स्वरूप तथा सांस्कृतिक रूपरेखा की झांकी मिलती है। डॉ. त्रिलोचन पाण्डे ने लिखा है: "इसके द्वारा मिश्रित लोक-संस्कृति की काव्यात्मक अभिव्यंजना हुई है। लोक-संस्कृति के व्यापक तत्व लोकसाहित्य के विभिन्न रुपों में झांकते हैं।" दूसरे स्थान पर उन्होंने लिखा है कि 'लोकविश्वास, जादू-टोना आदि संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग होते है, कुमाऊँनी लोक-रचनाओं में ये पर्याप्त है।" यह बात कुमाउं के लिखित साहित्य पर भी लागू होती है। वीर बालक हरु हीत, कुमाऊँ के सम्राट, दीदि-भुलि रचनाएँ इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। धार्मिक मान्यताओं और नैतिक आदर्शों की दृष्टि से प्राचीन तथा आधुनिक दोनों कालों का साहित्य महत्वपूर्ण है।

जहां तक कुमाउँनी साहित्य के काल-विभाजन का प्रश्न है, सन् 1800 से 1900 तक का समय प्राचीन काल और 1900 से अब तक का समय आधुनिक काल के रूप में माना जा सकता है। आधुनिक काल का पूर्वार्द्ध सन् 1900–1930 तक तथा उत्तरार्द्ध सन् 1930 के बाद का समय माना जा सकता है। सन् 1960 के बाद कई नई प्रतिभाएं कुमाउँनी साहित्य के सृजन में तत्पर है और बहुत अच्छी रचनाएं प्रस्तुत की जा रही है।

इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँते है कि कुमाउँनी काव्य कुमाऊं के प्राकृतिक वातावरण की ही भांति सौंदर्यमय है। यदि गहन अध्ययन किया जाए तो कुमाउँनी कविता में रामचरितमानस की मर्यादा, कामायनी का दर्शन, पंत की प्रकृति, कबीर का रहस्यवाद, सूर की सरसता, भारत-भारती की राष्ट्रीय भावना तथा मीरा की भक्ति का प्रबल प्रवाह समेकित रूप में पाया जाता है। इस चहुंमुखी विकास के परिणामस्वरूप भाषा और साहित्य का निरंतर विकास हो रहा है।

कुमाऊं के प्राचीन मन्दिर

--भुवन लाल शाह

उत्तर प्रदेश के पर्वतीय जनपद नैनीताल, अल्मोड़ा तथा पिथौरागढ़ ग्रीष्म की तपती धूप अथवा लू से बचने या सैलानियों के पर्वत राज हिमालय, पिण्डारी हिमनद के रमणीक तथा मनोहारी दृष्यों को देखने या कौसानी, रानीखेत इत्यादि के भ्रमण या बड़े नगरों के कोलाहल पूर्ण वातावरण से तथा लू व गरमी से बचने या अराधना के लिए शान्ति की खोज में जाने वालों के लिए ही नहीं अपितु भारत के मन्दिरों तथा मूर्ति-कला के प्रेमियों के लिए भी आकर्षण का स्थान है। कुमाऊं के इस भाग में कुमाऊं के प्राचीन चन्दवंशी राजाओं ने तथा उसके पूर्व इस
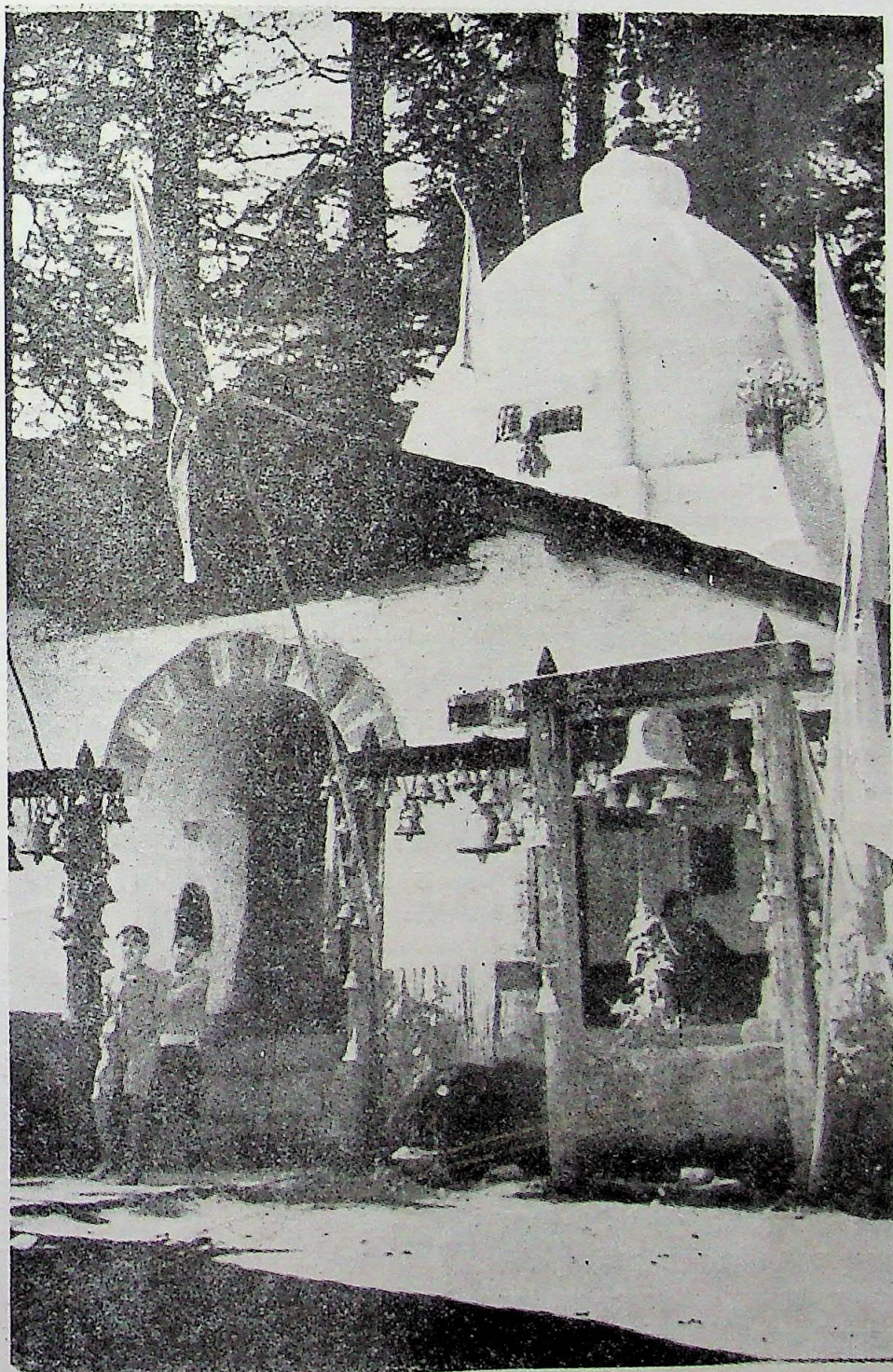
उत्तराखण्ड में राज करने वाले कत्यूरी राजाओं ने कटारमल, दंवाराहाट, जागेश्वर, बैजनाथ इत्यादि स्थानों में कई मन्दिरों का निर्माण करवाया। ये मध्ययुगीय मन्दिर बागेश्वर तथा अल्मोड़ा नगर को छोड़कर अन्य सभी स्थानों में मन्दिरों के समूह के रूप में हैं। इन मन्दिरों को तथा इनमें या इनके चारों ओर पाये जाने वाली मूर्तियों को देखकर इस पर्वतीय अंचल में रहने वालों के पूर्वजों के कला प्रेम की झलक ही नहीं मिलती, बल्कि इन मन्दिरों से या जिन स्थानों में मन्दिरों का निर्माण किया गया है। उनसे सम्बन्धित प्रचलित लोक कथाओं से इस क्षेत्र के लोगों का धार्मिक विश्वास का भी परिचय मिलता है।

कुमाऊं में जहां भी उस प्राचीन काल में मदिरों का निर्माण हुआ, वह आबादी से कुछ दूर हट कर किसी शान्त तथा रमणीक स्थान में अथवा देवदार या चीड़ के वनों के मध्य में पुराणों से सम्बन्धित स्थानों में ही किया गया। इन मन्दिरों तक पहुंचने की सुविधा न होने तथा इस भाग के बीहड़ भागों के कारण ये मन्दिर प्रवेश के अन्य स्थानों के मन्दिरों की भान्ति समूल नष्ट होने से बच गए। पिछले कुछ वर्षों में इन स्थानों तक मोटर मार्ग के बन जाने के कारण इन मन्दिरों तक रास्ते में हिमालय के प्राकृतिक दृष्यों, सीढ़ीनुमा खेतों तथा देवदार या चीड़ के वनों का आनन्द लेते हुए सुगमता से पहुंचा जा सकता है और यदि कोई इन स्थानों में रहना चाहे तो वे इन स्थानों के निकट बने डाक बंगलों, निरीक्षण भवनों तथा पर्यटन विभाग के होस्टलों में थोड़े से व्यय पर रह सकते हैं। यदि कोई इन बंगलों पर आवास-व्यय की धनराशि से भी कम व्यय करना चाहे तो इन स्थानों के निकट खुली दुकानों तथा जलपान गृहों के मालिकों को यदि आप अपने खाने-पीने या राशन इत्यादि की व्यवस्था उन्हीं की दुकान से करें तो, सदा मुफ्त रहने के लिये स्थान देने के लिए इसको सदा तत्पर पावेंगे।

द्वाराहाट—उत्तर पूर्व रेलवे के अन्तिम स्टेशन काठगोदाम से 128 कि. मी. तथा पर्वतीय छावनी रानीखेत से 33 कि. मी. पर बसा दवाराहाट बीते हुए दिनों में कुमाऊं के प्राचीन कत्यूरी राजाओं की एक शाख की राजधानी था। यहां पर बने तीस मन्दिरों तथा कई नौलों (पानी के पक्के कूल) तथा चन्द्रगिरि पर्वत पर बने कत्यूरी राजाओं के किले के अवशेषों से कत्यूरी काल में इस स्थान के वैभव का ज्ञान होता है। कहा जाता है कि कत्यूरी राजाओं ने अपने किले के निर्माण में किले की दीवारों के पत्थरों को जोड़ने के लिए गारे के स्थान पर मास (उरद) को पीस कर मसाला बनवाकर लगाया था। इसी किले के निकट दवाराहाट का बाजार स्थित है, जिसके मध्य में बना प्राचीन शालदेव का पोखरा (कुण्ड) कुछ ही वर्ष पूर्व तक इसमें खिलने वाले सुन्दर कमलों के कारण आकर्षण का केन्द्र था और अब पोखरे के जल को निकाल देने के कारण प्रायः नष्ट होता जा रहा है। इस पोखरे से लगभग 38 मीटर की दूरी पर दवाराहाट का सबसे सुन्दर गूजरदेव का मन्दिर (ध्वज) स्थित है। इस मन्दिर के अवशेषों को देखकर प्रतीत होता है कि यह आज जितना बड़ा है उससे कहीं अधिक विशाल रहा होगा और उसमें मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त मण्डप तथा अन्य भाग भी रहे होंगे। मन्दिर का शिखर तथा सामने का भाग गिर चुके हैं फिर भी मन्दिर के तीन ओर की नीचे की दीवारों तथा चौकी का जो भाग बचा हुआ है उससे प्रतीत होता है कि यह अपने शिल्प के लिए ही नहीं वरन उस प्राचीन काल में दवाराहाट का प्रमुख मन्दिर रहा होगा। मन्दिर के बाहरी भाग में देवी देवताओं की मूर्तियों की भरमार है और मन्दिर की चौकी, जो भूमि से लगभग डेढ़ मीटर ऊंची है, में हाथियों तथा पुरुषों की कतारों का अंकन है। पर खेद है कि इस भाग के इस अद्वितीय मन्दिर की हालत दिन पर दिन खराब होती जा रही है।

गूजरदेव के मन्दिर से थोड़ी दूर पर खेतों के बीच मन्दिरों का एक छोटा सा समूह दिखाई देता है जो चारों ओर से कांटेदार तारों से घिरा हुआ है। इन मन्दिरों से मूर्तियां हटाई जा चुकी हैं। मन्दिरों के बाहरी भाग में थोड़े बहुत बेलबूटों का अंकन है परन्तु भीतरी भाग बिल्कुल सादे हैं। इन मन्दिरों से कुछ ही दूरी पर ग्राम के बीच मन्दिरों का एक दूसरा समूह है जो कचहरी देवाल के नाम से जाना जाता है। इस समूह में दस मन्दिर निर्मित हैं जिनमें से कुछ के सामने बरामदा भी बना है जिसकी छत पत्थरों के सुन्दर स्तम्भों पर टिकी है। यहां के सभी मन्दिर इनमें प्रतिष्ठित देवी-देवताओं के प्रतिमाओं के लुप्त होने या हटा दिये जाने के कारण अपनी प्रतिष्ठा खो चुके हैं और इनके चारों ओर बनी हुई चारदीवारी के कारण प्रायः निर्जन ही रहते हैं। इस स्थान से द्वाराहाट के बीच से बहने वाली नदी (जिसमें केवल वर्षा ऋतु में वर्षा के समय पानी आता है) की ओर जाने में यहां के अब पूजे जाने वाले मन्दिर नवनिर्मित रानीखेत-वर्ण प्रयाग मोटर मार्ग के निकट बद्रीनाथ तथा केदारनाथ के मन्दिर स्थित हैं। इन मन्दिरों में प्राप्त मूर्तियों को देखकर तथा इनमें से कुछ में अंकित तिथि से इनके निर्माण की काल दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी प्रतीत होती है। इन मन्दिरों के निकट ही मृत्युंजय का मन्दिर है। जो आज सम्भवतः इसके पास से ही मोटर मार्ग के निकाले जाने के कारण तथा यहां के निवासियों की लापरवाही के कारण दयनीय हालत में है और काफी क्षतिग्रस्त हो चुका है। भले ही पुरातत्व विभाग इस की देख रेख के लिये उत्तरदाई है।

द्वाराहाट के निवासियों का विश्वास है कि गूजरदेव के मन्दिर से पाण्डवों ने अपने वनवास काल में धनागार का काम लिया और वह धन अब भी इस मन्दिर में दबा पड़ा है यही विश्वास 1743-44 में रोहिलों द्वारा कुमाऊं के इस भाग पर आक्रमण तथा यहां के मन्दिरों को ध्वंस करने और मूर्तियों को जोड़ने का कारण रहा। इस आक्रमण में मूर्तियों को नष्ट होने में जो कमी रह गई सम्भवतः उसे इस देश के विदेशी शासकों के अनुचरों ने, जो यहां के निकट ही रानीखेत की छावनी में रहते थे वहां की बिखरी हुई मूर्ति सम्पदा को हटा कर पूरी की।

द्वाराहाट से लगभग 6 कि. मी. की दूरी पर द्रोणागिरि पर्वत पर दुर्गा जी का प्राचीन मन्दिर है जहां अन्य दुर्गामन्दिरों (गंगोलीहाट तथा पुण्यागिरि) की तरह बलि नहीं चढ़ाई जाती। यहां पर प्राप्त शिलालेख जो सम्भतः द्वाराहाट के बद्रीनाथ मन्दिर से लाया गया है, में अंकित तिथि से भी द्वाराहाट के मन्दिरों की प्राचीनता का प्रमाण मिलता है।

जागेश्वर—पुराणों में वर्णित नील पर्वत के दारुणवन में स्थित जागेश्वर अथवा नागेश का मन्दिर अल्मोड़े से 36 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। यह मन्दिर अल्मोड़े जिले के दारुण पट्टी में देवदार

के घने वन के बीच मन्दिरों के समूह के रूप में निर्मित है और कुमाऊं के निवासियों द्वारा ज्योर्तिलिंग मन्दिरों में से एक माना जाता है।

सौराष्ट्र सोमनाथश्च महाफलम च ओकार परमेश्वरम् ।
केदारे हिमवतपृष्ठे डाकिन्याश्च भीम शंकरम् ।
वाराणस्यां च विनध्येश्चत्र्यम्बकम् ।
गोमती तटे वैद्यनाथ चिस्ता भमो नागेशदारूकाने ।
सेतुवन्धश्च रामेश्वरम् पुष्येशश्चनि शिवाल ये ।।

यहां पर कुल मिला कर 25 मन्दिर हैं और जागेश्वर अथवा वाल जागेश्वर तथा मृत्युंजय के मन्दिर सबसे प्राचीन ही नहीं अपितु अन्य मन्दिरों से भी बड़े हैं। कहा जाता है कि बाल जागेश्वर के मन्दिर का अयोध्या के राजा शालीवाहन महान और मृत्युंजय के मन्दिर का राजा विक्रमादित्य ने निर्माण करवाया था जो भी हो इस स्थान से प्राप्त शिलालेखों एवं ताम्र पत्रों से ज्ञात होता है कि जागेश्वर कुमाऊं के कत्यूरी राजाओं के समय में भी प्रसिद्ध था और वहां के मन्दिरों का समय समय पर कत्यूरी तथा बाद में चन्द राजाओं ने पुननिर्माण तथा जीर्णोद्धार कराया। वाल जागेश्वर के मन्दिर में स्थापित शिवलिंग को लोहे के आवरण से ढांक दिया गया है। इसके सम्बन्ध में किवन्दती है कि शंकराचार्य ने जब देखा कि इस स्थान पर जो कोई किसी प्रकार की मनौती लेकर आता है तो उसकी इच्छा पूरी हो जाती है परन्तु इसके अन्तर्गत कुछ बुरी मनोवृत्ति के लोग दूसरों को हानि पहुंचाने के ध्येय से चुपके से घात डाल देते थे। इस कुवृत्ति को बन्द करने के विचार से ही शंकराचार्य ने इस पर लोहे का आवरण चढ़ा दिया था जिससे कि प्रकट रूप में इच्छुक अपनी इच्छा को व्यक्त कर सके और इस प्रकार बुरी प्रवृत्ति या धारणा वाले लोगों का पता चल सके।

जागेश्वर में वाल जागेश्वर तथा मृत्युंजय के मन्दिर के अतिरिक्त दुर्गा भवानी, सूर्य तथा अन्य कई देवी-देवताओं के मन्दिर हैं जो सम्भवतः बाद में कत्यूरी तथा चन्द राजाओं ने बनवाये हों। यहां के लगभग सभी मन्दिरों में देवी तथा देवताओं की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं जो अब भी पूजी जाती हैं और अल्मोड़े जनपद के अन्य स्थानों में (बैजनाथ को छोड़कर) पाई जाने वाली मूर्तियों से अच्छी ही नहीं है अपितु अपनी सादगी तथा भावनात्मक अंकन के कारण अलग स्थान रखती है। इन मूर्तियों के अंकन में देश के अन्य भागों में पाई जाने वाली समकालीन मूर्तियों की तरह गहनों की भरमार नहीं की गई है और न ही प्रणय सम्बन्धी विषयों का अंकन किया गया है।

वाल जागेश्वर के मन्दिर से लगभग 157 मीटर की ऊंचाई पर वाल जागेश्वर के मन्दिर से भी प्राचीन वृद्ध जागेश्वर का मन्दिर तथा 3 कि. मी. दूरी पर दण्डेश्वर के मन्दिर हैं। किवन्दन्ती है कि दण्डेश्वर महादेव का मन्दिर पौराणिक जागेश्वर पर्वत (नील पर्वत) के दारुण वन में इसी स्थान पर स्थित है जहां वशिष्ठ तथा अन्य मुनियों ने अपनी स्त्रियों को सती के भस्म को अपने शरीर में धारण कर तपस्या करते हुए महादेव के चारों ओर अस्त व्यस्त अवस्था में बै ा देखकर श्राप दिया था और शिव ने श्रापरूपी दण्ड सहर्ष स्वीकार किया। यह मन्दिर अन्य मन्दिरों की तरह न होकर दक्षिण मुख है और इस मन्दिर के पुजारी ब्राह्मण न होकर क्षत्री होते हैं।

यहां के मन्दिरों में प्रतिष्ठित देवी-देवताओं की प्रतिमाओं के साथ ही साथ कुमाऊं के चन्द राजा त्रिमल चन्द (1625—38) तथा दीपचन्द (1648—77) की प्रतिमायें भी हैं। सम्भवतः इन राजाओं ने यहां के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया हो। कुछ ही वर्ष पूर्व पवन राजा की अष्ट धातु प्रतिमा चोरी चली गयी थी पर भाग्यवश वह दिल्ली में प्राप्त होने के बाद अब राष्ट्रीय संग्रहालय में संग्रहीत है।

कटारमल—अल्मोड़े से 183 कि. मी. की दूरी पर पहाड़ के पूर्वी ढलान में बसा कटारमल ग्राम 1815 ई. में अंग्रेजों द्वारा अल्मोड़ा विजय के समय प्रमुख सैनिक अड्डा बनाये जाने के बजाय यहां पर निर्मित प्राचीन सूर्य मन्दिर के लिए अधिक प्रसिद्ध है। अनुमान लगाया जाता है कि इस मन्दिर का निर्माण छठी से नवीं शताब्दी के मध्य हुआ होगा। अन्य सूर्य मन्दिरों की भान्ति यहां के सूर्य रथारुढ़ नहीं हैं और इनको बूट पहनाये गये हैं यह प्रतिमा अब चोरी चली गयी है।

कटारमल का ग्राम वर्षों पूर्व तक गणिकाओं का (सम्भवतः जो मन्दिर की देव दासियाँ रही हों) प्रमुख ग्राम था किन्तु अब यहां सभी जाति के लोग बसते हैं। ग्राम से थोड़ी ही दूरी पर जो थोड़े से चीड़ के विशाल वृक्ष बचे हैं उनसे अनुमान होता है कि यहां पर जागेश्वर के देवदार वन की भान्ति चीड़ का वन रहा होगा जो गोरखाओं द्वारा कुमाऊं के उस भाग पर शासन करने के काल में अल्मोड़े के वनों की भान्ति ही नष्ट कर दिए गए।

कटारमल का सूर्य मंदिर ग्राम के पूर्व में ग्राम से हटकर थोड़ी दूरी पर निर्मित है जिसका निर्माण एक ऊंचे चबूतरे पर किया गया है और उसके चारों ओर लगभग 33 मीटर लम्बी तथा 30 मीटर चौड़ी चारदीवारी थी। मन्दिर का शिखर काफी खण्डित हो चुका है फिर भी उसे देखकर इसकी विशालता तथा प्राचीन वैभव का अनुमान लगाया जा सकता है। मन्दिर के चारों ओर अन्य कई छोटे-छोटे मन्दिरों की भरमार है। जो सूर्य के मन्दिर की ही तरह ध्वंश हो चुके हैं और इनकी मूर्तियां हटाई जा चुकी हैं। जो थोड़ी बहुत मूर्तियों हैं वे सूर्य मन्दिर में एकत्रित कर दी गई हैं और मन्दिर के अन्धेरे के कारण भलीभान्ति देखी नहीं जा सकती। किन्तु मन्दिर के द्वार पर कुछ पाषाण मूर्तियों के साथ एक अष्ट धातु की मूर्ति को देखकर कहा जा सकता है कि यहां की मूर्तियां अल्मोड़े के अन्य भागों में पाई जाने वाली मूर्तियों की समकालीन हैं। मन्दिर में जो प्राचीन काष्ठ कपाट थे वे अपनी सुन्दर काष्ट कला के लिए प्रसिद्ध हैं और अब पुरातत्व संग्रहालय दिल्ली में सुरक्षित हैं। मन्दिर के साथ ही बने भण्डार गृह में जले लकड़ी के खम्बों के अवशेषों को देखकर अनुमान होता है कि इन खम्बों में भी सुन्दर कला अंकित की गई थी।

वैजनाथ—पुराणों में वर्णित गोमती तथा गरुड़ी नदी के संगम पर स्थित वैजनाथ (वैद्यनाथ) जहां कामदेव के दमन के पश्चात् पार्वती को ब्याहने जाते समय महादेव जी ने ठहर कर गणेश का पूजन किया, अल्मोड़े से 68 कि. मी. तथा हिमालय के दृष्यों के लिए प्रसिद्ध कौसानी से 16 कि. मी. की दूरी पर है। यहां कई मन्दिरों का निर्माण हुआ है। इनमें प्राप्त शिलालेखों से ज्ञात होता है कि कत्यूरी, चन्द

तथा गंगोली राजाओं ने समय-समय पर यहां के मन्दिरों का जीर्णो-द्धार करवाया और सम्भवतः मूर्तियों का भी अंकन हुआ । बैजनाथ के मन्दिरों के समूह के मध्य बैजनाथ महादेव का प्राचीन मन्दिर था जिसका अब निचला भाग (नींव) ही शेष रह गया है किन्तु मन्दिर में प्रतिष्ठित शिवलिंग की अब भी मान्यता है। मुख्य मन्दिर के निकट ही एक अन्य शिव मन्दिर भी निर्मित है जिसमें शिव लिंग के साथ मन्दिर में लगभग डेढ़ मीटर ऊंची पार्वती की तथा अन्य देवी-देवताओं की छोटे आकार में मूर्तियां देखने को मिलती हैं जो सम्भवतः अन्य मन्दिरों से लाकर रखी गई हैं। यहां प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार 1552 ई. में कत्यूरी तथा गंगोली राजाओं ने इस मन्दिर का पुन-निर्माण कराया था। मूर्तियों के पास ही बने संग्रहालय में संग्रहित बैजनाथ में प्राप्त मूर्तियां संग्रहित हैं जो नवीं, दसवीं शताब्दी की प्रतीक होती हैं परन्तु इनमें से कुछ इससे भी प्राचीन काल की प्रतीत होती हैं। बैजनाथ में प्राप्त मूर्तियों में पार्वती–शेष साई विष्णु, कुबेर, सूर्य चण्डिका, महिषासुर, मर्दिनी, अष्टभुजादेवी की मूर्तियां मूर्ती कला के उत्कृष्ट नमूनें हैं और उनकी तुलना भारत के अन्य भागों में पायी जाने वाली समकालीन मूर्तियों से की जा सकती है ।

बैजनाथ से लगभग डेढ़ कि. मी. की दूरी पर गोमती नदी के बाईं ओर बसे तल्लाहाट ग्राम में भी कुछ प्राचीन मन्दिरों के अवशेष मिलते हैं। खेतों के बीच ध्वंशप्राय सत्यनारायण के मन्दिर में प्रतिष्ठित पुरुष प्रमाण भगवान विष्णु की प्रतिमा बैजनाथ में प्राप्त देवी पार्वती की मूर्ति की समकालीन प्रतीत होती है । दोनों का निर्माण काले पत्थर पर किया गया है । मूर्तियों का अंकन बड़ा सजीव और उच्च कोटी का है जिसे देखकर प्रतीत होता है कि इनका निर्माण करने वालों ने बड़ी कुशलता और लगन से इसका अंकन किया । ग्राम के बीच में राकस तथा नारायण के शून्य मन्दिर हैं । बागेश्वर के मन्दिरों से प्राप्त शिलालेख के अनुसार 1300 ई. में राजा हमीरदेव, लिंगराव देव तथा रानी परलदेई ने नारायण के मन्दिर में स्वर्ण कलश चढ़ाया था । पास ही एक छोटा चबूतरा स्थित है जो इस ग्राम के निवासियों द्वारा राजा रानी के चौपड़ खेलने का चबूतरा बताया जाता है जिसे देखकर अनुमान लगाया जाता है कि गोमती घाटी में कत्यूरी राजाओं द्वारा प्राचीन करवीरपुर के ध्वंस नगर के स्थान पर बसाई कत्यूरी राजाओं की राजधानी कार्तिकेयपुर यहीं रही होगी और सम्भवतः यह चबूतरा राजमहल का नाम मात्र अवशेष बचा हो । बैजनाथ से 10-11 कि. मी. चारों ओर गोमती के निकट कत्यूरी मन्दिरों के अवशेष बिखरे पड़े हैं ।

चम्पावत—अल्मोड़ा जनपद के सबसे कलात्मक मन्दिर टनकपुर पिथौरागढ़ मार्ग में स्थित चन्द राजाओं की प्राचीन राजधानी (995 ई. से 1563 ई.) चम्पावत में हैं। ये मन्दिर बालेश्वर, रत्नेश्वर तथा चम्पावती दुर्गा के हैं। इन मन्दिरों के निर्माण काल के बारे में ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है । फिर भी चम्पावत के करीब-करीब पाये गये ताम्र पत्रों से जो अधिकांशतः मन्दिरों को चढ़ाई जाने वाली भूमि के दान पत्र हैं, इनका चन्द वंश के प्रारम्भिक काल के (शक संवत् 1293 से 1727 तक) होना प्रतीत होता है ।

बालेश्वर के मन्दिर को देखने से प्रतीत होता है कि यह दोहरा मन्दिर था । एक गर्भगृह तथा दूसरा मण्डप का भाग, जो काफी जीर्णावस्था में है। जो कुछ बचा है उससे इसके प्राचीन वैभव तथा कलात्मक निर्माण का पता चलता है । इसके गर्भगृह तथा मण्डप की छतों के भीतरी भाग में कालिया मर्दन को एक नई शैली में बड़े कलात्मक ढंग से अंकन किया गया है और मन्दिर की बाहरी दीवारों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य देवी-देवताओं का अंकन है । बालेश्वर मन्दिर की चौकी में हाथियों को अलग-अलग मुद्रा में बड़ी सजीवता से मन्दिर के चारों ओर अंकित किया गया है। इस मन्दिर के निकट रत्नेश्वर तथा चम्पावती दुर्गा के मन्दिरों का भी निर्माण किया गया है और इसकी दशा बालेश्वर के मन्दिर से कुछ अच्छी है । इनकी दीवारों में बाहर की ओर बहुत ही सुन्दर कलात्मक ढंग से देवी-देवताओं की प्रतिमा के साथ ही साथ सुन्दर पच्चीकारी की गई है जो अपनी ओर बरबस आकर्षित करती है । चम्पावत में इन्हीं मन्दिरों के निकट ही अन्य मन्दिर जो यहां कभी निर्मित किए गए होंगे, के अवशेष बिखरे पड़े हैं। इनमें से जिन पर वहां के पुजारी या व्यवस्थापकों की कृपा हुई उनको पुजारी के निवास की दीवार या इन मन्दिरों के समूह की चारदीवारी के निर्माण में स्थान दे दिया गया है । इस मन्दिर से लगभग 2 कि. मी. की दूरी पर चन्द राजाओं के किले से कुछ ही ऊंचाई पर चन्द राजाओं की चौकी के भग्नावशेष हैं जिन्हें देखने से प्रतीत होता है कि कभी ये स्थापत्य का सुन्दर नमूना रहा होगा। अब तो बकरियों का विश्राम स्थल मात्र है ।

बागेश्वर—कुमाऊँ के सबसे पुराने नगरों में से एक, बागेश्वर कुमाऊं के निवाशियों के लिये काशी के समान पवित्र तीर्थ है । वहां पर गोमती तथा सरयू के संगम पर बागनाथ महादेव (बागेश्वर) का मन्दिर निर्मित है। इसी के नाम पर इस स्थान का नाम बागेश्वर पड़ा। स्थानीय लोक कथा के अनुसार जब सरयू नदी हिमालय से आयोध्या में श्री राम के जन्म पर आयोजित समारोह में सम्मिलित होने को चली तो उन्हें मार्ग में यहीं पर मारकण्डेय मुनि को तपस्या करते देखकर रुक जाना पड़ा। सरयु की विपदा को देखकर पार्वती जी को सरयू पर दया आई और उन्होंने शिव जी से सरयु की सहायता का आग्रह किया व्याघ्ररूपी शिव को जब मारकण्डेय मुनि ने गाय रूपी पार्वती पर आक्रमण करते देखा तो मुनि से न रहा गया । वह गोरक्षार्थ तपस्या छोड़कर पार्वती रूपी गाय की सहायता के लिये दौड़ पड़े। इसी बीच अवसर पा कर सरयू नदी आगे को निकल चली और उधर दूसरी ओर व्याघ्ररूपी शिव और गाय रूपी पार्वती अर्न्तधान हो गये ।

कहा जाता है कि जिस स्थान पर शिव और पार्वती अर्न्तध्यान हुये वहीं पर मूल मन्दिर का मारकण्डेय मुनि ने निर्माण करवाया था और उसमें शिव जी की प्रतिमा बाघ्रनाथ नाम देकर प्रतिष्ठित किया। समय के प्रभाव से यह मूल मन्दिर प्रायः ध्वंस हो चुका था लेकिन बाद में समय–समय पर कत्यूरी, चन्द तथा गंगोली राजाओं ने इसका जीर्णो-द्धार कराया जो आज भी काफी रक्षित अवस्था में है ।

गंगोलीहाट—गंगोलीहाट के मंदिरों में महाकाली जी का तथा पाताल भुवनेश्वर के मन्दिर एवं जान्हवी का नोला (पोखरा) प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त वहां श्रीराम, विष्णु, हनुमान जी तथा अन्य देवी-देवताओं के मंदिर भी देखने को मिलते हैं। वहां पर जो मन्दिर हैं उनको देखने से आभास होता है कि ये कत्यूरी काल में निर्मित पिथौरागढ़

संस्कृति

जनपद के कासिनी (विष्णु मन्दिर), मण (सूर्य मन्दिर) या चमोली जनपद के नारायण बगड़ (यहां की विष्णु प्रतिमा चोरी जा चुकी है), गोपेश्वर तथा तुंगनाथ (शिव मन्दिर) इत्यादि स्थानों में निर्मित मन्दिरों के समकालीन हैं। इन मन्दिरों में जो देय प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं वे भी एक ही शैली की हैं। हो सकता है कि इसका अंकन भी कत्यूरी राजाओं ने कराया हो या रिपोर्ट फिरगंगोली के मणकोटी राजा भी कत्यूरी वंश से सम्बद्ध रहे हों और उन्होंने अन्य स्थानों की भांति यहां भी अपने कुल देवता नारायण (विष्णु) के मन्दिर बनवाये हों क्योंकि यहां के विष्णु मंदिरों में स्थापित विष्णु प्रतिमा अन्य भागों की प्रतिमाओं की प्रतिरूप ही प्रतीत होती है और उसी प्रकार की शैली में निर्मित हैं।

गंगोलीहाट में इस समय का प्रमुख मन्दिर महाकाली जी का माना जाता है। इसको देख कर पता चलता है कि वह काफी प्राचीन मन्दिर तो है ही पर इसके समय-समय पर जीर्णोद्धार होते रहने के कारण वह अब अपनी प्राचीनता खोता जा रहा है। इसकी दीवारें तथा छत सभी आधुनिक रूप लेती जा रही हैं पर इसमें स्थापित प्रतिमाओं तथा कहीं कहीं पर इसकी दीवारों को देखकर इसकी प्राचीनता प्रमाणित होती है। यह मन्दिर आबादी से लगभग डेढ़ किलोमीटर दूर देवदार के वन के बीच रमणीक स्थल पर स्थित है। इस मन्दिर में दूर-दूर से लोग दर्शनार्थ आते हैं और यहां पर बकरे की बलि भी चढ़ाई जाती है। इसकी मान्यता लगभग सारे कुमाऊँ में है और इस स्थान को देवी जी का आदि शक्ति पीठ भी माना जाता है। किंवदन्ति है कि प्राचीन काल में महाकाली जी काफी चंचल थी और रात्रि में कभी–कभी कीर्ति–जागेश्वर महादेव को पुकारती थी जो भी काली जी का इस आवाज को सुनता उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती थी। उस समय में यहां के निवासी संध्या की पूजा के बाद मन्दिर के निकट नहीं जाते थे पर जब से श्री शंकराचार्य ने जागेश्वर महादेव की प्रतिमा को लोहे के आवरण से ढांक दिया तब से काली जी ने पुकारना बन्द कर दिया। अब तो इस मन्दिर के काफी निकट तक बस्ती फैलती जा रही हैं।

यहां के लोगों का यह भी विश्वास है कि देवी जी का महिषासुर से यहीं पर युद्ध हुआ था और महिषासुर मर्दिनी ने महिषासुर, चण्डमुण्ड रक्तबीज आदि कई दैत्यों का यहीं पर बध किया और उनकी शक्ति पीठ भी यहीं है। चैत्र तथा अश्विन महिनों की नव रात्रियों में यहां देवी की विशेष पूजा की जाती है।

गंगोलीहाट, बाजार के एक कोने पर जान्हवी का नौला है जिसका निर्माण यहां के रैका राजा ने करवाया था। इस पोखरे से यहां के लोगों को पानी की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। यह देखने में काफी प्राचीन तो लगता है और कला पूर्ण भी बना है। इस पोखरे से थोड़ी दूरी पर विष्णु भगवान के दो सुन्दर परन्तु छोटे मंदिर निर्मित हैं। इन्हीं के बीच में गंगोलीहाट को पियौरागढ़ से जोड़ने वाला पैदल मार्ग जाता है। कभी यह मन्दिर खुले में रहे होंगे पर अब उनके चारों ओर बढ़ती हुई आबादी इनको घेरती जा रही है। यहां तक कि इनसे लगे हुये जो मकान बने हैं उनकी दीवारें इन मन्दिरों को दबाये पड़ी हैं। इन मन्दिरों में भगवान विष्णु की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं जो काफी सुन्दर हैं और आज भी पूजी जाती हैं। पर इन मन्दिरों की देख-रेख ठीक न होने के कारण इनके चारों ओर उगने वाली बेलें तथा झाड़ियों ने इनको घेरना आरम्भ कर दिया है।

गंगोलीहाट से थोड़ी दूरी पर मणकोट में यहां के राजाओं के किले के खण्डहर आज भी देखने को मिलते हैं। क्योंकि ये राजा मणकोट में रहते थे इसलिये ये मणकोटी राजा कहलाये। शायद वैसे ये भी कत्यूरी वंश से ही हों। बाद में जब कुमाऊँ के नवोदित चन्द राजाओं ने इन पर आक्रमण किया तो ये युद्ध में हार जाने के कारण तथा चन्द राजाओं द्वारा इनके लिये रखी गई इस सम्भव कर व्यवस्था को निभा न सकने के कारण वे नैपाल चले गये जहां इनके वंशज आज भी रहते हैं।

पाताल भुवनेश्वर–गंगोलीहाट से लगभग 6 कि. मी. की दूरी पर स्थित है। यह स्थान अपने मदिन्रों के समूह तथा यहां की गुफा मन्दिर के कारण प्रसिद्ध है। इस ग्राम का नाम भी इन्हीं मन्दिरों के नाम पर पड़ा है। यहां भुवनेश्वर के दो मन्दिर हैं। एक तो प्रकृति की देन है जो गुफा में है और दूसरा इस गुफा मन्दिर से 150 मीटर की दूरी पर निर्मित है। कहा जाता है कि इस मन्दिर (बुद्ध भुवनेश्वर) का निर्माण राजा असन्तिदेव की रानी सुभद्रा देवी ने कराया था। इस मन्दिर के चारों ओर अन्य मन्दिर भी निर्मित हैं। इन मन्दिरों में एक का शिखर दक्षिण भारत के मन्दिरों की भांति द्राविड़ शैली में बना है। जिसे देखकर मध्य प्रदेश में ग्वालियर के तेली का मंदिर (तिलंगाना मन्दिर) की याद आती है। हालांकि यह उतना विशाल नहीं है पर फिर भी देखने में सुन्दर तो है ही सम्भवतः यह श्री रामचन्द्र जी का मन्दिर रहा हो क्योंकि इसके सामने ही हनुमान जी की एक प्रतिमा प्रतिष्ठित है जो इस भाग में पाये जाने वाले अन्य प्रतिमाओं की भांति प्राचीन है।

भुवनेश्वर आने वाले भक्तों को पहले पाताल भुवनेश्वर के गुफा मन्दिर दर्शन करने होते हैं फिर बाद में वे वृद्ध भुवनेश्वर के मन्दिर में दर्शन करते हैं। पाताल भुवनेश्वर में प्रवेश करने के लिये सभी वस्त्र उतारने पड़ते हैं। वहां केवल धोती या जांधिया पहन कर प्रवेश करना पड़ता है। इसका प्रवेश मार्ग एक बहुत ही संकरी गुफा से है। जिसमें कुछ दूर तक लेट कर पहले नीचे उतरना होता है फिर उनके बाद अन्दर काफी लम्बी चौड़ी गुफा में प्रवेश मिलता है। इस गुफा में हवा पानी तो काफी है पर प्रकाश नहीं। जिसकी कमी को यहां का पुजारी चीड़ की लकड़ी (छिलुका) की मशाल से दूर करता है। यह गुफा स्टैलक्टाइट और स्टैलक्टाइट निर्मित भिन्न-भिन्न आकारों से भरी पड़ी हैं। इनमें से कोई-कोई तो बड़े सजीव से लगते हैं। यहां के लोगों का विश्वास है कि यहां पर 33 करोड़ देवता वास करते हैं और यह गुफा तीन खण्डों में है तथा यहां तीनों देवता (ब्रह्मा, विष्णु, महेश) भुवनेश्वर महादेव के रूप में पूजे जाते हैं। इन लोगों की धारणा है कि इस गुफा में सर्वप्रथम अयोध्या के एक सूर्य वंशीय राजा ऋतुपर्ण ने प्रवेश किया जो अपनी राजधानी से इस भाग में आखेट को आया था और अनन्तनाग ने उनकी इसमें सहायता की थी। यह भी धारणा है कि शंकर पार्वती यहां काफी समय तक रहे, जो अब भी उनकी जटा के रूप में दिखाई देता है। इस गुफा में गरुड़ भी विराजमान है जिनका मुंह पीछे को मुड़ा हुआ है। कहते हैं कि जब गरुड़ ने अमृत का घट ले जाते समय उसमें से अमृतपान करना चाहा तो भगवान ने गरुड़ को चक्र से मारकर रोका जिससे उनका

मुंह पलट गया। यह भी मानना है कि वासुकीनाग इसी गुफा में आकर रहे थे। इसके प्रमाण में पुजारी विशाल शिला में उभरी हुई एक सर्पाकार आकृति को दिखाते हैं और उसे वासुकी की प्रतिमा बताते हैं। गुफा में जगह-जगह भिन्न-भिन्न आकार बने पड़े हैं। किसी को शिव पार्वती तो कोई विष्णु या कोई अन्य देवी या देवता माने जाते हैं कई स्थानों में गुफा फिर संकरी हो जाती है जिसके अन्दर प्रकाश की मदद से झांकने से प्रतीत होता है कि उसके कई खण्ड होंगे। यहां के लोगों का विश्वास है कि संकरे मार्ग भुवनेश्वर को रामेश्वर (इस पर्वत की जड़ में सरजू तथा पूर्वी रामगंगा के संगम पर निर्मित रामेश्वर) तथा सेतवन्धु रामेश्वर व जागेश्वर को भी मार्ग जाते हैं। जो भी हो यह गुफा अति सुन्दर है और इसकी सफाई करने से इसमें और भी जगह निकल जावेगी। क्योंकि इसका काफी भाग यहां चढ़ाये जाने वाले पुष्पों तथा जलाई जाने वाली लकड़ी के ढेर से तथा वर्षा के दिनों में पानी के साथ बहकर आई हुई मिट्टी से भरता जा रहा है। साथ ही साथ इसके प्रवेश गुफा को चौड़ा करने से यहां कुछ प्रकाश ही नहीं आवेगा बल्कि यहां आने वाले लोग सुगमता से इसमें प्रवेश करके इसके सौन्दर्य का आनन्द भी उठा पावेंगे।

इस भाग में इन मन्दिरों के अतिरिक्त कुछ नाग देवताओं के मन्दिर भी मिलते हैं और उनमें आज भी पूजा होती है इसका कारण अतीत काल में यहां के नाकुरी, दानपुर तथा भुवनेश्वर के इलाकों में नाग जाति के लोगों का वास होना बताया जाता है और यहां के नाम मन्दिरों के नामों के विषय में अनुमान किया जाता है कि सम्भवतः इस भाग के प्राचीन नाग जाति के प्रसिद्ध पुरुषों को कुमाऊँ के अन्य भागों में पूजाने जाने वाले प्रसिद्ध पुरुषों, हरू, सैम, कलविष इत्यादि की तरह पूजा जाता है।

इन मन्दिरों तक जहां पहले इस पहाड़ी भाग के लोगों को पहुँचाने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। वहां अब इन तक मोटर मार्गों द्वारा सुगमता से पहुँचा जा सकता है। पर इन मन्दिरों पर उगे झाड़ झंकार तथा इनके आंगनों को अनाज सुखाने या पछीटने के प्रयोग में लाते देखकर दुःख होता है। इस देवालयों की ओर यहां के लोगों की बेरुखी तथा उन के पुजारियों तथा पुरातत्व विभाग की उदासीनता के कारण इन मन्दिरों को काफी हानि पहुंचती जा रही है। यहां तक कि पर्यटन विभाग वालों को भी शायद उनकी चिन्ता नहीं। क्योंकि अधिकांश अधिकारियों को इनके विषय में कोई ज्यादा ज्ञान नहीं है। हां, यहां से यदि किसी को लाभ होता होगा तो उनको जो इस भाग से प्रतिमाओं की चोरी कर रहे हैं।
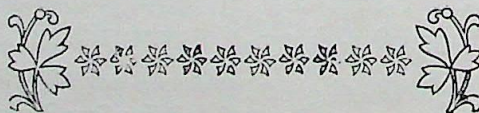
परिक्रमा :

फूलों की घाटी की

—गिरिराज शाह

"इस भूतल पर यदि कहीं स्वर्ग है तो वह निश्चित रूप से यहीं है, यहीं है।"

फारसी की विश्वविख्यात शायरी के इन भावों को जिस किसी कवि ने चाहे जहाँ कहीं के लिये लिखा है किन्तु मैं इसे जिस स्थान के लिये परम सत्य मानता हूँ उस स्थान का एक सुन्दर सा नाम है फूलों की घाटी। मैं यह बात यों ही कल्पना, भावुकता या किसी पूर्वाग्रहवश नहीं कह रहा हूँ। मेरे पास अपने इस विश्वास के लिये पर्याप्त प्रमाण है और उन पूरे प्रमाणों और भोगे गये अनुभवों के साथ मैं अपने साथ आप को फूलों की घाटी के बीच से गुजारना चाहता हूँ। इस यात्रा के आरम्भ में मैं आप के सामने विश्वविख्यात यायावर यात्री फ्रैंक स्माइथ के कुछ शब्दों को पेश करना चाहता हूँ। वह लिखता है :

"हमने जितना जो कुछ देखा है उसमें केदार खण्ड के मध्य में स्थित कामेत पर्वत के पाद प्रदेश में स्थित भ्यूंढार घाटी की कोई सानी नहीं। कभी-कभी सर्दियों की अंधेरी रातों चुपचाप पड़े अपनी कल्पना में ही सुदूर भारत की उस फूलों की घाटी में फिर पहुँच जाता था। बर्फीली, चमकदार चोटियां वांस और भोज पत्र के जंगलों और उजली साफ जल धाराओं के फल बिछे चारागाह और फिर से अनुभव करता था। ताजी हवा के झोंकों का तथा तारों भरे आसमान में गूंजती हुई गलेशियर की अनन्त आवाज का। बरसों बाद जब लन्दन लौटकर गाँव में बैठा था मेरे कानों में गूँजने लगा "फूल मेरे साथी हिमालय के"।
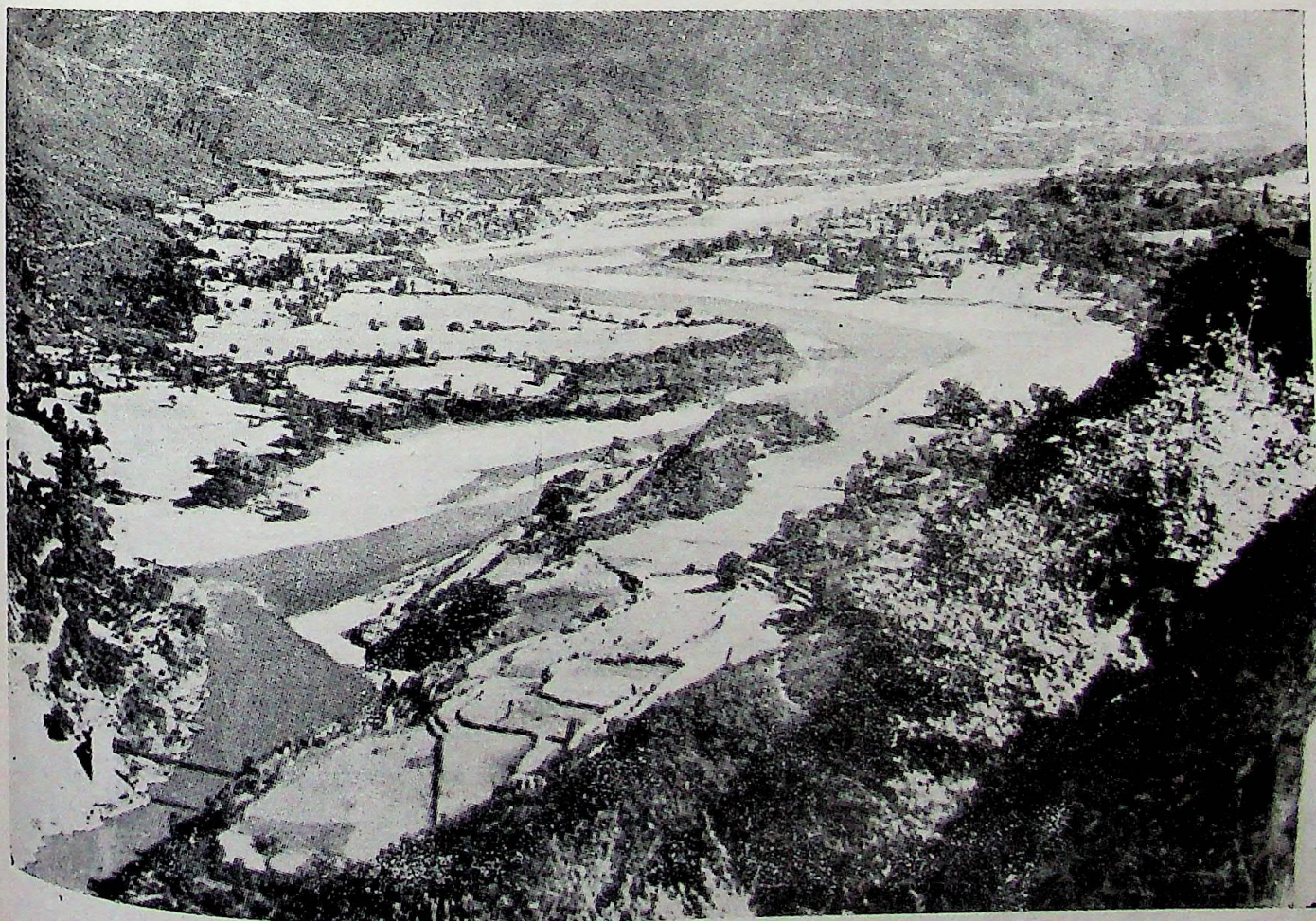
ये शब्द हैं फ्रैंक स्माइथ के जिसे फूलों की घाटी को संसार के समक्ष प्रस्तुत करने का श्रेय है । वे सन् 1931 में "कामेत" विजयोपरान्त भ्यूंद्वारके पास 16,688 की ऊँचाई वाले दर्रे को पार करके मंधमादन पर्वत श्रृंखला से उतर रहे थे कि उनके सन्मुख एक नयनाभिराम विस्तृत एवं लावण्यमयी पुष्पों से सुविकसित घाटी आ गयी जिसको अवलोकित करते ही अनायास उसके मुंह से निकल पड़ा "दुनियां को ही उनकी सभ्यता मुबारक, मुझे मेरी बियावन शून्यमय चिरशान्ति" ।

कहां है यह गंधवोथान

फूलों की घाटी सागर तट से 12000 फीट की ऊँचाई पर स्थित है, स्कन्द पुराण के केदार खण्ड में इसे "नन्दन कानन" की संज्ञा दी गई है । यह घाटी उत्तर प्रदेश के गढ़वाल मन्डल में जनपद चमोली में 30–7 अक्षाँश उत्तर एवं 79–7 देशान्तर, उत्तर पर स्थित है । यह नन्दन कानन तीन किलोमीटर चौड़ा एवं 10 किलोमीटर लम्बा है । घाटी क सामने की ओर राजवारा शिखर उत्तर की ओर कामेट (25447) पूर्व में गोरी पर्वत व पश्चिम में नीलगिरी (21264) पर्वत के तथा उक्त के अतिरिक्त बद्रीनारायण एवं गन्धमादन पर्वत अवस्थित है । इस स्थान के सम्बन्ध में कालिदास के मेघदूत में निम्न वर्णन दिया गया है :

प्रालेयाद्ररूपतटमतिक्रम्य तास्तान्विशेषान्हसव्दारं

भृगुपजियशोवर्त्म यत्कोज्वरन्ध्रम ।

तेनोदीवी दिशामनुसरेस्तिर्यगयामशोभि

श्यामः पादों गलि-नियमनाभ्यूद्यतस्येव विष्णे : ।

मेघदूत

घाटी के दक्षिण समतल क्षेत्र को पुष्पतोया ताल में आकर पुष्पावती नदी दो भागों में विभाजित करती है । हिमालय के सभी 12000 फुट से अधिक ऊँचाई वाले क्षेत्रों की भांति जहाँ वनस्पति पेड़ पौधों के स्थान पर घास के मध्यम में प्रफुल्लित सुगंधित पुष्प राशियों और जड़ी बूटियों का स्थान ले लेती है । यहाँ भी अपने सुगन्धित वास से वातावरण को मनमोहक बना देती है । पंत ने कहा :

मंद्रस्तनित सी विद्युल्लेखा दियती कटि पर कपित,

स्वतः दीप्त औषधियों से नीराजन करते किन्नर ।

वर्ष 1931 में फ्रैंक स्नाइथ ने जब घाटी को अपने सन्मुख देखा तो जैसा उसी मनः स्थिति के उसे कवि के इन शब्दों में ही कुछ व्यक्त किया जा सकता है :

यहां प्रकृति एकान्त बैठ निज रूप निहारित,

पलपल पलटति वेश छिनक छिन नव छवि धारति ।

फ्रैंक स्माइथ तुरन्त नीचे उतर आये और प्रकृति की इस अलौकिक सुन्दरता को मन्त्रमुग्ध देखते ही रह गये । उन्होंने कतिपय पुष्पों के नमूने और बीज एकत्रित किये और घाटी–निवास के दिवसों का अनुभव "फूलों की घाटी" नामक पुस्तक में लिख डाला। उक्त पुस्तक के प्रकाशन ने संसार के तमाम वनस्पति शास्त्रियों यात्रियों और प्रकृति घाटी प्रेमियों की आंखें खोल दी । 1937 में फ्रैंक स्माइथ पुनः फूलों की घाटी पहुँचा और पुनः दुर्लभ पुष्पों के 2150 नमूने तथा 2500 किस्म के पुष्पों की जातियों और प्रजातियों को ढूँढ निकाला ।

सौन्दर्य मांगता है बलिदान

फ्रैंक स्माइथ के चित्ताकर्षक और लोमहर्षक वर्णन से प्रभावित होकर इंगलैण्ड की एक वनस्पति शास्त्र से सम्बन्धित प्रसिद्ध संस्था "न्यू बोटोनिकल गार्डन" ने वर्ष 1939 में कुमारी मारग्रेट लेग को फूलों की घाटी के अध्ययन एवं बीजों की प्रजातियों को एकत्रित करने के लिए भेजा । उन्होंने अथक परिश्रम पूर्वक दुर्लभ बीजों को एकत्रित किया परन्तु एक दिन अचानक 4 जुलाई 1939 को पुष्पों के बीज एकत्र करते हुए मारग्रेट का पैर एक चट्टान से फिसल पड़ा और 150 फुट नीचे चट्टानों से गिर पड़ी और सदैव के लिए पुष्पशैय्या पर सो गई। मारग्रेट लेग के बलिदान ने फूलों की घाटी को अमर कर दिया । आज भी घाटी के विकसित पुष्प शरों को देखकर यह प्रतीत होता है कि जैसे उसकी आत्मा असंख्य फूलों के रूप में प्रस्फुटित होकर महमहा रही हो। तब उस अनिवर्चनीय स्थिति को तो कोई कवि ही अनुभव कर सकता है ।

मदन दहन की भस्म अनिल में

सती अर्पणा के तप से

बन सी आवाक सी लगती विस्मित

अब भी ऊषा वहां दीखती

बध उमा के मुख्य सी लज्जित

बढ़ती चन्द्रकला गिरजा सी

होकर गिरि के क्रोड़ में उदित ।

(सुमित्रा नन्दन पन्त)

निमन्त्रण फूलों की घाटी का

उत्तर प्रदेश के सुप्रसिद्ध तीर्थ स्थल हरिद्वार, ऋषिकेश अथवा मोहक प्रकृति की गोद में स्थित सुरम्य नगर देहरादून सर्वत्र पर्यटक या तीर्थ यात्री वायुयान, रेल, मोटर या निजी वाहन द्वारा पहुँच सकता है । एक दिन हिमालय के बाद प्रदेश में स्थिति इन सुरम्य नगरियों के दर्शन और विस्मृत संस्कृतियों के पुरातन अवशेषों एवं आधुनिक सभ्यता के चिन्हों का अवलोकन करने के पश्चात वह स्थानीय गढ़वाल विकास मण्डल या पर्यटन विभाग के सहयोग से फूलों की घाटी बद्रीनाथ, केदारनाथ एवं अन्य दर्शनीय स्थलों के परिभ्रमण का सुविधाजनक कार्यक्रम बना सकता है । ये संस्थायें "कन्डैक्टैड टूर" चलाती है और समस्त सुविधायें उपलब्ध कराती है ।

हरिद्वार, ऋषिकेश या देहरादून जहाँ भी आप ने अपना पयाम बनाया हो वहाँ से प्रातः काल ही बस द्वारा यात्रा प्रारम्भ कर दें । सर्व प्रथम ऋषिकेश पड़ेगा । यह रेम्य ऋषि का तपस्थल रहा है । ऋषिकेश से चल कर गँगा की धारा के साथ साथ प्राचीन ऋषियों के सृष्टि से देय मार्ग हम लक्ष्मण झूला, व्यास घाट होते हुये पवित्र देव प्रयाग

पहुँच हैं। देव प्रयाग में भगवती भागीरथी और अलकनन्दा का पावन संगम है। पुराणों में देव प्रयाग और अन्य तीर्थ स्थलों का प्रमाणित दर्शन किया गया है। टेहरी जिले में भागीरथी और अलकनन्दा के संगम पर देव प्रयाग की स्थिति ऋषिकेश से 70 किलोमीटर की दूरी पर तथा समुद्र से 1500 फीट की ऊंचाई पर है। देव प्रयाग मुख्य रूप से बद्रीनाथ के पण्डों का निवास है। हिमवन्त पुराण के अनुसार देव प्रयाग में सर्व प्रथम सृष्टि का प्रादुर्भाव हुआ। वराह रूपी विष्णु द्वारा जब प्रलय जल से पृथ्वी के बाहर निकाले जाने पर यही क्षेत्र सबसे पहले बाहर निकला था। रावण वध के पश्चात ब्रह्म-हत्या के निवारण के लिये राम ने इसी स्थान पर तपस्या की थी। इस तपस्या वाले स्थल पर रघुनाथ मन्दिर अवस्थित है। इस मन्दिर का एक प्राचीन इतिहास है। इसका नव निर्माण समय समय पर हुआ है। मन्दिर के गर्भ गृह में भगवान विष्णु की काली शिला पर उत्कीर्ण सुन्दर मूर्ति है।

देव प्रयाग में एक वैधशाला और एक स्तरीय पुस्तकालय भी है परन्तु उनके संस्थापक चक्रधर जोशी के असामयिक स्वर्गवास के कारण अनुसंधान शाला दिशाहीन हो गई है।

और कितने पड़ाव

देव प्रयाग से श्री नगर मार्ग तक स्थान-स्थान पर प्राचीन संस्कृति के अवशेष चिन्ह एवं प्राचीन मन्दिर बिखरे पड़े हैं। श्रीनगर से पहले ही कीर्तिनगर पड़ता है जिसे कीर्ति शाह ने बसाया था। वहाँ पर एक अत्यन्त सुन्दर विश्रामगाह है जहाँ से श्री नगर के अनिन्द्य सौन्दर्य को क्लान्त पथिक निहारता ही रह जाता है। इसके पश्चात् पथिक श्री नगर का दर्शन करते हैं। हरिद्वार बद्रीनाथ मार्ग पर श्री नगर हरिद्वार से 132 और ऋषिकेश से 102 किलोमीटर दूर अलखनन्दा के तट पर एक विस्तृत घाटी में बसा हुआ है। श्री नगर महाभारत काल में कुलिन्द जनपद का केन्द्र था। यहाँ पर एक राजा सुबाहु था जिसने स्वर्गारोहण हेतु महाप्रयाण करने वाल पाण्डवों का स्वागत किया था। पौराणिक कथा के अनुसार सत्यकंध नामक राजा के कीलापुर को पराजित करने के लिये एक पाषाग शिला पर श्री विन्ध्याचल की स्थापना करके श्री देवी की अराधना की। उक्त श्री यन्त्र पर प्रतिदिन नरबलि दी जाती थी। अतः जब शँकराचार्य को यह मालूम हुआ तो उन्होंने श्री यन्त्र को उल्ट दिया। 15वीं शताब्दी में यहाँ पर राजा अनशांपाल ने अपनी राजधानी बसाई। तभी से श्री नगर गढ़वाल की गतिविधियों का केन्द्र बिन्दु हो गया। श्री नगर ने कई उतार चढ़ाव देखे। सन् 1828 में तथा 1970 की बाढ़ की चपेट में श्री नगर को भारी नुकसान उठाना पड़ा और यहाँ जन-जीवन त्रस्त हो गया। कुमायूं, नेपाल व अंग्रेजों से लड़ाइयां भी श्री नगर के लिये घातक सिद्ध हुईं।

आजकल श्रीनगर पर्यटन केन्द्र एवं गढ़वाल विश्वविद्यालय के शिक्षा केन्द्र के रूप में विकसित हो रहा है। इसके बाद पांच छोटे-छोटे पड़ाव हैं। अलकनन्दा और मन्दाकिनी के संगम पर श्री नगर से 30 किलोमीटर आगे रूद्रप्रयाग स्थित है। यह भिन्डर और अलकनन्दा के संगम पर रुद्रप्रयाग से 30 किलोमीटर आगे स्थित है। यहाँ कर्ण का प्राचीन मन्दिर है। कर्णप्रयाग से 20 किलोमीटर आगे, मन्दाकिनी अलकनन्दा के संगम पर नन्दप्रयाग स्थित है। जनपद चमोली की तहसील का मुख्यालय चमोली है। यहाँ से जनपद के मुख्यालय, गोपेश्वर एवं केदार घाटी जाने हेतु मार्ग है। चमोली से आगे बड़ा ही रमणीक स्थान है। यहाँ अच्छा भोजन प्राप्त होता है। इसका नाम पीपल कोठी है।

कल्पवृक्ष का नगर जोशीमठ

जोशीमठ का प्राचीन नाम ज्योतिर्मठ है। यहाँ का वासुदेव मन्दिर सर्वश्रेष्ठ वैष्णव मन्दिरों में से एक है। मन्दिर में प्राचीनता के प्रमाण स्वरूप वासुदेव की अनूठी मूर्ति है। अन्यमूर्तियां भी अत्यन्त दुर्लभ हैं। उन पर उत्कीर्ण शिल्प अत्यन्त सुन्दर है।

मन्दिर के प्रांगण में ही नृसिंह का मन्दिर है जहाँ पर अति मनोहारी भगवान नृसिंह की शालिग्राम की पत्थर की बनी हुई मूर्ति है। उक्त मूर्ति का एक हाथ बहुत पतला हो चुका है जिसके सम्बन्ध में किंवंतती है कि जब यह हाथ टूट पड़ेगा तब नर नारायण पर्वत आपस में मिलकर बद्रीनाथ मार्ग को अगम्य कर देंगे।

"प्राप्ते कलियुगे धीरे अगम्या बदरीभवेत"

जोशीमठ नगर के ऊपरी भाग में एक विशाल शहतूत का वृक्ष है जिसे कल्पवृक्ष कहते हैं। इस वृक्ष के नीचे एक शिवमन्दिर और सामने एक छोटी गुफा है जिसे जगदगुरू शंकराचार्य जी की गुफा समझा जाता है। गुफा के ऊपर अन्नपूर्णा देवी जी का मन्दिर तथा उत्तर की ओर तोकाचार्य जी की गुफा है। वहीं पर शुकराचार्य की पीठ ज्योतिमठ भवन अवस्थित है।

जोशीमठ ऐतिहासिक और सामयिक महत्व का नगर है। जोशीमठ, से नीति माणाघाटी के लिये मार्ग बट जाते हैं। ओली, गुरसूं, नन्दा देवी, त्रिशूल, कागभुसुन्डी, हाथी पर्वत आदि चोटियों पर आरोहण हेतु भी जोशीमठ ही आधारित नगर है। इसके बाद बढ़ने पर गोविन्द घाट पड़ता है।

अलकनन्दा और भ्यूहार नदी के संगम पर जोशी मठ से 20 किलोमीटर की दूरी पर गोविन्दघाट नामक स्थान है। यहां पर सिखों का गुरुद्वारा है। यहां से मुकुन्द लोकपाल एवं फूलों की घाटी हेतु पैदल मार्ग प्रारम्भ होता है। इस प्रकार ऋषिकेश से गोविन्दघाट की दूरी 281 किलोमीटर है। यहां पर सिखों के दसवें गुरु एवं सुप्रसिद्ध हिन्दू संत तथा भक्त गुरु गोविन्द सिंह जी के पुनर्जन्म की तपोस्थली है। हेमकुण्ड लोकपाल एवं फूलों की घाटी पहुंचने के लिए पदयात्रा का मार्ग यहीं से आरम्भ होता है। गोविन्द घाट में सिखों के गुरुद्वारे द्वारा यात्रियों की अच्छी आवभगत स्नेहिक्त वातावरण में की जाती है। गुरुद्वारे के बगल में ही अलकनन्दा पर लहराता हुआ पुल है। पुल पार करते ही अनवरत चढ़ाई प्रारम्भ हो जाती है। भ्यून्डार से पहल फूलना गांव पड़ता है। यहां भ्यून्डार निवासी शीतकाल में आ जाते हैं, ग्रीष्म में यह गांव एक दम उजाड़ रहता है। लगभग चार किलोमीटर चलने के पश्चात भ्यून्डार ग्राम आता है। यहां पथिक रुक कर चाय व आलू का नाश्ता प्राप्त करते हैं और आदतन दूरी पूछते हैं। यद्यपि

यहां से दूरी सभी को विदित है। भ्यून्डार के पश्चात देवदार, अखरोट एवं ब्लू पाइन का सघन वन प्रारम्भ होता है। जैसी यह यात्रा होती है उसे कवि के शब्दों में :

चलता था धीरे धीरे वह यक यात्रियों का एक दल
सरिता के रम्य पुलिन में गिरिपथ सेले निजसंगल
"जय शंकर प्रसाद"

दर्शन काकभुसुण्डी का :

आग्र मार्ग के दुस्तर दुरारोह चढ़ाई को पार करते हुए लक्ष्मण नंगा से संगम बनाती हुई और काकभुसुन्डी शिखरों से उतरती हुई गंगा दिखेगी। इसका सुन्दर वर्णन महाकवि तुलसी दास ने उत्तर काण्ड में काक गरुड़ सम्वाद के माध्यम से किया गया है। 17000 फीट ऊंची-ऊंची दो पर्वत श्रेणियां एक विशिष्ट प्रकार के शिखर की काली चोंच तथा हिम मन्डित स्वंत शंखनुमा बनावटी में काक एवं भुसुन्डी का प्रतीक प्रतीत होती है। उनके सम्वाद में सृष्टि की रचना एवं ब्रह्म का निरुपण है। काकभुसुन्डी के दर्शनोपरान्त हम घाघरिया क्षेत्र में अग्रसर होते हैं। घाघरिया पहुंचने तक शाम हो जाती है। यह स्थान गोविन्द घाट से 14 किलोमीटर दूर है। यहां पर्वतीय विकास निगम का रेस्ट हाउस और वन विश्राम गृह हैं। यहां सिखों का गुरुद्वारा है। कतिपय चाय नाश्ते की छोटी-छोटी दुकानें भी हैं। घाधरिया का शान्त वातावरण एवं लक्ष्मण गंगा का कल-कल नाद 4000 फुट की ऊंचाई एवं 14 किलोमीटर की दुर्गम चढ़ाई की यात्रा की थकावट को भुला देता है। पंत जी कहते हैं :

नीख संध्या में प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त
पत्रों के आनल अधरों पर सो गया निखिल बन का मर्मर

अधिकांश पथिक उस दिन घाघरिया में विश्राम करते हैं। परन्तु कुछ स्वस्थ और साहसी जन समय की बचत के लिए उसी दिन हेम-कुन्ड, लोकपाल या फूलों की घाटी होकर लौट आते हैं।

हेमकुन्ड-लोकपाल का स्वर्गलोक

घाघरिया से प्रातःकाल ही पथिक अपनी सुखद यात्रा प्रारम्भ कर देता है। विश्राम गृह से लगभग एक किलोमीटर की चढ़ाई पार करने के उपरान्त अंग्रेजी भाषा के वाई अक्षर की भान्ति बांई और का मार्ग फूलों की घाटी। (1207 से 13074) की ओर जाता है तथा दाईं ओर का मार्ग दुर्गम नदियों व श्वेत ग्लेशियर पार करके 15288 फीट की ऊंचाई वाले हेमकुन्ड लोकपाल की ओर जाता है। मार्ग अत्यन्त ही दुरुह एवं थकाने वाला है परन्तु उक्त मार्ग पर अग्रसर होते हुए जो नयनाभिराम दृष्य एवं सुन्दर पुष्प मन्डित शिलाओं का अलौकिक दृष्य यात्री को दिखाता है यह मार्ग की थकान को भुला देता है। उक्त मार्ग की दुष्यावली को पर्वतीय लोक कवि के मार्मिक शब्दों में प्रस्तुत किया जा सकता है :

ऊँचा-ऊँचा डाला कपुआ रणमणी लगाली
हँसि हँसि के मलि कुन्ज लपटि चला ली
हचला निचला कुट कुट धुध तिकराली
लाला मला भिडा पिसड़ न्युडि हँसली
गैला मैला परतला न्यूडि पूंछ हवाली बिना भयाकी
बेनवा असेवे दुवाली।

दुर्गभ चढ़ाई पार करते ही पथिक शिखर पर पहुंच कर अपने आपको मनोहारी हेमकुन्ड के सन्मुख उपस्थित पाता है। उस सरोवर का जल स्वच्छ एवं निर्मल है। उसमें सप्त श्रृंगों की सुन्दर छाया दृष्टिगोचर होती है। झील के स्फटिक सदृश जल में ग्लेशियर का स्वच्छ प्रतिबिम्ब पड़ता है तो ऐसा प्रतीत होता है मानों सारा ग्लेशियर तृप्ति हेतु ताल में उतर आया है।

पुराणोक्त कथा के अनुसार यहां लक्ष्मण ने रावण वध के उपरान्त ब्रह्महत्या निवारणार्थ जप किया था तथा सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने अपने पूर्वजन्म में यहां ईश अराधना करके बोध प्राप्त किया था। इसका वर्णन "विचित्र नाटक" नाटक ग्रन्थ में इस प्रकार किया है :

हेमकुन्ड पर्वत है जहां
सप्तश्रृंग सोहत है वहां
ताई हम अधिक तपस्या साधी
महाकाल कालिका आराधी
यदि विधि करत तपस्या भयो
द्वैत से इस रूप हयो गयो।

हेमकुन्ड–लोकपाल में लक्ष्मण जी का भी मन्दिर है। पुराणोक्त कथा की इस तपोस्थली के हृदयग्राही वातावरण एवं सरोवर की प्राकृतिक छटा को देखकर पर्यटक, साधक व भक्त भाव विभोर हो जाते हैं। यदि आप हेमकुन्ड तथा फलों की घाटी एवं हेमकुन्ड के मार्ग की कठिनाइयों को गिनें अथवा वातावरण में श्वास लेने की कठिनाइयों का ध्यान करें तथा मार्ग में महकते हुए पुष्पों का तीव्र सुगन्ध से व्याप्त सिर पीड़ा का ख्याल करें तब तो यह मार्ग जैसे कन्टकों से भरा है किन्तु यदि आप के हृदय में प्रकृति से प्यार है, कलकल करते झरनों से उत्पन्न संगीत एवं लक्ष्मण गंगा के प्रवाह की सुमधेर ध्वनि में तन्मय होने की प्रवृत्ति है तथा भगवान लक्ष्मण एवं गुरु गोविन्द सिंह में आस्था है तब आप की पद यात्रा रोमांचक और सुखद अनुभव बन जाएगी। उसकी अमिट याद आप के स्मृति पटल में अंकित हो जायेगी। पंत जी ने कहा है :

उन नीलम ढालों पर लिप्ट,
रेशम के सूरधन कराहते,
मरकट की घाटी में सुलगे
बनफूलों के झरने गाते।

सावधान फूलों की घाटी आ रही है

हेमकुन्ड, लोकपाल के नीचे उतर कर पथिक लक्ष्मण गंगा के किनारे किनारे पतली पगडन्डी को पार करता है। वहां असंख्य सतरंगी दृष्यों की छटा निहारते हुए वह हरित घास एवं कंकरीले पत्थरों से मिश्रित मार्ग को बुसंश, सुराही व भोजपत्र की सघन वृक्षमाला से गुजरता है। तब लगता है मानो वृक्ष सिहर-सिहर कर पथिक का अभिवादन कर रहे हैं। निकट ही आप देखेंगे कि पुष्पावति नदी ग्लेशियर के अन्दर गुफा बनाती एक ओर से विलीन हो, दूसरी ओर कलकल करती प्रकट हो रही है। आप के सामने ही आप की चिर सुहागिनी फूलों की घाटी अपना रंग बिरंगी आंचल फलाये आप का स्वागत कर रही है। दूर दूर तक पुष्प प्रसार सुदूर उत्तरी दिशा में कामेट, रक्तवर्ण, नीलगिरि एवं गन्धमादन श्रृंखला के हिमशिखर तक श्वेतमेघ किरणों के साथ के साथ लुकाछिपी खेलता जैसा लगेगा। आप की दृष्टि धरती पर बिछी प्राकृतिक सतरंगी पुष्पों भरी चादर पर सहज ही फिसल-फिसल जायेगी। आप मनमुग्ध मनोहारी छटा में खो जायेंगें।

कुसुमों के जीवन का पल
हंसता ही जग में देखा
इन ग्लान मलिन अधरों पर।

फूलों की घाटी में लगभग 250 किस्म के बनफूल फूले होते हैं। जून की प्रथम वर्षा फुहार के साथ शनैः शनैः सागर तट से 12000 फुट की ऊंचाई पर धरती ज्यों-ज्यों हिम अवगुंठन खोलती है त्यों-त्यों प्रकृति धरती की सुन्दर वेणी को भांति-भांति के शरतरूगी पुष्पों से सजाना आरम्भ कर देती है। यहां पहुंच कर आप के कानों में सम्भव है कवि पंत की कविता गूंजने लगे :

मेघों की छाया में संग संग
हरित घाटियां चलती प्रतिपल
बन के भीतर उड़ता चंचल
चित्र तितलियों का कुसमितवन।

ऐसी स्थिति में क्या आश्चर्य है कि हर पखवाड़े वेणी के फूल और उसका रंग रूप बदल जाता है। एक किसम के फूल इस पन्द्रह दिन इठलाते और फिर टहनियों की गोद में सो जाते हैं। पंखुड़ियां हिम भरी शीत घाटी में गिर जाती हैं। यही क्रम अनवरत सितम्बर तक चलता रहता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे विस्तृत फूलों की धरती को प्रकृति ने छोटी-छोटी असंख्य क्यारियों में बांट दिया है जिनमें भिन्न प्रकार के फूल पूर्व निर्धारित समय क्रम के अनुसार खिलते रहते हैं। उजली रात में तो ऐसा लगता है जैसे तारों भरा आकाश पृथ्वी पर उतर आया हो। कवि पंत ने लिखा :

यह फूलों का देश
यहां निरन्तर जीवन शोभा
सजती नव नव वेश।

(सुमित्रा नन्दन पंत)

परिक्रमा फूलों की घाटी की

उपयोगी सौन्दर्य यहां है

हिमालय की इन जड़ी बूटियों का कहां तक नाम गिनाया जाये। वज्रदन्ती, ब्रह्म कमल, भूतकेशी, वत्सनाम, विकन्डा, सालमपंजा आदि एक एक प्रसिद्ध औषिधियां है जो मनुष्य को अरोग्य और नवजीवन प्रदान करने में सक्षम है। फूलों की घाटी तो जैसे इनका भन्डार है और इस प्रकार उसके सौन्दर्य की उपयोगिता देख विस्मित हो जाना पड़ता है।

गंगा के किनारे पायी जाने वाली एक दिव्य औषधि का नाम ब्रामी है। सामान्यतया उपलब्ध मण्डूकमणि से अलग है। इसकी पतियों को छाया में सुखाकर "पंचांग" या पत्तियों का चूर्ण प्रयुक्त करते हैं। यह मिर्गी उन्माद, स्मृतिनाश में प्रयुक्त होती है। यह मेघावर्धक नर्वटानिक मानी जाती है। इसी के साथ शंखपुष्पी का नाम भी लिया जाता है। श्वेत पुष्पों वाली यह औषधी बहुत प्रचलित है। यह स्मरण शक्ति को बढ़ाती है। इसे मेघावर्धक उन्माद नाशक, मस्तिक दौवज्य एवं अनिश में रामबाण औषधी माना जाता है। इस प्रकरण के अन्त में रतरल ज्योति की चर्चा कर ली जाय। इसकी पत्तियां एवं पुष्प दमें के निवारण के लिए उपयोगी हैं। इसके सूखो पोधों को सुखाकर गठिया सिफलिस, कोढ़ व रक्त प्रदूषण, हृदय विकार के रोगों में उपयोग किया जाता है। वास्तव में यह विकरण एक दम उपर्याप्त है। फूलों की घाटी के सौन्दर्य सागर में यात्रा के सिलसिले में उसका विवरण भी तो अप्रसांगिक होगा। यह तो बस केवल अपने पाठकों को इस पुष्पोधान से जुड़े वनोषधी उद्वान की एक सामान्य झांकी मात्र प्रस्तुत करना उद्देश्य है। इस झांकी से यह तो साफ-साफ प्रकट है कि सौन्दर्य का यह अलौकिक संसार न केवल मानव के मन को तुष्ट करता है बल्कि वह उसके तन को पुष्ट भी करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि हिमालय वनस्पतियों का भण्डार है और इस भन्डार में प्रति वर्ष वृद्धि होती जा रही है। अभी भी कई जड़ी बूटियां ऐसी है जिनका उत्पादन व्यापारिक रूप से नहीं हो पाया है इस पर विधिवत अनुसंधान हो सका है। आज के युग में जब बहुत सी कृत्रिम औषधियों का मानव शरीर पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है यह अन्यन्त आवश्यक हो गया है कि इन जड़ी बूटी का प्रयोग और बढ़ाया जाए ताकि मानव को शारारिक कष्ट क्लेशों से छुटकारा दिया जा सके उपरोक्त औषधियों विष, ज्वर, मन्दागिन, दमा, पित्त उदररोग, सन्निपात, मलेरिया, नेत्ररोग, दन्तरोग, कर्णफूल पागलपन, रक्तचाप, गठियां। कन्ठमाला, पीलिया, चर्मरोग, पीलिया आदि की अचुक औषधियां हैं।

प्रकृति की ओर से प्रदत्त हजारों ऐसे जंगली पौधों एवं पुष्पों एवं वृक्षों की प्रजातियां हैं जिनकी चिर सुरक्षा मानव रक्षा एवं पर्यावरण शुद्ध करने के लिये वरदान सिद्ध हो सकती है। ये वनस्पतियां आदिकाल से ही वायुमण्डल को शुद्ध व संतुलित कर परोक्ष रूप से अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर रही हैं। आज धरती भषण बाढ़ भयंकर सुखा तथा भूस्खलन आदि आपत्तियों के आक्रान्त हो रही है। इतने पर भी इसके रक्षक बन मानव द्वारा नष्ट किये जा रहे हैं। यदि हमें अपने देश की

संसार की मानव जाति की तथा गांवों शहरों जलाशयों आदि का भावी पीढ़ियों की सुरक्षा इष्ट है तो हमें इन अमूल्य वनस्पतियों को सुरक्षित रखना होगा। सत्य ही कहा है उर्दू के राष्ट्रीय कवि इकबाल ने :

पर्वत को सब से ऊँचा हम साया आसमाँ का
वो सन्तरी हमारा वो पासवाँ हमारा
गोदी में खेलती है इसकी हजारों नदियाँ
गुलशन है जिसके दम से रश्केतना हमारा।

फूलों की घाटी कवि कालीदास का जन्मस्थान :

महाकवि कालीदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में कश्मीर का नाम सर्वप्रथम लिया जाता है। अनुमान किया जाता है कि यही यक्ष भूमि अलका है कुछ अन्तः साक्ष्यों के आधार पर हिमालय क्षेत्र को उनकी जन्मस्थली तो कहा जाता है पर कोई कहीं का पुष्टप्रमाण नहीं पेश करता है। इस हिमालय क्षेत्र के अतिरिक्त सरस्वती नगर (सिरसा) विदिशा, जोधपुर, विदर्ज, अयोध्या और काशी के जन्म स्थान होने की अनुमान करने के साथ उनके बंगाली और बिहारी होने की चर्चा भी छिटपुट प्रमाणों के आधार पर की जाती है। कुछ अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर उन्हें गढ़वाली कहा जाता है। परन्तु मैं गढ़वाली में भी महाकवि की फूलों की घाटी में जन्मा मानता हूं। इस सम्बन्ध में पाठकों का ध्यान अन्तर्राष्ट्रीय विद्वान और विश्वकोषीय व्यक्तित्व करना चाहता हूं। ज्ञातव्य है कि मैं महाकवि कालीदास सम्बन्धी साहित्यिक ऐतिहासिक अनुसंधान के सर्वाधिक अधिकारी विद्वान आप ही है। अपने उपन्यास "कालीदास" में उन्होंने लिखा है :

"कालीदास का जन्म अलका में हो हुआ होगा। वह अलका कहां है इसका अनुसंधान तो सहज नहीं परन्तु कवि ने कैलाश के बीच की भूमि में ही इसे कहीं रखा है जहां से गंगा रूपी उसकी साड़ी का सरक जाना कुछ असम्भव नहीं। इस दृष्टि से गंगा के ऊपर से छोर पर अलकनन्दा और मंदाकिनी के बीच फलों की घाटी" में उसे रखना सम्भवतः सर्वथा काल्पनिक न होगा। मालवा में कालीदास का अधिकतर जन्म बीता, इस सम्बन्ध में दो मत नहीं है। वहीं की बड़ी छोटी जलधाराओं का विवरण प्राकृतिक निर्देश और ऋतुसंहार के मध्य प्रदेश वर्ती बदलती ऋतुओं का वर्णन मानों कवि के निवास का प्राणवान कर देते हैं। कवि का हिमालय (गढ़वाल) में जन्म लेकर मालवा को अपना कार्यक्षेत्र बनाना स्वाभाविक लगता है।

डॉ. सम्पूर्णानन्द ने भी गढ़वाल को ही कालीदास की जन्मभूमि माना है। वास्तव में रघुवंश, मेघदूत, कुमार सम्भव विक्रमसर्वशीयम और "शकुन्तलम" के अनेक प्रसंग ऐसे सटीक प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि उक्त मत के प्रति आग्रह हो जाता है। डा. सम्पूर्णानन्द के अतिरिक्त महाकवि सम्बन्धी शोध करने वाले विद्वानों में से डा. वी. आर. शर्मा बालकृष्ण शास्त्री, श्रीनिधिसिध्दान्नाँलंकार, देवदत्त शास्त्री, भैरवदत्त, घूलिया, सदानन्द जखमोला और भजन सिंह आदि भी गढ़वाल के पक्ष में भी अपना मत प्रस्तुत करते हैं। कालिदास के वर्णनों में मूदाकिनी का वर्णन विशेष ध्यान आकर्षित करता है। कुमार संभव काव्य में यह सम्पूर्ण क्षेत्र जिस गहराई के साथ व्याप्त है उसे देखते यह सहज ही अनुमान हो सकता है यह कर्मभूमि का नहीं, जन्मभूमि का प्रेम है।

मंदाकिनी के अतिरिक्त, गन्धमादन पर्वत आदि ऋषियों के आश्रम बदरी, केदार, सुरभिकन्दरा, अलका, क्रीडाशेल, अनेक नयनाभिराम गुफाओं, ऋतुओं के सौन्दर्य, फूलों घाटियों, गोरीकुण्ड नदी घाटियों गुफाओं पर बादलों के रोमांस, असाधारण पर्वतीय सौन्दर्यांकनओर इन एक एक स्थानों के प्रमाणिक स्वर्णण आदि प्रमाण है कि इन्हीं के बीच गढ़वाल क्षेत्र को आत्मा फूलों की घाटी में महाकवि कालीदास का जन्म हुआ।

वास्तव में फलों की घाटी असाधारण है वह स्वर्ग जैसा नहीं है, वह साक्षात स्वर्ग है। ओह क्या ऐसे स्वर्ग और उसके अलौकिक के सौन्दर्य को क्या आप एक बार देखना नहीं चाहेंगे।
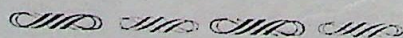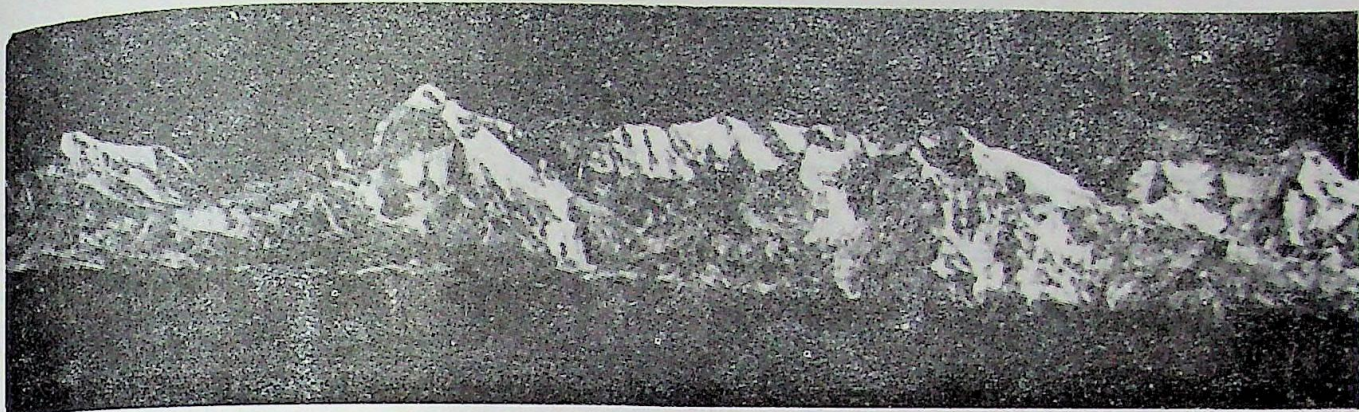
सातवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी के पचासादि दशक के अंत तक कैलास-मानसरोवर, पुराणों में वर्णित मानसखंड, तिब्बती भाषा में ड. री खुरिसरम और आज के पश्चिम तिब्बत क्षेत्र, से भारत के अति घनिष्ठ संबंध रहे। मानसरोवर क्षेत्र ही भारत की सिंधु, सतलुज और ब्रह्मपुत्र नदियों का उदगम है। वैसे सातवीं सदी से पहले भी हिमालय का यह भू-भाग हिंदू और बोद्ध धर्मावलम्बियों के लिए आध्यात्मिक और साहित्यिक प्रेरणा का स्रोत ही नहीं रहा, भारत के वर्तमान गढ़वाल और कुमाऊं मंडलों की आर्थिक व्यवस्था का आधार भी रहा। कालिदास ने अपने अमर काव्य मेघदूत में कैलास-मानसरोवर का जो प्राचीन यात्रा मार्ग दिया है कुमाऊं मंडल के हिमदर्रों के पार होता हुआ वही मार्ग आज भी सबसे सुविधाजनक मार्ग है।

कैलास मानसरोवर यात्रा : परंपरागत और आज

--यमुना दत्त वैष्णव "अशोक"

मेघदूत में वर्णित मार्ग रामगिरि (नागपुर के निकट वर्तमान रामटेक) से माल अमर कंटक की ऊंची भूमि) से उत्तर की ओर बढ़ता हुआ रेवा (नर्मदा) को पार करता है। वह आगे दांशार्ण (यादवों की भूमि) वेत्रवती (बेतवा), विदिशा (भेलसा), नीलगिरी, वननदी, उज्जैन, शिप्रा, देवगिरि (ललितपुर का प्रसिद्ध धर्मस्थल), चर्मण्वती (चम्बल), दशपुर (मध्य भारत का प्राचीन राज्य) होता हुआ, कुरुक्षेत्र और सरस्वती नदी को पारकर दक्षिण पूर्व मुड़कर कनखल (हरिद्वार), जाह्नवी (गंगा), हिमालय में देवदारू वनों में पहुंचता है। तदुपरांत पूर्वोत्तर की ओर चरणशिला (चित्रशिला-नैनीताल जिले में काठगोदाम के निकट एक प्राचीन तीर्थ) तक पहुंचता है। इससे आगे कालिदास मेघ से करण-विगमादूदर्ध्वम देह त्याग के बाद भक्तों की शिवस्थली जागेश्वर (कुमाऊं का पवित्र श्मशान) की परिक्रमा करके वन बांसों के संगीतमय निकुंज (रिंगाल के जंगल) में किन्नरियों के गीत सुनने को कहता है। तदुपरान्त प्रालेयादि (मध्य हिमालय की ऊंची श्रेणियों) को लांघकर क्रौंचरंध्र) हिमद्वार पिथोरागढ़ के लिपुलेख का ऊंटधुरा) से कैलास और मानसरोवर पहुंचने को कहता है।

बहुधा विश्वास किया जाता है कि हिमालय की भारत स्थित सर्वोच्च श्रेणियों त्रिशूल, नन्दादेवी, नन्दाकोट तथा पंचचूली का सिलसिला भारत की उत्तरी सीमा का निर्माण करता है। वास्तव में ये सभी श्रेणियां कुमाऊं मंडल के मध्य में स्थित हैं। इन श्रेणियों के उपरान्त अपेक्षाकृत कम ऊंचा दानपुर मल्ला, जौहार, दारमा, व्यास तथा चौदांस का भू-भाग भारत भूमि का सीमान्त क्षेत्र है जिसमें से तिब्बत की ओर जान के चार हमिदर्रे हैं। मध्य हिमालय की इस ऊंची श्रृंखला अर्थात प्रालयादि को लांघकर क्रौंचरध्रं (लिपुलेख हिमदर्रे) पर पहुचनें का, कालिदास कथन भौगोलिकता क अनुरूप है।

भारत से बौद्ध धर्म तिब्बत – मंगोलिया

चीन के पर्यटक व्हेनसांग से ही, सन 640 में चीन देश के शासक को वृहत्तर भारत के इस "मानसखंड" की, जिसे संस्कृत ग्रंथों में भोट देश कहा गया है, जानकारी मिली। उस समय इस भोट देश का शासक सोग-चांग-गाम्पो था। उसकी एक पत्नी नेपाल के खस राजा अंशुवर्मा की पुत्री थी और दूसरी चीन की राजकुमारी वनछंगा। राजा ने इन रानियों के लिए दो पूजा-स्थल रामाछ (कैलास पर्वत के निकट विष्णु मंदिर) और शाक्यमुनि का मन्दिर रासा (ल्हासा) स्थापित किए। अगले सौ वर्षों तक "मानसखंड" और कुमाऊं गढ़वाल के सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध दृढ़तर होते रहे। सन्, 747 में नालंदा विश्वविद्यालय के आचार्य पद्मसंभव को भोट देश के राजा ने बुला लिया। उन्हें वहां गुरु रिम्पोछे नाम से जाना जाता है। पद्म संभव ने भोट देश में मगध की वास्तुशैली के अनुसार साम्य विहार बनाया और शांतिरक्षित को प्रथम विहाराधीश नियुक्त किया। बहुत से संस्कृत ग्रंथों का भोट भाषा (तिब्बती) में अनुवाद कराया। तिब्बत शब्द जैसुइट पादरियों के भोट शब्द के ता-बोत उच्चारण से बना है। भोट शब्द को वे बोट या बोत उच्चारण करते थे। ता-बोत, दि-बोट से तिब्बेट, अंग्रेजी "टिब्बट,"शब्द बना।

ग्यारहवीं सदी में दीपंकर श्रीज्ञान अन्य बहुत से भारतीयों के साथ भोट देश में आमंत्रित किए गए। सन 1206 में समूचे चीन और भोट देश पर मंगोल शासक ने अधिकार कर लिया। विजयी मंगोल सम्राट के पुत्र कुबलई खां ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और भोट देश में बौद्ध धर्मराज्य की स्थापना की। पन्द्रहवीं सदी के आरम्भ में भोट देश के धर्मशासक के लिए मदिरापान और विवाह निषिद्ध कर दिया गया। इन पीतोष्णीय (पीले रंग के वस्त्र धारी) लामाओं ने अवतारवाद की

प्रथा चलाई। जब महालामा की मृत्यु हो जाए तो किसी नवजात बालक में कुछ शारीरिक चिह्नों और मृत लामा की प्रयोग में लाई वस्तुओं को दिखाकर मृत लामा के अवतार को पहचान लेने की प्रथा चली। तृतीय लामा अवतार को मंगोल राजा ने दलाई (दया के सागर) की उपाधि से सम्मानित किया। पांचवें दलाई लामा को मंगोल शासक ने पूरा भोट प्रदेश सौंप दिया।

सन् 1720 में चीन ने भोट देश पर अपना अधिकार जमाना चाहा और दलाई लामा के एक मंत्री की हत्या कर दी। प्रतिकार स्वरूप ल्हासा के सभी चीनी निवासियों को लामाओं ने मौत के घाट उतार दिया और चीन से संबंध विच्छेद कर दिया। मानसरोवर क्षेत्र में कुमाऊं की जोहार, दारमा, व्यास तथा चौदांस घाटियों का वे रोक-टोक आना-जाना सभ्यता के उदय से ही बीसवीं सदी के पचासादि दशक तक बना रहा सैंकड़ों सीमान्तवासी शौका (शक), तोल्वा, मार्छा आदि सीमाँन्त बंजारे मध्य एशिया की बोखारा, यारकन्द, समरकन्द, खुतन तथा काशगर मंडियों से व्यापार विनिमय करते रहे।

कुमाउं के राजाओं द्वारा यात्रियों की सुरक्षाव्यवस्था

कुमाऊं के राजा बाज बहादुर चन्द (1638-78) ने कैलास मानसरोवर के तीर्थ यात्रियों को, हूणदलों द्वारा परेशान किए जाने की शिकायत पाकर, जोहार घाटी से ऊंटधूरा हिमदर्रे को सन् 1668 में पार किया था और तकलाकोट के किले पर आक्रमण किया था। इस किले पर अधिकार करने के लिए उसने जिस प्राचीर को तोड़ा था वह आज भी उसी टूटी हाँलत में है। राजा ने हूण सरदारों को बुलाकर उन्हें तीर्थ यात्रियों को स्वतंत्रतापूर्वक विचरण करने देने के आदेश दिए। राजा ने यह भी व्यवस्था की कि भारतीय व्यापारी तिब्बत में अपने लाए माल पर जो चुंगी देते हैं उसे तभी दिया जाएगा जब यात्रियों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुंचाई जाएगी। राजा ने अपने राज्य के सीमा के निकट के पांच गांवों की वार्षिक मालगुजारी से तीर्थ यात्रियों के भोजन, कपड़े और आवास की व्यवस्था के लिए एक स्थायी न्यास अनुबंधित किया। अपने सीमावर्ती अस्कोट के रजवार (उपराजा) को भी तीर्थ यात्रियों की सुरक्षा के आदेश दिए।

बाज बहादुर चन्द के उत्तराधिकारी उद्योत चन्द (1678-1698) के समय में कुमाऊं राज्य की सीमा कर्नाली नदी के पश्चिम तट तक थी। उत्तर में यह तकलाकोट से आरम्भ होकर दक्षिण में यह सीमा बहराइच और खीरी जिलों के मध्य में बहने वाली नदी कर्नाली तक थी। खेरीगढ़ (जिला खीरी) पार उद्योत चन्द ने सन्। 1688 में अधिकार किया।

बर्तानवी सरकार के गुप्तचरों की कैलासयात्रा

सन् 1790 में नेपाल के गोरखों ने अल्मोड़ा-गढ़वाल पर अपना अधिकार जमाकर पश्चिम से सतलुज नदी तक के पर्वतीय भू-भाग तक अपने राज्य का विस्तार कर लिया। उधर तिब्बत में रूस से सेना ने अपना प्रभाव जमाना आरम्भ कर दिया। इससे भारत की तत्कालीन बर्तानवी सरकार को चिन्ता सताने लगी। बर्तानवी सरकार ने मुगल सम्राट अकबर शाह (द्वि०) के आंग्ल-दामाद हैदर हेरयसी तथा मूरक्राफट नामक पशुचिकित्सा को साधुओं के भेष में सन् 1812 नीती हिम घाटी से तिब्बत भेजा। गंगतोक होते हुए वे मानसरोवर पहुंचे। उन्होंने रूस के सैनिकों द्वारा रक्षित व्यापारिक मार्ग का काश्मीर और बोखारा तक सर्वेक्षण किया और लिपुलेख दर्रे से कुमाऊं में प्रवेश किया। गोरखा शासकों ने इन दोनों को जासूस समझकर पकड़ लिया। सन् 1815 में अंग्रेजों ने नेपाल युद्ध में विजय पा ली। सिगौली में हुई संधि के अनुसार नेपाल और ब्रिटिश भारत के मध्य शारदा नदी सीमा बनाई गई। कुमाऊं से कैलास मानसरोवर का क्षेत्र पृथक हो गया तथापि व्यापार संबंध पहले की भांति बने रहे। अगले 25 वर्षों तक तो तिब्बत में भारतीय व्यापारियों द्वारा योरोप में बने वस्त्र, दवाएं, प्रसाधन सामग्री आदि भी पहुंचाई जाने लगी।

सेनापति जोरावर सिंह का तिब्बत पर आक्रमण

सन् 1840 में कश्मीर के राजा गुलाब सिंह का सेनापति जोरावर सिंह पश्चिमी तिब्बत को अपने अधिकार में करने के लिए लद्दाख से पूर्व की ओर बढ़ा। पश्चिमी तिब्बत के गंगतोक नगर को अपने अधिकार में लेकर वह अपने आठ हजार सैनिकों में से कुछ को मार्ग में छोड़ता कैलास मानसरोवर यात्रा मार्ग पर बढ़ा। उसने तीर्थपुरी को अपना मुख्यालय बनाया। वहां पर पन्द्रह सौ सैनिकों को लेकर उसने अपने से छः गुनी तिब्बती सेना से सफलता पूर्वक मोर्चा लिया। मठों और आश्रमों को लूटता जोरावर सिंह तकलाकोट पहुंचा। तकलाकोट के आस-पास कर्नाली नदी की घाटी में भूमि बड़ी उपजाऊ है और छोटे-छोटे सैंतीस गांव हैं। इन गांवों पर अधिकार करके अपनी शासन व्यवस्था सुगठित करने में जोरावर सिंह लगा ही था कि उसे पराजित तिब्बती सेना की सहायता के लिए चीन की कुमुक आने की सूचना मिली। उसने तकलाकोट में अपने सेनाध्यक्ष बस्तीराम को नियुक्त किया अपनी पत्नी को लद्दाख वापस भेज दिया। पत्नी की पालकी को वह बदरीनाथ के उत्तर में स्थित गंगतोक स्थान तक स्वयं पहुंचाने गया।

तकलाकोट के मार्ग को तिब्बती सेना अवरूद्ध किए थी। जोरावर सिंह के अंगरक्षकों की उनसे तोयो नामक स्थल पर भिड़न्त हुई। जोरावर सिंह के घुटने पर एक तीर लग गया और वह घोड़े से गिर गया। उसके अंगरक्षक तिब्बती सेना के सम्मुख छोटी सी टोली को सर्वथा असमर्थ देखकर हथियार फेंककर दया की भिक्षा मांगने लगे। तिब्बतियों ने उसमें से सभी के एक-एक करके सिर काट लिए। तकलाकोट में जो सिक्ख सेना पड़ी हुई थी उसके भी छक्के छूट गए और भगदड़ मच गई। तिब्बती सेना ने बड़ी क्रूरता से उनका भी कत्ले-आम आरम्भ कर दिया। जोरावर सिंह की बोटी-बोटी काटकर तिब्बती सैनिकों ने उसके रक्त मांस से अपने गंडे और तावीज भरे।

बस्तीराम अपने थोड़े से साथियों को लेकर पाला नामक स्थान पर अपने शिविर से लिपूलेख हिमदर्रे की ओर भागा। शत्रु को धोखे में डालने के लिए उसने शिविर में आग जलती छोड़ दी और घोड़े भी वहीं बंधे रहने दिए। दिसम्बर की भयानक सर्दी में सिख सेना के जवान लिपूलेख दर्रे से कैलास मार्ग पर अपनी बंदूकों के कुंदे जलाते किसी प्रकार अपनी शरीर रक्षा करते अस्कोट के राजा की शरण में पहुंचे।

जोरावर सिंह के आक्रमण का भारत-तिब्बत व्यापार पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। यह सन् 1840-41 के वर्षों में ऊंटधुरा और लिपुलेख दर्रों से तिब्बत से हुए व्यापार के उन आंकड़ों से स्पष्ट होता है जो कुमाऊं के तत्कालीन बंदोबस्त अधिकारी बैटॅन की रिपोर्ट तथा नैनीताल नगर को बसाने वाले पी. बैरन की पुस्तक "पिलग्रिम्स वांडरिंग्स इन द हिम्मांला"–से नीचे उद्धत की जाती है।

भारतीय लोकसभा में राजर्षि पुरुषोत्तमदास टंडन

ब्रिटिश भारत और कुमाऊं के हिमदर्रों के संबंधों में से होने वाले आयात-निर्यात में अगले सौ-सवा सौ वर्ष में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई। जोहार और दारमा घाटियों के निवासी अपने व्यापार के लिए छः मास तिब्बत में रहते और वहां से कच्चा ऊन, सुहागा, नमक, जड़ी-बूटियां और स्वर्णधूलि लाकर जाड़े की ऋतु में भारत में मंडियों में अपना माल बेचते रहे। ब्रिटिश सरकार ने अपना एक ट्रेड-एजेन्ट इस व्यापार की देख-रेख के लिए नियुक्त करने की स्थायी व्यवस्था की। तिब्बती व्यापार मार्गों क. भी वर्तानवी व्यापार भारत सरकार ने निर्माण किया। उन मार्गों पर चौकियां बनी जिनमें भारतीय सैनिक नियुक्त किए गए। गंगतोक से पूर्व ल्हासा तक के मार्ग के मध्य संचार व्यवस्था के लिए डाक-तार व्यवस्था भी तत्कालीन भारत सरकार ने की। चीन में हुई राजनैतिक उथल-पुथल से यद्यपि सिक्यांग और लेह से होने वाले आयात-निर्यात में कमी आई किन्तु तिब्बत से कुमाऊं का कैलास मानसरोवर मार्ग से, व्यापार पूर्वत रहा।

चीनी प्रधान मंत्री चाऊ-इन-लाई की प्रधान मंत्री नेहरु से हुई वार्ता के फलस्वरूप सन 1954 में तिब्बत स्थित भारतीय सड़क और संचार व्यवस्था चीन सरकार को सौंप दी गई। कुछ वर्षों तक भारतीय व्यापारी अपना काम पूर्ववत चलाते रहे किन्तु तिब्बत का लामा धर्मराज्य, साम्यवादी सरकार को फूटी आंख नहीं सुहाया। फलतः चौदहवें दलाई लामा जेत्सुन जाम्पल गांवांग लोब्सांग यिशे तानजिन ग्यांत्सो (वाक इन्द्र सुमति शासनधर सागर) को अपने देश को छोड़कर भारत में शरण लेनी पड़ी। चीन के प्रधान मंत्री चाऊ-इन-लाई भारत के इस व्यवहार से बड़े क्रुद्ध हो गए। उन्होंने भारत चीन सीमा का विवाद खड़ा कर दिया। दलाई लामा अपने एक लाख अनुयायियों सहित तभी से भारत में हैं।

सन् 1960 में आरम्भ में चाऊ-इन-लाई सीमा संबंधों की बात करने भारत आए थे किन्तु 6 दिन दिल्ली में रहकर भी अकसाई चीन पर अपने अधिकार को विधिसम्मत ही बताते रहे। कुमाऊं और कैलास मानसरोवर के मध्य सभी हिमदर्रे और उस ओर के मार्गों के सभी संचार साधन तब भारतीय के लिए वर्जित कर दिए गए। तिब्बत स्थित अनेक शौका व्यापारियों की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। कुछ को जासूसी के अपराध में पकड़ लिया गया, कुछ को रातों-रात वहां से भागकर आना पड़ा।

कहा जाता है कि भारत के प्रधान मंत्री नेहरू ने सन 1954 में तिब्बत पर चीन की सार्वभौम अधिसत्ता को मानकर आरम्भ में जब सभी व्यापार मार्गों और संचार-साधनों को चीन के शासकों को दे दिया था तो राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन ने इसका विरोध किया था कि तिब्बत चीन को अपना स्वामी नहीं मानता। उनका एक ऐतिहासिक भाषण जो 18 मई, 1954 को लोक सभा में दिया गया था वड़े ही महत्व का था। उसकी ज्वलंत प्रासंगिकता नेहरू जी को चीन के भारत पर हुई आक्रमण के समय ज्ञात हुई।

लगभग इक्कीस वर्ष तक भारत-तिब्बत सीमा बन्द रही। सितम्बर, 1981 में भारत सरकार ने कैलास मानसरोवर जान के इच्छुक तीर्थ यात्रियों के लिए चीन सरकार से अनुमति प्राप्त कराई पिछले चार वर्षों में तीन सौ के लगभग लोग इस यात्रा पर गए हैं जबकि तीसरे दशक में मात्र राजा मैसूर के दल में इससे भी अधिक लोग कैलास मानसरोवर यात्रा पर गए थे।

आज की स्थिति

अब भारत सरकार से यात्री दलों को कैलास मानसरोवर की यात्रा के लिए पिथोरागढ़ जिले के लिपुलेख हिमदर्रे से तिब्बत में प्रवेश करने की अनुमति मिलनी शुरू हो गई है।

बस से यात्री अगले दिन पिथौरागढ़ जिले की चम्पावत तहसील के मुख्यालय पहुंचते हैं। दूसरे दिन बस से ही यात्री धारचूला तहसील मुख्यालय में पहुंचकर वहां रात्रि विश्राम करते हैं। धारचूला को यात्रा का आधार शिविर बनाया गया है। धारचूला से तवाघाट नामक स्थान तक मोटर सड़क है। उसके उपरांत पैदल या घोड़े पर भारत सीमा में आठ पड़ाव पड़ते हैं। ये क्रमशः पांगू, सिरखा, जित्पी, माल्पा, बुधी गुंजी, कालापानी और नाभिडांग हैं। नाभिडांग (4300 मीटर) अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर स्थित लिपुलेख हिमदर्रे से 7 किलोमीटर दक्षिण में है। वर्ष 1984 में अलग अलग सात दलों में गए हुए लोगों ने दिल्ली से चलने के उपरांत तीन दिन 665 कि. मी. बस की यात्रा और फिर निरंतर नौ दिन पैदल चलकर सीमा पार करके तिब्बत में प्रवेश किया। भारत में उनके खाने, रहने आदि की व्यवस्था उ.प्र. पर्यटनः निगम तथा कुमाऊं मंडल विकास निगम ने की। इसके लिए कुल 2750 रु० प्रति यात्री को देना पड़ा। लिपुलेख दर्रे पार के आठ-नौ दिन यात्रा का प्रवन्ध चीन सरकार के अधिकारियों ने किया। इसके लिए प्रत्येक यात्री को लगभग 550 डालर की विदेशी मुद्रा (5000 रु०) व्यय करना पड़ा।

दो-दो सप्ताह के अन्तराल पर आए बीस या इक्कीस लोगों के 7 दलों के 143 यात्रियों में से 16 को ऊंची चढ़ाई पर श्वास का कष्ट हो जाने के कारण मार्ग में कैलास यात्रा के विचार को त्याग कर लौट कर दिल्ली जाना पड़ा। कुमाऊं विकास निगम लिमिटेड का प्रत्येक शिविर पर एक प्रभारी अधिकारी, एक रसोइया और एक दैनिक मजदूर यात्री दल की भोजन व्यवस्था और रात टिकने के प्रबन्ध के लिए नियुक्त था। दसवें शिविर नाभिडांग में तो पीने के लिए रखा पानी भी रात में जमकर ठोस हो जाता है। कुमाऊं के सीमांत प्रदेश के जनजातियों में से किसी को कैलास मानसरोवर जाने की अनुमति इन चार वर्षों में शायद ही मिली हो। जो लोग नेपाल देश से होकर तिब्बत गए और और अपने गृह उद्योग के लिए कच्चा ऊन ले आए सुना जाता है कि उन्हें भी तस्करी के आरोप में बन्दी बना लिया गया।

जब पंजाब प्रदेश के हजार-डेढ़ हजार सिक्ख तीर्थ यात्री दलों को अपने धर्मस्थलों की यात्रा करने पाकिस्तान जाने की अनुमति सुलभ है तो सीमांत पर्वतीय को कैलास मानसरोवर के अपने परम्परागत प्रांगण में जाने की अनुमाति उदारतापूर्वक दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त यात्रियों की सुख-सुविधा का प्रबंध, सरकार अपने नैनीताल स्थित निगम के कर्मचारियों को सौंपने के बजाए. जोहार-दारमा घाटी के शौका परिवारों को दे सकती है जिनका कि यह सदियों से एक पैतृक व्यवसाय रहा है। यदि यात्रा प्रबंध के काम को स्थानीय लोगों की सहकारी समितियों को सौंप दिया जाए तो सीमांत क्षेत्र में व्याप्त भुखमरी और बेकारी कम हो सकती है क्योंकि भारत-तिब्बत के इस सांस्कृतिक स्थल का इतना अधिक प्रचार है कि विदेशी पर्यटक काफी संख्या में वर्षभर, कैलास मानसरोवर क्षेत्र के पर्यटन के लिए आते रहेंगे।

कुमाऊंनी संस्कारों में लोकचित्रांकन

--मोहन सिंह मावड़ी
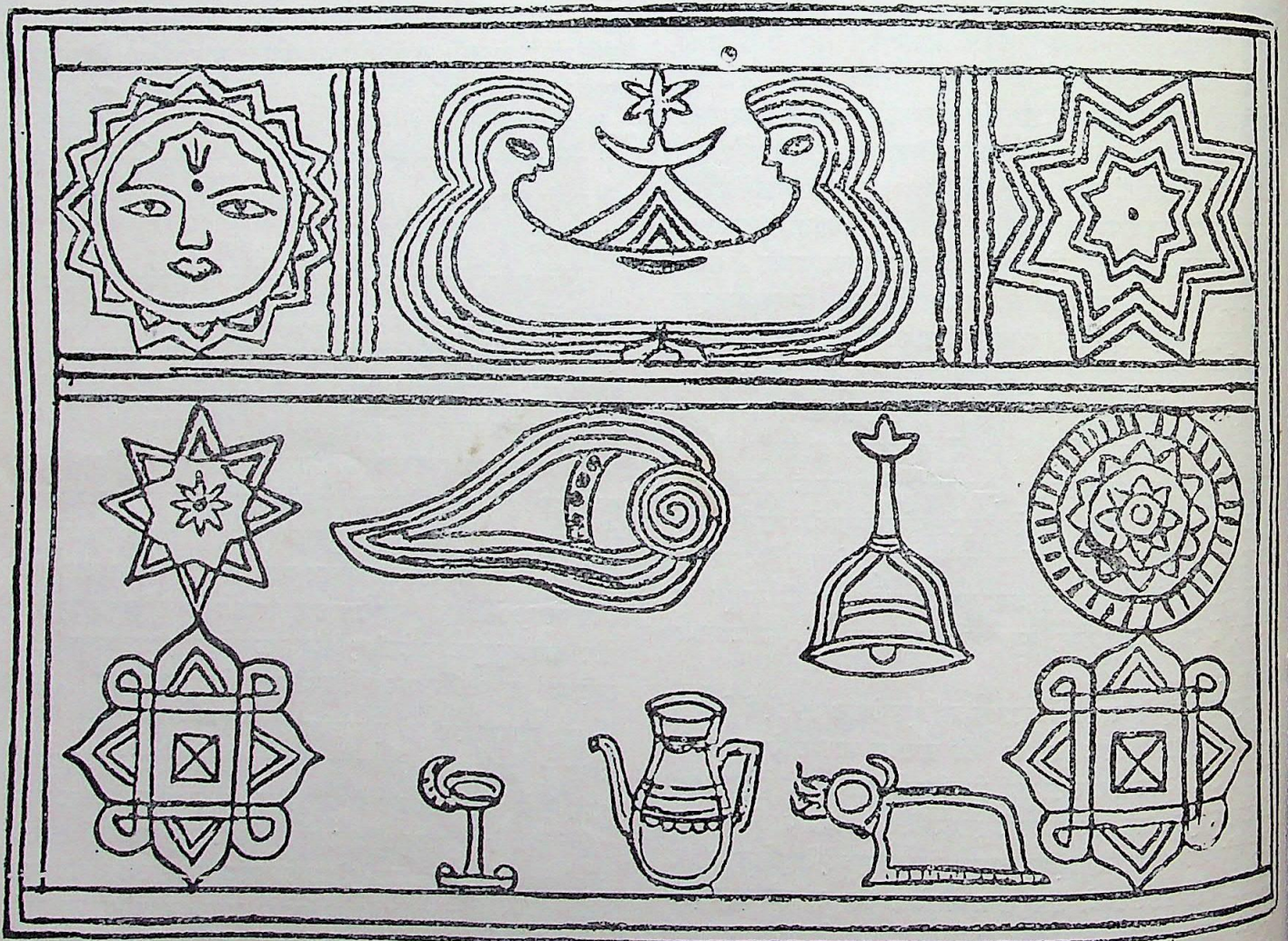
हिम श्रृंखलाओं की ओट में पल्लवित भारत वर्ष के उत्तर प्रदेश प्रान्त के अंतर्गत कुमाऊँ एक ऐसा अंचल है जो अपनी पारम्परिक संस्कृति से विशिष्ट स्थान रखता है। यहां के संस्कारों का निकट का संबंध यहां के लोकचित्रों से परस्पर रहा है। जिससे प्रत्येक कुमाऊँनी जन अपनी संस्कृति से सदैव जुड़ा हुआ है। यहां की संस्कृति अपने स्वरूप को लोकचित्रों के द्वारा संस्कारों में व अन्य कर्मकाण्डों में दर्शित करती हैं। इस कुमाऊँ आंचल में लोकचित्रों का लोक संस्कृति से जुड़े रहना इस बात का प्रमाण है कि लोकचित्रों का सीधा संबंध यहां के मानव-जीवन में प्रत्येक कर्म-कांड में निहित है। कुमाऊँ के संस्कारों में लोक संस्कृति और लोक चित्रकला का संगम है। जो जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में प्रभावित करते रहे हैं। लोक चित्रों में यह(—) कुमाऊँ की सांस्कृतिकता, आचार विचार, पारिवारिक परिवेश एवं सामान्य जन-मानस पर आधारित है। यह लोक संस्कृति समग्र रूप में कुमाऊँ में प्रत्येक गांवों व शहरों में फैली हुई है।

कुमाऊँ की लोक चित्रकला (लोकाभिरूपों) का अपना इतिहास है। अब तक प्राप्त तथ्यों के आधार पर, अनेक कलाविदों ने कुमाऊँ की लोक चित्रकला पर पर्याप्त काम किया है। इनमें डॉ. कृष्णा वैराठी, डॉ. यशोधर मठपाल, डॉ. सी. एल. झा, डॉ. उमेश मिश्रा, डॉ. ईश्वर चन्द्र विद्यासागर साह, डॉ. अमरनाथ झा, डॉ. आर. ए. अग्रवाल, डॉ. रामकंवर श्री विश्वम्भर नाथ साह, "सखा", श्री मोहन उप्रेती, श्री एन. आर. उप्रेती का विशेष योगदान है।

कुमाऊँ का भोला-भाला मानव प्रकृति के मनोरम वातावरण में अपने सांस्कृतिक पक्ष को विभिन्न संस्कारों के माध्यम से अपने अंदर समेटे हुए है। कुमाऊँ की लोक संस्कृति में हिन्दू धर्म के अनुसार सोहल संस्कार नक्षत्र की तरह है। जिस प्रकार प्रत्येक नक्षत्र आकाश में अपना स्थान बनाये हुए है, उसी प्रकार कुमाऊँ की लोक संस्कृति में संस्कारों का अभीष्ट स्वरूप लोकाभिरूपों में निहित है। कुमाऊँ में बाल्यकाल से प्रौढ़ावस्था तक मानव अपने पूर्वाग्रह से पूर्णरूपेण जुड़ा हुआ है। ईश्वर के प्रति उसकी आस्था है इसलिए वह विभिन्न संस्कारों पर इन लोकाचारों को विभिन्न अभिप्रायों से चित्रित करता रहा है। यहां के लोक जीवन और लोक चित्रकला का समीप्य परम्परा पर आधारित है। बच्चे के जन्म के साथ ही उसके संस्कार भी उत्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं संस्कारों में हमें लोक चित्रकला के दर्शन स्पष्ट होते हैं। इन अभि-रूपों की सार्वभौमिकता कुछ ही संस्कारों में जिन स्वरूप में दर्शित होती हैं। जिनमें लोक संस्कृति से संबंधित अभिरूपों का आंकन किया जाता है। यहां पर हम उन संस्कारों को वर्णित करेंगे, जिनमें लोक-चित्रों का आंकन मिलता है।

बच्चे के जन्म के छठवें दिन एक चौके पर गोबर बिछाकर उसको ऊपर षष्टी को रेखांकन के द्वारा काढ़ कर बनाया जाता है। इन रेखाआ के ऊपर जौ, तिल रख दिये जाते हैं। इसमें रौली व अक्षत से मंत्र पढ़े जाता है।

बच्चे के नामकर्म पर सबसे पहले गृह की भित्ति पर ज्यूंति (जीवमातृकों) को चित्रित किया जाता है। कर्म-कांड स्थल पर भी ऐपण दिये जाते हैं। नामकर्म के पश्चात् बच्चे को आंगन में सूर्य के दर्शन कराने के लिये जाया जाता है। आंगन में सूर्य दर्शन की चौकी तथा अन्य पूजा संबंधी पातों को विस्तार से गेरू की पृष्ठभूमि में अंकित किया जाता है।

यज्ञोपवीत (उपनयन) संस्कार को जनेऊ भी कहते हैं। इस संस्कार में जन्यों ऐपण अंकित किया जाता है। चौकी को गेरू की पृष्ठभूमि के ऊपर चावल से पिसे हुए घोल (विस्वार) से सप्त ऋषि के स्वरूप को सितारों के प्रतीक में अंकित किया जाता है। इसके अलावा आंकन भी होता है जो कि बटुक के पीठ पर सफेद कपड़े के ऊपर अलंकृत किया जाता है। इस संस्कार में जीवमातृका का अंकन होता है।

लोक चित्रकला की झलक प्रत्येक संस्कार में तो मिलती है, लेकिन विवाह संस्कार में लोकभिरूपों की भरमार है। वर-वधू के शृंगार व वस्त्राभूषण से लेकर गृह के अंदर-बाहर लोकचित्रों की झलक देखने को मिलती है। बारात जब वधू के घर पर पहुंचती है तो उस समय आंगन में गेरुपुते हुए में विस्वार से धूलिआर्घा का अंकन कलश स्वरूप में किया जाता है।

विवाह संस्कार में भी जीवमातृका का अंकन किया जाता है लेकिन मातृकाओं के ऊपर राधा-कृष्ण को वर-वधू रूप में अंकित किया जाता है। इसको रंग-बिरंगा बारबूंद से सुसज्जित किया जाता है।

ऐपण अंकन में यहां की महिलाओं का योगदान महत्वपूर्ण है जो अपनी परम्परा को भरसक प्रयास के साथ साकार रूप देकर संस्कृति को उजागर बानाये हुए है। कुछ स्थानों में पुरोहित वर्ग भी इस लोक चित्रांकन को स्वयं अंकित करते हैं। आधुनिकता को इस होड़ में आज यहां की संस्कृति अपने स्वरूप को भूल सी रही है।
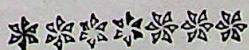
हिमालय का केदार खंड : भारतीय संस्कृति का देवालय

--डॉ. (श्रीमती) स्नेहलता

प्राचीन काल से ही हिमालय अपने प्राकृतिक शान्त एवं मनोरम पर्यावरण के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्रस्तुत निबन्ध में हिमालय के विस्तृत भू-भाग में से केवल उत्तराखण्ड जिसे पुराणों में केदार खण्ड की संज्ञा दी गई है और जो आज का आधुनिक गढ़वाल है, उस क्षेत्र के प्राकृतिक पर्यावरण पर ही विचार किया गया है। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य सदैव से मानव मस्तिष्क को अपनी ओर हठात् आकृष्ट करता रहा है। वास्तव में यह भारतीय संस्कृति का देवालय है। इसकी उतुंग पर्वत मालायें दूर-दूर तक फैले बुग्याल (हरे भरे मैदान) चीड़, देवदार, बाँस आदि के सघन वन, उनकी छाया में बसे छोटे-छोटे गाँव और सीड़ियों की भांति चढ़ते खेत, कल्लोलिनी नदियाँ विशाल कुण्ड ताल-सरोवर, फूलों की मनोहर घाटियाँ समवेत रूपसे हिमालय के विराट सौन्दर्य को अपने में समाहित किये हुए हैं। हिमालय के इस प्राकृतिक स्थल का विवेचन यहाँ क्रमशः पाँच शीर्षकों के अंतर्गत किया गया है :

1. पर्वत-शिखर 2. नदियाँ, 3. ताल-कुंड-सरोवर, 4. फूलों की घाटियाँ और 5. वन।

1. पर्वत शिखर

हिमालय के पर्वत-शिखर अपने विराट स्वरूप और अद्विवतीय सौन्दर्य के लिए सदा से ही पर्यटकों के आर्कषण का केन्द्र रहे हैं। हिमालय की सहस्रों पर्वत श्रृंखलाओं में अनेक ऐसे उतुंग हैं पर्वत-शिखर हैं, जो सदा हिम से अच्छादित रहते हैं। इनमें नौ से ग्यारह हजार फुट तक ऊँची चोटियाँ नवम्बर से अप्रैल तक वर्फ से ढ़की रहती हैं। दस हजार से तेरह हजार तक की उपत्यकाएँ भी वर्फ से अच्छादित रहती हैं। इन पर जब वर्फ पिघलती है तब सारे पर्वत पर घास बिछ जाती है और सत्रह हजार फुट से ऊपर केवल हिम ही हिम दिखाई देता है जो कभी नही पिघलता। ऐसे पर्वत शिखरों में त्रिशूल, नन्दा चौखम्बा, बन्दर पुंछ, सतोपंथ आदि प्रमुख चोटियाँ हैं। त्रिशूल की लम्बाई लगभग साढ़े पच्चीस हजार फीट से अधिक है। यह मनुष्य के लिए अगम्य है। इसके ऊपर भगवती नन्दा देवी का भवन बतलाया जाता है। 'गोमुख' के ऊपर की सतोपथ या सुमेरू नामक चोटी की ऊँचाई लगभग साढ़े तेइस हजार फीट से अधिक है। इसके उत्तर ढाल में गंगा जी का उद्गम स्थान है। दक्षिण पूर्व ढ़ाल में अलखनन्दा का उद्गम अल्कापूरी और सतो-पथ आदि पवित्र स्थान है। इसी के दक्षिण-पश्चिम ढाल में वद्रीनाथ के ऊपर का चौखम्बा नाम उत्तुंग हिम शिखर है। इसकी चोटी लगभग बीस हजार फीट से ऊपर है। बंदर पुंछ हिम शिखर की ऊँचाई लगभग बीस हजार सात सौ फीट से अधिक है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि लंका विजय करने के पश्चात् हनुमान जी ने इसी बन्दर पुंछ नामक हिम श्रृंग पर अपनी तपस्थली नियत की थी और इसी पर तपस्या करते हैं। केदारनाथ के ऊपर हिमाच्छादित तीन ऐसी चोटियाँ जिनकी ऊँचाई लगभग साढ़े बीस हजार फीट से साढ़े इक्कीस हजार तक है स्वर्गारोहिणी के नाम से प्रसिद्ध है। इसी केदारनाथ के ऊपर के हिम शिखर से पाण्डवों के स्वर्ग को जाने की कथाएं महाभारत में और भागवत् में प्राप्त होती हैं। तभी से इसका नाम स्वर्गारोहिणी प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार ये प्राकृतिक स्थल हमारी प्राचीन पौराणिक परम्परा का स्मरण दिलाते है।

2. नदियां

पर्वतों की ही भाँति हिमालय में अनेक ऐतिहासिक नदियाँ विद्यमान हैं। इसमें भागीरथी, गंगा, यमुना, सरस्वती, मन्दाकिनी, अलकनन्दा, तसमा मालिनी आदि उल्लेखनीय हैं। गगनचुम्बी पर्वत शिखरों से निकलने वाली नदियाँ सदैव जल से ही भरी रहती हैं। गंगा और यमुना के समान ही अलकनन्दा हिमालय की प्रसिद्ध नदी है। किन्तु इसका उल्लेख धार्मिक ग्रन्थों में अधिक नही मिलता है। मन्दाकिनी इसकी सहायक नदी होने पर भी बहुचर्चित है। तमसा, मालिनी, और सरस्वती हिमालय की नदियों में विशेष उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इन नदियों की स्थिति निर्धारित करने में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। इन्हें हिमालय से संबंधित मानने वालों की दृष्टि में हिमालय की तमसा खाँई क्षेत्र की सुप्रसिद्ध नदी है जो यमुना में मिलती है। इसी प्रकार सरस्वती भी वद्रीनाथ के पास माँण डाँडा से निकलती है। इसी वद्रीनाथ को सारस्वत तीर्थ भी कहा जाता है। मालिनी नदी के तट पर आज भी वह पर्वत शिखर विद्यमान है जिसे लोग सौंतला धार (शकुन्तला का शिखर) कहकर पुकारते हैं। इसी के तट पर कण्व ऋषि का आश्रम था। मेनका ने नवजात शकुन्तला को हिमालय में मालिनी नदी के तट पर छोड़ दिया था। यह रामगंगा की शाखा के रूप में आज भी हिमालय में प्रवाहित होती है।

3. ताल-कुंड-सरोवर

हिमालय के सहस्र तालों का वर्णन स्कन्द पुराण में विस्तार से हुआ है। आज भी हिमालय में अनेकों ताल-कुंड-सरोवर हैं जो पर्वत श्रृंखलाओं पर हिमाच्छादित पर्वतों की प्रतिच्छाया लिए अद्भूत प्राकृतिक सौन्दर्य को प्रकट करते हैं। ये ताल कहीं दो तीन मील की परिधि में फैले हुए हैं तो कहीं एक फ्लांग में भी उपलब्ध होते हैं। ऐसे ताल जिनमें पानी नहीं होता है काणा ताल कहा जाता है। पहाड़ों की चोटियों पर आज भी ऐसे सूखे ताल हैं जो बरसात के पानी से कभी-कभी भर जाते हैं। इन्हें गढ़वाली भाषा में (खाल) कहते हैं। हिमालय की पर्वत मालाओं के अन्तर्गत ऐसे अनेक ताल हैं जो सदैव निर्मल जल से भरे रहते हैं तथा अपने सौन्दर्य से हिमालय के प्राकृतिक पर्यावरण को मनोहारी एवं चित्ताकर्षक बनाते हैं। इनमें प्रमुख हैं रूपकुण्ड ताल, होम कुण्ड ताल, हिम कुण्ड सतोपंथ, हिमकुंड, मातृका ताल, सहस्र ताल, वासुकी ताल, ब्रहमताल आदि विशेष प्रसिध हैं। रूप कुंड प्रकृति की

मनोहर गोद में लगभग सोलह हजार फीट की ऊँचाई पर स्थित है। इसके संबंध में यह प्रसिद्ध है कि जब नन्दा (पार्वती) अपने श्वसुर गृह (कैलास) जा रही थीं तो यहाँ पर स्नान के लिए एक कुंड का निर्माण किया था। स्नान के बाद अपनी प्रतिच्छाया देख कर वे स्वयं पर मुग्ध हो गई, इससे प्रसन्न होकर वे अपना आधा सौन्दर्य और आधी शक्ति यहीं छोड़ गई थी। तभी इस कुंड का नाम रूप कुंड रख दिया गया इस कुंड के चारों ओर प्रायः वर्ष भर बर्फ से ढके रहने वाले शिखर हैं।

हेमकुंड छोटा किन्तु सुन्दर ताल है। ताल के किनारे एक सुन्दर चबूतरा है। इसके लिए यह कहा जाता है कि नन्दा का डोला इसी चबूतरे पर रखा गया था और आगे का मार्ग जब बर्फीली आँधी से भर गया तो देवगण नन्दा को विमान में बैठा कर कैलाश ले गए थे।

हिमालय के दिव्य दर्शन और पर्वतों को दिव्य प्रतिच्छाया हेम कुंड में देखने योग्य होती है। इसके लिए यह प्रसिद्ध है कि सिक्खों के दसवें गुरु गोविन्द सिंह ने हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए इसी के समक्ष तपस्या की थी। इस ताल के बगल में लक्ष्मण की तपो भूमि है। लक्ष्मण का एक मन्दिर और एक मूर्ति यहाँ स्थापित है।

सतोपंथ ताल हिमालय के अन्य तालों में अद्भुत सौन्दर्य वाला विशाल ताल है। यह त्रिकोण आकृति का है। यह ताल डेढ़ से दो मील तक की परिधि में फैला हुआ है। स्कन्द पुराण के अनुसार एकादशी के दिन देवता गण इस सरोवर में स्नान करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश ताल के तीनों कोनों पर बैठ कर तप करते हैं। चारों तरफ बर्फ से मार्ग ढका हुआ चार फर्लांग की परिधि में फैला हुआ मातृका ताल है। इसमें निर्मल जल भरा रहता है।

सहस्र ताल सब तालों से बड़ा तथा सबसे अधिक गहरा ताल है। यह एक मील की परिधि में फैला हुआ है। इसकी गहराई लगभग सौ फीट है। इस ताल का जल अत्यन्त निर्मल तथा पारदर्शी है। इसकी तलहटी में करोड़ों चौकोर पत्थर बिछे हैं। वे ऐसे प्रतीत होते हैं मानो किसी दिव्य शक्ति ने इस विशाल ताल के नीचे करोड़ों देवताओं के बैठने के लिए चौकियां बिछा दी हैं।

हिमालय में तालों के अतिरिक्त छोटे-छोटे गर्म तथा ठंडे पानी के कुंड भी हैं जैसे रुधिर कुंड, उर्वषी कुंड, गौरी अुंडब्रह्म कुंड, तप्त कुंड आदि हैं।

4. फूलों की घाटियां

हिमालय के अन्तस्तल में अनेक फूलों की घाटियाँ अन्तर्निहित हैं। जिनकी प्राकृतिक सुषमा संसार में अद्वितीय है। इन घाटियों में रंगीन एवं सुगन्धित पुष्प जुलाई के अन्तिम सप्ताह से अक्तूबर के प्रथम सप्ताह तक विशेष रूप से खिले रहते हैं। इस फूलों की घाटियों में विश्वविख्यात फूलों की घाटी म्यूंजर का नाम उल्लेखनीय है। जोशीमठ के आगे बद्रीनाथ की ओर पांडकेश्वर नामक स्थान से एक मील पीछे गोविन्द घाट पर अलकनन्दा का पुल पार कर पतली पहाड़ी पगडंडी से म्यूंजर नदी के किनारे-किनारे चल कर चौथे मील पर म्यूंजर गांव मिलता है। म्यूंजर गांव से छै मील की दूरी पर घंघरिया नामक स्थान आता है। घंघरिया से तीन साढ़े तीन मील जाने पर वामणीधार नामक स्थान आता है, जो अत्यन्त संकरा है। इसको पार करते ही विश्वविख्यात फूलों की घाटी के दर्शन होने लगते हैं। यह लगभग दस मील तक फैली है। घाटी में हरी मखमली दूब और हजारों रंग बिरंगे फूल मन को बरबस मोह लेते हैं। मखमली धरती फूलों के नगीनों से सजी दिखाई देती है। इसे देख कर नन्दन वन की कल्पना साकार होती है। यहाँ अत्यन्त दर्शनीय पुष्प प्रिमरोज, पद्मपुष्कर, नीलीपोपी, विषकंडार आदि असंख्य फूल हैं। अत्यन्त सुगन्धित पुष्पों में ब्रह्म कमल प्रमुख है। यह ब्रह्म कमल 13-14 हजार फीट पर और भी सुन्दर खिलते हैं। फूलों की घाटियों समुद्रतल से दस हजार से सत्रह हजार फीट की ऊँचाई पर मिलती हैं। कहीं कहीं फूलों की घाटियों में सुन्दर झरने भी हैं। इन घाटियों के मखमली दूब की बुग्याल पर चारों ओर फूल ही फूल दीखते हैं। सारी घाटी में मुलायम मिट्टी पर गद्देदार दूब जमी रहती है। कंकड़ पत्थर का कहीं नाम भी नहीं मिलता है। फूल घाटियों में म्यूंजर की फूल घाटी के अतिरिक्त रुद्र हिमालय की फूल घाटी, माँझी वन की फूल घाटी, कुश कल्याण और सहस्रताल की फूल घाटियाँ, क्यारी की फूल घाटी, मदमहेश्वर की फूल घाटी, कल्पनाथ की फूल घाटी बेदनी बुंग्याल की फूल घाटी आदि अनेक फूल घाटियों के अतिरिक्त ग्लैशियर गर्म पानी के लगभग साठ कुंड और पर्वतों की चोटियों पर स्थित लगभग सौ ताल हिमालय के प्राकृतिक पर्यावरण को अत्यधिक सौंदर्यशाली बनाते हैं।

5. वन

हिमालय अपनी वन सम्पदा के लिए भी प्रसिद्ध है। जिसमें चीड़, बाँज, बुरांस, देवदारू भोज, शाल, आदि की वृक्षावल्लियों की भरमार है। मंदाकिनी, भागीरथी और यमुना की उपत्यकाओं में मीलों तक देवदारू के वन फैले हुए हैं। रमाई में तमसा की उपत्यका में चीड़ और देवरारू के मनोरम वन हैं। हिमालय दिव्य औषधियों का उद्गम स्थान है। यह हिमालय जीवनदायिनी वनौषधियों का भडांर है। इसकी पर्वतमालाएं एवं घाटियां जड़ी-बूटियों एवं खनिजों के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्हीं हिम शैलों पर सोमलता, शिवधतूरा, रतन जोति, गुग्गुल, ममीरा अष्टवर्ग, संजीवनी आदि विविध जड़ी-बूटियाँ मिलती हैं। खनिज पदार्थों में अभ्रक कई स्थानों पर यहाँ मिलता है। सफेद, लाल, काली और पीली मिट्टी की खानें बहुत पाई जाती हैं। चूने के पत्थरों की खानें बहुत हैं। इन पत्थरों से चूना बनाया जाता है। हिमालय के विस्तृत भाग में अथाह खनिज सम्पदा है। भूगर्भ वैज्ञानिकों के अनुसार अलकनन्दा और पिंडर के उद्गम स्थानों में सोना पाये जाने की प्रबल संभावना है। हिमालय के घने जंगलों में विभिन्न जाति के वन्यपशु विचरण करते हैं, जिनमें कस्तूरी मृग, सफेद रीछ, चीता, शेर, लंगूर, थैर (हिमालयी बकरा) बर्फ का भूरा भालू आदि पाये जाते हैं। इस क्षेत्र के कुछ विशेष पक्षी भी हैं जिसमें मोनाल, (पहाड़ी मोर) (चकोर), (हिमालयी तीतर) हल्के भूरे रंग का कोकलास, हिमालयी मुर्गा और अनेक प्रकार की तितलियां) भी हैं।

निष्कर्षतः इस विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट होता है कि हिमालय प्रकृति का सुरम्य क्रीड़ास्थल है। यहाँ का प्राकृतिक पर्यावरण हिमालय के विराट सौंदर्य को अपने में समेटे हुए हैं। इसके साथ ही यह हमारी भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है। अतः इस सम्पूर्ण क्षेत्र की युद्धस्तर पर सुरक्षा करने की आवश्यकता है जिससे हिमालय की विरासत अपने यथारूप में संरक्षित रह सके और हमारी भारतीय संस्कृति के संरक्षण के रूप में युग-युग तक देदीप्यमान रहे।

85-M/S 395MofEDU—4

उत्तराखंड के लोक गीतों में जन मानस

--प्रेम लाल भट्ट

अस्त्युतरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज : ।
पूर्वापरौ तोयनिधि वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्ड : ।

कवि कुल गुरु और सुदूर अलकापुरी की यक्षिणी मल्लिका के हृदयेश्वर, महाकवि कालीदास के इसी देवतात्मा की आधुनिक संज्ञा है उत्तराखण्ड । देवता, आत्मा और नग (शरीर) का ही वह त्रिकोण है जिसके भीतर उस क्षेत्र का सम्पूर्ण जन जीवन सांसें ले रहा है । जन-जीवन की सर्वाधिक सशस्त अभिव्यंजना मिलती है उसके लोक गीतों और लोक नृत्यों में । अतः उत्तराचंल के लोक गीत भी इसी त्रिकोणात्मक रसमयी घाटी में निरन्तर गूंजते रहते हैं ।

इस माटी के लोगों का जीवन पर्वत सा कठोर किन्तु ऊँचा, अपनी अमृत सलिला गंगा और यमुना की भांति प्रवाहमान किन्तु निर्मल और अपनी घाटियों सा गहन किन्तु सौन्दर्यवान है । दूसरे शब्दों में यह सम्पूर्ण अंचल सत्य है, शिव है और सुन्दर है । यहाँ का हिमाच्छादित रूप यहाँ का सत्य, यहाँ का केदार वास यहां का शिव और विहंसती प्रकृति यहां का सुन्दर है। यहाँ प्रसिद्ध पर्वतारोही टी. जी. लांगस्टाफ के उन शब्दों को उद्धृत कर देना अप्रासांगिक नहीं होगा जो उन्होंने अपनी पुस्तक 'एस्सेण्ट ऑव नन्दा देवी' (The Ascent of Nanda Devi) में गढ़वाल की सुषमा के बारे में लिखे हैं :

'After six visits to the snows, I still believe that Gharwal is the most beautiful country of all High Asia. ....Mountain and valley, forest and alp, birds and animals, butterflies and flowers, all combine to make a sum of delight unsurpassed elsewhere.

पर्वतीय जन जीवन मूलतः धर्म भावना से ओत-प्रोत है। इसीलिए वहां के लोक गीतों में सर्वत्र इस भावना के दर्शन होते हैं। लोक साहित्य के प्रथम चरण में जागर या जागरण गीतों की भरमार वहाँ के जन मानस के इस धार्मिक पक्ष को प्रमाणित करते हैं। कोई भी शुभ कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व विघ्नहारी देवी देवताओं का स्मरण उत्तराखण्ड की आज तक अक्षुण्ण चली आ रही अत्यन्त प्राचीन परम्परा है :

बीजी जावा बीजी हे, खोली का गणेश
बीजी जावा बीजी हे, मोरी का नारैणं ।

–(हे मुख्य द्वार के अधिष्ठाता देवता गणेश और गवाक्षस्थित नारायण जाग जाइये (आशय यही है कि मैं अमुक कार्य प्रारम्भ कर रहा हूं इसमें मेरी सहायता करिये)।

धार्मिक या पूजा गीतों का इतना विशाल भण्डार विश्व के किसी अन्य साहित्य में शायद ही मिले। असंख्य देवी देवताओं के गीतात्मक आहवान या जागरण स्तुतियों के अतिरिक्त पृथ्वी, आकाश, क्षितिज, पर्वतशिखर, मेघ, वन, सूर्य, चन्द्र तारागण तक का भी स्मरण किया जाता है और तो और पशु पक्षी और कीड़े मकोडों से भी जागृत रहने की प्रार्थना की जाती हैं :

जन जीवन जाग, हरो भरो संसार जाग
पशु पक्षी जाग, कीड़ो मकोड़ो जाग
मरद औरत जाग, नर नारैंण जाग
जमीन आसमान जाग, दिन और रात जाग

इन गीतों में वहां के जन मानस में बसी समष्टि की भावना परिलक्षित होती है । किसी भी कार्य में सबका सहयोग उस प्रदेश का एक जीवन मूल्य है । नृत्यमान शिव का घर, केदार प्रदेश में सर्वत्र यही साथ और सहयोग की बयार तो बहेगी ।

यह धरती, यह मिट्टी, जल, वायु सभी कुछ उस जनमानस में अत्यधिक रचे-पचे हुए हैं । इसीलिए भौतिकवादी सड़कों को मापता हुआ भी वहाँ का एक प्रवासी कवि यही गा उठाता है :

ह्यूंचली डांडि छन सर्ग छूणी जख
गैरि गदनी लगौणीन मांगठ जख
* * * *
जख पंधेरो मु प्यार छलकैणू होलू
सी म्यरी माटि म्यरी जन्म भूमि च । (भट्ट)

(हिमाच्छादित पर्वतमालायें जहाँ स्वर्ग को छू रही हों, जहाँ लघु

सरितायें मंगल गीत गा रही हों, जहाँ पनघटों पर प्यार छलक रहा हो वही मेरी माटी मेरी जन्मभूमि है ।)

यही नहीं वहाँ का लोक कवि अपनी भूमि का परिचय देते हुए कहता है:

"हिमाला को ऊंचा डांडा पार म्यरो गावं
छबीलो गढ़ देश म्यरो, रंगीलो कुमांड"

छबीला गढ़देश और रंगीला कुमाऊं यह है उत्तराचंल ।

सोपानवत् खेतों की मेड़ों पर किशोरी वासन्ती फ्योंली (एक फल), वनों में यौवन का प्रतीक बुरास (लाल रंग का एक फूल) और पनघटों पर हंसता-बहता प्यार–पर्वत पुत्री पार्वती का मायका अन्य किस प्रकार का हो सकता है ? वह नृत्यमान ही नहीं संगीतमय भी है । रूप के मुख पर बांसुरी है । वह उसके गौर स्वरूप हिमगिरि के मुख पर निरन्तर बहती सरिताओं और कल-कल निनादिनी निर्झरणियों का संगीत प्रवाहित होता रहता है। वहाँ की शिलायें तक जीवन्त हैं । यह पर्वतीय जन मानस ही एक अलौकिक संगीत है । अपने अत्यन्त कष्ट और संघर्ष-मय जीवन के बावजूद वहाँ का लोक कवि अपनी उस अनोखी काव्य साधना में उस धरती के प्राकृतिक सौन्दर्य का आनन्द लेता हुआ अपनी भूख और अपने कष्टों को भी विसर जाता है और मस्त होकर आने लगता है :

हयूंचली डांड्यं कि छन हिवाली कंकोर
रंगमतुहे नचण लागि म्यरा मन कु मोर

(धवल तुषाराच्छादित पर्वतों की हिमानी बयार में मेरा मन मयूर संगीतमय होकर नाचने लगा)

स्पष्ट है कि अपनी हिमानी बयार में भी पर्वतीय जन बसन्त का आनन्द ग्रहण करते हैं । करें भी क्यों नहीं ? सम्पूर्ण उत्तरांचल रस का साकार घनीभूत रूप है । रसो वे सः और वह "सः" ही नटराज शिव और शिव ही उत्तराखण्ड है । उसका जीवन प्रकृति का मांसल रूप है । वह उगते सूर्य के साथ उगता, उसके ढ़लने पर ढलता और रजनी की उलकों में स्वयं को छिपा कर विश्रान्ति पाता है । दिन के प्रारम्भ का यह रूप देखें–

भुर भुरो उज्यलो ह्‌वे गे
हातु हातु मा तामैगागरी
पाणि ह्‌लैंगे सुधड़ि नारी
खुटी का झांवरि बजीने
वाटा-घाटा में छुम-छुम

(फुट-पुटा प्रकाश हो गया । हाथ हाथ में ताम्बे की गांगरें लिये सुन्दर नारियां पनघट पर जाने लगी हैं । उनके पावों की झांवरियां मार्ग पर छुम-छुम बजने लगी हैं ।)

भौतिकवादी दौड़-भाग में पीछे छूट गयी यह प्रकृति प्रदेश अपने प्राकृत को लेकर ही प्रसन्न है । दैन्य से घिरे उस सुन्दर की इस विडम्बना का उत्तर कौन देगा ?

'हाथ दाथुड़ी कमर ज्यूड़ी
बासि रोठा मा लोण की डली
बाठ लागैं पहाड़े चेली
दूर जंगल बुर्र-बुर्र
बाठ पै जाणी फुर्र-फुर्र'

(हाथ में दरांती, कमर पर रस्सी, बासी रोटी पर नमक की डली लिए उसे खाती हुई पहाड़ की वह बेटियां दूर जंगल जा रही हैं । वे मार्ग पर जैसे फुर्र-फुर्र उड़ रही हों)

फिर भी वह सन्तुष्ट है । सुखी अनुभव करता है अपने आपको। उत्तराखण्ड सम्पूर्ण आर्य देश की तृष्णा शान्त करने वाली पतित पावनी सुरसरि गंगा और यमुना का मायका है, इस तथ्य पर उसके जन मानस को अत्यन्त गौरव है । वहाँ का हर व्यक्ति अपनी इस विशेषता के प्रति पूर्ण सजग है । इस अंचल का लोक कवि बड़े गौरव से गाता हैं :

"गंगा जमुना बगदन (बहती हैं) भैंजी हमारा देश मां
बदरी केदार छन (हैं) भैंजी हमारा देश मां"

विवाहादि मांगलिक कार्य इस लोक कविता के बहुत बड़े उपजीव्य हैं । इन कार्यों में भी गढ़वाल का संगीत जागृत हो उठता है । इन गीतों को मांगल (मंगल) और इन्हें गाने वालियों को मंगलेर कहते हैं । यहां के मंगल गीत इस लोक कविता के माथे सौभाग्य का सिन्दूर हैं । कन्या अर्थात दुल्हन के मंगल-स्नान के समय "मंगलेर" गा उठती हैं :

'केन होये केन होय कुण्डी कौज्याल
केन होये केन होये सुरीज धुमीलो'

(कुण्ड क्यों कदला गया, सूर्य धूमिल क्यों हुआ ? क्योंकि कन्या मंगल स्नान कर रही हैं)

इस जन जीवन में कन्या-दान का भारी महत्व है । इसलिए नीचे आंगन में पिता पूजा करते रहते हैं और छज्जे पर बैठी मगंलेरों की पंक्ति गाती रहती है :

हिम दान, गज दान सब कोई देला
तुम देवा बाबा जी कन्या को दान

(स्वर्ण, हाथी आदि दान तो हर कोई देगा, बाबाजी आप कन्या का दान दें) कर्मकाण्ड की विस्तृत श्रृंखला के समानान्तर ही मंगल-गीतों की श्रृंखला भी चलती रहती है ।

कन्या और विवाह के उल्लेख के साथ ही वहाँ के लोक जीवन की आत्मा, वहाँ की नारी सामने आ जाती है जो अपने गौरी नाम को पूर्ण सार्थक कर रही है। अधिकांश पुरुष वर्ग रोजी-रोटी की खोज में मैदानों में चला आता है। खेत खलिहान से लेकर चूल्हा-चौका, सामाजिक व्यवहार, रीति रिवाज आदि तक, गृहस्थी की सारी गाड़ी बेचारी अकेली खींचती है। गृहस्थी का बोझ, ऊपर से पति विरह, मार पर महामार। यही है उसके जीवन का यथार्थ। उत्तराखण्ड के लोक गीत इसी गुट यथार्थ की ईमानदार अभिव्यक्ति हैं।

सरा बसगाल बोण मा, लाखड़ काटण मा
ढुंग्यूं मा बैठी - बैठी, दिनड गैन
मेरा सदानि इनि दिन रैन

(सारी बरसात बन में घास लकड़ी काटने में, पत्थरों पर बैठ-बैठ कर ही मेरे दिन कट गये। मेरे सदैव ऐसे ही दिन रहे)

यही नहीं, एक कवि की निम्न पंक्तियों में वहाँ की नारी की त्रासदी चित्रित हो उठी है:

ज्वानी ऐ परदेश पिया गै
पिय आला तब ज्वानि नि रौ। (भट्ट)

(यौवन आया तो प्रियतम प्रदेश चले गये। प्रियतम जब लौट कर आयेंगे तब मेरा यौवन नहीं रहेगा)

जीवन की ऐसी विषम स्थितियों में नारी का मायके की ओर निहारना नितान्त स्वाभाविक है। ससुराल के कष्ट और विरह युक्त जीवन के मध्य मायके की स्मृति में डूबी पर्वतीय बाला सामने खड़े पर्वत से झुक जाने का अनुरोध करती है ताकि वह अपने बाबा (पिता) के गांव को कम से कम देख तो सके:

हे ऊंची डांड्यों तुम नीसी जावा
घडणि कुलायूं तुम छांटी होवा
मैं को लगीं च खुद मैं तुड़ा की
बाबाजि को देश देखण देवा (स्व० तारादत्त गौरोला)

(हे ऊंची पर्वत मालाओं तुम झुक जाओ, चीड़ की घनी वृक्षावलियों तुम छंट जाओ। मुझे अपना मायका बहुत याद आ रहा है। मुझे बाबा जी (पिता) का देश देखने दो)

यह विप्रलम्भ उत्तरांचल के नारी मन का सबसे बड़ा यथार्थ है। यह स्वर मुनि की रेती से सुदूर स्वर्गारोहण तक की वायु में अविराम गूंज रहा है। यही कारण है कि वहां के लोक गीतों में करुण स्थायी भाव है। वहां श्रृंगार है परन्तु 80 प्रतिशत विप्रलम्भ/पति परदेश और पत्नी देश, फिर लोक-सुख संयोग कहां से गाये।

धर्म, मंगल, विप्रलम्भ के बाद उत्तराखण्ड के जन-जीवन का प्रमुख तत्व है—वीर। यह अंचल पांडवों की जन्मस्थली रही है। वहां की वीर गाथाओं में पाण्डवों का प्रमुख स्थान है। प्रमुख नृत्य पाण्डव नृत्य, प्रमुख वार्ता-गीत, पाण्डल वार्ता, प्रमुख वाद्य ढोल दमामा और आज भी प्रमुख रोजगार सेना। गढ़वाली नहीं गढ़वाल ही सिपाही है। यह धरती वीर प्रसू है और क्यों न हो? रूपसि वसुन्धरा वीर का ही तो वरण करेगी—वीर भोग्या वसुन्धरा। यहां के लोक गीतों में सिपाही और सिपाहिनी के गीत—संवाद भरे पड़े हैं। बहादुर गढ़वाली सैनिकों के चरित्र पर एक लोक कवि की ये पक्तियां द्रष्टव्य हैं:

डटयां छन मोर्चों पर तड पिछाड़ी नी हटा करदा,
नि खांदा मार जो, जौं को नि जांदो वार क्वी खाली,
इना छन शूर रण बांका, बहादुर वीर गढ़वाली (अबोध)

सिपैया नृत्य अब वहां की एक विशिष्ट शैली है। (डॉ. नौटियाल) वहां की वीरांगना कहती है:

देश की लाज सिपैजी, तुम तैं धै लगाणी च

* * * * * *

जीति की ऐनी सिपैजी या खायी छात्ति पर गोली

* * * * * *

नाक ऊँची करि दियां सिपैजी देदूं छौ जै माला।

गढ़वाल के जीवन में सैन्य भावना अत्यधिक है। वहां की कुछ पट्टियों में तो 90 प्रतिशत लोग सेना में हैं। यही कारण है कि वहां लोक गीतों में वीरता की परम्परा सबसे पुरानी परम्परा है। प्राचीन धार्मिक या पूजा-गीतों से लेकर आज हुए भारत-चीन और भारत-पाक युद्धों तक यह श्रृंखला अजस्र चली आ रही है।

हिमाचल के उदात्त सौंदर्य की ही भान्ति इस सम्पूर्ण उत्तरांचल का जन-जीवन भी अत्यन्त उदात्त है। वह निर्धन है किन्तु भौतिकवादी अर्थ में। वह मन का बड़ा धनी है। तीज-त्यौहारों और व्रत-पर्वों पर वह अपने भौतिक दैन्य को कहीं दूर गधरों में दफना कर बसन्त पंचमी, बिखोत आदि जैसे अवसरों पर मस्त होकर गाने लगता है:

बिखोती क् आयु त्योहार
चल दगड़्या कौथिक जायोला

(साथी, विषुवत् संक्रान्ति का त्यौहार आ गया है। चलो मेले में हो आएं)

सम्पूर्ण उत्तराखण्ड का जन जीवन एक दुखांत नाटक की भांति है जो दुखद होते हुए भी पूर्णतः रससिक्त होता है। तभी तो वह भावकों या सहृदयों का मनोरंजन कर पाता है। Our sweetest songs are those which tells us the sadest thought. श्रृंगार, वीर, करुण, रौद्र, हास आदि सभी रसों के साथ खेलता, भूख और दैन्य की परवाह किये बिना, गरीबी की गुदड़ी पर निश्चिन्तता की चादर बिछाकर, एक अजीब मस्ती में अपनी प्राकृतिक सम्पन्ता की रजाई ओढ़कर ही सोता है वह पर्वतराज किसी स्वर्णिम प्रभात की आशा में।

कुमाऊंनी लोक कथाओं में संस्कृति तत्व

--डॉ० मोहन चन्द्र पन्त
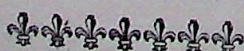
लोक कथा

लोक कथा लोक साहित्य का ही एक प्रमुख अंग है। लोक साहित्य से तात्पर्य उस साहित्य से है जो अशिक्षित अथवा निरक्षर संवेदनशील जनता द्वारा सहजभाव से रचा गया हो तथा मौखिक रूप में ही जिसका पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचार-प्रसार होता हो। लोक का अर्थ है "जन सामान्य" तथा कथा शब्द का प्रयोग ऐसी वार्ता या कहानी के लिए होता है, जो एक द्वारा दूसरे को सुनाई जाती है। अंग्रेजी में लोक कथा के लिए "फोक टेल" का प्रयोग प्रचलित है। लोक कथाएं प्रमुख रूप से तो मनोरंजन प्रधान होती हैं, किन्तु इसके साथ ही ये सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, लौकिक प्रेम, भाषा-शास्त्रीय, ऐतिहासिक, ग्रामीण परम्पराओं की परिचायक एवं संस्कृति आदि तत्वों को अपने में समाये रहती हैं।

लोक कथा लोक साहित्य का वह अंग है जिसमें आदिम मानव के विश्वास, परम्परी, रीति-रिवाज, अनुष्ठान आदि की अभिव्यक्ति रहती है। आदिम मानव ने किन-किन रूपों में प्रकृति का साक्षात्कार किया और किस प्रकार उसने अपने विश्वासों को व्यक्त किया इत्यादि बातें लोक कथाओं का वर्ण्य विषय हुआ करती हैं। इनमें पशु-पक्षी, शैल-सरिता, नदी-पर्वत, वृक्ष-पुष्प, साधु-सन्त, भूत-प्रेत, दैत्य-राक्षस, तिथि-त्यौहार, देवी-देवता आदि के अतिरिक्त मानव की प्रकृतिगत प्रवृत्तियों की व्यंजना मिलती है। यही कारण है कि पशु-पक्षी नैतिक शिक्षा को जन-जन तक पहुंचाने के लिए माध्यम स्वरूप चित्रित हुए हैं। वेद-शास्त्रों में वर्णित देवी-देवताओं में भी व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा करके उन्हें भी मानव की भांति मूल प्रवृत्तियों से युक्त दिखाकर उनमें अलौकिक शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। अग्नि, इन्द्र, वरुण, सूर्य आदि देवताओं को भी मनुष्य रूप में चित्रित किया गया है। सूर्य को प्रजनन कार्य में सहायक माना गया है। इसलिये ऋतुकाल में स्त्रियों को सूर्य-दर्शन की आज्ञा नहीं दी गई है। लोक-कथाओं के माध्यम से मानव शक्ति की अति मानवीय शक्तियों पर विजय दिखाई गई है। साधु-सन्त एवं महात्माओं से सम्बन्धित लोक कथाएं जन साधारण को दुष्कर्मों से दूर एवं सत्कर्म व सन्मार्ग की ओर अग्रसर करने के लिए प्रेरित करती हैं। लोक कथा के अन्त में लोक-कल्याण की कामना के साथ-साथ दुखद जीवन का अन्त सुखमय दिखाया गया है।

लोक कथा एवं संस्कृति

संस्कृति का सम्बन्ध संस्कारों से है और संस्कार मनुष्य को शुद्ध एवं परिष्कृत करते हैं। संस्कारों के बिना समाज में मनुष्य का कोई अस्तित्व नहीं है। मनुष्य इसे समाज से ही सीखता है। यह प्रकृति की देन नहीं है। मानव शास्त्रियों ने संस्कृति को "समस्त सीखा हुआ व्यवहार" कहा है। संस्कृति किसी व्यक्ति, समाज, जाति या राष्ट्र के आचार-विचार, कला-कौशल, रुचि-ज्ञान, विश्वास, नियम तथा सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है। मानव कल्याण त्याग, स्नेह, सहयोग, आज्ञाकारिता, परोपकार आदि की भावनाएं संस्कृति की सूचक होती हैं। भारत के प्रत्येक अंचल की संस्कृति भिन्न है, किन्तु सभी में भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्व निहित है, कूर्मांचल अथवा कुमाऊं की संस्कृति में करुणा तथा दुःख-दर्द की अधिकता है, क्योंकि यह क्षेत्र अभावग्रस्त है तथा यहां का जनजीवन कठोर एवं अनिश्चितता लिये हुए है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त अभावग्रस्त होने पर भी यहां की संस्कृति मैत्रीपूर्ण तथा पारस्परिक सौहार्दपूर्ण है।

पारस्परिक सहयोग एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहार के बल पर ही अपनी संस्कृति की रक्षा करते हुए यहां के लोग अपना जीवन यापन करते हैं। वर्तमान समय में अन्य भू-भागों की भांति नवीन सभ्यता एवं अविष्कारों से कुमाऊं भी अछूता नहीं रहा है जिसका परिणाम यह हो रहा है कि यहां की जनप्रिय लोक शैलियों में दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

कुमाऊं में प्रतिभावान व्यक्तियों की कमी नहीं है, किन्तु शहरी वातावरण की चमक-दमक ने ग्रामों के प्रति ममता व मोह को अवश्य कम कर दिया है जिस कारण अब प्रतिभाएं गांवों से नगरों की ओर पलायन कर रही हैं। आज इस अंचल की सांस्कृतिक विशिष्टता की गति स्थिर सी प्रतीत होने लगी है। यदि प्रतिभाओं के पलायन पर समय रहते रोक न लगी तो आने वाले समय में यह इतिहास की सामग्री बन जावेगी। यहां पर प्रचलित वास्तु कला, शिल्प कला और ललित कलाओं को प्रोत्साहित करने के लिये युवाशक्ति का सक्रिय होना आवश्यक है।

कुमाऊंनी लोगों ने पहले से ही अपने मनोविनोद के लिये लोकगीत लोककथा, लोकवर्त्ता एवं लोकोक्ति साहित्य की रचना की है। लोक साहित्य मनोरंजन का श्रेष्ठ एवं सुलभ साधन रहा है। यहां के लोकगीत इनके संस्कारों से भी जुड़े हैं। सम्पूर्ण कुमाऊं म सोलह संस्कारों में नामकर्ण, कर्णवेध, विवाह, यज्ञोपवीत आदि में यज्ञोपवीत संस्कार को सर्वश्रेष्ठ माना जाता है तथा यहां चारों वर्णों में प्रचलित है। यज्ञोपवीत संस्कार के शुभ अवसर पर नवग्रहों एवं यज्ञ की प्रामाणिक वेदी बनाकर अवसरानुकूल चौकी एवं अल्पना से सुशोभित करके नवग्रहों का पूजन एवं हवन किया जाता है। शुभकार्य के अवसरों पर षोडस मातृका पूजन भी किया जाता है। विवाह सजातीय होते हैं। किन्तु सगोत्री विवाह वर्जित हैं। अन्तर्जातीय विवाह निन्दित समझे जाते हैं। अब न्यूनाधिक संख्या में अन्तर्जातीय विवाह होने लगे हैं। विवाह के पश्चात स्त्रियां मांगलिक आभूषण चूड़ी, चरेऊ, सिन्दूर, एवं लाल व पीले रंग युक्त वस्त्रों को धारण करती है। रंगा हुआ

पिछौड़ा जिसके केन्द्र में सूर्य अथवा स्वस्तिक चिह्न अंकित रहता है, साथ में मखमली घाघरा अपनी विशिष्टता लिये हुए रहता है। उच्च-वर्गीय वर्गों में स्त्री के लिये दूसरा विवाह मान्य नहीं है। विधवा स्त्री भी दूसरा विवाह नहीं कर सकती है। मांगलिक कार्यों के अवसर पर सभी स्त्रियां परस्पर मिलकर कार्य करती हैं।

प्रतिवर्ष कुमाऊं में स्थित धार्मिक स्थानों देव मंदिरों में मेलों का आयोजन होता है। विशेष रूप से ये मेले मकर संक्रान्ति, विषुवत संक्रान्ति, रक्षाबन्धन, ऋषिपंचमी, नन्दाष्टमी, चैत्राष्टमी अनन्त चतुर्दशी, शिवरात्रि आदि पर्वों पर अनेक स्थानों पर लगते हैं तथा धार्मिक भावों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करने के साथ-साथ परस्पर लोगों का मिलन व मनोरंजन भी होता है। नन्दाष्टमी, उत्तरायणी, स्याल्दे, देवीधूरा, रानीबाग, दूनागिरि, पूर्णगिरि, जौलजीवि आदि मेले तो प्रसिद्ध हैं। मकर संक्रान्ति के दिन सरयू व गोमती के संगमस्थल बागेश्वर में एवं रानीबाग में मेला लगता है। ये दोनों ही धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। नन्दाष्टमी के मेले से पूर्व कुमाऊं की युद्ध की देवी नन्दा एवं देवी की मूर्ति स्थापित करके भैंसे व बकरे की बलि देकर विधिवत पूजा होती है और किसी शुभ दिन शुभ मुहूर्त में ढोल नगाड़ों के साथ धूमधाम से मूर्तियां जलाशय आदि में विसर्जित की जाती हैं। देवीधूरा का मेला रक्षाबन्धन के दिन बाराही देवी के मन्दिर में लगता है। इस मेले की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि मेला स्थल में कुमाऊं के प्रसिद्ध दल महर व फर्त्यालों के बीच बग्वाल यानि पत्थरों की मार होती है। चैत्रमास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को तथा आश्विन मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी को विशेष रूप से गंगोलीहाट में महाकाली के मन्दिर में मेला लगता है। इस दिन मन्दिर में अष्ट बलि या अठ्वार दी जाती है जिसमें से एक भैंसा तथा सात बकरों की बलि दी जाती है। इस मन्दिर में प्रायः वर्ष भर दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती है। जन साधारण के अतिरिक्त कुमाऊं रेजीमेंट की भी इसके प्रति अटूट श्रद्धा है।

उपर्युक्त पर्वों के अतिरिक्त कुमाऊं में मकर संक्रान्ति के दिन घुघुति, कर्क संक्रान्ति, विजयदशमी, चैत्र शुक्लपक्ष की दशमी को हरेला, कार्तिक में दीपावली आश्विनी मास में दशहरा, फाल्गुन में होली आदि त्योहार बड़ी धूमधाम से मनाये जाते हैं। रक्षाबन्धन के त्योहार को राखीबन्धन के साथ-साथ पुरुषों के प्रमुख त्योहार के रूप में मनाया जाता है। इस दिन कुमाऊं में प्रायः सभी जगह युजुर्वेदी लोग नया यज्ञोपवीत धारण करते हैं और सामूहिक रूप में वेदमंत्रों के साथ पितृ-तर्पण करते हैं। होली का त्योहार बसन्तपंचमी से आरम्भ होकर फाल्गुन मास की पौर्णमासी को समाप्त होता है। कुमाऊं की होली भी अपनी निजी विशेषता लिए हुए है। यहां होली दो प्रकार से गाई जाती है। एक तो बैठकी होली है जो पूर्ण रूप से शास्त्रीय संगीत पर आधारित है तथा दूसरी खड़ी होली। खड़ी होली ढोल-नगाड़ों के साथ सामूहिक रूप में खड़े-खड़े नाचते हुए गायी जाती है। खड़ी होली आमलकी एकादशी या रंगभरी एकादशी से पौर्णमासी तक चलती है। परस्पर वैरभाव भूलकर ऊंच-नीच, धनी-निर्धन आदि भेदभावों को भुलाकर होली का त्योहार प्रेम एवं सौहार्दपूर्ण वातावरण में मनाया जाता है।

घुघुति का त्योहार वात्सल्य प्रेम का परिचायक है। अपने बच्चों की दीर्घजीवन की कामना से विविध प्रकार के पकवान बनाकर बच्चों को खिलाने से पूर्व आदरपूर्वक कौवे को खिलाया जाता है। इस त्यौहार की अपनी निजी विशेषता है। इसके सम्बन्ध में प्रचलित लोक कथा सुखदायी एवं आश्चर्यकारी है।

सांस्कृतिक दृष्टि से ये मेले तथा त्योहार महत्वपूर्ण होते हैं। धार्मिक दृष्टि से यहां पर वैष्णव-धर्म की अपेक्षा शैव-धर्म की प्रधानता है। स्थान-स्थान पर नदी घाटियों पर शिवालय स्थापित किए गए हैं। चतुर्दशी व सोमवार के दिन मंदिरों में पूजा पाठ का आयोजन किया जाता है। राम व कृष्ण के मंदिरों की स्थापना भी स्थान-स्थान पर हुई है। जगह-जगह पर पवन सुत हनुमान की भी श्रद्धापूर्वक हनुमान मंदिरों में पूजा होती है। सम्पूर्ण कुमाऊं में शिवमंदिरों की भांति ही नवदुर्गा के मंदिर है। नन्दादेवी स्थानीय देवी के रूप में युद्ध की देवी एवं विजय की प्रतीक मानी गई है।

पौराणिक देवी-देवताओं के अतिरिक्त यहां स्थानीय देवी-देवताओं की भी पूजा होती है। स्थानीय देवी-देवताओं में गोल्ल, हर, सैम नौलिंग, ऐड़ी, गंगनाथ, भोलानाथ, घुरमल आदि की पूजा व उपासना की जाती है। ये सभी अपना-अपना महत्व रखते हैं तथा इन्हें शीघ्र फलदायी माना गया है। गोल्ल का मंदिर अल्मोड़े के निकट चितई में तथा घोड़ाखाल (नैनीताल) में स्थित हैं। प्रायः वर्ष भर इन मंदिरों में दर्शनार्थियों की भीड़ लगी रहती है। इसे पुत्रहीन को पुत्र, निर्धन को धन प्रदान करने वाला, रोगग्रस्त को रोगमुक्त एवं संकटग्रस्त को संकटमुक्त करने वाला माना जाता है। स्थानीय देवी-देवताओं को प्रसन्न करने के लिए समय-समय पर लोग जागर लगाया करते हैं। जागर में वीररस प्रधान लोकगीत गाये जाते हैं तथा वाद्य यंत्र भी प्रयोग में लाये जाते हैं। जागर को ही महाभारत कह कर पुकारते हैं क्योंकि प्रायः जागर में जगरिया महाभारत की कथा को ही आकर्षक ढंग से कहता है तथा सुनने वालों का मनोरंजन करता है कहीं पर महाभारत के स्थान पर रामायण की कथा भी कही जाती है।

स्थानीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण कुमाऊं में नागपूजा भी प्रचलित है। स्थान-स्थान पर नाग मंदिर बने हुए हैं और इन मंदिरों में अष्टकुली नाग की पूजा होती है। इन नाग मंदिरों की स्थापना पर्वत चोटी या उच्च पहाड़ी स्थानों पर हुई है। संक्रान्ति, पंचमी व पौर्णमासी को इन नाग मंदिरों में विशेष रूप से पूजा होती है। सम्पूर्ण कुमाऊं में अग्नि की उपासना करना, भूमि देवता के रूप में "भूम्याल" का पूजन तथा क्षेत्र विशेष के लिए 'क्षेत्रपाल' का पूजन, नदी, पर्वत-शिखर तथा पयां (पदम) व पीपल आदि वृक्ष पुष्पों की पूजा श्रद्धा पूर्वक की जाती है।

कृषि व घरेलू कार्यों में नारी भी पुरुष के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करती है। कुमाऊं के लोगों का मुख्य व्यवसाय कृषि है, किन्तु भूमि की मात्रा नाममात्र की है। कृषि के साथ-साथ कुछ लोग पूजा-पाठ एवं धार्मिक कर्मकाण्ड करते हैं तथा अन्य लोग छोटी-मोटी दुकान या मजदूरी करके अथवा बढ़ईगिरी, लोहारगिरी, राजगिरी एवं अन्यकुटीर धंधों का कार्य करते हैं। आर्थिक दृष्टि से यह क्षेत्र अत्याधिक पिछड़ा हुआ अविकसित एवं बेरोजगारी से ग्रस्त है। रोजगार प्राप्त लोगों में अधिकांश सेना में सैनिक के रूप में देशरक्षा के कार्य में तत्पर हैं। आवागमन के साधन सुलभ नहीं है। शिक्षा व तकनीकी शिक्षा के अभाव में अनेकों मेधावी व प्रतिभावान व्यक्ति इस भू-भाग को छोड़कर देश

विदेशों में चले गये हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में प्रचलित बोलियों में परस्पर विभिन्नता दृष्टिगत होती है। यहां की बोली में मधुरता, रोचकता एवं लचक विद्यमान है। हिमालय के पर्वतीय भाग में स्थित होने के कारण सम्पूर्ण कुमाऊं क्षेत्र में यातायात व आवागमन के साधन सुलभ न होने के कारण सांस्कृतिक भिन्नता भी पाई जाती है।

कुमाऊंनी लोक कथाएं यहां की संस्कृति की परिचायक हैं। स्थानीय देवता गोल्ल की कथा में यहां के लोगों की बुद्धिमत्ता, विवाह परम्परा एवं लोक विश्वास की झलक देखने को मिलती है। 'सीताबनी' नामक लोककथा में कुमाऊं की नारी के सतीत्व का परिचय मिलता है। कठिन परिस्थितियों में भी यहां की नारी अपने पतिव्रत धर्म का पालन करती हैं एवं अग्नि, वरुण तथा पृथ्वी आदि किस प्रकार उसकी रक्षा करते हैं इत्यादि बातों का उल्लेख सीताबनी में हुआ है। पिनकट्टा पाण्डे, बड़े साहब की नौकरी, यजमान, पुरोहित आदि लोक कथाओं द्वारा यहां के लोगों के अभावग्रस्त जीवन एवं जीवन यापन के लिए अपनाये गये कुटीर उद्योग-धन्धों व सहायक धन्धों का परिचय मिल जाता है। नारसी धना, सती चन्द्रावती, सतीनारी, हिमाली इत्यादि लोक कथाओं में सतीत्व की स्पष्ट झलक देखने के साथ-साथ अपने साहस व पराक्रम से कुमाऊंनी नारी किस प्रकार शत्रुओं से जूझती हुई अपनी रक्षा करते हुए दुश्मनों को पराजित करती है, यह बात दर्शनीय है। घुघुति त्यौहार यहां के लोगों का वात्सल्य प्रेम की सजीव लोककथा है। मृत्यु को प्राप्त हुए पुत्र को शोकाकुलमां ने किस प्रकार उसे पुनः जीवित करके प्राप्त किया। यह सम्पूर्ण वृत्तान्त "घुघुति" की कथा से ज्ञात हो जाता है। हरेला धन-धान्य एवं सुख समृद्धि की कामना को प्रकट करता है।

पाताल भुवनेश्वर एक पौराणिक महत्व को लिये हुए ऐतिहासिक कथा है। कहा जाता है कि शिकार खोजने के लिए निकला हुआ सूर्य वंशी राजा ऋतुपर्ण शिकार का पीछा करते हुए पाताल भुवनेश्वर की गुफा में आ पहुंचा। यह गुफा काफी बड़ी होने के साथ-साथ रमणीय एवं दर्शनीय है। गुफा के आन्तरिक भाग देखकर दर्शक आश्चर्य-चकित हो जाते हैं। इसके अन्दर की मूर्तिकला द्रष्टव्य है। कुमाऊं में प्रचलित "खतुड़ुवा" त्यौहार विशेष रूप से पशुओं के त्योहार रूप में प्रचलित है। यह भी अपने अन्दर कुमाऊं एवं गढ़वाल के इतिहास को समेटे हुए है। जलती हुई मसालों से इस त्यौहार को उल्लासपूर्वक मनाया जाता है तथा पालतू पशुओं के प्रति स्नेह भाव प्रकट किया जाता है। नौलिंग देवता दैत्य-राक्षसों से रक्षा करने में सहायक रहे हैं। नन्दादेवी की कथा भी रोचक एवं आकर्षक है तथा कुमाऊं की रीति-रिवाज एवं परम्पराओं की परिचायक है। बुद्धुनाथ, तीनठग, तू ही था, चतुर गूंगा, चल तुमड़ी, बाटै-बाट इत्यादि कहानियों में बुद्धि चमत्कार दर्शनीय है। लोक कथा रोचक एवं आश्चर्यकारी है। कुमाऊं में अनेकों ऐसी लोक कथाएं प्रचलित हैं जो स्नेह, त्याग, कला-कौशल, धार्मिक भावना, विश्वास, सहयोग एवं जनकल्याण की भावनाओं से युक्त हैं तथा उनसे कुमाऊंनी संस्कृति का पूर्ण परिचय प्राप्त हो जाता है।

मंत्र-तंत्रों पर विश्वास का प्रतीक दूर्वाष्टमी का पर्व यहां स्त्रियों के द्वारा हर्ष एवं उल्लासपूर्वक मनाया जाता है। सम्पूर्ण कुमाऊं में दूर्वाष्टमी के पहले दिन वे अमुक्तापरण सप्तमी का व्रत धारण करती हैं तथा पूजा पश्चात् हाथ पर "डोर" नामक सूत्र बांधती हैं। दूसरे दिन दूर्वाष्टमी का व्रत रखती है और पूजा के बाद गले में "दूर्वा सूत्र" धारण करती हैं तथा परस्पर लोक शैली में विणिभाट की कथा कहती हैं। अधिकांश स्त्रियां इस व्रत को फलाहार अथवा निराहार रूप में लेती हैं क्योंकि यह व्रत स्त्रियों के लिए सौभाग्य सूचक एवं मंगलकारी माना जाता है।

कूर्मांचल में प्रायः स्त्रियां एवं पुरुष वर्ष भर में स्वेच्छा से प्रति-सप्ताह के रविवार, सोमवार, मंगल, बृहस्पति, शुक्र, शनिवार को उपवास रखते हैं तथा इसके अतिरिक्त मकर संक्रान्ति, कर्क संक्रान्ति, पौर्णमासी, एकादशी, चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्वों पर भी व्रत रखते हैं। स्थानीय देवी-देवताओं के अतिरिक्त पौराणिक देवी-देवताओं की भी यहां श्रद्धा पूर्वक पूजा व आराधना की जाती है। सोमवारी बाबा, गुरु गोरखनाथ को दक्षिण तथा बाबा महादेव की तीन बातें आदि लोक कथाएं योगियों एवं सन्यासियों को शिव रूप मानकर उनके प्रति विश्वास भाव प्रकट करती हैं।

वृक्ष-पुष्प आदि से सम्बन्धित लोक कथाओं में "प्यूंली" कुमाऊं में चैत्रमास में खिलने वाला एक सुन्दर पुष्प है। चैत्रमास की संक्रान्ति के दिन ग्रामीण क्षेत्रों में बालिकाएं प्यूंली के पुष्प के साथ चावलों से गृह-गृह में जाकर प्रवेश द्वारों को पूजा करती हैं। यह प्यूंली पुष्प प्रेमी एक युगल की निष्छल प्रेम कथा को अपने में समाये हुए है। सरग-दीदी, जूं हो, काफल पाको, दिन दीदी रुको, भै भूको आदि पक्षी कथाएं हैं। दिनभर खेत में मजदूर के रूप में हल चलाने का काम करने वाला हलवाहा भूख प्यास की परवाह न करके कार्य करता है। वह अपने साथ ही बैलों की भी परवाह नहीं करता है। इस प्रकार कठिन श्रम की झलक "सरग दीदी पाणि-पाणि" नामक लोककथा म देखने को मिलती है। "भै भूको मैं सीती" नामक लोक कथा में एक ओर तो यहां के अभावग्रस्त जीवन की झलक दिखाई पड़ती है और दूसरी ओर यह कुमाऊं में भाई-बहिन के पारस्परिक पावन-प्रेम का प्रतीक है। प्रतिवर्ष चैत्रमास म जब तक माता-पिता जीवित हैं वे अपनी विवाहित अथवा अविवाहित लड़कियों को भिटौली देते हैं और माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् भाई-बहिन के प्रति इस कर्त्तव्य का पालन करता है। दिन दीदी रुको "और जूं हो" लोक कथा में प्राचीन बहू को अपनी सास के प्रति आज्ञाकारिता एवं सास का बहू के प्रति कठोर अनुशासन देखने को मिलता है।

इस प्रकार अनेकों ऐसी लोक कथाएं कुमाऊं में ग्रामीण समाज में प्रचलित हैं, जो कुमाऊंनी संस्कृति की परिचायक हैं। आज इन्हें संकलित करके लिपिबद्ध करने की आवश्यकता है। पुरानी पीढ़ी के लोगों के अन्त होने के साथ-साथ वर्तमान में मनोरंजन के आधुनिक साधन सुलभ हो जाने के कारण अपने में स्नेह, त्याग, जनकल्याण, उपदेश एवं कर्त्तव्यपालन आदि बातों को समाय रखने वाली ये लोक कथाएं लुप्त होती जा रही हैं। इन लोक कथाओं के लुप्त होने के साथ ही इतिहास, भाषा-शास्त्र एवं संस्कृति भी लुप्त होती जा रही है। आज प्रमुख रूप से आवश्यकता इसी बात की है कि इन मनोरंजक एवं समाजपयोगी लोक कथाओं को लुप्त होने से बचाया जाये तथा इन्हें लिपिबद्ध करके जनसाधारण के लिये सुलभ कराने के प्रयास किये जायें।

कुमाऊंनी लोक गीतों में जनजीवन

—उमेश पन्त

किसी भी राष्ट्र का जाति का, सभ्यता का अपना साहित्य होता है, जिसके आधार पर वह अपनी सांस्कृतिक–परम्परा को गौरवशालिनी कहने का साहस करती है। साहित्य को दो रूपों में विभाजित किया जाता है–शास्त्रीय तथा लोक-साहित्य। लोक जीवन के उल्लासमय उन्मुक्त एवं प्रच्छन्न वातावरण में ही लोक-साहित्य की उद्‌भावना होती है तदनन्तर यही रूप विकसित होते हुए शास्त्रीय-साहित्य के प्रणयन का कारण बनता है।

लोक-साहित्य—लोक जीवन की भावनाओं, मान्यताओं, धारणाओं लोक संस्कृति के जीवन्त-तत्वों सर्वोपरि लोक-जीवन की अनुभूतियों एवं अभिव्यंजनों का एकमात्र वाहक है। लोक जीवन के इन तत्वों के इस कार्य में लोक गीतों का अपना अन्यतम स्थान है क्योंकि वे चिरकाल से एक निश्चित परम्परा द्वारा संचालित होकर, अतीत से अनुभव लेकर वर्तमान से साक्षात् प्रभावित होकर, भविष्य की ओर दृष्टिगत करते हुए आगे बढ़ते हैं। लोकगीत, लोक जीवन की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति को वहन करने का काम करते आए हैं। साथ ही मानव के लोक जीवन की अनेक विकास प्रक्रिया की विभिन्न सारणियों के चिन्ह इसमें सुलभ होते हैं। यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य एवं लोक गीतों ने ही, कुछ सीमा तक, शिष्ट साहित्य को जन्म दिया है अथवा उसके लिए मातृ-वृक्ष का कार्य किया है, साथ ही मूल में उसे चेतना तथा वस्तु देकर भी उसका मार्ग प्रशस्त किया है। इस प्रकार लोक गीतों का साहित्यिक महत्व के साथ-साथ सांस्कृतिक महत्व भी कम नहीं है।

लोक साहित्य को प्रमुख रूप से—(1) लोक गीत (2) लोक कथा (3) लोक गाथा (4) लोकोक्ति साहित्य (5) लोक नाट्य आदि भागों में विभाजित किया जा सकता है। लोक-साहित्य में लोकगीतों को प्राथमिकता दी जाती है। इसी को आधार लेकर कुमाऊंनी जन-जीवन की ओर दृष्टिपात किया जाये।

भाषा, लोक साहित्य एवं लोक-संस्कृति की दृष्टि से कुमाऊं का क्षेत्र अपनी विशिष्टता और मौलिकता धारण किये हुए है। यहां का लोक जीवन, यहां के लोक साहित्य एवं लोक-संस्कृति से गुंथा हुआ होने के कारण शान्त एवं मधुर है। यहां के लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति का जितना घनिष्ट सम्बन्ध है, उतना हिन्दी से जुड़े अन्य लोक साहित्य के क्षेत्र में दुर्लभ है। यदि साहित्य समाज का दर्पण कहा गया है, तो यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कुमाऊँ का लोक साहित्य विशेषकर लोकगीत–यहां के लोक जीवन और लोक संस्कृति का निर्मल दर्पण हैं जिसमें सारे कुमाऊं के लोक जीवन का तथा लोक संस्कृति का स्पष्ट प्रतिबिम्ब झलकता है।

कुमाऊंनी जन-समुदाय की प्राचीन तथा नवीन परम्परायें, आचार-विचार, विश्वास, रहन-सहन व व्यवसायों का परिचय उसके लोकगीतों में मिलता है। यहां का वासी कभी प्रकृति की स्तुति करता है, तो कभी उसकी विराटता तथा अप्रतिम सौन्दर्य से भाव-विभोर होकर गाने लगता है। उसके भाव व विचार ही गीतमय होकर मुखरित हो उठते हैं। इस धरती से जुड़ा अधिकांश जन एक गीतकार हुआ करता है। परम्परा से जुड़ा समाज इतना रंगीला तथा रसीला है कि युवक-युवतियों, वृद्धों का झुण्ड अनेक विशिष्ट अवसरों तथा मेलों में चलते-चलते गीतों को गुनगुनाते, ताल एवं लय में नृत्य करता है। उसके पांव लय से मेल खाने लगते हैं। अपनी विपन्नता और आर्थिक–जीवन की प्रकृति-संघर्ष की स्थितियों में भी उसने उन्मुक्त भाव से गुनगुनाते जीवन यापन करना सीखा है।

कुमाऊँ के जनसमुदाय को सांस्कृतिक तथा जातीय आधार पर तीन मुख्य वर्गों–आर्य परिवार, खस तथा कोलवंशीय परिवार में विभक्त किया जा सकता है। इसी आधार पर लोकगीतों के विभागों की स्थापना हुई है। जैसे उपनयन, विवाह, नामकरण आदि विषयक गीत ब्राह्मण वर्ग की ही देन है, जबकि ऋतुरैण, हुड़किया बौल, न्यौली, हिलजात्र आदि अन्य लोकगीत खस और कोलवंशीय जातियों की अमूल्य तथा जीवनपोषिका निधि हैं।

लोकगीतों को संस्कार, कृषिमूलक, ऐतिहासिक, पत्र रूप में प्रेमाख्यान बालगीत, वीर रस, मनोरंजन, हास्य, समस्या-प्रधान आदि अनेक श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

संस्कार गीतों की रचयिता स्वयं नारी है। अतः नारी हृदय की कोमलता, अहिंसा, करुणा और सहिष्णुता इन संस्कार-गीतों में सहज एवं स्वाभाविक रूप में मिलती है। छठी तथा नामकरण के गीतों में नवप्रसूता की विभिन्न मनः स्थिति का उल्लेख मिलता है :

राजमहल में बैठी जज्जा, छठियन की तैयारी।
वेग से वेग बुला दो मेरे राजा, वेग से सायन बुला दिजो।
सायन आवे ललना जनावे, नेहा उनका दे दिजो॥

एक प्रमुख बात जो अधिकांश संस्कार गीतों में हमें स्पष्ट दृष्टिगत होती है, वह यह है कि जन्म यज्ञोपवीत तथा विवाह सम्बन्धी लगभग सभी गीतों में प्रारम्भ में देवताओं, विशेषकर मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान राम के पारिवारिक सदस्यों का उल्लेख होता है। तत्पश्चात् उन पारिवारिक सदस्यों का नाम आता है जिनके घर में शुभ कार्य सम्पादित किया जा रहा है। भगवान राम को कुमाऊंनी परिवार ने सदा से ही अपना आदर्श माना है। इन गीतों के माध्यम से हमें पारिवारिक

व्यवहार तथा सदस्यों के स्नेह का भी आभास मिलता है। उदाहरण के लिये, हम विवाह के अवसर पर गाये जाने वाले उस गीत को ले सकते हैं जिसमें बारात विदाई के समय कन्या की मां तो उससे प्रतिदिन आने की बात करती है, जबकि पिता छठे मास और भाई कार्य पड़ने पर ही आने को कहता है :

मय्या कहे बेटी निज उठ अइयो: बाबा कहे छट मास।
विरन कहे बहिना काज परो, भाभी कहे कछु कामए।
भाभी के मन में आनन्द बधाये, ननद चली ससुराल को।
नदिया के ढिग-ढिग निकसी लड़ैती॥

मां की ममता की स्पष्ट झलक हमें उस समय मिलती है जब वह यज्ञोपवीत संस्कार के बाद काशी जाने वाले पुत्र को वापस घर बुला लेती है :

काशी का पंडित घर ही बुलूलों बुट।
दूध-भाति खालै बुट घर ही पढ़ूंलो। आदि

विवाह के उपरान्त अपनी लाड़ली बेटी को विदा करती हुई कुमाऊंनी माता की ममता किस प्रकार उमड़ पड़ती है, देखिए

हरे हरे लोको, पण्डित लोको,
मेरी धीय दुखझन दीया हो।
मेरी लाडु दुख झन दिया हो।
दस धारी मैले दूध पिवायो।
मेरी धीय दुख झन दिया हो॥

(अर्थात्—हे सज्जन ! आप स्वयं ही विद्वान हैं। मेरी पुत्री को कोई भी कष्ट मत देना। मेरी लाड़ली पुत्री को दुःख मत देना। मैंने इसे दस-धार दूध पिलाकर बड़े कष्ट से पाला है। इसे दुःख मत देना।)

इस प्रकार माता की पीड़ा जहां इन गीतों में उभर कर आती है वहां माता-पिता से बिछुड़ने का निःश्वास पुत्री के कोमल हृदय को कुछ क्षणों के लिए झकझोर देता है। देखिए कितनी भाव साम्यता है कुमाऊंनी और भोजपुरी लोक गीतों में :

1 कुमाऊंनी—

माई जो रौवे रेमेरी भीज है अंचली।
बाबू जो रोव तो, मेरी भीज है रूमाल॥

भोजपुरी—

बवा जो रोवले गंगा बढि अइली।
अम्मा के रोवले अनोर॥

2 कुमाऊंनी—

छोटे-छोटे भाइन पकडी पलकिया हमारी।
बहिना कहां जाइए।

भोजपुरी—

छे केले कवन भइया, उंडिभा बहिना जाये ना देऊ॥

आर्थिक विषमताओं, पारिवारिक कलहों, बेमेलविवाह तथा भाग्य की विडम्बनाओं से जूझती नारी ने बड़े दुःख झेले हैं, परन्तु दुःख-सुख के झूले में झूलती अपने दैनिक कर्मों में लगी कुमाऊँ की कर्मठ नारी अपने कर्त्तव्य से नहीं चूकती है। पर्वत प्रदेश की यही विशेषता है।

ऋतुरैण-गीतों में खुशी अथवा हर्ष की अपेक्षा दुःख दर्द एवं पीड़ा से सनी नारी का अभिव्यक्तिकरण हुआ है। विवाहिता कन्या का अपनी माता, बहिन और मायके के प्रति प्रेम तथा नौकरी हेतु परदेश बसे प्रियतम के विछोह का दुःख कदम-कदम पर मिलता है। प्रस्तुत हैं कुछ बानगियां :

(1) **कफुवा बासण फंगो, फुलि गैछ दैण।**
ओ मेरी बैणा, ओ ऐगी रितुरैणा।
इजुली कुनैंछी दिदी सब बैणी ऊंना।
जब तेरी नराई लागी, आंसु भरी ऐना॥

(2) **इजु की नराई लागिया चेली वे।**
छाजा बैठि घना आंसु वे ढवकाली।
नालि-नालि नेतर ढावि आंचल भिजाली॥
इजू, द्योराणि, जेठाणि का भै आला भिटौई।
मैं निरौलि को इजू, आलो भिटौई॥

कुमाऊं के जनजीवन में उपलब्ध ऋतुगीत, मात्र लोकगीत नहीं है वरन् अपने प्रकार की शैली में विचित्र एवं अपनी माटी के रंग में रंगे स्वच्छन्द पहाड़ी बसन्त राग हैं। इन गीतों में विदेश गये पति से संलाप की तड़प, सास, ननद की यातना, विपन्नावस्था में प्रियजनों का विछोह और पति का अल्हड़पन व्यक्त हुआ है। यह सारा साक्षात् जनजीवन का निर्मल दर्पण है।

कुमाऊं के कृषि-गीत 'हुड़किया—बौल' कहे जाते हैं। यहां कृषि नाममात्र की है। केवल नदियों की घाटियों को छोड़कर अन्यत्र उर्वरक भूमि उपलब्ध नहीं है। पहाड़ों पर सीढ़ीनुमा खेत उदर-पूर्ति के लिये कभी भी सहायक नहीं रहे, लेकिन फिर भी अहर्निश खेती में जुटे कुमाऊंनी कृषक हतोत्साहित नहीं होते हैं। भूखे पेट भी वह निराश नहीं है। एक लोकगीत में कृषक अपनी थकी पत्नी से कहता है :

ग्यूं भट भभूटि खूंली, तू पाणि नी जा।
मेरी छैला, तू बे पाणि नी जा॥

सम्पूर्ण सन्दर्भ इस प्रकार है—आटा नहीं है, कोई बात नहीं। पानी नहीं है, कोई बात नहीं। तू थकी है, दिन भर खेतों में काम करने से। अब पानी लाने मत जा। बस गेहूं और भट (सोयाबीन) के दाने भूनकर रात काट लेंगे।

खेती यहां की बारिस पर निर्भर है। समय पर आकाश बरसा तो कुछ उपलब्धि हो जाती है। अन्यथा खाली हाथ। फिर भी कुमाऊंनी अपनी विपन्नता से निराश कभी नहीं रहा। संघर्षरत वह

सदा प्रसन्न है। सदैव आशावादी है। वह सुखी भविष्य के लिए सदैव आश्वस्त है। कृषक कमरतोड़ महंगाई से खिन्न अपनी पत्नी से कहता है :

सुन कीड़ी मेरी रथै की बाता, भाला दीना यो फेरलो विधाता।
तब होलो सब सस्तो अनाजा, सुखी रौला सब राजा परजा॥
सुनां आंगडी लै त्विकै ल्यैदयलों, रेसमी पिछौड़ी लै लैदचलो।
गुड चीनी का बोरिया देखली तब म्यारा भाग खुला, तूकौली।
तब हम राजी खुशी लै रौंला, जै जै सीता राम कौला॥

(कृषक अपनी पत्नी कीड़ी से कहता है—कीडी, तू निराश मत हो। मेरे मन की बात सुन। भगवान फिर अच्छे दिन लायेगा। तब अनाज सस्ता होगा। राजा प्रजा सब सुखी होंगे। तब तेरे लिये मैं सुनहरी अंगिया व रेशमी पिछौड़ा लाऊँगा। फिर घर में प्रशस्त गुड़ और चीनी होगी और तू आनन्द विभोर होकर कहेगी कि—— मेरे भाग आज खुले। हम सब सुखी होंगे और खुशी-खुशी भगवत्-स्मरण करेंगे।

कृषि सम्बन्धी गीतों में नारी-मन की अनेक भावनाओं की अभिव्यक्ति मिलती है। श्रम में लीन, किसी प्रकार के कष्ट से विचलित न होती हुई, वह मन वचन और कर्म से अपने कुटुम्ब की सुख-शान्ति और समृद्धि के लिये सदैव प्रयत्नशील रही है। सामान्य घरेलू—कार्य के साथ पशुधन की देखभाल, घास लकड़ी लाना, कृषि-कार्य, कूटना पीसना सब काम नारी के जिम्मे रहे हैं। कुल मिलाकर वह कर्मठ प्राणी है। गीत गा-गा कर वह अपने श्रम को मधुर बना लेती है।

कुमाऊं के मेला-गीतों में नारी के रूप तथा लावण्य की अनगिनत झलकियां मिलती हैं। कहीं समाज की कुरीतियों पर रोष भी प्रकट किया गया है। एक उदाहरण देखिए :

के करूं सासू लाम चर्‌यो ले, खेती बौज्यू बुड़।

यहां नारी द्वारा अनमेल विवाह की शिकायत की गई है। पर्वतीय समाज में नारी-वर्ग अत्यधिक उपेक्षित रहा है। विधवाओं की दशा शोचनीय है। वृद्ध विवाह, बाल विवाह ने समाज को दुर्बल किया है। स्त्रियों की रुढ़ि-प्रियता और अन्ध विश्वास ने भी काफी हानि पहुंचायी। प्रसिद्ध कुमाऊँनी कवि "गौर्दा" का ध्यान इन सभी समस्याओं की ओर था। उन्होंने नारियों के उत्थान हेतु अनेक गीत लिखे। स्वयं स्त्रियां इनको बड़े उल्लास से गाया करती हैं :

मिलि चालि करनूं सुधार, सुधार मेरी गुस्याणी।
बिगडी समाज कुरीति उड़नू, घर घर में करनी प्रचार॥
पैली पाखंड को भुइयां निकालनूं, करनूं वी देश है निकाल।
झटमुट घुंघट कैं झटपट उठूनूं, जैले गोठचै छन नार॥
समघोल, रत्यालिन खर्चे घटूनूं, जो करनी गाडि उधार।
गिरिया जातिन कैं मिलिकै उठूनूं, करनूं उनरो उद्धार॥

(सारांश—आओ सखी। मिल जुलकर सामाजिक कुरीतियों का निराकरण करें। पाखंड का देश—निकाला करें। पर्दे को समाप्त करें जिसने हमें बन्दी बना दिया, दावत उत्सवों में होने वाले अपव्यय को रोकें, पतितों को उठावें।)

रंगीला—कुमाऊं विशेषण को कुमाऊंनी ने चरितार्थ किया है। अपनी पुरातन सांस्कृतिक इस थाती को उसने चरितार्थ रखा है। पति-पत्नी में खटपट हो गयी है। पति जागेश्वर के जंगल से लकड़ी लाने गया है। वहां बुरुश के मनमोहक पुष्पों की बहार देखकर उसका भी मन खिल उठा, कहा उठा :

जागेसर धुरा बुरुशं फूलि छ।
मैं कै हीं टीपूं मेरी हंसा रिसै रैछ॥

(अहा। जागेश्वर बनावलि मनमोहक बुरुंश से पुष्पित है। कितनी बहार यहां छायी है। क्या करुं। मेरी हंसा। (पत्नी) तो आज रुठी है। नहीं तो ढ़ेर सारे बुरुंश के फूल आज उसके लिये ले जाता।)

कुमाऊं रंगीला है। इसके प्रतीक यहां के आकर्षक तथा मनमोहक लोकगीत हैं एवं भाव-विभोर करने वाली भाव-लहरियां हैं। ये लोकगीत यहां के वास्तविक जनजीवन का यथार्थ चित्रण करते हैं। सुन्दर और मार्मिक प्रेम तथा श्रृंगार-गीत भी हैं, जिनमें विरह मिलन की स्वाभाविक कोमल भावनाओं का स्वर मुखरित हुआ है।

मालूसाही प्रेम-काव्य में नारी को विविध रूपों में प्रस्तुत किया गया है। नवयौवन राजुला का चित्र इसी कुमाऊँ की प्रकृति व जनजीवन से ग्रहीत है। यह रूप राजूला जैसी अन्य नवोढ़ाओं का भी हो सकता है:

यावा, रहट की ताना।
दूती कसी जून है गेछ, पुन्यू कसी चाना।
वैसाग सुरजि जसी, चैत की कैरूवा जसी॥
पूस की पालडा जसी, यावा मेरा रे भागी बाना।
यसी रूपधारी मैछ, गिड की असेला जसी॥
झिपकी सिकड़ा जसी, कसतुरी की बिड़ा जसी।
पोस्त कसी दाना।
यसी रूपधारी भैछ, तब तेरो नाम पड़ो रजुली सौक्याणा॥

इसमें रुपसी राजुला के सौन्दर्य को अभिव्यक्ति देने हेतु स्थानीय प्रकृति के उपमानों को चुना गया है। उपमानों की सर्वथा नवीनता और मौलिकता कुमाऊंनी लोकगीतों की अपनी विशेषता है। जैसे-पौष के पालड, कस्तूरी की नाभी, चैत्र मास के कैरुवै जैसी आदि लोक-जीवन के द्वारा नित्य प्रति प्रत्यक्ष रुपेण अनुभूत किये जाने वाले उपमान हैं अर्थात ये रचनाएं लोक के द्वारा लोक-जीवन के लिये हुई हैं।

चकवा-चकवी का सा वियोग दूसरे रूप में अगर किसी को मिला है तो कुमाऊं में जन्मे दम्पति को, जो सदैव वियोगाग्नि में झुलसते रहे हैं। कष्टमय कुमाऊँ क्षेत्र के माता-पिता एवं पत्नी की आशा तब ही सार्थक सी हो जाती है जब घर का कोई युवक नौकरी पर लग जाता है। वह नौकरी हेतु बाहर क्या गया कि एक तरह का बनवास हो जाता है। वियोग में जलती युवती अपने परदेश गये प्रियतम के घर आगमन के लिये ग्राम देवता स प्रार्थना करती हुई कहती है :

गोंक छ भुमिया छाय-छाय कारी।
म्यार दुल्हो कणि मति दिये तू।
मति दिये तू घर बुलै दे।
थान में त्यारा पुवा पकूंलो॥

(हे ग्राम देवता। तू प्रत्यक्ष फल दाता है। तु मेरे परदेश गये पति को घर बुला दे, मैं तेरे थान (मन्दिर) में पुवे पकाऊंगी।)

नारी के जीवन की सर्वत्र यही दुखःद कहानी है। कभी बहुत सुनने को मिलता था, किन्तु अब कम, बहुत कम। उसके जीवन के कई पहलू हैं, जिन्हें विस्तार से लिखने के लिए विपुल समय चाहिए। फिर भी :

यो को हो रंगीलो चंगीलो,
हरियो भरियो,
सुवा। उदेखो को भरियो।

(यह हृदय रंगीन हरा-भरा बाहर से; भीतर से प्रिये। दुःख उद्वेग का भरा है।)

यह सारे गीत इसी धरती की माटी के गीत हैं। इनके इन्द्रधनुषी वितान में धरती के लालों का सतरंगी जीवन पलता है। भारत की भावात्मक-एकता की बात आज के सन्दर्भ में और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गयी है। ये सूत्र जो कि विभिन्नता से भरे भारत को मीती के विभिन्न मनकों की भांति एक में पिरोये हुए हैं—लोकमानस में भी परिव्याप्त हैं।

इस प्रकार चाहे किसी भी क्षेत्र में हो कुमाऊंनी-लोकगीत की समष्टिगत भावनाएं अपना विशेष महत्व रखती हैं। कुमाऊँ के संस्कारगीतों, धार्मिक गीतों, ऋतु एवं कृषि संबंधी गीतों, उत्सव एवं पर्व संबंधी गीतों एवं अन्य गीतों में आंचलिकता की विशिष्टता के साथ समाज केविभिन्न वर्गों तथा समुदायों का विस्तृत-चित्रण हुआ है और एक व्यावहारिकता सामने आयी है।

इन लोक गीतों में आंचलिक विशिष्टता की छाप विद्यमान हैं, परन्तु भावभूमि की साम्यता प्रत्येक अंचल के लोक साहित्य में समान होती है। मानव हृदय की गहराइयों में छिपी, अभिव्यक्ति पाने को छटपटाती भावनायें, बहुत कुछ साम्य रखती हैं।

यद्यपि मानव संस्कृति का विस्तृत चित्रण तो विश्व संस्कृति में ही सम्भव हो सकता है। परन्तु कूर्मांचलीय–संस्कृति एवं उसका साहित्य एक परिवार के समान लघु रूप में उक्त परिचय देने की क्षमता रखता है।

लोक साहित्य के प्रति रुचि, विवेचन, अध्ययन के प्रयास अद्यवधि भी अधूरे हैं। उसका एक बड़ा कारण यह है कि हमारा लोकतंत्र, कदाचित लोक भावना से वंचित रहा है। इस क्षेत्र में जो भी प्रयत्न हुए एवं हो रहे हैं, नितान्त वैयक्तिक रहे हैं, लोक साहित्य की विशाल निधि को एकत्रित कर पाना एक व्यक्ति की शक्ति से बाहर है। आभिजात्य एवं लिखित-साहित्य तथा लोक साहित्य एक-दूसरे के पूरक है, और इस प्रकार एक दूसरे के उपकारक तथा उपजीव्य भी है। इसलिये लोक साहित्य उपेक्षणीय नहीं है। रचनात्मक साहित्य और राष्ट्रीय जीवन में लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति के जीवित तत्वों का समावेश किया जाय तो साहित्य और संस्कृति और अधिक सशक्त हो सकते हैं।
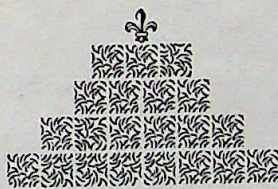
कुमाऊंनी लोक साहित्य में प्रकृति

—दीपा सुधीर

हिंदी साहित्य की भांति, कुमाऊंनी साहित्य में षट्ऋतु वर्णन नहीं मिलता। इसका एक प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि कुमाऊं में मुख्य रूप से तीन ही ऋतुएं मानी जाती हैं–"रूड़ि" (ग्रीष्म); "चोमासा" (वर्षा) और "ह्योन" (शीत)। इसके अतिरिक्त वसन्त ऋतु का भी कुमाऊं के जन-जीवन पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। वसन्त के ये गीत कुमाऊं में (ऋतु रैण) के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ऋतुराज बसन्त की निराली शोभा जब कुमाऊं के जीवन पर छा जाती है चतुर्दिक वातावरण में पुष्प खिल उठते हैं। सुरीली लय में ये शब्द गूंज उठते हैं :

"आई गे बसंति ऋतु छाई गे बहार,
फुलि गई डाइ बेटि सारी गाड़धार।"

कुमाऊं में बसंत ऋतु का आगमन चैत में ही माना जाता है। पर्वतीय प्रदेश की इसी बासन्ती सुषमा पर रीझकर तो, कविवर सुमित्रानंद पंत ने लिखा है :

"लो चित्रशलभ सी पंख खोल,
उड़ने को है कुसुमित घाटी।
यह है अल्मोड़े का बसंत,
खिल पड़ी निखिल पर्वत घाटी।

ग्रीष्म ऋतु और बिरह

कुमाऊंनी साहित्य में ग्रीष्म ऋतु का भी अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। एक ओर चमकती हुई धूप है तो दूसरी ओर, पकने वाले फलों की बहार है :

"गिरिष्म जेठ धपकनी धूप,
पड़ि गेछ गरमी हलचल खूब।
बगिया खुमानी पाकनी भौत,
तपकनी माऊ भावर सौत।"

प्रकृति का यह मुग्धित रूप संयोगावस्था म अत्यन्त सुखदायक है किंतु वियोगी के लिए दुखः बढ़ाने वाला है। यथा :

"गैल-गधेरी क पाणि आम डाली सोव,
एस कोछ बैठी जावो आव जालाभोव।"
दड़िमें की डालि मजि घुमुति घुरेंधा,
वियोगी बालिका कणी भलिकै झुरेंछ।"

ग्रीष्म ऋतु कुमाऊं में अपना अत्यधिक प्रभाव नहीं डाल सकती। वहां की शीतल वायु, जल और हरियाली अत्यन्त सुखदायी है किंतु ग्रीष्म के प्रभाव से हम उसे अछूता भी नहीं कह सकते हैं। स्थान-स्थान पर हरी घास सूख जाती है। झरनों व नदियों का पानी कम हो जाता है। कवि ने इसका चित्रण इस प्रकार किया है :

"गिरिष्म आयो जेठ आषाड़, पड़ि गेछ गरमी देश पहाड़।
गदकन धारा छलकन नौवा, घटि गौछ वांरी रौव मिजौवा।"

आषाढ़स्य प्रथम दिवसः

"चौमास" (वर्षा) की बहार तो कुमाऊं के जीवन में एक अपूर्व सरसता को संचरित करती है। आषाढ़ का आगमन हुआ चौमास प्रारम्भ हुआ। इधर बादल बरसने लगे उधर, बिरहिणी के नेत्र सजल हो उठे :

"पहिलो पहिना चौमास को आयो अब आषाढ़
मैं पापण झरुझरु मरी मांस रयो न हाड़।"

विरहिणी को अपने प्रियतम के विरह में यह वर्षा बहार भला क्यों भाये ? बिजली चमकती है, बादल गरजते हैं। लेकिन विरहिणी को यह सब बहुत बुरा लगता है। अपने प्रियतम की याद में तड़पती रहती है :—

"आषाड़ों महिना आयो वर्षा लगै लायो,
स्वामी मेरो निठुरौ छ गई देशा छायो।"

आषाढ़ बीता। सावन और अत्यन्त कष्टदायक है। निरंतर वर्षा से सूखी हुई पहाड़ियों की चट्टानों से भी पानी पसीज कर आने लगा है। लेकिन निष्ठुर प्रियतम का हृदय पता नहीं कब पसीजेगा ? जिनके प्रियतम परदेश न हों, उनके लिए यह गीत गाने की बेला है :

"रखौ सुखौ झूं मजा परसी गो पाणी,
कब परसलो स्वामी ब्येरो रुखो पराणी।"

* * * *

कावो छ महीना पतौ रुणा झुणा रीत,
जैंको स्वामी घर हला सोई गाली गीत।"

दुख:तर शीत :

पहाड़ के लिए शीत-ऋतु अत्यन्त कष्टदायक है। तुवार व ठंडी हवा के कारण अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ता है। कुछ लोग इन दिनों भावर (तराई के इलाके में) भी आ जाते हैं। खेती का कार्य भी करना पड़ता है। इसका वर्णन इस प्रकार है :

"मसगीर भाई हिमरितु आई,
मनषों में है गे हाई तवाई।

पहाड़ घासू लकड़ा कटाई,
भावर खरक झोपड़ा छवाई।

छपर छवाई ग्यों की बोवाई,
धान महाई लाई झोवाई।"

पूस के दिनों जाड़ा बहुत पड़ता है। इन दिनों दिन छोटे व रातें लम्बी हो जाती हैं। "ऋतु मंजरी" में इसका यथार्थ चित्रण प्रस्तुत है :

"लागीयो पूस सुणि लियो बात,
दिन हैगी छोटा लाभि हैगी रात,
फुकरी क्वै लकड़ा रात बहौत,
जाड़ो हूं छ कप्यां मरण की मौत।।"

माघ का महीना तीर्थ-यात्रा के लिए उत्तम माना जाता है। कुमाऊं का प्रसिद्ध त्योहार "घुगुति" इसी महीने आता है। इस महीने ब्राह्मणों को खिचड़ी का भोजन कराना बड़ा ही अच्छा समझा जाता है। दान की इस महिमा का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है :

"क्वे घर औंनी उतरैंणी खाई,
कैलै खिचड़ी खै घर घर जाई।

क्वे भागी पुरूष वरियाग रौनी,
माघ महातम मकर बुरौनी ।

क्वे घर दान करनी बधाई,
कैंवर रोज हाई तवाई।"

कुमाऊं की शीत ऋतु भी अत्यंत कष्टदायक होती है। फिर भी वहां का किसान अपने पूरे उत्साह, लगन व परिश्रम से कृषि कार्य में जुटा रहता है। खेतों में हरे-हरे गेहूं के पेड़ बहुत अच्छे लगते हैं। उधर "उतरेणी" का त्यौहार व मेले की तैयारी होती है। "फूलदेई" के त्यौहार के लिए सरसों फूलना शुरू कर देती है :

"हि महैंण ह्यून के भल मानी,
गाड़न में हरिया ग्यूं जायि जानी।

उतरैंणी को म्याल हूंद ये महैंण,
फूलदेली सूं फुलि जांछ दैंणा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुमाऊं के जन-जीवन पर इन ऋतुओं की अमिट छाप है। इन गीतों में ऋतुओं पर मानवीय भावों का पूर्ण आरोपण दिखाई पड़ता है।
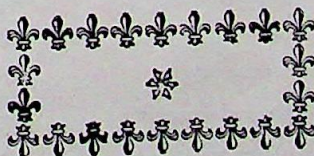
उत्तराखंड वैदिककाल से ही नैसर्गिक सौन्दर्य एवं सांस्कृतिक परम्परा के लिए विश्व प्रसिद्ध है। यह क्षेत्र गंगा, यमुना, भागीरथी, अलकनन्दा, मन्दाकिनी, पिंडार, टोंस, धोली एवं अन्य महत्वपूर्ण नदियों का उद्‌गम स्रोत है। यह हिमालय ज्ञान-विज्ञान एवं सांस्कृतिक परम्परा को स्थाई रखने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। हिमवान् नगाधिराज हिमालय अपार एवं सुन्दर है। यह हिमालय शरीर से पर्वत होते हुए भी आत्मा से देवता है। इसी कारण महाकवि कालिदास ने नगाधिराज हिमालय को देवात्मा कहा है। यथा :

अस्त्युतरस्यां दिशिदेवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज कुमारसम्भव

हिमालय की जिस पावन भूमि से गंगा यमुना प्रवाहित होती हैं, वहीं ब्रह्मा का मानसरोवर, विष्णु का बद्रीनाथ एवं शिव का केदार-कैलाश है। दुर्गा की क्रीड़ाभूमि है। यक्ष, गन्धर्व और किन्नरों की लीलाभूमि, खस, किरात और नागों की क्रीड़ास्थली एवं आर्यों की देवभूमि यही उत्तराखण्ड हिमालय है। इसी पर्वत पर महादेव रुद्र का विवाह हुआ था। किरातवेश में महादेई ने यहीं क्रीड़ा की थी। इसी पर्वत पर से महादेव पार्वती ने समस्त जम्मूद्वीप का अवलोकन किया था। यह रुद्रदेव की क्रीड़ाभूमि है। इसी शैलदेश में गिरिगुहा-निवासनी, मनोहारिणी प्रसन्न-वदना, सुनयना, कृभोदरी, सुन्दर किन्नरियां रमण करती हैं। यही क्षेत्र देवताओं की अलकापुरी है। यही क्षेत्र देव शत्रुओं के संसारकर्ता कार्तिकेय का है। यहीं पर इन्द्रादि देवों द्वारा कार्तिकेय सेनापति बनाए गये थे यहीं कारण है कि हिमालय को शिव का देश कहा गया है जिसका आज भी इतिहास साक्षी है। भगवान शिव संजीवनी विद्या एवं आयुर्वेद के ज्ञाता थे। इस देवलोक तिब्बत हिमालय के इन्द्र, सूर्य आदि देवों का मृत्युलोकवासी भारतीय के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है। भारतीय राजाओं ने देवासुर संग्रामों में देवों की सहायता की थी। यज्ञों में देवों को निमंत्रित किया जाता था। भारतीय ऋषि वशिष्ठ इन्द्र का यज्ञ करने स्वर्ग में जाते थे। देवराज इन्द्र के भारत में अनेक राजा तथा ऋषि मित्र थे। काशिराज, दिवोदास, धन्वन्तरि तथा ऋषि भारद्वाज आदि अनेक ऋषियों ने आयुर्वेद का अध्ययन इन्द्र से किया था। सूर्य से ऋषि याज्ञवल्क्य ने तथा ऋषि अभिणी ने आयुर्वेद का अध्ययन किया था। अश्विनी कुमार देवों के चिकित्सक थे, तथा भारत में उनका विशेष संबंध रहा है। अश्विनी कुमारों ने दक्षप्रजापति का कटा हुआ शिर जोड़ा एवं ऋषि च्यवन को वृद्ध से युवा बनाया। अटनशील देवर्षि नारद भारत में आते रहते थे एवं भारतीय ऋषि लोमश इन्द्र के यहां जाते रहते थे। इन्द्र के भ्राता वरुण के पुत्र ऋषि भृगु के नाम से जाने जाते हैं। देवलोक क्षेत्र तिब्बत त्रिदशालय है। तिब्बत को सुरलोक भी कहा गया है ऐसी मान्यता प्राचीन ग्रंथों में है।

इस क्षेत्र के हिमशैलों, सरितटों एवं नदी संगमों पर चरक, व्यास पाणिनी, भृगु, अगस्त्य, भारद्वाज आदिकतिपय ऋषिमुनियों ने योग-साधना में रत होकर संहिताओं एवं पुराणों का सृजन किया। इस हिमालय में देव, दनुज, मनुज यक्ष, किन्नर, एवं ऋषि-मुनियों ने निवासकर तथा उग्र तपस्या में संलग्न होकर धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष की प्राप्ति की है। यह हिमालय भारत मुकुट, सनातनी स्वाभिमान, पूर्वजों का अमिट स्मारक, स्तूप देवताओं की लीलाभूमि एवं तीर्थों का भण्डार है। इसी हिमालय का यशोगान करके कास, अग्निवेश, भारद्वाज, आत्रेय, पुनर्वसु आदि महर्षियों ने अपनी लेखनी को कृतार्थ किया है।

आयुर्वेद के अध्ययन हेतु भृगु आदि ऋषियों का हिमालय में जाना

चरक ने आयुर्वेद को अनादि एवं शाश्वत कहा है, क्योंकि जब से जीवन का प्रारम्भ हुआ और जब से जीव को ज्ञान हुआ तभी से आयुर्वेद का उद्‌गम माना गया है। सुश्रुत ने यहां तक कहा है कि ब्रह्मा ने सृष्टि से पूर्व ही आयुर्वेद की रचना की जिससे प्रजा उत्पन्न होने पर इसका उपयोग कर सके। चरक के कथनानुसार ब्रह्मा से आयुर्वेद का ज्ञान दक्ष प्रजापति ने प्राप्त किया। प्रजापति से अश्विनी कुमारों ने

उत्तराखंड हिमालय से आयुर्वेद का उद्‌गम

—डॉ० मायाराम उनियाल

और उनसे इन्द्र ने इस ज्ञान को ग्रहण किया। संभवत: उपरोक्त पक्ष देवलोक तक ही सीमित था। इन्द्र द्वारा भूमण्डल में इस ज्ञान का प्रसार हुआ तब से इतिहास की शृंखला का प्रारंभ माना जा सकता है। विविध रोगों से आक्रान्त सभी वर्गों के प्राणियों के कष्टमय जीवन से दु:खी होकर ऋषिमुनियों ने हिमालय में सभा की एवं यह निर्णय लिया गया कि इन्द्र से इस ज्ञान को प्राप्त किया जाये। इस कार्य के लिए महर्षि भारद्वाज नियुक्त किये गये। इस प्रकार भृगु, अंगिरा, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, पुलस्त्य, वामदेव, असित, गौतम, आदि महर्षियों ने इन्द्र से आयुर्वेद का अध्ययन करने हेतु हिमालय पर्वत पर गये। यह हिमालय देवलोक के हिमालयों का है। देवलोक के अन्तर्गत कैलाश पर गन्धर्व आदि रहते थे, मेरु गंगा का उद्‌गम स्थान है और मेरु पर इन्द्रादि देवता रहते थे। मेरु नामक पर्वत संसार में प्रसिद्ध है। इस परम्पराजनित प्राप्त ज्ञान को समय-समय पर आचार्यों ने लिपिबद्ध कर संहिता एवं अन्य ग्रंथों की रचना की है। परम्परा प्राप्त ज्ञान को आत्तोपदेश कहा गया है :

वेदों में रुद्र, अग्नि, वरुण, इन्द्र मरुत आदि को देवभिषक् कहा गया है। अश्विनी कुमार आरोग्य, दीर्घायु, शक्ति, प्रजा एवं समृद्धि के प्रदाता कहे गये हैं। अत: इस लेख में संक्षिप्त रूप से आयुर्वेद प्रवर्तक देवलोक-भिषेक् इन्द्र देवता के निवास स्थान के संदर्भ में प्रकाश डाला जा रहा है। यथा

आयुर्वेद प्रवर्तक इन्द्र देवता :

वंश–देवराज इन्द्र ऋषि कश्यप के पुत्र थे। इनकी माता दक्ष-प्रजापति की कन्या अदिति थी। इन्द्र को अदिति के पुत्र होने से आदित्य

कहा गया है। इन्द्र का विवाह प्रलोमा दानव की पुत्री शची से हुआ था। इन्द्र के 11 भाई थे एवं श्रेष्ठ गुण होने से देव कहलाने लगे हैं, यथा-भंग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, पूषा, त्वष्द्रा, इन्द्र विष्णु ये बारह आदित्य माने गये हैं। वेद में इन्द्र शक के अनेक अर्थ हैं। चरक संहिता में शचीपति, वलहन्ता, सुरेश्वर, शतक्रतु, अमरगुरु आदि विशेषण इन्द्र के मिलते हैं। कौटिल्य अर्थशास्त्र में इन्द्र का पर्याय बाहुदन्तीपुत्र मिलता है। इसके अतिरिक्त शक, शतक्रतु, अमरप्रभु, शचिपति, सहस्त्राक्ष आदि नाम इन्द्र के वर्णित हैं। वैदिक साहित्य में इन्द्र के 51 अर्थ व पर्याय मिलते हैं।

इन्द्र शब्द की निरुक्ति :

"इन्द्र इरां घणातिवा, इरां दतातीति वा" अर्थात् जो जल अथवा अन्न को फोड़ता है जो अन्न एवं जल का दाता है, जो अन्न एवं जल को धारण करता है, अन्न अथवा जल का निवारण करता है, जो चन्द्रमा के लिए प्रव्य रूप होता है जो चन्द्रमा में रमता है, जो प्राणियों को प्रकाश देता है, जो प्राणों में प्रकाशित होता है जो इस संसार का निर्माण करता है, जो इस संसार को देखता है, जो ऐश्वर्य सम्पन्न है, जो शत्रुओं का विदारण करता है, जो पातकों का आदर करता है जो आरोग्य प्रदान करता है वह इन्द्र है।

उपनिषदों में प्राण इन्द्र है। प्रकाशित करने वाला इन्द्र है यही ब्रह्मा है। यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, इन्द्र ही प्राण है, इन्द्र ही रुद्र है। इन्द्र ही अन्तरिक्ष में चलने वाला वायु है। इन्द्र ही सूर्य है। चक्षु में जो तेज है वह इन्द्र है यह अर्थ किया है। इन्द्र अपनी माया से बहुत से रूप धारण करता है। इसी ब्रह्म परमात्मा के भय से वायु चलती है। इसी ब्रह्म के भय से सूर्य उदय होता है। इसी के भय से अग्नि जलाने का कार्य करता है। इसी ब्रह्म के भय से मृत्यु प्राणियों का मारण करता है। शरीर में स्तन के समान लटकता हुआ तालु इन्द्रयोनि है। यह तालु योगसाधन में उपयोगी है। एक ही सत् को ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, जीवात्मा, परमात्मा-भय और वायु कहते हैं। इन्द्र अपनी माया से कई रूप धारण करता है। उपनिषदों ने इन्द्र का अर्थ ब्रह्म किया है जो कि उचित प्रतीत होता।

इन्द्र का काल एवं भारत में निवास :

पुराणों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि इन्द्र का काल त्रैतायुग के प्रारम्भ में माना गया है। त्रैता के अन्त में इन्द्र ने आयुर्वेदोपदेश किया। विक्रम सम्वत् 8500 वर्ष पूर्व इन्द्र का काल माना जा सकता है। इससे पूर्व भी अनेकों सहस्त्रवर्ष पूर्व इन्द्रादि देव अवतरित हुए हैं। इन्द्र आदि बारह भ्राताओं का उल्लेख है। ब्रह्मा के पश्चात् दूसरा दीर्घ जीवी ऋषि इन्द्र हुआ एवं इन्द्र को दीर्घायु माना गया है। अध्यात्म ज्ञान के लिए प्रजापति कश्यप के समीप इन्द्र ने 101 वर्ष ब्रह्मचर्य वास किया। इन्द्र ने अपने प्रिय शिष्य भारद्वाज को आयुर्वेद का उपदेश हिमालय में दिया। इन्द्र स्वर्ग में रहता था एवं देवों का राज था किन्तु उनके जीवन में ऐसे अवसर आये थे कि उसे स्वर्ग को त्याग कर भारत में आना पड़ा। वामन पुराण में लिखा है कि इन्द्र ने यमुना नदी के दक्षिण तट पर अपना निवास स्थान बनाया ऐसा उल्लेख है। समुद्रमन्थन हेतु इन्द्र, विष्णु आदि देवता स्वर्ग से भारत में आये थे ऐसा वर्णन उपलब्ध है। महाभारत में उल्लेख है कि कंस ने इन्द्र के साथ युद्ध किया। तक्षक नाग, विदर्भ नरेश, भीष्मक, वसु सूर्यवंशी सुदास आदि भारतीय राजा इसके मित्र थे। देवों का भारत में और भारतीयों का देवलोक में आना-जाना निरन्तर रहता था। ऋषि-वशिष्ठ इन्द्र का यज्ञ कराने देवलोक में आते थे। इस प्रकार के कतिपय उल्लेख पौराणिक ग्रंथों में उपलब्ध हैं।

अध्ययन-अध्यापन :

इन्द्र ने अनेक गुरुओं से विविध विद्याएं ग्रहण की। गुरु परम्परा से अनेकों शास्त्रों का इन्होंने अध्ययन किया। चरक के अनुसार इन्द्र ने अश्विद्वय से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। आत्मज्ञान प्रजापति से, शब्दशास्त्र बृहस्पति से, इसी प्रकार छन्द, पुराण एवं नीतिशास्त्र का अध्ययन भिन्न-भिन्न देव ऋषियों से किया। इन्द्र ने भृगु, अंगिरा, अत्रि वशिष्ठ, कश्यप, अगस्त्य, प्रलस्त्य, वामदेव, असित एवं गौतम आदि ऋषियों को आयुर्वेद एवं अन्य शास्त्रों का अध्यापन कार्य किया। मुख्य रूप से इन्द्र के कश्यप, भारद्वाज, वशिष्ठ, अत्रि, भृगु इन पांच ऋषियों को आयुर्वेद का उपदेश दिया। सर्वप्रथम परमर्षि भारद्वाज को इन्द्र से आयुर्वेदोपदेश ग्रहण करने हेतु नियुक्त किया गया। धन्वन्तरि ने इन्द्र से आयुर्वेद का ज्ञान ग्रहण किया। पुनर्वसु, धन्वन्तरि, निमि कश्यप, आलम्बायन आदि महर्षियों को इन्द्र ने आयुर्वेद का उपदेश दिया।

ऋषि आत्रेय पुनर्वसु ने अपना समस्त जीवन देवलोक में ही व्यतीत किया था। अग्निवेश, पाराशर, जतुकर्ण, सारपाणि, भेल और हारीत ने ऋषि पुनर्वसु से देवलोक में ही आयुर्वेद शिक्षा पाई थी।

इन्द्र ने अपाला नाम की स्त्री के चर्मरोग का और अपाला के पिता का खल्वाट रोग का निवारण किया था। इन्द्र ने अन्धे ऋषि भारद्वाज को दृष्टि प्रदान की थी। इस प्रकार इन्द्र आयुर्वेद के प्रवर्तक एवं प्रमुख चिकित्सक थे।

उपरोक्त पौराणिक संदर्भ स्थलों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उत्तराखण्ड हिमालय अनादिकाल से ही ब्रह्मादिक ऋषि-मुनियों की तपस्थली रही है। भारतीय ऋषि मुनीश्वरों ने गंगा, भागीरथी, अलकनन्दा, यमुना, सरस्वती, चन्द्रभागा, कैलाश, मानसरोवर, पवित्र नदियों के तटों, सरिताओं एवं गुफाओं में बैठकर आयुर्वेद छन्द, मीमांसा, योग, दर्शन, व्याकरण पुराणों का सृजन किया। आयुर्वेद के आदि प्रवर्तक देवता इसी देवलोक हिमालय में निवास करते थे, जो कि उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट है।

कुमाऊंनी बालगीत

--जगदीश जोशी

नन्हे-मुन्हे जितने प्यारे होते हैं, उतने ही प्यारे होते हैं वे गीत जो वे अपनी बाल-सुलभ तोतली वाणी से गुनगुनाते हैं। जो उनको माटी की गंध लिये जन्म के साथ प्राप्त होते हैं तथा जिन्हें वे प्रकृति की पाठशाला में सीखते हैं। भारत वर्ष के उत्तर में पार्वत्य उपत्यकाओं के मध्य हिम किरीट धारी कूर्मांचल के सुदूरवर्ती ग्रामों में, जहां अभी तक आधुनिक सभ्यता के पग चिन्ह, संचार व परिवहन की सुविधाएं, विज्ञान की सफलताएं एवं देवी सरस्वती की आलोक रश्मियां नहीं पहुंच पाई हैं–बच्चों का एक गीति संसार जीवित है, जो पीढ़ी दर पीढ़ी लोक शैली से चिर-नवीन गीतों को गा-गा कर हंसते-खेलते, लड़ते-झगड़ते कूदते-फांदते और अठखेलियां करते सारे साल भर मस्त रहते हैं।

कुमाऊंनी बच्चों का गीति संसार :

इन ऐसे निराले गीतों के सम्बन्ध में जो बच्चे-बच्चे की जुबान से गाए जाते हैं, एक जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न हो आती है कि इन गीतों की रचना किसने की होगी? कौन होगा वह भाग्यशाली सर्जक? दरअसल ये गीत उत्तराधिकार के रूप में बच्चों की एक पीढ़ी ने दूसरी पीढ़ी को सौंप दिये हैं। कल ये गीत हमने गाये थे, हम से पहले हमारे बड़े भाई बहनों ने, आज इन्हीं गीतों को हम अपने छोटे भाई बहिनों के मुंह से सुनते हैं तथा आने वाले समय में इनसे भी छोटे भाई बहिनों के मुंह से इन्हीं गीतों को सुनेंगे। हो सकता है इन गीतों की रचना किसी कवि विशेष द्वारा न होकर स्वयं बच्चों के द्वारा ही हुई हो। रचनात्मक या सर्जनात्मक प्रतिभा का स्रोत भी तो स्वयं बचपन ही हुआ करता है। अचानक किसी एक बच्चे के मुंह से निकले बोल सभी बच्चों के बोल बन गये होंगे। यह सब उनको हवा पानी आदि की तरह प्रकृति के निकट सानिध्य से प्राप्त हुआ होगा। कुल मिला कर प्राचीन मौखिक परम्परा से वर्तमान लिखित परम्परा में आने तक इन गीतों की सर्जनात्मक प्रतिभा चाहे कोई क्यों न रही हो, अपने-अपने समय में सभी इन गीतों को गुनगुनाते हैं।

किसी भी गीत की उत्कृष्टता उसकी सरलता, लघुता, ऊंची कल्पना, तीव्र लयात्मकता एवं ध्वनि संगीत से हुआ करती है। इन्हीं कारणों से गीत प्रभावशाली होते हैं तथा श्रोताओं को स्पन्दित कर देते हैं। कुमाऊंनी शैली के बालगीत कभी भी चार-चार, आठ-आठ पंक्तियों से अधिक नहीं होते। जहां इनमें एक ओर बच्चों की चंचलता एवं कौतूहल होता है वहीं दूसरी ओर दार्शनिक की गम्भीरता भी कम नहीं पाई जाती। निम्न गीत में यह दोनों लक्षण विद्यमान हैं ही साथ ध्वनि संगीत भी कम नहीं है :

"द्यो लागो दण-दण
बुड़ बाड़ी भंण-भंण।"

(पहाड़ी प्रदेश होने के कारण कूर्मांचल के निवासियों को ठंड का बहुत अधिक सामना करना पड़ता है। हेमन्त की ठंड में जब मूसलाधार वर्षा होने लगती है तो बच्चे प्रसन्न हो कर नृत्य करने लगते हैं लेकिन जैसे ही कोई वृद्ध ठंड के कारण गोलोकवासी हो जाता है तो उनके हृदय में विषाद घुल जाता है।)

गेयत्व प्रकृति :

प्रायः बच्चों के द्वारा गाये जाने वाले गीतों को ही बाल गीत समझा जाता है। वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। क्योंकि बच्चों के लिये गाये जाने वाले गीत भी उसी तरह बाल गीत होते हैं जिस तरह बच्चों के द्वारा गाये जाने वाले। कुमाऊंनी लोक साहित्य इन दोनों ही प्रकार के बाल गीतों से सुसम्पन्न है। बच्चे अपने गीतों को खेलते या कार्य करते दोनों ही समय अकेले एवं समूह में गाते हैं। उनके लिये गाये जाने वाले गीत माता-पिता, भाई-बहिन, या किसी बड़े सगे संबंधी द्वारा गाये जाते हैं। वात्सल्य रस से सराबोर इन गीतों को गायक या तो बच्चों को सुलाने के लिये लोरी के रूप में गाता है या खिलाने के लिये। बच्चे को पैरों पर बिठा कर झुलाते हुए गाये जाने वाले "घुघुति-बासुति" के गीत में गाने वाला बच्चे से पूछता है-------अगर वह ऊंचे आकाश में उड़ चला जाय तो कहां जाके बसेगा? वहां क्या खायेगा? उसे खाने को कौन देगा? स्वयं ही बच्चे की ओर से उत्तर भी देता है कि वह वहां दूध-भात खायेगा जो उसे उसके सगे संबंधी–मामा, मामी आदि देंगे :

"घुंघूति ?
बासूति ?
के खाली ?
दूध भाति
को देलो ?
मामा देलो
मामी देली।"

गीतों का विभाजन :

कुमांउनी शैली के बाल गीतों में उद्देश्य, गायक, व्यापार, प्रकृति एवं लिंग से संबंधित व्यापक अन्तर पाया जाता है। यदि किसी गीत को गाये जाने का उद्देश्य खेल को शुरू करना होता है तो किसी गीत का उद्देश्य जंगल चरते जानवरों को घर वापस लौटने के लिये टेरना होता है। यदि किसी गीत को बड़े गाते हैं तो किसी गीत को बच्चे गाते हैं या कोई गीत बालिकाओं के ही गाने के लिये होता है। कोई गीत किसी त्यौहार के अवसर पर गाया जाता है तो कोई गीत ऋतु परिवर्तन के समय। स्पष्टतः कुमाऊंनी शैली के बाल गीतों में विश्लेषणात्मक दृष्टि से

व्यापक अन्तर पाया जाता है। सुविधा के लिये हम इन गीतों का निम्न भांति विभाजन कर सकते हैं।

(1) क्रीड़ा सम्बन्धी एवं ऋतु परिवर्तन के गीत :

ये गीत किसी भी विषय वस्तु को संप्रेषित कर सकते हैं लेकिन त्यौहार के समय, ऋतु परिवर्तन के समय या खेलते समय ही गाये जाते हैं। खेल संबंधी गीतों की यह पहिचान होती है कि ये खेलते समय क्रीड़ा व्यापार को आगे बढ़ाते हैं। परन्तु त्यौहारों, उत्सवों एवं ऋतु परिवर्तन के समय गाये जाने वाले गीतों को पहिचान पाना कठिन है। क्योंकि प्रत्येक ऋतु के आगमन पर कोई न कोई पर्व अवश्य मनाया जाता है। जैसे वसन्त के आने पर "फूल देई" वर्षा ऋतु की समाप्ति पर "खतड़ुवा" तथा हेमन्त में मकर संक्रान्ति को "घुघुतिया" मनाया जाता है। स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता कि अमुक गीत ऋतु परिवर्तन का है या त्यौहार का।

कूर्मांचल के बच्चे को मां की गोद की भांति आंख खोलते ही जो दूसरी चीज प्राप्त होती है वह प्रकृति का निकट सानिध्य है। यहां का जाड़ा-गर्मी-वर्षा, यहां के गाड़-गधेरे, हाड़े-भीड़, चीड़-देवदार, बांझ-बुरांश के जंगल सभी की ओर वह आश्चर्य भरी दृष्टि से देखता है। वसन्त में रंग-बिरंगी घाटियां, बुरांश के फूलों की गुलाबी ओढ़नी ओढ़े वनानी, बरसात की रिमझिम मेह, कलकलाते झरने, उमड़ते-घुमड़ते-गड़गड़ाते गाड़-गधेरे, चीड़ वन की सांय-सांय तथा जाड़ों में हिमाच्छादित पर्वत शृंखलायें सभी उसे सम्मोहित करते हैं। जाड़ों में सांध्य बेला को आग का अग्योठा जलाकर, उसके चारों ओर नाचते, भुनते स्योंत के गूदे (चीड़ के बीज) ठूङते, दादा-दादी की कहानी सुनते उछलकूद मचाते वह गा उठता है :

> **"धम्मा तुक्कुड़ि मध्यक् ब्या**
> **कैका नानतिन कैको क्या**
> **मै थै कौनी पैसा ल्या।"**

त्यौहारों में कोई भी त्यौहार ऐसा नहीं जिसमें बच्चे सोल्लाश सरीक न होते हों। इस पर भी कुछ त्यौहार ऐसे होते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध बच्चों से ही होता है। ऐसे त्यौहार कूर्मांचल में मुख्यत: तीन हैं-फूल देई, खतड़ुवा तथा उतरैणी। फूल देई का त्यौहार जो जैसे बच्चों का वसन्तोत्सव ही है। चैत्र मास की संक्रान्ति के पहले दिन ही बच्चे "छापरी" अर्थात् टोकरी भर-भर के फूल चुन लेते हैं। दूसरे दिन सवेरे ही फूलों से भरी टोकरी, गुड़ और चावल के थाल सजा-सजा कर गांव मुहल्ले के घर-घर में जाते हैं। सभी घरों की देलियों की फूल-अक्षत से पूजा करते हुए कहते हैं कि तु हम सबके लिये दैंण (दाहिनी) होवे तथा हमारे घरों में भकार (अनाज रखने के बांस की लकड़ियों के बने बड़े-बड़े पात्र) हर समय भरे रहें :

> **"फूल देई**
> **छम्मा देई,**
> **दैणी द्वार,**
> **भर भकार**
> **तु देई हुणी**
> **बारम्बार**
> **नमस्कार।"**

हर घर के लोग बच्चों को चावल, गुड़ और पैसा देकर विदा करते हैं। शाम को भिगा कर सुखाये चावल को सिल में पीस के उसमें गुड़ मिला के घी में पका कर "साई" बनाया जाता है। इस त्यौहार के सम्बन्ध में एक बात स्पष्ट कर देना अच्छा होगा कि यद्यपि यह बालिकाओं का ही पर्व माना जाता है लेकिन अब बालक भी इसमें समान रूप से भागीदार होने लगे हैं। इस त्यौहार का समापन पास पड़ौस में साई बांट कर किया जाता है।

बच्चों का दूसरा त्यौहार होता है "घुघुतिया" या "उतरैणी" जो मकर संक्रान्ति को मनाया जाता है। मकर संक्रान्ति की शाम को आटा के घुघुते शकरपाले, बड़े आदि कई चीजें तेल अथवा घी में सामर्थ्यानुसार पका कर नारंगी के दाने के साथ हार में "गछ्याये" (गूंथे) जाते हैं प्रातः सभी बच्चे गले में घुघुतों की माला डाल कर, अपने-अपने घर से गा-गा कर कौवों को बुलाते हैं। कांव-कांव करते हुये कौवे घुघुतों को लेने के लिये आकाश में आते जाते हैं और नीचे आंगन से बच्चे गाते जाते हैं :

> **"काले कौवा काले**
> **घुघुति मवा खाले**
> **लै कौवा पूरी**
> **मैं कैं दी जा सुनु छूरी**
> **ले कौवा बड़**
> **मैं कै दीणा सुनु घड़**
> **लै कौआ मेचुलो**
> **भोल बै आलै**
> **तेरी गालड़ि थेचुंलो।"**

इसी तरह से क्वार मास की संक्रान्ति को खतड़आ बनाया जाता है। यह विशेष रूप से बच्चों और जानवरों का पर्व है। जानवरों को तो इस दिन अच्छा-अच्छा भरपेट चारा दिया जाता है। दिन में ही बच्चे घास-फूस आदि से खतड़ुए का पुतला बना लेते हैं और संध्या को मक्के के डंडों में छिलके (चीड़ की लकड़ियों के लीसे से युक्त छोटे-छोटे टुकड़े) बांध कर उसको कुश के फूलों एवं अन्य पुष्पों से सजा कर मुध्याल तैयार कर लेते हैं। सांझ होते ही मशाल जला कर गोशाले के चारों कोनों में मशाल घुमा कर "निकल भुइंयां भैर, निकल भुइंयां भैर" कहते हुए पशु रोगों व व्याधियों का भुइंयां (भूत) बाहर निकाला जाता है। यहीं से चौराहे पर बने खतड़ुवे तक मशाल यात्रा आरम्भ होती है। चौराहे पर जाकर जब सभी घरों के बच्चे पहुंच जाते हैं तो खतड़ुवे पर आग दे दी जाती है। जब तक खतड़ुवा पूरी तरह जल नहीं जाता यह गीत चलता रहता है :

> **"भैलो खंतड़ुवा**
> **भैलो-भैलो!!**
> **गैया की जीत**
> **खतड़ुवे की हार**
> **गाय बैठी गोठ**
> **खंतड़ु लागो धार।"**

संक्रान्ति की संध्या को किसी ऊंची चोटी पर बैठ के खतड़ुवों का दृश्य देखना तथा चारों ओर पहाड़ियों से टकराती, घाटियों में गूंजती

उपरोक्त गीत की धुन सुनना स्वयं में एक अनूठा सौन्दर्यबोध एवं एक अनूठी आनन्दानुभूति है। अन्त में जब खतड़ुवा जल जाता है–ककड़ी काटी जाती है तथा आपस में एक दूसरे को बांटी जाती है।

कुमाऊंनी शैली के बाल गीतों में कोई भी गीत ऐसा नहीं होता जिसे खेल से पृथक किया जा सके। फिर भी कुछ गीत ऐसे होते हैं जो केवल किसी खेल विशेष के क्रीड़ा व्यापार को संचालित करने में सहायता करते हैं। यहां एक बात स्पष्टनीय है–जिस तरह से बच्चों की हर बात एवं व्यवहार का अर्थ लगाना आसान नहीं उसी तरह बाल मानस को प्रतिबिम्बित करने वाले हर गीत का भी अर्थ नहीं बताया जा सकता। उसका उद्देश्य मात्र खेल को आगे बढ़ाना होता है। आवश्यक नहीं कि यह जहां पर प्रयुक्त होता है उसी से सम्बन्धित भी हो। जैसे गुल्ली डंडा या कब्बड़ी खेलते समय खिलाड़ियों को दो दलों में विभाजित करने हेतु जोड़ी फानने का गीत या "सोई" खेलते समय चोर निकालने का गीत :

"अक्कड़-बक्कड़ बम्बे बौ
अस्सी नब्बे पूरी सौ
सौ में लागा ताला
चोर निकल भागा।"

सृष्टि कार्य को सुगमता से संचालित करने के लिये प्रकृति ने अन्य प्राणियों की भांति मनुष्य को भी नर और नारी दो रूपों में बनाया है। इसके समग्र कार्यों का लक्ष्य एक होते हुए भी इनमें संचालन वैषम्य पाया जाता है। जो इन बाल गीतों में भी कम परिलक्षित नहीं होता। कुछ गीत जो बालिकायें गाती हैं बालक नहीं गाते। जो खेल बालक खेलते हैं, बालिकायें नहीं खेलती। बालकों के गीतों में जहां एक ओर वाह्य जगत की प्रधानता होती है वहीं दूसरी ओर बालिकाओं के गीतों में, घर गृहस्थी, ससुराल, सास ससुर आदि की। दोनों हाथोंको कैंची की तरह से एक दूसरे के ऊपर रखके पुनः उसी तरह रखे हुए सहेली के हाथों की अंगुलियों को पकड़ कर खेले जाने वाले अस्सी-कस्सी के खेल/नृत्य में यह संसार स्पष्ट परिलक्षित होता है :

"अस्सी-कसी डन्डिया, एक कौड़ी की हण्डिया,
हल्दो सांटो बल्दोलिगे, दुल्हो छी गठिया।
आज तेरी मांगी-जांगी, भोल तेरो ब्या,
टूटी गई खंन्यारी, खंराब गया ब्या।
अखौड़ै दाणि खुंप मण नारिंड़ें दाणि रस,
सासु ज्यू का झांकरि मणि, ठिणुक पाड़ो ठस।"

(एक बार के खेल में केवल एक ही चरण गया जाता है)

(2) समस्या मूलक गीत :

कूर्मांचल देश का एक अभिन्न अंग है। देश के अन्य क्षेत्रों की भांति यह क्षेत्र भी अनेकानेक आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त है। बच्चों के संबंध में एक समस्या सहज ही उठायी जा सकती है –उनके गीतों में आर्थिक समस्याओं के प्रयोजन से सम्बन्धित। क्योंकि यह सब उनकी समझ के परे है। बच्चों को तो अपने कूदने फांदने, खेलने, खाने से ही अवकाश नहीं फिर क्योंकर वे इन समस्याओं में उलझने लगे। एक सीमा तक यह ठीक भी है। पर बच्चा भी परिवार में ही रहता है। परिवार ही आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का मूल है। परिवार में जो कुछ हो-गुजर रहा होता है उससे एक बच्चा कहीं न कहीं चेतन में नहीं भी तो अचेतन में अवश्य प्रभावित रहता है। आर्थिक विपन्नता तो एक ऐसी व्याधी है जो बच्चे को बचपन में ही वयस्क बना देती है तथा वयस्क को असमय बृद्ध। वर्ष भर ऐड़ी चोटी का श्रम करने पर भी जब कृषि से दो जून के गुजारे के लिये भी पर्याप्त अन्न पैदा नहीं होता, ऐसी कृषि से उत्पादित माण भर (आधा कि. ग्रा. के लगभग) गेहूं को पीसते समय यह समस्या उठ खड़ी होती है कि उसे हाथ से चलाये जाने वाले "चाख" में जो पीसा जाय या पानी से चलने वाले "घट" में। ताकि रोटियां बनाई जा सकें। आटे का एक बहुत बड़ा भाग तो इधर उधर घट में ही या पाटों के आसपास ही चिपक जायेगा। इधर है कि पेट में भूख के मारे चूहे चूचा रहे हैं। अर्थ व्यवस्था का यह अस्थि-पंजरी स्वरूप बच्चों के मुंह से निम्न भांति सुनाई पड़ता है :

"च्यूं ममुसी च्यूं
घट णै तिसूं
चाख णै पिसूं
माण भरी ग्यूं।"

(3) श्रम गीत :

कूर्मांचल के शहरी क्षेत्रों में रहने वाले बच्चों को भले ही पृथक से खेल का समय मिल जाता हो लेकिन ग्रामीण बच्चों के लिये तो श्रम ही खेल है। बालक हो या बालिकायें सभी 3-4 वर्ष की उम्र से ही माता-पिता के साथ कार्य में हाथ बटाने लगते हैं। सच्चाई तो यह है कि बिना बच्चों की सहायता लिये उनके माता-पिता के लिए पहाड़ का यह कष्ट साध्य जीवन जी लेना असम्भव है। चाहे वह घास काटना हो, लकड़ी लाना हो, चक्की पीसना हो, उखेल कूटना हो या गाय बकरी चराना सब में ही बच्चे बड़ों के साथ बराबर के भागीदार होते हैं। दिन भर बच्चे जंगल में गाय बकरी चराते हैं तो आपस में कोई न कोई खेल भी खेलते रहते हैं। खेलते समय जहां एक ओर गाय बकरियों के खो जाने या दूसरे के बोये खेतों में उण्याड़ खाने (चरने) का भय होता है वहीं दूसरी ओर स्वयं गाय बकरियों को ही सियार या बाघ के द्वारा मारे जाने का भय भी कम नहीं होता। ऐसी जोखिम भरी स्थिति में भी एक बच्चा संध्या समय किस सुरीली धुन में अपनी बकरियों को घर वापस लौटने के लिये टेरता है :

"आज बाकरी ब्याव है गैछ
त्यार पछिल स्याव ऐ गेछ
घंर जै बेर मार पड़ली
याद आला बू-बू
आ ली ली बकरी ली ली छू-छू।"

बच्चे जितनी शीघ्र छोटी-छोटी चीजों के लिये मचल जाते हैं उतनी ही शीघ्र थोड़ा सा प्यार भरा प्रलोभन देने पर मान भी जाते हैं। इसलिये भी प्यारा प्रलोभन वे स्वयं खेतों में अनाज की बालियों पर बैठी चिड़ियाओं को कन्टर बजा-बजा कर भगाते वक्त यह कहते हुए देते हैं कि इस समय वह उड़ जाय, बाद में जब फसल अच्छी तरह तैयार हो जायेगी कट कर खलिहान में चली जायेगी तो वे उनको "घ्यू पप्पा" (घी चुपड़ी रोटी) खिलायेंगे :

"हवा चड़ी हू वा
घ्यं पप्पा खा।"

(4) **हास्य एवं वात्सल्य के गीत :**

कौन व्यक्ति किस-बात पर हंस देगा इसका उत्तर दे पाना सम्भव नहीं है। फिर भी कुछ ऐसी स्थितियां होती है जिस पर सभी हंस देते हैं। यदि एक वय एवं समझदार व्यक्ति भरी सभा में नंगा आ जाए तो सभी उस पर थू-थू करने लगेंगे। यदि उसी सभा में चार पांच वर्ष का कोई बच्चा ऐसी हालत में चला जाय तो वहां पर उपस्थित जन समुदाय मुस्करा उठेगा। इसी भांति जिन शब्दों को बोलने पर साहित्य में अश्लील करार दिया जाता है उन्हीं शब्दों को बच्चों के मुंह से कहला देने पर वह सुमधुर हास्य का श्रजन कर देता है। कुमाऊंनी बाल गीतों में भी कई गीत हैं जो इसी तरह की हास्यानुभूत प्रदान कराते हैं। यथा :

**"एक थालि में खिरची-मिरची
एक थाली में मवा,
भौजी भैया हगण गया
धोती लीगो कवा"।**

माता पिता का बच्चों के प्रति स्नेह तो विश्व विदित है ही। जिस तरह से प्रत्येक समाज में मातायें बच्चों को सुलाते वक्त लोरियां गाती है उसी प्रकार कुमाऊंनी में भी लोरिया गाई जाती हैं। निम्न गीत को मातायें बच्चों को नहलाने के पश्चात् कपड़े पहना कर उसे डलियां में सुलाते वक्त बच्चे के उदर में गुदगुदी करते हुए गाती हैं :

**"बाड़ में कवा छ
डल्ला में भव्वा छ
उखांव में पिन्ना छ
देखिये बुड़िया
देखिये देखिये।"**

(5) **ग्रामीण एवं नगर गीत :**

वैसे ग्रामीण तथा शहरी दोनों ही बच्चों द्वारा गाये जाने वाले गीतों में कोई विशेष अन्तर नहीं पाया जाता। गांव का बच्चा जब शहर में आ जाता है तो वहां से शहरी गीत सीख लाता है तथा शहर का बच्चा जब गांव में आता है तो वहां से ग्रामीण गीत सीख जाता है। यदि कोई अन्तर किया भी जाय तो वह या तो उच्चारण का होगा या फिर गीत हिन्दी में होगा। कुमाऊंनी बच्चों द्वारा हिन्दी में गाया जाने वाला एक गीत :

**"अटकन बटकन दही चुटाकन
बबा गयो दिल्ली
वहां से लायो सात बिली
एक बिल्ली कांणी
माधो बन की राणी।"**

(6) **होलियां :**

कुमाऊंनी बच्चों की पृथक से कोई होली नहीं है। कारण—बच्चे और बड़े सभी साथ बैठ कर होलियां गाते हैं। कहीं पर बच्चे अलग से अपना झुण्ड बनाकर होलियां गाते भी हैं तो ये वही होलियां होती हैं जो उन्होंने बड़ों से सीखी होती हैं। या उनको गाते सुनी होती हैं। लेकिन इस कमी की पूर्ति कुमाऊंनी लोक शैली के युवा कवि—श्री राजेन्द्र बोरा ने एक नई शुरुआत पृथक से बच्चों के लिये नई होली लिख कर दी :

**"नन्द जसोदा को लाल होली खेलण आया
दगाण में आया ग्वाल बाल होली खेलण आया
श्री कृष्ण ज्यू की मुरूल बाजी रें
अबीर गुलाल लै गलाड़ छाजि रै
रंक लै तरबर आड़-होली खेलण आया
ढोलुकै की थाप मजीरी की झम-झम
नाना तिना नाचण लागि रया ठुम ठुम
दगड़िया बड़ी रया स्वाड़ होली खेलण आया
घर-घर, कुड़ि-कुड़ि हो हो हो लखरे
कंच मंच जीरों लाख बरस रे
नान तिनन की दाड़ होली खेलण आया।"**

इस होली के अतिरिक्त भी कुमाऊंनी लोकशैली के रचनाकार लिखित साहित्य की परम्परा में राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय एकता अपनी थाती, अपनी माटी एवं अपने आकाश आदि कई पहलुओं का स्पर्श करते हुये बाल गीतों की रचना कर रहे हैं।

बाल गीत एवं भावनात्मक एकता :

मिजोरम से लेकर राजस्थान तक, कश्मीर से लेकर कन्या कुमारी तक हम सब विश्व में अग्रणीय अपनी पुरातन संस्कृति एवं "वसुधैव कुटम्बकम्" के आदर्श सूत्र से जुड़े हैं। हम को यह मानना ही पड़ेगा कि तमाम सारी विविधताओं के बावजूद भी हमारी जड़ें नीचे एक ही जमीन में तथा हमारी शाखायें ऊपर एक ही आकाश में यत्र-तत्र-सर्वत्र फैली हैं। फिर क्योंकर हमारे ये बाल गीत इस आदर्श से अछूते रहते। चाहे किसी भी अंचल के बाल गीत क्यों न हों उनमें किसी न किसी प्रकार की समानता अवश्य मिलती है। जरा पूर्व उद्धृत "द्यो लागो दण-दण" बाल गीत की तुलना "बरसो राम धड़ाके से" करें क्या इनमें कोई समानता नहीं है? इसी तरह अवधी का यह गीत :

**"खान्ता मन्ता थेई थे
एक ड़िकौया पाई थे
गंगा में बहाई थे
गंगा मइयां बाल दिहीन
उ बालूम हम भुजवा को दीन
थस करवा हमें घस दि स
उ धसिया हम गइ याकेदीन
गैया हम्मै दूध दिहिस
वही दुधवा खाता का खीर पकायऊं
चला भइया खाय ला
भइया मारे दुइ लात।"**

जिसमें गाने वाला व्यक्ति बच्चे को टांगों पर झुलाता है और गीत के अन्त में पु लु लु लु लु लु कह कर टांगें ऊपर उठा देता है। बच्चा उल्टे मुंह गाने वाले की छाती पर आ गिरता है। अन्त में दोनों हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाते हैं। यद्यपि कथ्य या भाषा के धरातल पर नहीं भी तो कम से कम क्रिया या उद्देश्य के धरातल पर यह गीत कुमाऊंनी "घुघुति बासुति"

के गीत से मिलता है। इसी तरह से दूध-भात खीर-चन्दा मामा आदि का जिक्र सभी आंचलिक बालगीतों में आता है। देखें जरा भोजपुरी का यह बाल गीत :

"चांद मामू ओर आब, बोर आब
नदिया किनारे आब
सोने की कटोरिया में
दूध भात ले ले आब
बउआ के मुहं में घुटुका।"

भोजपुरी और कुमाऊंनी दोनों ही बच्चों को दूध भात खूब भाता है। अन्तर बस इतना है कि एक उसे चन्दा मामा से सोने की कटोरी में लाने को कहता है तो दूसरा उसे "घुघुति" (एक पक्षी) बन अपने मामा के घर उड़के जाकर खाने की कल्पना करता है।

यह अपनी बोली के बाल गीतों से समझने का एक क्षुद्र प्रयास था। बच्चों की तरह ही उनके बाल गीतों को समझने एवं संवारने के लिये ही अत्यधिक सूझ-बूझ एवं श्रम की आवश्यकता है। जिस प्रकार एक बच्चा भावी व्यक्ति का अल्प विकसित रूप है, व्यक्ति के व्यक्तित्व का मूल है उसी तरह बाल गीत भी साहित्यिक जगत के मूल स्रोत हैं। इनकी अवहेलना समूचे साहित्य का अपमान है। बाल गीतों के मूल्यांकन के लिए मनो-वैज्ञानिक की पर्यवेक्षण क्षमता, कवि की ऊंची उड़ान, दार्शनिक की गम्भीरता, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक धरातल आदि की समझ बूझ तथा मिट्टी से सम्बन्ध आवश्यक है। तभी इनका सही-सही मूल्यांकन हो सकता है। अन्यथा इन बाल गीतों का अस्तित्व रद्दी की टोकरी में फैंके कूड़े से अधिक कुछ नहीं होगा।

इतिहास की स्मृति में :

पहाड़ी कुंभ बनाम उतरैणी

--सुधीर शाह

अल्मोड़ा जिले में सरयू-गोमती के तीर पर स्थित, पुण्य धाम बागेश्वर (जिले की एक तहसील) में, हर वर्ष सम्पन्न होने वाले "पहाड़ी कुम्भ" अर्थात् "उत्तरायणी" लोक पर्व को "जीवंत" रखने के लिए पुनः सक्रिय प्रयास हो रहे हैं, यह आवश्यक भी है।

पहाड़ में "उतरैंणी" बनाम उतरायणी, माघ माह का प्रमुख और सर्वप्रथम पर्व है। "उतरैंणी" अल्मोड़ा जनपद से 10 किलोमीटर दूर स्थित बागेश्वर--जिसे "पहाड़ की काशी" कहा जाता है --में हर मकर सक्रान्ति के अवसर पर, प्रख्यात बागनाथ आस्थान में हर वर्ष त्रिदिवसीय रूप में बड़ी श्रद्धा, उल्लास और सरगर्मी के साथ मनाया जाता है।

रंगीला है कुमाऊँ, इसलिए इसके पर्वों में भी विविधता है। जंगल-पहाड़ और नदी-घाटियों से जुड़ा हुआ यहां का प्रकृत मानस, विशुद्ध लोकतत्व की वानगी से, जिस सांस्कृतिक धरोहर को हर लोकपर्व में मनमोहक व सजीला रूप देता आया हैं, उसकी सरसता-सहजता अपने आप में एक स्वयं-भू भावभूमि है। उत्तरायणी–इसी सम्मोहन का एक समृद्ध एवं भव्य लोकरंगी लोक पर्व है।

उत्तराखण्ड का "प्रयाग–व्याघ्रेश्वर" :

कूर्मांचल में "उत्तरैंणी" पर्व रामेश्वर घाट, सल्ट, महादेव, बागेश्वर और चित्रशिला आदि प्रमुख स्थलों में अपनी धार्मिक एवं ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार, अपनी सम्पूर्णता के साथ मनाया जाता है। पर इन सब में से, बागेश्वर में मनाये जाने वाले इस पर्व की एक अलग ही महत्ता है। मानदंड हिमालय के अंक में गोमती--सरयू के पवित्र संगम पर, आदिदेव सदाशिव शंकर द्वारा प्रतिस्थापित पुराचीन "व्याघ्रेश्वर" (आज का बागेश्वर) उत्तराखंड का प्रमुख सुरम्य एवं मोक्षप्रदायी पावन तीर्थ के रूप में, युग-युगों से श्रद्धा और आकर्षण का केन्द्र रहा है। सरयू-गोमती के मध्य स्थित बागनाथ मंदिर की नींव कहते हैं, स्वयं पांडवों ने डाली थी। "वनपर्व" में वर्णन भी आया है कि–उत्तराखंड के यात्रा-प्रयाण में पंच पांडव बागेश्वर में रुके थे। बागनाथ मंदिर निर्माण में महाबली भीम द्वारा लाई गई बड़ी-बड़ी शिखर शिलाएं पर्वतीय धर्मप्राण जनता और पर्यटकों के लिए, आज भी शोध एवं आश्चर्य का विषय बनी हुई है।

इस बीच "उत्तरैंणी" मेले के लिए सरकारी और गैर-सरकारी प्रतिनिधियों की विभिन्न मेला समितियांगठित कर ली गई हैं और हर वर्ष की तरह सुदूरस्थ ग्राम्यांचलों से आने वाले श्रद्धालुओं के यात्रा एवं निवास व्यवस्था-सुविधा पर "विशेष" ध्यान देने की बात, शीत बचाव के लिए मेला क्षेत्र में ईंधन की तात्कालिक सुचारू व्यवस्था का काम तेजी से जोर पकड़ रहा है। साथ ही, हर वर्ष की तरह थोक के भाव सरकारी विकास कार्यों की प्रदर्शनी हेतु, जिला विभागों को "दड़वाई" प्रगति स्टाल लगाने के लिए आमन्त्रित किया जा रहा है।

यह साफ तई बात है कि पिछले लगभग डेढ़ दशक से पहाड़ का सबसे बड़ा लोकपर्व कहा जाने वाला यह "उत्तरायणी" अब धीरे-धीरे अपनी जमीन पर खुद "उतांण" (अशक्त होना) होने लगा है। हिमालय प्रांत में यह पर्व "ट्रियून मास" (जाड़े के प्रथमार्ध) का आदि पर्व है। इस अवसर पर दूरस्थ क्षेत्रों के भोले-भाले ग्रामीण अपने परम्परागत रंग-बिरंगे परिधानों में, अपनी माटी की खुशबू से सराबोर हो, अपनी बेबाक बोली और संस्कारगत मन से, जिस निश्छल और उन्मुक्त भाव से प्रकृत मंच पर तीन दिन तक इठलाते और कुहुकते हैं या अल्हड़ तरुण-तरुणियों के कंठ से उभरे लोकगीत "हुड़के" (एक लोक-वाद्य) की थाप से थिरमान होकर, जिस संगीतमय वातावरण का निर्माण करते हैं–उससे सरयू-गोमती का "बगड़" (किनारा), बागेश्वर के बाजार चौराहे और बागनाथ मंदिर से उठने वाले सामूहिक लयबद्ध बहुरंगी स्पर्श की गंध से, चारों ओर बहने वाली "बयार" ही कुछ और होती है।

पर्व की आत्मा मेला :

पर सन् 1962 के भारत चीन युद्ध ने "उत्तरायणी" की मूल आत्मा को मार दिया है। इस संदर्भ में यह कहना अनावश्यक न होगा कि–कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में, पहाड़ के पर्व-मेले और त्यौहार, भौगोलिक परिवर्तन और स्थानीय अर्थव्यवस्था से जुड़े हुए हैं। "उत्तरैंणी" के इस रास-रंग तर्ज में स्थानीय संस्कृति के साथ-साथ, स्थानीय अर्थव्यवस्था का सटीक चक्र भी है। यह इसलिए कि, इस लोक मेले में जहां आज से एक दशक पूर्व, लगभग डेढ़ लाख से अधिक आदमी इकट्ठा होता था उससे स्थानीय व्यापारी अपनी कुल सालाना

आमदनी का 25% व्यापार, मेले के छः–सात दिनों में पूरा कर लेते थे। वर्ष 1960–61 में बागेश्वर के इस "मेलाई बाजार" में लगभग 6 लाख रुपये की खरीद-फरोख्त थी वहां वर्ष 1980–81 में, कुल खरीद-फरोख्त का प्रतिशतांक 4 भी नहीं रह गया। जहां कुनत्रों के कुनवों और गांव के गांवों में भोट प्रदेश, तिब्बत, नेपाल, दानपुर, कपकोट और सोर के, "घरेलू व्यापारी" दन, चुटके, गलीचे, कम्बल, जम्बू, घी, शहद, जड़ी-बूटी, कस्तूरी, लकड़ी-लोहे के बर्तन, आयुध, कृषि उपयोगी सामग्री और स्थानीय खाद्य उपज आदि, त्रिभाषी सक्रांत पर्व से दस दिन पूर्व थोक के भाव लाकर बेचते थे। अब यहां रोज का बाजारु व्यापारी और विकास प्रदर्शनी में लगे जिला मुख्यालय और प्रदेश के विभिन्न विभागों के "डिब्बेनुमा स्थलों" की ही औपचारिकता रहती है। कभी जहां दानपुर की "चांचरी" (एक लोकगीत पुकार) और सोर घाटी की "न्यौली" मेले की "धड़कन" होती थी वहां अब, शहराती संस्कृति का संस्करण ही विविध स्वरूपों में अधिक दिखाई देता है।

सन् 1962 में बागेश्वर का तिब्बत और नेपाल से सीधा व्यापारिक संपर्क टूटने के बाद और वर्तमान अर्थव्यवस्था के आपाधापी संघर्ष ने, उत्तरायणी "म्याल" (मेला) की आत्मा को पंगु सा कर दिया है। यही कारण है कि छठे दशक बाद इस "पहाड़ी कुम्भ" में जुड़ने वाली भीड़ निरंतर ह्रास दर ह्रास की ओर उन्मुख होती गई। हालांकि हर वर्ष जिला प्रशासन और प्रदेश सरकार द्वारा इसे सफल बनाने का हर संभव प्रयास किया जाता है पर फिर भी कुछ ऐसी बात है कि इस सांस्कृतिक पर्व का पुराना रूप नहीं नजर आता।

जागर

कुमाऊंनी का मौखिक प्रबन्ध-काव्य-समूह

--डा० देव सिंह पोखरिया

जागर से अभिप्राय-- 'जागर' शब्द संस्कृत 'जागृ' (जागर) से बना है। जिसका शाब्दिक अर्थ है –जागरण या उद्‌बोधन। कुमाऊं में इस शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट प्रकार की गाथात्मक गान-शैली के लिए होता है। इस गान शैली में रात्रि जागरण करके जगरिया (कथा गायक या देवता जगाने वाला) विशिष्ट संगीत उद्‌बोधन द्वारा मानव-शरीर में देवता का अवतरण कराता है। अतः 'उद्‌बोधन' या चेतन कराने के अर्थ में 'जागर' शब्द संगत प्रतीत होता है। गान शैली विशेष होने पर भी 'जागर' में दोनों अर्थों– 'जागरण' और 'उद्‌बोधन' की प्रत्यक्ष प्रतीति है। अपने इस व्यापक सन्दर्भ में:- 'रात्रि जागरण करके देवी देवता की मनौती या प्रेत-बाधा निवारण हेतु 'जगरिए' द्वारा गायी जाने वाली सारी गाथाएं, जिनके गाने से देव या प्रेत विशेष चेतन होता है जागर कहीं जाएंगी।'

जागर और धर्मगाथा--- विषय-वस्तु की दृष्टि से जागरकर्ता को धर्मगाथाओं की कोटि में रखा जा सकता है। 'धर्म' की उत्पत्ति मानव समाज की विकसित अवस्था में हुई और उसके मूल में आदिम प्राकृतिक व्यापार और घटनाएं तथा आदिम मनोभाव रहे होंगे। किसी गाथा को 'धर्मगाथा' कैसे माना जाए, इसके लिए विद्वानों ने उसके पीछे धार्मिक पृष्ठ भूमि का होना आवश्यक माना है। धर्मगाथा के मूल में उसके कथन-श्रवण से किसी लौकिक या धार्मिक लाभ की गणना सन्निहित रहती है। उसमें किसी देवी-देवता या पराशक्ति के प्रति जीवन्त आस्था रहती है। अतः इसका पुराख्यान ही धर्मगाथा है। धर्मगाथाओं का मूलवृत्त किसी इतिहास-पुरुष से भी संबंधित हो सकता है। और कल्पित देव या शक्ति विशेष से भी। यह इतिहास-व्यक्ति अयथार्थ ही हो सकता है, जिसे बाद में ऐतिहासिक बना दिया जाता है। इतिहास के निर्माण में पुरातात्विक सामग्री और इतिहासकार का ही योग नहीं रहता, लोक कल्पना भी प्रभावी रहती है। कोई 'गड़देवी' थी या नहीं पर कथक्कड़ ने उसे सीता की उत्पत्ति की घटना के साथ जोड़कर ऐतिहासिक रंग दे दिया है। यद्यपि राम कथा की ऐतिहासिकता भी अभी पूर्णतः असंदिग्ध नहीं स्वीकारी जा सकी है।

जागर पद्धति---जागर में एक मुख्य कथागायक होता है, जिसे 'जगरिया' कहा जाता है। जगरिया के साथ दो या दो से अधिक सहायक होते हैं, जिन्हें 'भगार' या 'हेवार' कहते हैं, जो कथा-गायन के मध्य 'हेव' या 'भाग' लगाते हैं। जिस व्यक्ति (स्त्री या पुरुष) के शरीर पर देव या भूत अवतरित होता है, उससे 'डङरिया' (कांपने वाला) कहा जाता है। सहगायकों में से एक या एकाधिक व्यक्ति सहवाद्य यन्त्रों को बजाते हैं। जागरों में ढ़ोल, मुरयो (मुरज) नगाड़ा, ढोलक, हुड़ुक थाली, परात, मिजुरा आदि वाद्य यन्त्र बजाये जाते हैं।

मुख्य गायक 'जगरिया' मुख्य वाद्य यन्त्र के साथ संज्यवाली, ईश वन्दना, सृष्टि वर्णन आदि के पश्चात् मुख्य कथा आरम्भ करता है। कथा देव या भूत विशेष से सम्बद्ध भी हो सकती है और असम्बद्ध भी इस कथा को 'भारत' कहा जाता है। इसमें गायन व वाद्यों की लय विलम्बित रहती है। यह अवतरण से पूर्व की एक पृष्ठ भूमि सी है। जिसके द्वारा देव अथवा भूत विशेष को आमंत्रित किया जाता है। पुनः कथा विभिन्न सोपानों को पार करती अवान्तर कथाओं से जुड़ती विकास को प्राप्त होती है। कथा का मुख्य उद्देश्य श्रोताओं का मनोरंजन करना एवं कथा के प्रति श्रोताओं की आस्था उत्पन्न करना है। देव या भूत से सम्बद्ध कथाओं में वीरता, संघर्ष, युद्ध, करुणा, अन्याय आदि प्रसंगों पर गायक देव या भूत विशेष को ललकार कर आह्वान करता है साथ ही गायन व वाद्य यंत्रों में एकाएक द्रुतलय आ जाती है। गायन-वादन की इसी सम्मिश्रित झंकार के मध्य स्त्री अथवा पुरुष पर देव या भूत अवतरित हो आता है। यहीं से कथा असम्बद्ध हो तत्संबंधित देव या भूत की कथा से जुड़ जाती है।

गायन-वादन की तीव्र लय के मध्य अवतरित व्यक्ति नृत्य करता रहता है। नृत्य में अनेक विधि मुद्राएं एवं क्रियाएं सन्निहित रहती है। अवतरित व्यक्ति से नाराजगी या अल्पमृत्यु का कारण, अपने कष्टों, इच्छा पूर्ति आदि के विषय में पूछा जाता है। इसके अतिरिक्त इन सब के निवारण तथा निराकरण के विषय में भी पूछा जाता है। देव इच्छापूर्ति के उपरान्त मंगल—कामना एवं आशीर्वचन देता है और भूत अपनी अल्पमृत्यु के विषय में बतलाता है। अल्पमृत्यु के कारण उसकी भटकती आत्मा किसी पारिवारिक जन पर आ जाती है और उससे आविष्ट परिवारी जन, भतात्मा से मुक्ति के निवारण के उपाय बतलाता है। उस भटकती आत्मा की शान्ति के लिए परिवारी जनों द्वारा उसे वस्त्र, बलि खाद्यादि इच्छित वस्तुएं प्रदान करने का वचन

दिया जाता है और गुरु (जगरिये) द्वारा जाल काटकर उस भटकती आत्मा को शान्त कर, उसके पुरखों के साथ भेज दिया जाता है। जाल लकड़ी के बर्तन (या उपलब्ध न होने पर गिलास) पर बनाया जाता है और प्रथमतः भूत फिर सभी परिवार जनों द्वारा उसके तागे काटे जाते हैं। इस क्रिया को 'जाल काटना' कहा जाता है। स्थानीय देवी देवता के अवतरण पर उसे छोपरच्छा (क्षेमरक्षा) करने को कहा जाता है और व्याधि-निवारण का उपाय पूछा जाता है। देवता के आशीर्वचन देने एवं उपाय बतलाने के बाद उसकी पूजा करके जगरिया उससे कैलाश (देव निवास या स्वगृह) जाने का अनुरोध करता है।

ये सारी क्रियाएं पूर्ण होने पर तंत्र, टोटके, पूजा-बलि आदि के साथ जागर का समापन होता है। स्थान के आधार पर जागर घर के बाहर और भीतर दोनों स्थलों पर कहीं भी लग सकते हैं। कुछ स्थानों में 'गोठ' में भी जागर लगाये जाते हैं। विशेषतः जिन जागरों में विशाल 'धूनी' जलती है, वे घर के बाहर लगते हैं। कुछ जागर देवी-देवताओं के मंदिरों में भी लगते हैं।

जागर और जागा, ख्याला, नौर्त, चौरास, 'बैसी' आदि :

जागर से मिलते-जुलते अनेक नाम और पूजा पद्धतियों को भी प्रायः जागर के समानार्थी समझा जाता है। जैसे-जागा, ख्याला, नौर्त, बैसी आदि ; पर ये पद्धतियां या तो जागर विशेष का ही अंग हैं या जागर के किसी एक वैशिष्ट्य को घोषित करने वाली हैं।

जागर और 'जागा' 'जागौ' या 'जागिना' में विषयवस्तु और गान-पद्धति में समानता रहते हुए भी दोनों में मूलभूत अंतर है। जागर में कथात्मकता और प्रबन्धात्मकता का होना अनिवार्य है और कई दिन तक प्रबन्ध को गाया जाता है, पर 'जागा' केवल देवता के जागरण-अवतरण मात्र से संबंधित है। 'जागा' प्रायः एक रात्रि के लिए लगती है। कई स्थानों में देवियों के जागर को भी 'जागा' कहते हैं।

गंगानाथ के जागर को प्रायः ख्याला कहा जाता है। 'ख्याला' शब्द ऐसे जागरों के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है, जिनमें 'खेल' अर्थात् नृत्य तत्व की प्रधानता हो। गंगानाथ की 'ख्याला' प्रायः चार ग्यारह से चौदह रात्रियों तक भी लगती है।

नवरात्रियों में देवी-देवता के मंदिरों में गाई जाने वाली जागर-गाथाओं को नौर्त' कहा जाता है। इसमें उन 'झोडों' का भी समावेश हो जाता है, जो 'देव' से संबंधित गाथा के रूप में मंदिरों में गाये जाते हैं।

अवधि की दृष्टि से चार रात्रियों तक गाये जाने वाले जागर 'चौरास' कहलाते हैं और ग्यारह या बाईस दिनों तक गाये जाने वाले जागर 'बैसी' कहे जाते हैं। नवरात्रियों में देव-स्थानों में 'बैसी' का आयोजन सामूहिक रूप से होता है। आजकल 'बैसी' ग्यारह दिनों में प्रातः और संध्या गाकर पूर्ण मानी जाती है, जबकि कुछ समय पहले तक यह बाईस दिनों तक गाई जाती थी। बैसी में महिलाओं के शरीर पर देवता का अवतरण नहीं होता है। यह एक सामूहिक धार्मिक उत्सव है, जिसमें सभी ग्रामवासी अनिवार्यतः भाग लेते हैं। कभी-कभी अनेक आस-पास के गांव भी सम्मिलित रूप से 'बैसी' का आयोजन करते हैं।

जागर और रमौल– 'रमौल' स्थूल रूप में जागर की ही एक विशिष्ट गायन पद्धति है। पर सूक्ष्म रूप में दोनों में पर्याप्त अन्तर है। 'रमौल' वंश से संबंधित वीर की गाथाओं को 'रमौल' कहा जाता है। लोक-गायकों के अनुसार 'रमौल' ऐसा 'लोक प्रबन्धात्मक महाकाव्य' है जिसमें महाभारत की ही भांति असंख्य खण्ड गाये जाते हैं। कुमाऊं में रमौल-बन्धुओं को अवतार माना जाता है और इष्ट-प्राप्ति एवं बाधा निवारण हेतु उनका आह्वान किया जाता है। इन्हें रात्रि-जागरण और 'अवतरण' के आधार पर जागरों के अन्तर्गत रखा जा सकता है, पर वाद्य-यंत्र, विषय, गायन शैली आदि के आधार पर ये जागरों से भिन्न है। जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि जागर मूलतः अल्पमृत्यु, अपूर्ण एवं अतृप्त काम व्यक्ति की अकाल मृत्यु के कारण आविष्ट व्यक्ति के बाधा- निवारण हेतु ही लगाएं जाते हैं, जबकि रमौल में इष्ट प्राप्ति एवं दैहिक-दैविक बाधा निवारण और पूजा-विधान की प्रधानता रहती है। 'घन्याली' में सिदुवा-विदुवा गड़देवी के धर्मभाई कहे जाते हैं और नारसिंह, कल्वा आदि के साथ ही रमौला भी नाचते हैं, पर भूतांगी जागरों में भूत अवतरण ही प्रमुख रहता है। रमौलों गाथाएं भी परी, आंचली, गड़देवी आदि घन्याली के अवसरों पर ही गायी जाती है भूतांगी जागरों के अवसर पर नहीं। भूती जागरों की सी जाल काटने की विधि 'रमौल' में नहीं होती। कुमाऊंनी लोक साहित्य अधिकांश अध्येताओं ने रमौल घन्याली आदि को स्थूल रूप में जागरों में सन्निविद करके उनकी कथावस्तु का विवेचन कर दिया है, जिससे इन लोक-धर्मी आख्यानक काल शब्दों के शैली व विषयगत सूक्ष्म अन्तर को जिज्ञासु पाठक आज भी ठीक प्रकार से नहीं समझ सका है। यद्यपि तन्त्र-मन्त्र, पूजा, समाधान बलि, रात्रि-जागरण नाथ और सिद्ध प्रभाव प्रायः सभी तत्व जागरों में भी मिलते हैं, पर जागर मूलतः भूत पीड़ित व्यक्ति अथवा उसके परिवार जनों द्वारा भी लगाये जाते हैं देव-जागर सामूहिक रूप से लगाये जाते हैं। रमौलों के 'भारत' में अन्य किसी गाथा का (उनसे संबंधित भाषाओं को छोड़कर) गायन नहीं होता और भूत आदि के जागरों में रमौल नहीं गाये जाते। रमौल गाथाओं में सिद्ध नाथ पंथी तांत्रिकों का स्पष्ट प्रभाव है जबकि भूतांगि और कुछ देव-जागरों में यह प्रभाव परिलक्षित भी होता। 'जागर' में लय व वाद्य वैभिन्य रूप है। जबकि रमौल में यह अधिसंख्य रूप में विद्यमान है।

जागर और घन्याली–– 'घन्याली' 'घड़ेली', 'घनेली', 'घणेली' रात्रि-जागरण और उद्बोधन एवं अवतरण के कारण 'जागर' ही लगती है, किन्तु यह जागर परम्परा से भिन्न गान-शैली है। इसमें भी कथा या कथांश 'भारतों' के रूप में गाये जाते हैं। 'धन' शब्द अनुरण-नमूलक है। इसमें वाद्य के रूप में हुड़क या डमरू के साथ तांबे के बर्तन पर रखी कांसे की थाल बजती है। भरतमुनि के 'कांस्यतालादिकम मुक्कथन से दोनों वाद्यों के स्वर विनियोग से उत्पन्न ध्वनि से घन (घण) की सार्थकता को समर्थन मिलता है। संख्या, भारत, विलम्बित और द्रुतलय, देवत्व, अवतरण आदि जागर और घन्याली दोनों में रहते हैं। किन्तु दोनों की गान शैली पृथक-पृथक है। घन्याली में गुरुदेवी, परी-आंचरी आदि मातृ शक्तियों का आह्वान होता है और इष्ट प्राप्ति हेतु उनको पूजा जाता है। 'घन्याली' के 'भारत' 'जागरों' के 'भारत' से भिन्न होते हैं। घन्याली में मुख्यतः रमौलों की गाथाएं

और महिष मर्दिनी महाकाली की कथाएं गायी जाती हैं, जबकि जागरों के भारत' इनसे भिन्न होते हैं। 'घन्याली' गायक की 'घनेलिया' कहा जाता है। 'घण्याली' को वर्ष में एक दो बार दुहराया जाता है। तंत्र अभिचार आदि के रूप में इसमें मसाणी और समसाणी पूजा भी होती है, जो जागरों में नहीं मिलती। इन देवियों का अवतरण किसी स्त्री शरीर में ही होता है, जबकि जागर में देवत्व अवतरण स्त्री पुरुष किसी के भी शरीर में हो सकता है। घन्याली पारिवारिक इष्ट प्राप्ति हेतु लगती है, पर जागर पारिवारिक या प्रभावित आविष्ट व्यक्ति के बाधा-निवारण के अतिरिक्त सामूहिक रूप में भी लगते हैं, यहां तक कि उसमें पूरा गांव हिस्सा लेता है।

कुमाऊंनी लोक-साहित्य के कुछ अध्येताओं ने घन्याली को स्फुट गीतों के अन्तर्गत माना है, जो उनकी लोक-साहित्य विषयक अल्पज्ञता का द्योतक है। 'घन्याली' भी अन्य धर्मगाथाओं की भांति लोक प्रचलित है, जिसमें कई-कई रातों तक 'भारत' गाया जाता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपने व्यापक अर्थ में जागर के अन्तर्गत रमौल, घन्याली आदि गान-शैलियां समाविष्ट हो जाती हैं और सीमित अर्थों में भूत-प्रेत एंव बाधा-निवारण एवं ईश-इष्ट प्राप्ति ही जागर के अन्तर्गत आते हैं। वस्तुतः गान शैली की विविधता ही उन्हें भिन्न रूप प्रदान करती है। धर्मगाथा तत्वों की दृष्टि से ऊपर के सारे गान-शैली रूप जागर कहे जायेगें।

जागरों का वर्गीकरण–– जागर विषयक जानकारी के बाद उनके वर्गीकरण के संबंध में भी बात करनी आवश्यक है। यद्यपि विषय-वस्तु और शैली आदि आधारों पर जागरों का वर्गीकरण हो सकता है पर इसके अतिरिक्त स्थान, वाद्य, गान-शैली, पूजा-विधि, आदि आधारों को महत्व दिए बिना जागर के भेदोपभेदों का तथ्यसंगत वर्गीकरण नहीं हो पाएगा। यहां वर्गीकरण के कुछ आधार निम्न, हैं :

1-स्थान की दृष्टि से :

I घर के भीतर लगने वाले जागर

II घर के बाहर लगने वाले जागर

III देवी-देवताओं के मंदिर में लगने वाले जागर

IV गोठ में लगाये जाने वाले जागर

2-प्रमुख वाद्यों के प्रयोग के आधार पर :

I हुड़के के साथ गाये जाने वाले जागर

II डमरू के साथ गाये जाने वाले जागर

III सूरज के साथ गाए जाने वाले जागर

IV ढोलक-दमामों के साथ गाए जाने वाले जागर

3-गेयता के आधार पर :

I विशुद्ध गीतात्मक जागर

II चम्पू शैली के जागर (गद्य-पद्यात्मक जागर)

4-अवधि की दृष्टि से :

I एक दिन तक चलने वाले (जागो)

II चार दिन तक चलने वाले (चौरस)

III ग्यारह दिन तक शाम-सुबह चलने वाले (बैसी)

IV बाईस दिन तक चलने वाले (बैसी)

5-लैंगिक आधार :

I भूतों, देवताओं या राजाओं के जागर

II भूतनियों, देवियों या रानियों के जागर

6-विषय-वस्तु, धर्म व लोक विश्वास की दृष्टि से :

I भूतों के जागर (भूतांगी)

II देवी-देवताओं और सहायक शक्तियों के जागर (देवांगी)

III राजाओं या वीर पुरुषों के जागर (राजांगी)

कुमाऊं में प्रचलित प्रमुख जागर :

1-'गोल्ल', 'ग्वेल' या 'गोरिया' का जागर

2-हरू सैम का जागर

3-मलयनाथ का जागर

4-नागवंशियों के जागर

5-चंदवंशियों के जागर

6-वैताल का जागर

7-कालछिन का जागर

8-गंगानाथ का जागर

9-भोलानाथ का जागर

10-मसैनाथ का जागर

11-कलुवा (कलविष्ट) का जागर

12-नानसीड़ का जागर

13-परियों व आंचरियों के जागर

14-नंदादेवी का जागर

15-गंगादेवी का जागर

16-जियारानी का जागर आदि।

इनके अतिरिक्त लोग-गायकों द्वारा स्थानीय वीरों तथा महाभारत व रामायण के कथांशों को भी अवतरण या 'औतार' के पूर्व 'भारत' के रूप में गाया जाता है, जिनमें प्रमुख निम्न है :

1-रमौल खण्ड

2-पुरुख पंत की कथा

3-कुन्ती के पुत्र-प्राप्ति का प्रसंग

4-पाण्डव-बनवास

5-भीम-हिडिम्बा प्रणय

6–अर्जुन-वासुदत्ता प्रणय प्रसंग

7–रामजन्म एवं राम-विवाह प्रसंग

8–राम-बनवास

9–सीता-त्याग

10–वाणासुर की कथा

11–भस्मासुर आदि की कथा

इस प्रकार देखा जा सकता है कि 'जागर'-पूजा अभिधान की प्रणाली भी है और लोक गाथाओं की सुविशाल विस्तृत एवं परम्परित गान-शैली भी।

जागर में नृत्य-योजना– नृत्य का प्रारम्भिक रूप धार्मिक रहा होगा, क्योंकि आदिमानव का नृत्यविधान कलात्मक निपुणता की अपेक्षा उसकी धर्म-प्रवृत्ति और प्रकृति एवं पराशक्ति के प्रति उसकी आस्था का प्रतीक रहा होगा। कुमाऊं की जागर आदि-धर्मगाथाएँ ऐतिहासिकता की दृष्टि से प्राचीन लगती हैं। इन धार्मिक गीतों के लोक-प्रचलन के पश्चात् धार्मिक नृत्यों का रूप भी अस्तित्व में आया होगा। जागर में देव या भूत विशेष के अवतरण के बाद उससे विविध नृत्य-क्रियायें सम्पन्न कराई जाती हैं। इनमें आह्वान, सम्मोहन और अवतरण आदि की प्रक्रिया नृत्याधार पर सम्पन्न होती है। कथा गायक के इंगित पर या कथा प्रसंगों के अनुरूप 'डङरिया' विविध हाव-भावों के साथ नृत्य मुद्राएं प्रस्तुत करता है। युद्ध-प्रक्रिया, दैत्य के साथ संघर्ष, गंगा स्नान, धूनी रमाना, गुरुपूजा, अतुला भनार पूजा, कपड़े धोना, रोना आरती करना आदि क्रियाओं में आंगिक अभिनय का प्रदर्शन अवतरित देव या भूत विशेष द्वारा किया जाता है। कुछ जागरों में सामूहिक नृत्य भी होता है। नारसिंह, कलुवा, गोरिया आदि का नृत्य, वीर व रौद्र भावों की प्रधानता के कारण शास्त्रीय आधार पर 'तांडव' के निकट रखा जा सकता है, और देवी, महाकाली आदि के नृत्य 'लास्य' की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। इनमें देव अथवा देवी विशेष के आधार पर पहनावे के वस्त्रों में भी भिन्नता रहती है। नारसिंह, गंगानाथ, रमौल आदि भगुवा वस्त्र पहनते हैं व लोहे का चिमटा, विमल का गोटा एवं भगुवा झोली पकड़ कर नाचते हैं। कलुवा काले वस्त्र पहन कर नाचता है। देवी रेशमी पिछौड़ा, अंगियाँ और घाघरा धारण कर नाचती है। महाकाली काला वस्त्र पहनती है।

नृत्य के अनुरूप गीत व वाद्य की लय और गति विलम्बित मध्य या द्रुत रूप में चलती रहती है। भूत के नृत्य में जिस व्यक्ति पर भूत अवतरित होता है, वह मृतक के हाव-भाव और वाणी में नृत्य करते हुए अपने कष्ट, जल भोजन, वस्त्रादि न पाने के अभावों का वर्णन करता है और नानाविधि रूप में उसकी खेला पूर्ण कर अन्त में जाल काटा जाता है। परियों और आंचरियों का नृत्य स्त्री स्वभावानुरूप लोचपूर्ण, कमनीय और मंथर गति वाला होता है।

जागरों में इस नृत्य-विधान के मूल में लोक-मानस का आदिम धार्मिक विश्वास निहित है। इनके नृत्यविधान को देखकर कहा जा सकता है कि नाटकों की प्रारंभिक अवस्था में ये नृत्य निश्चित ही अभिनय के प्रेरणास्रोत रहे होंगे।

जागर में गायन और छांदसिकता– जागर-गाथा में गायन के प्रायः दो रूप मिलते हैं–विलम्बित गायन और तीव्र गायन। कथारम्भ एवं कथाविकास की विभिन्न दशाओं में मंद, विलम्बित और देव या भूत के अवतरण के समय गायन में अत्याधिक तीव्रता आ जाती है। गायन के अनुरूप हीं वाद्य-यन्त्रों में भी तीव्रता आ जाती है। वस्तुतः गायन और वाद्य की यह तीव्रता नृत्य के आग्रह से आती है। विभिन्न रस-पेशल प्रसंगों के अवसरों पर कथागायक तदनुसार लय अपनाता है।

गायन में आवृत्ति, आक्षिप्ति और वाद्य यन्त्रों के स्वरों द्वारा चरण पूर्ति की विशिष्टता पायी जाती है। कथा-गायन में पंक्ति से पूर्व हे, अरे, आरे, हा, गाड़ी, नारायना, शिवो, देवी, भगवान, बालागोरिया, आँहाँ, हाँ, हाँ, हरी, माता आदि अनेक ध्वनियाँ गायक द्वारा उच्चारित की जाती हैं और पंक्ति की पूर्णता पर भगारों (हेवारों) द्वारा हां-हां-हां या हो-हो-हो आदि ध्वनि द्वारा भाग लगायी जाती है।

अन्य प्रबन्ध गाथाओं की भांति कुमाऊंनी की वार्णिक उच्चारण परम्परा के अनुरूप जागर गाथाओं की लय और तदनुरूप निर्मित छांदसिक शिल्प भी वार्णिक और अनुकान्त है। यद्यपि छन्दों को दृष्टि में रखकर कथागायक कभी नहीं गाता बल्कि छन्द को वह जानता भी नहीं, पर लय की पकड़ उसकी अत्यन्त गहरी होती है और जहाँ लय होती है, वहाँ छन्द वैसे ही उपस्थित रहता है, जैसे सरिता के साथ उसका किनारा। छन्द लय की एक निश्चित पद्धति है। लोक गीतों में लयानुकूल छंद-निर्माण की अपरिमित शक्ति पायी जाती है।

गायक यह मानकर नहीं चलता कि छंद चार ही चरणों का होता है, फिर भी वह कहीं न कहीं यति लेता ही है अतः उसी वजन को छंद के पाद या चरण का आधार माना जा सकता है, जिसका प्रवाह चार चरणों तक ही सीमित न रह कर अनिश्चित रहता है।

अतुकान्त लय-प्रवाह, प्रबन्धात्मकता के लिए सर्वोत्तम सिद्ध होता है, अतः लोक गायक प्रबन्ध गाथाओं में इसी लय को सर्वाधिक अपनाता है। जागर गाथाओं में तुकान्तता होती ही नहीं, ऐसी भी बात नहीं है। कई गाथाओं में उच्चकोटी की अन्त्यानुप्रासिकता पायी जाती है।

इन गाथाओं में 6 वर्णों से लेकर 24 वर्णों तक के (और अधिक भी) सम छन्दों का प्रयोग पाया जाता है :

(i) वन की बाखुरी — 6 वर्ण
घरीन पैंगया — "
बन की गाइना — "
घरीन पैंगया — "
डालि परवाना — "
रुख वासो लिह्यो — "
तालों की मछोली — "
जल वासो लिह्यो — "

(ii) जलवारी होला आव, जल ले पिलूंलो ।
वस्त्रानंगा भया कौला, मैं वस्त्र पैरूंलो ।
अन्न भूका ह्वाला भूता, भोजन खिलूंलो,
तीन लोकी नाथ तवा, विधाग्या योताला ॥

उपरोक्त गीत 14 वर्णिक है ।

(iii) अधरात वली होली, अधरात उनी बाबा
नौ डिणा नूनी का आजू, बदन भिजाए बाबा ।
राती में धेकछ तूले, सूणी का सपना बाबा ।
जुवा धपन को खेल अल्मोड़ि का हाट बाबा ।

उपरोक्त गीत 16 वर्णिक है ।

जागर में भी सभी प्रबन्ध गाथाओं की भांति आवृत्तियों और आक्षिप्तिकाओं से अनेक लय-परिवर्तन हुए हैं और इस आधार पर छंदवैविध्य की अनेक स्थितियां आयी हैं, एक उदाहरण प्रस्तुत है :

हरी जगदीसा झुमूकैलो । 6+4 वर्ण
देवैलोका धरा झुमूकैलो ।
कसी कै पुजलो झुमूकैलो ।
कुन्ता को विलाप झुमूकैलो ।

इस उदाहरण में मूलतः लय षट् वर्णिक है, पर चार वर्णों की आवृत्ति होने से लय 6+4=10 वर्णों की हो गयी है । इस प्रकार के लोक गायक बहुलता से करता है, जिससे गायन में वैविध्य का स्वाभाविक समावेश हो जाता है ।

जागर गाथाओं में विषम छन्दों की लय भी पर्याप्त मात्रा में मिलती है । अर्द्ध सम छंद सिक लय अवश्य कम है । विषम लय का निर्माण निपादों अथवा अनिश्चित चरणों के योग या आवृत्तियों से होता है । आवृत्ति का पद, गायन में प्रायः कोरस होता है :

कटरै की खैछ,	6 वर्ण
गुरु की चौभाड़ी माँजा,	8 वर्ण
रोटी पाकी गैछ,	6 वर्ण
गाड़ी छुम,	4 वर्ण
रोटी पाकी गैछ गाड़ी छुम ।	(कोरस)

इन आवृत्ति अथवा टेक पदों की वर्ण संख्या 9 से 18 वर्णों तक मिलती है । ये कोरस जागर में नृत्य-विधान की योजना करते हैं इन टेक पदों में छन्द प्राणवान होकर संगीतात्मक स्वरों में अभिव्यक्ति पाता है । यहां छन्द अपने यति, गति, लय और ताल में संगीत के साथ एकाकार हो जाता है और संगीत की स्वर-प्रक्रिया छंद की लय को संचालित करती है । इसके अतिरिक्त कुमाऊंनी के कुछ मुक्तक गीतों के छन्दों की लय भी जागर गाथाओं में प्रयुक्त होती है ।

शैव, शाक्त और तांत्रिक प्रभाव— जागर गाथाओं पर शैव, शाक्त और तांत्रिक तत्वों का प्रचुर प्रभाव परिलक्षित होता है । महाकाल, शिव,शिवगण, दुर्गा, शक्ति, महाकाली, मसाणी आदि की अवधारणा शैव-शाक्त प्रभाव का इंगित करती है, इसी के अनुरूप वस्त्र, वास, मुद्रा नृत्य और लोक विश्वास आदि इनमें पाये जाते हैं । हिमालय शिव का अधिवास है और हिमालय के विभिन्न शिखरों और उप-कंठों में अनेक शिवगण और आंचरी, किंचरी निवास करते हैं । गह्वरों, अंधी खोहों आदि में अनेक मसाण निवास करते हैं । इस रूप में इनमें लोक मानस का वह आदिम रूप व विश्वास परिलक्षित होता है, जब वह प्रकृति पूजा और भूत-पूजा करता था ।

इसी प्रकार सिद्ध-नाथ योगियों के तांत्रिक प्रभावों ने भी इन गाथाओं को पर्याप्त प्रभावित किया है । गंगानाथ, भोलानाथ आदि नाम इस प्रभाव के प्रत्यक्ष वाहक हैं । सिदुवा और विदुवा को जनश्रुति के अनुसार गोरखनाथ ने दीक्षा दी थी, गाथाओं में भी इस तथ्य का उल्लेख मिलता है । सिदुवा-विदुवा को यहाँ का लोकमानस तंत्र का प्रकांड पंडित स्वीकार करता है । यहाँ तक कि 'मालूसाई' नामक प्रसिद्ध प्रेम गाथा में भी सिदुवा-विदुवा राजकुमार मालू की सहायता करते हैं ।

जागरों का नृत्य-विधान और उनकी देवी अवधारणा तन्त्र योग की ध्यान-पद्धति से साम्य रखती है, जो हिमालय के इस उपान्त प्रदेश में स्थित मध्ययुगीन तांत्रिक उपासना केन्द्रों की ओर संकेत करती हुई प्रतीत होती है । उद्‌बोधन, आह्वान, अवतरण एवं तदाकार होने की स्थिति तांत्रिक पद्धति से मेल खाती है । वस्तुतः यह व्यक्ति दर व्यक्ति, जाति दर जाति के सम्मिश्रण से बनी सांस्कृतिक विशिष्टता है, जो स्थानीय होते हुए भी लोक मानस के आदि विश्वासों का प्रतिनिधित्व करती है । यह विशेषता किसी स्थान विशेष की नहीं, अपितु सम्पूर्ण लोक की है । हाँ स्थानीय जन उसे अपनी थाती कह सकते हैं ।

लोक-विश्वास और दैवी अवधारणा : एक सर्वेक्षण :

इन धर्मगाथाओं द्वारा लोक-विश्वासों पर भी अच्छा प्रकाश पड़ता है । पराशक्ति की पूजा, प्रकृति-पूजा, भूत-पूजा आदि वस्तुतः आदिम मानस के ही अवशिष्ट चिन्ह हैं । रहन-सहन, रीति-नीति, प्रथा-परम्परा, खान-पान, वेश-भूषा, यात्रा-उत्सव, सगुन-असगुन, धर्म-ज्योतिष, दैनिक क्रिया, कार्य व्यवहार, कष्ट-बाधा आदि सभी के पीछे लोकमानस में कोई न कोई विश्वास कार्य कर रहा होता है । विशेषतः इष्ट-कामना, बाधा, पीड़ा, कष्ट आदि के पीछे किसी अलौकिक आध्यात्मिक सत्ता के प्रति विश्वास की भावना विद्यमान रहती है और देव या भूत विशेष को इनके निवारण में समर्थ मानकर उनकी पूजा की जाती है । भटकी हुई आत्मा का पूजादि से तृप्त होना, किसी धार्मिक आत्मा या देव का मानव-शरीर पर अवतण, अल्पमृत्यु के कारण भटकती आत्मा, मंत्र जाप एवं मंत्रशक्ति, विभिन्न प्रकार के टोनों से होने वाली कार्य-सिद्धि आदि के पीछे आदिम संस्कार कार्य कर रहे होते हैं ।

आज इन बातों को कोरा अंध विश्वास और गंवारपन पूर्ण हरकतें कहने और मानने वालों की भी कमी नहीं है । आज शिक्षा, और विकसित सभ्यता के युग में सभ्यों को इनमें अभिचार और भोंडेपन के सिवा कुछ

नहीं दीखता। कुछ अंशों में आडम्बरों की बहुलता आ जाने एवं विश्वास की कमी हो जाने से ऐसा लगता भी है और यह सारी प्रक्रिया महज एक मनोरंजनात्मक नाटक से अधिक नहीं लगती, किन्तु यह सत्य, पूर्ण सत्य है अथवा नहीं ? या दैवी अवधारण के सम्बन्ध में स्वयं 'डङरिया' का क्या मत है? इस संबंध में, मैं अपने द्वारा किए गए एक व्यक्तिगत सर्वेक्षण का उल्लेख करना चाहूंगा, जिसमें मैंने अपने सर्वेक्षण कार्य हेतु 50 'डङरियों' को चुना। उनसे पूछे गए कुछ प्रश्नों के उत्तरों को यहां प्रस्तुत करना असंगत न होगा।

प्र. 1–क्या आपके शरीर पर वाकई किसी दैवी शक्ति का अवतरण होता है ?

उ. 1–हाँ (50 के 50)

प्र. 2–क्या आपको इस बात का आभास होता है ?

उ. 2–हाँ (50 के 50)

प्र. 3–क्या आवेश किसी शारीरिक या मानसिक व्याधि अथवा कमी के कारण तो नहीं होता ?

उ. 3–(i) पता नहीं (50 में से 50)

(ii) पर वह आवेश भिन्न होता है (50 में से 35)

प्र. 4–कम्पन या अवतरण के समय कैसी अनुभूति होती है ?

उ.4–एक क्षण के लिए आत्मविस्मृत्ति हो जाती है। अपनापा या व्यक्तित्व पूर्णतः विलुप्त हो जाता है (50 में से 30)

(ii) व्यक्ति अवतरित शक्ति से भिन्न नहीं होता। (50 में से 20)

प्र. 5–कम्पन्न आवेश और नृत्य एवं बोल-वचन आदि सब में लगभग 2 घण्टे तक क्या देवता शरीर पर बना रहता है।

उ. 5–(i) हाँ। (50 में से 40)

(ii) नहीं, देव तत्व केवल कुछ क्षणों का होता है, बाकी केवल नाटक होता है। (50 में से 10)

इन प्रश्नों और उत्तरों से शिक्षित और अशिक्षित 'डङरियों' की उपर्युक्त धारणाएं स्पष्ट होती हैं। 50 डरियों में 10 शिक्षित और 40 अशिक्षित थे, पर एक सर्व मान्य बात सबने कही कि ऐसी स्थिति में क्षणांश के लिए व्यक्तित्व का पूर्ण विलय हो जाता है भले ही विज्ञान मनोविज्ञान और परामनोविज्ञान कुछ भी कहे या कोई मानसिक अथवा शारीरिक क्षीणता या कमी कहे, पर कई प्रश्न आज भी परदे के पीछे अनसुलझे हैं, संभव है, आने वाला समय उन पर पड़े पर्दे के रहस्य को सुलझा कर प्रकाश डाले ?

लोक मानस और तथाकथित सभ्यता :

सभ्यता–आज का बुद्धिवादी स्वयं को तथाकथित सभ्य और सुसंस्कृत कह कर लोक संस्कृति व साहित्य की उपेक्षा करता है और उसे हेय दृष्टि से देखता है, पर वह भूल जाता है कि उसके सभ्यातिसभ्य मानस में भी गमले में पाले जाने वाले फूल और पिंजरे में पाले जाने वाले तोते की आदिम मानसिकता विद्यमान है। ये प्रवृत्तियाँ वस्तुतः कृषि और पशु-युग के अवशेष हैं आज की तथाकथित नगरों में निवसित सभ्यता लोक-संस्कृति के महत्व को स्वीकार करते हुए भी उससे भावनात्मक स्तर पर नहीं जुड़ पाती हैं, क्योंकि इस सभ्यता का मूल वैशिष्ट्य मिट्टी और धरती से विछिन्न होना है। ऐतिहासिक यादगार के रूप में अपनी आंचलिक संस्कृति का नाम स्मरण कर लिया जाये, यही क्या कम है। आज कुछ उत्साही और कुछ शोधार्थी व्यक्तिगत स्तर पर इसके अनुसंधान, संरक्षण, लिप्यंकन और प्रकटीकरण के कार्य पर लगे हैं, किन्तु व्यक्ति के स्तर पर यह कार्य अत्यन्त कठिन है। लोकमानस की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति का संरक्षण और संग्रहण सरकारी स्तर पर ग्राम की सबसे छोटी इकाई मानकर किया जा सकता है। विश्व के कुछ देशों में इस प्रकार का कार्य हुआ है। इससे जन-मानस में श्रम और निष्ठा की भावना चढ़ी है और राष्ट्र की अखण्डता और भावात्मक एकता में सहयोग मिला है, लोक मानस, गतिशील होता है। अतः तदनुसार उसकी अभिव्यक्ति, शिल्प, साहित्य, और कला-कौशल आदि में भी गतिशीलता रहती है। समयानुरूप उसमें कई परिवर्तन एवं परिवर्द्धन होते हैं। अतः संग्रहीत सामग्री का अपना विशिष्ट महत्व होना स्वाभाविक है। 'जागर' या धर्मगाथा वस्तुतः किसी स्थान विशेष या अंचल की विशिष्टता नहीं हैं, अपितु लोक-मानस की गाथात्मक अभि-व्यक्ति है, जो भिन्न भाषा या बोली में भिन्न-भिन्न मानव-समुदायों में प्रचलित और परम्परित हैं।

कसकता नारी जीवन : प्रकृति के सुरम्य वातावरण में

डॉ० (श्रीमती) पुष्पलता भट्ट 'पुष्प'

प्रकृति के सम्पूर्ण वैभव को अपने में समेटे, लजीले श्रृंगारों से हरी-भरी कुमाऊं व गढ़वाल की मनोरम घाटियों की स्मृति जब मन में आती है तो मन एक अपूर्व उल्लास से भर जाता है। ऐसे में प्रकृति के उन सुन्दर व रमणीय स्थलों के सौन्दर्य का पान करने के लिए मन छटपटा उठता है। पर तभी ध्यान चला जाता है वहां की नारी की ओर। झरनों की कल-कल व अनुपम संगीतमय रम्य वातावरण के मध्य उनके कसकते जीवन की मौन व्यथा दबी ही रह जाती है।

वेदना का यह अभिशाप जन्म से ही माना जाता है। बेटी के जन्म के साथ ही माँ-बाप के सिर का बोझ बढ़ जाता है। कोई उत्सव करना तो दूर की बात है। जन्म देने वाली माँ को भी तिरस्कृत कर दिया जाता है। इस प्रकार उसके दुःखों की कथा जन्म से ही शुरू हो जाती है। कुछ बड़ी हुई तो माँ-बाप की चिन्ता भी बढ़ गई। बेटी का विवाह भी तो करना है। कितनी दयनीय स्थिति है। बचपन के जो क्षण बेटी को माँ के आँचल की शीतल छाया व पिता के लाड़-दुलार में बिताने चाहिएं। उन क्षणों में उसे सयानी कह कर घर की देहरी से विदा कर दिया जाता है, ससुराल की कठोर व रेतीली भूमि की ओर। जिस उम्र में वह गुड्डे-गुड़ियों के विवाह करने योग्य होती है। उस बाल उम्र में उसी को विवाह की बेड़ी में जकड़ दिया जाता है। पहाड़ की एक नन्ही बालिका का अपने पिता से किया गया आग्रह ससुराल की व्यथा की कितनी मार्मिक व्यंजना कर रहा है :

छना बिलौसी छनदिया बहैज्यू
लागिला बिलौरी का धामा
हाथै की नातुली हातें में रौली
लागिला बिलौजी का धामा

कितना दर्दनाक है लड़की के लिये उस पल का सामना करना जो उससे मायके की ममता भरी देहरी को छुटवा रहा है। माँ-बाप, भाई-बहनों से बिछोह की कल्पना मात्र से ही उसकी आत्मा काँप उठती है। जिस भाई के साथ उसका बचपन खेला जिससे एक पल अलग रहना भी उसके लिए असह्य था उसी से अपना दामन छुड़ाते हुए उसका हृदय कितना रोया होगा :—

छोड़ो-छोड़ो भाई हमरि पलकिया
हम परदेसिन लोक भये।

बेटी के रूप में उसके लिये जहाँ यह समय वेदना का सागर लिये हुए आता है, वहीं माँ के रूप में उसका मन आठ-आठ आसूं रोते हुए पुकार उठता है :—

अरि अरि पंडित लोको
मेरी धीया कणि दुःख झन दिया।

विदाई की इस हृदय विदारक घड़ी को पार करके, मन में सास-ससुर नन्द, देवर, पति के प्रति अनेक आशंकायें लिये वह ससुराल की चौखट पर पहुंची। माता-पिता के लाड़-प्यार में पली अबोध बालिका जब वधू का रूप धारण करती है तो उसे अनेक समस्याओं से गुजरना पड़ता है। परिस्थितियों, वातावरण को समझने का मौका दिये बिना ही उससे यह उम्मीद की जाती है कि वह सबकी मनोकामनायें पूरी करे। ऐसा न करने पर मिलती हैं तानों की बौछारें। ऐसे समय में जब बालिका अत्यन्त दुखी हो जाती है तो प्राणों से भी प्रिय अपने पिता को भी कोसने से नहीं चूकती :

बौज्यू को नरक हैजो,
मैं दियो दुःखम।

इन शब्दों में उसके मन का दुःख वेग से बहता हुआ दिखलाई देता है। ससुराल में आने वाले प्रथम संकटों, तानों व दुःखों के मध्य पति का प्यार ही सम्बल बनकर उसके दुखी हृदय को सान्त्वना देता है। पति के प्यार में डूबी रहकर उसने मायके की याद को भुलाने का लाख प्रयत्न किया पर जब-जब पानी के पनेरों (पनघट) पर घुगुती की सुरीली वाणी गूंजती है तो मन मायके की याद में छटपटा ही उठता है :

पाणि का पनेरमा घुघुती घुरांदि।
बोई तेरी खुद मेरी जीकुड़ि झुरांदि।

यह छटपटाहट जब सीमा को पार कर अत्यधिक वेग से बढ़ जाती है तो वह घुगुती से न बोलने की प्रार्थना करती है। उसकी विनती से उसके हृदय की छटपटाहट कितना सजीव रूप ले लेती है :

न बास घुगुती चैते की
मैं याद एंछ मैते की।

उसकी पीड़ा का अन्त यहीं पर नहीं हो जाता। अभी हाथों की मेंहदी भी नहीं छूट पाई। मन प्रिय की रसभरी बातों में पूर्ण रूप से सराबोर भी नहीं हो पाया कि प्रिय के प्रदेश गमन का दारूण समाचार उसके कानों में पड़ा। इस समाचार को सुनते ही वह बाला अत्यधिक दुखीः हो जाती है। मन में लाख चाहा कि प्रिय से कहे :

तू न रौ बिरुठा बिदेश
जो घड़िमा रणमणि, लागली तेरी मकणी,
ते खोजिला यूं आँखी, को देश।

पर कुल-वधू है। लाज ने पावों म कड़ी डाल रखी है। कैसे कहे प्रिय से मन की बात। ऐसे समय में विद्यापति को उस नायिका का ध्यान आ ही जाता है जिसे इसी स्थिति का सामना करना पड़ता है :

सखिः बलम जितव बिदेस,
हम कुल कामिनि कैसे कहयऊ।

जहाँ नायिका इस समाचार को सुनकर व्याकुल हो जाती है। वहाँ नायक भी कम परेशान नहीं है। पर परिस्थिति के सम्मुख विवश है। विवाह के कर्ज से लदा है युवक परदेश न जाये तो कहाँ जाये ? लक्ष्मण की भांति कर्त्तव्य के सम्मुख नतमस्तक होना ही पड़ता है और वह चल पड़ता है अपनी रोती कलपती प्रियतमा को छोड़कर परदेस की ओर। ऋतुएं आती है, चली जाती हैं पर परदेस गया प्रिय नहीं आता। घर आँगन चारों ओर फल फूल लद गये हैं, पर विरहणी के किस काम के :

बानी-बानी फल-फूला झुलिगें डाई-डाई,
पर फुलौलौ कबा हिया मेरो उदास।

घुगुती के मीठे बोल भी उसके मन को नहीं लुभा पाते। सच ही है विरह में सांसारिक सुख तुच्छ ही लगते हैं। हम हिन्दी साहित्य की जानी-मानी गोपियों को कैसे भुला सकते हैं जिन्हें हरी-भरी लतायें भी कृष्ण वियोग में ज्वाला के पुंज प्रतीत होते हैं। घुगुती भी तो प्रिय का स्मरण कराकर उसके विरह को उद्दीप्त ही करते हैं :

न बास घुगुति बै घुर्र-घुर्र
स्वामी मेश परदेसा में ऐछा सुर-सुर।

घाम के धू की लालिमा जब सलौनी संध्या ले लेती है तो विरहणी का हृदय स्वयं भर आता है :

घाम गौयो धारमा, ब्याखुली का तारमा,
रूम झमा बिणाई बाजी, जब हरियाँ स्यारमा
म्यर हिय भरी आदौ।

काम में व्यस्त गौरी को जब अचानक अपन पति का स्मरण हो आता है तो उसकी दशा विचित्र हो जाती है। निम्न पंक्तियां उसकी स्थिति को कितने सुन्दर रूप में मूर्तिमान कर रही है :

चमचम स्वामी की याद ऐ गेछ
हाथै की दांतुलि हाथै रै गेछ।

ऐसे में मन करता है उड़ जाऊँ उस दूर देश में जहाँ उसका प्रिय निवास कर रहा है। पर क्रूर विधाता ने उसे पँख भी तो नहीं दे रखे हैं। उसकी अभिलाषा कुमाऊंनी गीतों में उसके विरह को साकार कर रही है :

मन को पाँख हना उड़ी बैं आनी
ते सुबै मुखड़ो कैं देखियें रौनी।

विरहणी को अपने प्रिय से एक शिकायत है। घर नहीं आते तो याद कर लें। प्रिय द्वारा अपने भुलाये जाने की शिकायत करते हुए कितने भोले प्रमाण जुटाती है :

बाटुई लै कभै मिकै नि लागी उनरी।

पर तभी ध्यान आता है प्रिय के हित का। प्रिय जहां भी हो सुखी रहे यही कामना उसके प्रेम को निम्न शब्दों में उड़ेल देती है :

म्यर मैतै की भगवती तू दैण है जैये
कुशल मंगला म्यरा स्वामी घर ल्ययें।

कितना महान है उसका विरह। खुद दुखी रह कर भी प्रिय के मंगल की कामना उसे सूर की गोपियों के समकक्ष बिठा देती है। उस दुखी विरहणी के दुखों का अंत यहीं पर नहीं हो जाता। पति की स्मृति में लीन काम में जुटी रहने पर भी मिलते हैं सास के ताने। सास की निर्ममता की कथा निम्न पंक्तियां चीख-चीख कर उस दुखिनी के दुखों का बखान कर रही हैं :

दूधै पराई मैल लुकै छौ, ईजू पापिणी भौनिजिमार
दै की ठेकि मैल लुकै छौ, ईजू पापणी भौनिजिमार।

निरपराध बहू पीटी जाती है। त्यौहार आते हैं प्रिय पास में नहीं है। ऐसे में मायके को जाने की तड़प और भी दुगनी हो जाती है। पर निर्दयी सास को यह ध्यान कहां कि कभी वह भी मायके की स्मृति में इसी तरह छटपटाई थी। वह बहू को अनेक बहाने बनाकर रोके रखना चाहती है। वहू बेचारी क्या करे। पति भी पास में नहीं है जिससे अपनी व्यथा कह उठे। ऐसे समय में कभी उसकी पीड़ा गा उठती है :

सरगी तारा, जुन्याली राता।
को सुणलो यो मेरी बाता।

तो कभी ऊँचे-ऊँचे शैल-पर्वतों, शिखरों से ही नीचा होने की प्रार्थना कर उठती है जिससे मायके का देश तो देखा जा सके। मायके जाने की यह ललक निम्न पंक्तियों में कितनी मोहक बन गई है :

ऊँची-ऊँची डाड्यो छोटी है जाओ
घैंणी कुल्यावो नीची है जाओ
भीथें लागण लैरें मैती की खुद
बाबाजी का देश देखंड़ देवो।

सच ही है दुखी मनुष्य यथार्थ को भूलकर कल्पना लोक में विचरण करने लगता है। माँ से मिलने को आतुर बाला के ध्यान में यह बात आ ही नहीं सकती कि मूक जड़ प्रकृति उसकी भाषा समझ ही नहीं सकती। यदि बेटी माँ की याद में तड़प रही है तो माँ की ममता भी बेटी से मिलने की आशा में उसी राह को निहार रही है, जिस राह से कभी वह ससुराल गई थी :

जो बाटि सरास गेछी ऊ बाटि कें चालो ।

वह इसी चिन्ता में घुली जाती है कि मायके के स्वपनों में उसकी फूल सी कोमल बच्ची सो कैसे पायेगी। माँ के रूप में नारी की पीड़ा उसके वात्सल्य को पवित्र बना रही है :

आस लैरौई नि ऐई चेली
मैतिक स्वैगम कसीकै सेली।

ऐसे अवसर पर जिस बहिन के भाई है, वही सौभाग्यशाली है। कम-से-कम भाई तो बहिन से मिलने आ ही जायेगा। पर जिस अभागिन बहिन का भाई भी नहीं, उसकी दशा कितनी दयनीय बन गई है :

बिना भै की बैणो आँसुवे ढबकाली ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जन्म से मृत्यु तक पहाड़ी नारी का जीवन को कष्ट व दुःखों के झोंके झंझोरते रहते हैं। उसके प्रत्येक रूप में चाहे वह माँ का हो या बहिन का, सास का हो या बहू का या पत्नी का पीड़ा ही समाई रहती है। कठोर श्रम में डूबी रहने पर भी उसके जीवन में सुख की छटा आलोकित नहीं हो पाती। यदि कोई सुख मिल भी जाता है तो उसी प्रकार क्षणिक होता है जिस प्रकार भादों में बादलों में चमकने वाली बिजलियाँ। मैथिलीशरण गुप्त की निम्न पंक्तियां उस पर पूर्ण रूप से चरितार्थ होती हैं :

अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।

संभवतः उसी के दुख, त्याग, परिश्रम व महानता को देखते हुए कुमाऊँ के मुख्य कवि हीरा सिंह राणा की लेखनी उसकी प्रशस्ति में गा उठी :

है नारी नमन त्यैहें जग मौहतारी
त्वल आपणा आंसु पिया उमरमा सारी।
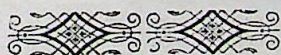
ग्वल्ल : कुमाऊं का न्याय देवता

--डॉ० केशवदत्त रुवाली

कुमाऊं में एक ओर तो सर्वमान्य हिन्दू देवी देवताओं की उपासना होती है और दूसरी ओर सामान्य जनता में लोक देवी-देवताओं के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास का भाव भी विद्यमान रहता है। वहाँ का कोई भी परिवार ऐसा नहीं होगा जिसका कोई इष्ट या कुल देवता न हो, यथा किसी का इष्ट ग्वल्ल है तो किसी का गङ्गनाथ। प्रमुख लोक देवताओं में ग्वल्ल, हरू, सैम, ऐड़ी, गङ्गनाथ, भोलानाथ, ग्वेल, छुरमल, भूमियाँ, मशाण और खबीश उल्लेखनीय हैं।

अनुमान है कि अधिकांश क्षेत्रीय देवता विभिन्न सामन्तों के षडयंत्रजन्य अत्याचारों के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए पूर्वपुरुष हैं। कतिपय आततायी शासक भी मरणोपरांत क्षेत्रीय देवता का दर्जा पा गए। कत्यूरी ब्रहमदेव ऐसा ही राजा था जो कहारों के कंधों में पालकी के डंडों को गड़वाकर पालकी विहार हेतु निकला करता था। कहारों के पालकी सहित पर्वत से कूद जाने के फलस्वरूप उसकी मृत्यु हुई थी। भोलानाथ उदयचंद का बड़ा पुत्र था जिसे छल से मार डाला गया था। हत्यारे से बदला लेने के लिए वह पहले भूत बना और जब उसे पर्याप्त पूजा-भेंट मिलने लगी तो वह देवता के रूप में मांन्य हो गया। बिनसर का कलविष्ट नामक लोकदेवता कल्लू कोल्यूड़ी, राजपूत युवक था, जो राजा द्वारा छलपूर्वक मारा गया था। ऐड़ी देवता संभवतः ऐड़ी जाति का कोई पूर्वपुरुष रहा है। इस देवता की आंखें सिर के ऊपर बताई जाती हैं। लोकमान्यता है कि दाएँ-बाएँ आंचरी-कीचरी नामक चुड़ैलों और गले में घंटी बँधे कुत्तों के साथ वह पालकी में सवार होकर चलता है। हरू देवता के बारे में कहा जाता है कि वह पहले हरिचंद्र नामक राजा था। धार्मिक प्रकृति का होने के कारण वह राजपाट छोड़कर तपस्वी हो गया और मरने के बाद देवता के रूप में पूजा जाने लगा। उसे उदार और परोपकारी देवता माना जाता है। चौमं (चतुर्मुख) नामक लोक देवता पशुओं का रक्षक और भक्षक दोनों ही माना गया है। चौमूं के मंदिर में सैंकड़ों घड़े चढ़ाए जाते हैं और दूध से उसका अभिषेक किया जाता है। जो उसे अशुद्ध दूध चढ़ाता है उसके जानवरों का विनाश हो जाता है। द्वारसों से गाय क्रय करने के उपलक्ष्य में चौमूं की पूजा अवश्य की जाती है। ग्रामीण सीमाओं का रक्षक लोकदेवता भूमियाँ है जो खेतरपाल भी कहलाता है। जागेश्वर के भूमियाँ को झाँकर सैम भी कहते हैं। नया अनाज उत्पन्न होने और नई फसल के लिए बीज बोने पर इसकी पूजा की जाती है। गङ्गनाथ मूलतः डोटी का राजकुमार था जिसे अल्मोड़ा की भाना ब्राहमणी से अवैध संबंध स्थापित करने के कारण पति द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया था। ग्वल्ल ऐसा प्रतापी राजा था, जो अपने जन्म के समय अपनी निःसन्तान सात सौतेली माताओं के कुचक्रों से बच निकला था।

क्षेत्रीय देवताओं में जो व्यापक श्रद्धा ग्वल्ल देवता को मिली है वह अन्य किसी को नहीं मिल सकी। इसे गोरिल्ल, ग्वल और गोल नाम से भी जाना जाता है। न केवल कुमांऊँवासी, अपितु देश के विभिन्न भागों से आए लोग जिस भक्तिभाव से जागेश्वर, बैजनाथ बागेश्वर, कटारमल, द्वारहाट इत्यादि मंदिरों में सिर नवाते हैं उसी आस्था से अल्मोड़े के चितई में, नैनीताल के घोड़ाखाल में और पिथौरागढ़ के चम्पावत में स्थित ग्वल्ल मंदिर के भी दर्शन करते हैं। इस प्रकार ग्वल्ल देवता का महात्म्य लोक देवता के स्तर से व्यापक होता आया है। अल्मोड़े से चार किलोमीटर पूर्व में स्थित चितई का ग्वल्ल मन्दिर अन्यायग्रस्त ग्रामीणों का दैवी न्यायालय ही हो गया है। अदालतों में हुए अन्यायपूर्ण फैसलों के विरूद्ध अपील हेतु लोग इसी दिव्य न्यायालय में पहुंचकर घात (अन्याय के विरुद्ध आक्रोश भरी चुनौतीपूर्ण अपील) करते हैं: "हे चितई के ग्वल्ल तू ही देखना मेरे साथ कैसा अन्याय हुआ है। तू सच्चा है तो उस दुष्ट का नाश करके छोड़ेगा"। यदि यह घात सचमुच अन्याय के विरुद्ध घात (पुकार) हो तो ऐसे प्रत्यक्ष प्रमाण मिले हैं कि या तो दुष्ट को अपनी भूल का अहसास हो जाता है अथवा उसे या उसके परिवार के सदस्य को अचानक कोई बीमारी या आपदा आ जाती है, जिसे लोकभाषा में 'घात लागण' कहते हैं। यदि समय पर दुष्ट व्यक्ति चेत नहीं जाता तो चितई का ग्वल्ल उसके मातृकुल और पितृकुल में व्याप्त होकर उसका सर्व-नाश कर देता है। यही कारण है कि धर्मभीरू ग्रामीण सरकारी न्यायालयों में भले ही असत्य बोल दें, किन्तु चितई के ग्वल्ल के समक्ष झूठ बोलने का साहस नहीं कर सकते। चूंकि ग्वल्ल सच्ची पुकार को अवश्य सुनता है, इसलिए वहां घात लगाने से पहले पीड़ित व्यक्ति प्रायः अत्याचारी या आततायी को सूचित कर देता है कि चितई जाकर ग्वल्ल मंदिर में घात लगाऊँगा तो मुझे दोष न देना। इसका मतलब यह हुआ कि ग्वल्ल से

न्याय अवश्य मिलेगा, वहाँ जाने की नौबत ही क्यों आने दी जाए पहले ही न्याय क्यों न हो जाए। घात की चेतावनी से यही आशय है।

नवरात्रों में देवस्थानों में दस दिन तक जागर लगती है, अंतिम रात्रि को ग्वल्ल सहित हरू, पीरू, सैम आदि गणों की पूजा होती है। ग्वल्ल, हरू, पीरू और सैम के अवतार बने व्यक्ति प्रातः सायं स्नान करते हैं, केवल फलाहार करते हैं और जिस समय उनके शरीर में देवता अवतरित होता है उस समय वे धूनी में रक्ततप्त फौड़ी को उद्धतमुद्रा में जीभ से चाट देते हैं और धूनी के जलते हुए अंगारों पर निर्भयतापूर्वक नग्न चरण रखते हुए तीव्रता से चलने लगते हैं। प्रत्यक्ष अनुभव बतलाता है कि ऐसा करते हुए उन्हें अग्नि की प्रचण्डता का आभास तक नहीं होता अर्थात् उन्हें कोई शारीरिक पीड़ा या क्षति नहीं पहुचती।

कुछ लोग सैम (स्वामी) को ग्वल्ल का गुरु और कालू को उसका सुहृद् मानते हैं। ग्वल्ल की पूजा से पूर्व किसी अछूत द्वारा कालू की पूजा अनिवार्य समझी जाती है।

जिज्ञासा हो सकती है कि ग्वल्ल देवता कौन है? चंदों की मूलभूत राजधानी चंपावत में थी। वहां के जीर्णशीर्ण मंदिरों की उल्टी छत पर निर्मित मूर्तियां कालिंजर (देवगढ़) की मंदिरों की छतों के समान प्रतीत होती हैं। इससे अनुमान किया जाता है कि कुमाऊँ में चंद्रवंशी राजा आठवीं-दसवीं सदी के मध्य गुजरात की ओर से आए हों। मुहम्मद तुगलक के तिब्बत अभियान के संदर्भ में इतिहासकार इब्नबतूता ने जिस कराचल्लदेव का जिक्र किया है वह चंद्रवंश से संबंधित था और उसके दानपत्र आज भी उपलब्ध हैं। ग्वल्ल को इसी वंश से संबंधित राजा हल्लराय का पुत्र माना जाता है। लोकगीतों में भी आता है: "चंपावत को होलो राजा हल्लराई जिया मातला होली, बाबू झलराई" अनुश्रुति है कि हल्लराय की सात रानियाँ थीं, किंतु सभी निःसंतान थीं। एक दिन हल्लराय भोजन करने के लिए तैयार था कि चारणों द्वारा गाए जा रहे उस गीत ने उसे विषाद से भर दिया, जिसका भावार्थ है: "राजा हलराई तुम्हारी सातों रानियां निःसंतान हैं, तुम्हारे पास असीम संपत्ति है। अंततः उसका भोग कौन करेगा?" सुनते ही राजा को भोजन की इच्छा न रही और उसने मुसंतीमल्ल को आदेश दिया कि सभी दरबारी आखेट के लिए सितुली कांठा की ओर चलने को तैयार हो जाएं। आखेट करते-करते राजा को प्यास लगी और मुसंतीमल्ल पानी की खोज में एक झरने के निकट पहुंचा तो देखा कि वहाँ पर दो भैंसे सींग गड़ाए परस्पर भिड़ रहे हैं। वह पानी भरने हेतु उद्यत ही हुआ था कि एक तरूणी ने चुनौती दी–पहले मेरे भैंसों को छुड़ा दो तब राजा के लिए पानी भर ले जाना। बहुत प्रयास करने पर भी मल्ल उन्हें न छुड़ा सका। निदान वह रिक्त जलकलश लेकर राजा के पास लौट गया। राजा ने स्वयं झरने के पास जाकर भैंसों को शांत करने का असफल प्रयत्न किया। अंत में उस युवती ने स्वयं भैंसों को शांत कर दिया और राजा को बताया कि वह कलावती ताम्नी ऋषि कन्या है। राजा ने उसके साहसिक कार्य से प्रसन्न होकर उससे विवाह कर लिया।

उसके माँ बनने का आभास मिलने पर अन्य सातों सौतें उससे ईर्ष्या करने लगीं। प्रसूतिगृह के लिए उन सातों ने राजमहल का बयालपट अर्थात ऐसा प्रकोष्ठ चुना जिसमें तेज हवा चलती रहती है। प्रसव के समय उसकी आँखों में पट्टी बांध दी गई और पैदा होते ही सुन्दर शिशु को गोष्ठ में फैंककर उसके स्थान पर रक्तरंजित सिल-लोढ़ा रखते हुए कह दिया गया कि कलावती ने सिल-लोढ़ा जने हैं। शिशु गोष्ठ में स्वयं गायों के थन चूसते हुए शिशु जीवित रह गया तो रानियों ने उसे लूणभकार लवणभण्डार समझकर उस बड़े संदूक में बंद कर दिया, जो वास्तव में शक्कर से भरा हुआ संदूक था। शिशु शक्कर चाटते हुए जीवित रहा। अंत में उसे लोहे की पेटी में बंद करके नदी में बहा दिया गया। शारदा (काली नदी) में बहती हुई वह पेटी भाना नामक निःसंतान मछुवे को मिल गई। उसे उसने उस बच्चे को ईश्वर का वरदान समझकर पुत्रवत् पाला पोसा। बड़ा होने पर वह काठ के घोड़े पर चढ़कर उस स्थान पर पहुंचा करता जहां रानियां स्नानार्थ आया करती थीं। वह रानियों से हठपूर्वक अपने घोड़े को पानी पीने देने को कहता और तीर चलाकर उनके वर्तनों पर आघात कर देता। रानियों द्वारा उसकी उदण्डता की सूचना दिए जाने पर राजा ने उसे दरबार में बुलाकर फटकारा: "काठ का घोड़ा भी जल पी सकता है?" बालक ने उत्तर दिया–"यदि रानी के गर्भ से सिल-लोढ़ा पैदा हो सकता है तो काठ का घोड़ा भी जल पी सकता है"। सातों सौतों का भेद खुल गया। राजा ने स्नेहपूर्वक पुत्र को गोद ले लिया। दंडस्वरूप राजा रातों रानियों को खौलते हुए तेल के कड़ाहों मे डाल देने का आदेश देना चाहते थे, किन्तु ग्वल्ल के अनुरोध पर उन्हें कलावती की दासियाँ बनकर रहने का दंड दिया गया।

ग्वल्ल आगे चलकर अत्यंत प्रतापी राजा हुआ। मरणोपरान्त चंपावत में उसे देवता के रूप से पूजा जाने लगा। आगे चलकर ग्वल्लथान (ग्वल्ल देवता का मंदिर) चितई, घोड़ाखाल, आदि कई जगहों पर स्थापित किए गए। कहना न होगा कि रोमराज्य के संस्थापक रोगुलस तथा रेमस शिशुओं को भी टाइबर नदी में प्रवाहित किए जाने की बात कही जाती है। यूनानी परसुस की कथा भी ग्वल्ल के बचपन से मिलती-जुलती है। यह कहना कठिन है कि भारत से यह कथा पाश्चात्य देशों में गई अथवा वहाँ से भारत में प्रविष्ट हुई। संभवतः लगभग दो हजार वर्ष पहले मौर्य-काल में यवन क्षत्रियों के साथ यह कथा भारत आई हो।

जो हो, इतना निश्चित है कि ग्वल्ल देवता की पुराकथा भले ही कोई और हो–इतना निर्विवाद है कि अल्मोड़ा जनपद के चितई नामक स्थान में स्थित ग्वल्ल देवता का मंदिर कुमाऊँ का दिव्य न्यायालय है। इस स्थान में व्याप्त चरम शांति का आंनद तभी महसूस हो सकता है जब वहाँ जाकर कुछ क्षण बिताएं जाएँ। घोर नास्तिक का माथा भी उस स्थान के समीप से गुजरते हुए स्वतः नत हो जाता है।

आखिर मेरु पर्वत गया कहां

--डॉ० मदन चन्द्र भट्

भारतीय इतिहास और संस्कृति में कई ऐसे रहस्य हैं जिनका सुलझना आज की अवशिष्ट सामग्री में संभव नहीं है। वेद और पुराणों की पवित्र नदी सरस्वती आज लुप्त हो चुकी है। हिमालय के वनों में विचरण करने वाले यक्ष, गन्धर्व और किनर (किन्नर) नामक जातियों के किस्से ही शेष हैं। सबसे बड़ा ताज्जुब यह है कि आय जाति की संस्कृति का केन्द्रबिन्दु माना जाने वाला मेरु पर्वत तक भौगोलिक मानचित्र से गायब है। सोलहवीं सदी ई. में "रामचरित मानस" को लिखते समय गोस्वामी तुलसीदास यह अच्छी तरह जानते थे कि मेरु पर्वत भारतवर्ष का सबसे ऊंचा पहाड़ है। बालकांड में तुलसीदास ने राम के चरित्र को लिखना एक दुस्साहस मानते हुए उसकी तुलना वायु द्वारा मेरुगिरि को उड़ाने के प्रयास से दी है :

"जेहि मारुत गिरि मेरू उड़ाहीं।
कहहु तूल केहि लेखे माहीं॥

सीता स्वयंवर के प्रकरण में लक्ष्मण के मुंह से यह कहलाया गया है कि वे मेरु पर्वत को फोड़ सकने की क्षमता रखते हैं :

"काचे घट जिमि डारों फोरी।
सकउं मेरु मूलक जिमि तोरी॥

चार सौ वर्ष के अन्तराल में तुलसीदास का मेरु पर्वत भारतीय इतिहास में एक रहस्य बन गया है। इस रहस्य का एकमात्र कारण ब्रिटिश शासनकाल के अतीतवेत्ताओं द्वारा पर्वतीय क्षेत्र की परम्पराओं को नकार देना है। यदि पुराणों के भौगोलिक विवरणों को देखा जाए तो उसमें महानदी यमुना के उद्गमस्थल की भूमि को "कलिन्दगिरि", गंगा के उद्गम स्थल की भूमि को "हिमवत्" और बदरीनाथ की भूमि को "गन्धमादन" कहा गया है। उसके पश्चात् मेरु और कैलाश पर्वत का उल्लेख मिलता है। मेरु की स्वर्णिम आभा के कारण उसे "सुमेरु" पर्वत भी कहा जाता था। पंडित बदरीदत्त पांडे ने अपनी पुस्तक "कुमाऊं का इतिहास" (1937 ई. में प्रकाशित) के प्रारम्भ में कैलास पर्वत की फोटो प्रकाशित की है और उसमें "कैलास अथवा मेरु पर्वत" शीर्षक देकर महाभारत के वनपर्व का मेरु संबंधी विवरण उसके साथ छपाया है। यह ध्यान देने की बात है कि महाभारत में कहीं पर भी कैलाश और सुमेरु अथवा मेरु पर्वत को पर्यायवाची नहीं कहा गया है। महाभारत स्पष्टतया दोनों को अलग-अलग पर्वत बताता है। प्राचीन भारत के किसी भी ग्रन्थ अथवा अभिलेख में कैलास और मेरु को एक ही पहाड़ नहीं कहा गया है। गुप्त सम्राट कुमारगुप्त प्रथम (415-455 ई.) के मंदसौर लेख में स्पष्ट रूप से यह घोषित किया गया है कि कैलाश और सुमेरु दो अलग पहाड़ थे :

**चतुस्समुद्रान्त-विलोल-मेखलां
सुमेरु-कैलास-बृहत्पयोधराम्।
वनान्त-वान्त-स्फुट-पुस्पहासिनीं
कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति॥ 23॥**

मन्दसौर प्रशस्ति से यह भी स्पष्ट है कि सुमेरु पर्वत गुप्त साम्राज्य के अंतर्गत का पहाड़ था। इससे डा. मोतीचन्द्र की यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है कि सुमेरु भारतवर्ष के अन्तर्गत न होकर मध्य एशिया का कोई पहाड़ था। सातवाहन राजा पुलमावि के नासिक गुहालेख में उसके पिता गौतमीपुत्र शातकर्णी (106-130 ई.) के साम्राज्य की सीमा के रूप में हिमवत, मेरु और मन्दर पर्वतों का जिक्र होना भी यह संकेत करता है कि मेरु भारतवर्ष के अंतर्गत ही स्थित था। गोरखनाथ की प्रसिद्ध पुस्तक "सिद्धसिद्धांतपद्धति" में भी मंदसौर लेख की तरह कैलास और मेरु को अलग-अलग पर्वत कहा गया है :

**"मेरुपर्वतो मेरुदण्ड तिष्ठति कैलासो ब्रह्मकपाटे वसति॥10॥
योगवाणी (जनवरी, 1982, पृष्ठ 100)**

महाभारत से मेरु पर्वत की स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। उसके अनुसार यह बदरीनाथ के पास-पड़ौस में स्थित था। मध्य हिमालय की आज सबसे पवित्र चोटी मानी जाती है--नन्दादेवी पर्वत। यह एक आकर्षक पर्वतमाला है जिसका सबसे ऊंचा शिखर--नन्दादेवी (7819 मी.) आज भारतवर्ष की सबसे ऊंची हिमाच्छादित चोटी है। इसके साथ लगे शिखरों के नाम हैं--नन्दाकोट, नन्दावन, नन्दाखाट, नन्दा-त्रिशूली और नन्दाघुंटी। कैलास की तरह ही इसे पवित्र पर्वत माना जाता है और नन्दादेवी की जगात (धर्मशाला) के रिवाज से यह स्पष्ट है कि इसमें देवी का आवास माना जाता है। इस पर्वत की राह में "रूपकुण्ड" नामक प्राकृतिक झील में असंख्य नरकंकाल मिलने से यह संभावना है कि प्राचीनकाल में इस क्षेत्र में कोई भयंकर दुर्घटना हुई है। महाभारत, मार्कण्डेयपुराण और बृहत्संहिता में नन्दादेवी पर्वत का उल्लेख न होना यह संकेत करता है कि यही पर्वत इन ग्रन्थों का मेरु है क्योंकि मेरु को सबसे ऊंचा पर्वत कहा गया है और नन्दादेवी ही आज सबसे ऊंचा पहाड़ है। गढ़वाल में पूजा के अवसर पर मंत्रों में गढ़वाल की भूमि और सुमेरु के दक्षिणी पार्श्व में (सुमेरु दक्षिण पार्श्वे) कहा जाता

है। गोपेश्वर में पुरानी हस्तलिखित पुस्तकों में भी यह बात लिखी हुई मिलती है यदि सुमेरु पर्वत तिब्बत एवं मध्यएशिया में होता तो चमोली जिले के पूजा संकल्पों में उसका उल्लेख करना संभव नहीं होता।

अब समस्या यह है कि मेरु अथवा सुमेरु पर्वत का नाम आज नन्दा देवी पर्वत कैसे हो गया? वेद और पुराणों में इस देवी का नाम नहीं है। गढ़वाल में इस देवी के संबंध में दो परम्पराएं हैं—एक परम्परा के अनुसार यह द्वापरयुग में वासुदेव कृष्ण के साथ नन्दगोप के घर पैदा हुई थी और कंस के द्वारा मारी जाने के बाद हिमालय के इस पर्वत पर थाप दी गयी थी। दूसरी परम्परा के अनुसार दक्ष की पुत्री और शिव की पत्नी सती का ही दूसरा नाम नन्दा था। प्राचीन काल में नन्दा एक अप्सरा का भी नाम था। ज्यौतिष में एक योगिनी का नाम नन्दा माना जाता है। बदरीनाथ में कार्तिकेयपुर के राजा ललितशूर (नवीं सदी ई.) के दो ताम्रपत्रों में नन्दा को कुलदेवी कहा गया है। कार्तिकेयपुर के खष राजा नन्दा के उपासक थे, संभवतः उन्हीं के शासनकाल में मेरु पर्वत का नाम "नन्दागिरि" रखा गया होगा।

आज कुमाऊं-गढ़वाल की जनबोली में तिब्बत को "हूण-देश" और वहां के निवासियों को "हूणियां" कहा जाता है। गुप्त-साम्राज्य के पतन के समय जिन हूणों ने भारत पर आक्रमण किये, वे हिमालय में दीर्घकाल तक रहे। हर्षचरित्र में कैलास की ओर से उत्तरापथ में हूण आक्रमण की चर्चा है। बदरीनाथ के चार ताम्रपत्रों में हूणों का उल्लेख होना यह स्पष्ट करता है कि हूणों ने गढ़वाल पर आक्रमण ही नहीं किया अपितु वहां वे बस भी गये थे। हाल ही में देवप्रयाग के समीप पलेठी के कल्याण वर्मा नामक शासक का सातवीं सदी का एक लेख मिला है जिसमें उसने म्लेच्छ-गणों को परास्त कर पर्वतीय क्षेत्र को मुक्त करने का दावा किया है। यशोधर्मन के मंदसौर लेख में हूण राजा मिहिरकुल का हिमगिरि का एक दुर्ग बताया गया है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट है कि पांचवीं सदी ई. के बाद हूणों ने उत्तरी भारत में दीर्घकाल तक लूटपाट की, उसमें सुमेरु पर्वत के मार्ग पर जो वैभव रहा होगा, वह अस्त-व्यस्त हो गया। रूप कुंड का नरसंहार यह संकेत करता है कि पहले इस क्षेत्र में तीर्थयात्रा प्रचलित थी। गढ़वाल पर हूणों का प्रभुत्व हो जाने से सुमेरु पर्वत की यात्रा का रिवाज उसी तरह बन्द हो गया होगा जिस तरह तिब्बत पर चीन का प्रभुत्व हो जाने से कैलास-मानसरोवर की यात्रा बन्द हो गयी थी। जगद्गुरु शंकराचार्य की जीवनी से भी यह ज्ञात होता है कि बदरीनाथ में भी उपरोक्त आक्रमण के समय मूर्तियां नदी में डालकर पुजारी भाग गये थे।

महाभारत से यह ज्ञात होता है कि मेरु पर्वत के इर्दगिर्द "खष" नामक जाति रहती थी जो हिमालय के वनों से शहद, चंवर, चमड़ा और सोना लेकर उत्तरी भारत के नगरों में बेचती थी। इस जाति के वंशज ही आज पहाड़ी भाषा में "खषिया" कहलाते हैं। "गढ़वाल" और "कुमाऊं" शब्द मध्यकालीन हैं। उसके प्रचलन से पूर्व इस पर्वतीय भूमि का नाम "खषदेश" था। खजुराहो और बोधगया अभिलेखों से पता चलता है कि राजपूतकाल में खषदेश शब्द ही आधुनिक उत्तराखण्ड के लिए प्रयुक्त होता था। बागेश्वर, पाण्डुकेश्वर और बालेश्वर अभिलेखों से ज्ञात होता है कि हूणों की पराजय के पश्चात् कुमाऊं-गढ़वाल पर कार्तिकेयपुर के खषों ने शासन किया जो भगवतीनन्दा को अपनी कुलदेवी मानते थे। बाद में यही देवी शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो गई। हूण-आक्रमण ने सुमेरु की परम्परा को नष्ट कर दिया और हिमालय के खष शासन ने मेरु के ऊपर नन्दादेवी के आवास की परम्परा प्रारम्भ कर दी। फिर भी, भारत का आम लेखक मेरु पर्वत को भूल नहीं पाया। वह उसी सहजता से मेरु का अपने साहित्य में उल्लेख करता रहा जिस तरह हूण-आक्रमण से पूर्व का भारतीय लेखक करता था।

"सुमेरु" पर्वत का उल्लेख वेदों में नहीं है। पौराणिक साहित्य में उसकी सर्वप्रथम महत्ता बतलायी गई है। इस समय यह विश्वास किया जाता था कि सुमेरु पर्वत के ठीक ऊपर आकाश में देवताओं का आवास है। किसी भी मृत व्यक्ति के लिए यह कहने की परम्परा थी कि वह सुमेरु पर्वत पर चला गया। उत्तरकाशी के त्रिशूल लेख में श्रीगुह नामक राजा ने, अपने पिता गणेश्वर की मृत्यु के संबंध में, यह कहा है कि वह सुमेरु पर्वत पर इन्द्र का मित्र बन गया :

"स्मृत्वा शक्रसुहृत्वमुत्सुकमना यातः सुमेर्वालयः ॥"

ऊंचे भवनों की तुलना भी मेरु से की जाती थी। महाभारत में खाण्डव वन की भयंकर आग की तुलना मेरु से की गई है :

"दह्यतस्तस्य विबभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य काण्चनस्य महाद्युतेः ॥ 34 ॥"

महाभारत 1/216

मेरु पर्वत से एक नदी निकलती थी जिसका नाम "जम्बूनदी" था। आज नन्दादेवी पर्वतमाला से एक नदी निकलती है जिसे "नन्दाकिनी" कहा जाता है। प्राचीन साहित्य में पर्वतीय क्षेत्र की किसी भी नदी का नाम "नन्दाकिनी" नहीं है अतः महाभारत की जम्बूनदी ही आज गढ़वाल की "नन्दाकिनी" नदी माननी पड़ेगी जो चमोली जिले (उ. प्र.) के नन्दप्रयाग नामक स्थान पर अलखनन्दा (अलकनंदा) नदी में मिल जाती है। इस क्षेत्र में आज एक दूसरी चर्चित नदी है—"पिण्डर"। यह नदी पिण्डरी ग्लेशियर से निकलकर कर्णप्रयाग में अलखनन्दा नदी में मिल जाती है। प्राचीन साहित्य में "पिंडर" नामक नदी का उल्लेख नहीं है। महाभारत में मन्दर और मेरु पर्वत के मध्य एक "शैलोदा" नामक नदी का उल्लेख है जिसके तट पर खष जाति रहती थी। खषों की राजधानी कार्तिकेयपुर आधुनिक अल्मोड़ा जिले (उ. प्र.) के बैजनाथ नामक स्थान पर स्थित थी जो पिण्डर के उद्गमस्थल पिण्डारी से बहुत दूर नही है। महाभारत से ज्ञात होता है कि उस समय इस क्षेत्र में एक ऐसा स्वर्ण मिलता था जिसे "पिपीलक" स्वर्ण कहते थे। इस स्वर्ण में एक विशिष्ट तरह की गंध भी थी। पिपीलिका के द्वारा खोदे जाने से यह स्वर्ण पुराकाल में विशेष चर्चित था। यूनानी लेखक मेगास्थनीज तथा चीनी यात्री ह्वेनसांग को भी हिमालय के इस स्वर्ण का पता था। गढ़वाल में पिंडर और नन्दाकिनी की रेत में सुवर्ण के कण छानने की परम्परा ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के समय तक प्रचलित थी। मेरु के नीचे की भूमि में एक "जम्बू" नाम का पेड़ था जिसके कारण इस द्वीप का नाम "जम्बूद्वीप" पड़ा था। मेरु के पार्श्व में प्राचीन भारत का प्रसिद्ध सांस्कृतिक केन्द्र—वशिष्ठ ऋषि का आश्रम था। महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश में वशिष्टाश्रम में अयोध्या के राजा दलीप की गौ-सेवा का वर्णन किया है। इसी आश्रम में अयोध्या के राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था

की जाती थी। जैन ग्रन्थ "आदिपुराण" से ज्ञात होता है कि जैनों के अनेक तीर्थङ्.करों और अर्हतों ने महामेरुगिरि के पार्श्व में तपस्या की थी। नाथपंथी जोगियों के संदर्भ में भी मेरु पर्वत का एक प्रसिद्ध तपस्थली के रूप में उल्लेख मिलता है।

मेरु पर्वत की उत्तर दिशा में "उत्तरकुरु" नामक स्थान बताया गया है जो आधुनिक पश्चिमी तिब्बत में कैलास और मानसरोवर की भूमि का नाम था। मेरु और उत्तरकुरु का नाम यूनान और रोम के प्राचीन लेखों से ज्ञात था। उत्तरकुरु से आर्यों की एक शाखा हिमालय के दर्रों को पारकर गंगाघाटी में प्रविष्ट हुई। हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, कोशाम्बी और इन्द्रप्रस्थ के कुरुवंशी क्षत्रियों का मूल स्थान "उत्तरकुरु" था जिसको महाभारत में एक समृद्ध और आदर्श स्थान माना गया है। प्राचीन साहित्य में मेरु और उत्तरकुरु का जैसे वर्णन मिलता है, उसे आज इन क्षेत्रों पर मिलाने से लगता है कि प्राचीनकाल में कोई बहुत बड़ा भूगर्भीय परिवर्तन हुआ जिसके कारण 'उत्तरकुरु' की समृद्ध भूमि आज के तिब्बती पठार में बदल गई। पौराणिक सभ्यता और संस्कृति के ये मूल केन्द्र रहे हैं। रूपकुंड की दुर्घटना के कारण ही मेरु की महत्ता की इतिश्री हुई होगी और बाद में नन्दादेवी की स्मृति में उसे पुनर्जीवित किया गया होगा।

कुमाऊंनी लोक साहित्य में वियोग श्रृंगार

--प्रेमसिंह नेगी

लोकगीत प्रयत्नों के परिणाम नहीं अपितु आवेगों एवं स्वाभाविक उद्गारों की अभिव्यक्ति हैं। सुख, दुखों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति होने के कारण लोकगीत समाज के प्रतिविम्ब होते हैं। कुमाऊं के लोक साहित्य में भी यहां के जन जीवन का प्रतिविम्ब बड़े ही मार्मिक ढंग से उभर कर आया है।

इस पर्वतीय अंचल का लोक जीवन अपनी विषम भौगोलिक परिस्थितियों के कारण देश के दूसरे भू-भागों से सर्वथा भिन्न है। पुरुष वर्ग को जीविकोपार्जन हेतु प्रायः प्रदेश के दूसरे मैदानी भागों में ही प्रवास करना पड़ता है और इधर, गृहिणियों को एकाकी जीवन जीना पड़ता है। इसलिए यहां के लोकगीतों में संयोग की अपेक्षा वियोग श्रृंगार अधिक मार्मिक है।

प्रवासी श्रमिक नायक थका हारा बैठा है। इन अवकाश के क्षणों में वह नायिका की स्मृत्ति में तल्लीन हो सकता है---काश! उसकी अपनी जन्म भूमि में ये रोजगार के साधन उपलब्ध होते, तो उसे इतनी दूर आना ही क्यों पड़ता। यहां उसका अपना कौन है? नायिका को लक्ष्य कर वह गाता है:

टोपी मैली, धोती मैली,
ध्वे दिन्या ववे नि छा
परदेसा मरिजूंला,
रोई दिन्या ववे नि छा।

अर्थात् टोपी मैली हो गयी है और धोती भी। धोने वाला यह कौन बैठा है? आह, इस परदेस में ही उसे श्रम करते-करते मर-खप जाना होगा, तब रोने वाला भी कोई नहीं होगा।

उधर, नायिका भी नायक के कष्टों से बेखबर नहीं है। विरह की तीव्र एवं असह्य ज्वाला ने नायिका को भाग्यवादी बना दिया है। उसका पति परदेस में है। यदि वह घर पर होता तो वह उसके दुखों-कष्टों की सहभागिनी होती। ऐसी स्थिति में वह कर ही क्या सकती है! इस लिए भाग्य व ईश्वर के भरोसे पर ही उसे अपने आप को भुलावा देना पड़ता है। लोकगीत की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं:

सुर सुर वयाल पड़ो,
वयालूं का गाबमा।
के हुंछो फिकर करि,
जे होलो मागमा।
बाड़ों में मिरच बोयो,
पिहला वरणा।
स्वामी मेरा परदेस,
ईश्वरें शरणा।

यह कि फिक्र करने से क्या होगा? जो भी भाग्य में बदा होगा, होकर ही रहेगा। "स्वामी (पति) मेरा परदेस में है। कौन उसकी देखरेख करने बैठा है वहां! ईश्वर ही उसका रक्षक है।"

असीम वेदना से दुखी होकर नायिका का विरही मन करुणा की अजस्र धारा प्रवाहित कर क्षण भर के लिए आश्वस्त हो जाता है। यह सोच कर कि विरह-वेदना के पथ की राही वह अकेली ही नहीं अपितु इस पर्वत प्रदेश की सभी अभागिनें इस व्यथा को युगों से सहन करती आ रही है:

भिड़ भतकनियां।
दुख-दुख झन कये,
दुख छौ दुनियां।

याने कि रात-दिन दुख-दुख रटने से क्या होगा। दुख तो सारी दुनिया (पूरे समाज) को है। किन्तु कब तक यह धीरज धारण कर

85-M/S 394 M of Edu—7

विरहाग्नि को थाम सकेगी ? कब तक भाग्य के भुलावे में आकर अपने आकुल-व्याकुल हृदय को सान्त्वना दे सकेगी ? काश ! वह ऐसा कर सकती :

काटन्या-काटन्या पौली आयो,
चौमासी को बना ।
बगन्या-बगन्या पाणी थामी जांछो,
नि थामिनों मना ।

अर्थात् बहते हुए जल को बांध लेना आसान है, पर इस मन के आवेगों को थाम लेना भला इस विरहिणी के वस का है ?

चाहने पर भी वह परदेसी पिया की स्मृति कैसे विसार दे ?

हिरदा में बुड़ि जांछो,
मौनी जसो साव ।

यह कि पिया की स्मृति तो उसके हृदय में मधुमक्खी के डंक की भांति चुभी हुई है ।

मर्माहत-सी नायिका अपने अतीत के सुखों की स्मृति में खो जाती है। उसका प्रियतम कभी उसके मुखमण्डल को निहार कर कहता था :

ढिपुवा हराण ।
तेरि मुखड़ी देखिबेर--
द्यो जसो खराण ।

अर्थात् (जब मेरा अन्तर मेघाछन्न आकाश की भांति दुखों से घिरा रहता था) तुम्हारा मुखचन्द्र देख कर वह सारा दुख बादल विहीन आकाश की भांति निर्मल हो जाता है ।

नायिका के आंखों में पुनः अश्रुजल प्रवाहित होने लगता है। क्योंकि नायक जब से परदेस गया है, उसने अपनी कुशल पाती नहीं भेजी, जबकि उसने प्रस्थान के समय ही पिया को ताकीद कर दी थी :

खाटिका का पाया ।
चिट्ठि में खबर भेजिया-
बांटुई में माया ।

याने कि "चिट्ठी में अपनी कुशल भेजते रहना और प्रेम ? उसे हिचकियों के माध्यम से मेरी ओर को उलीचते रहना ।"

नायिका ने सपने में भी नहीं सोचा था कि उसका प्रियतम परदेस जाकर इतना निर्मोही हो जायेगा और उसकी इस असह्य वेदना का कारण बनेगा :

काटी हालो घास ।
बेरुखी पराणि सुबै की,
मैं है गयूं निराश ।

"प्रियतम, तुम्हारे निर्मोही व्यवहार से मैं आज अत्यधिक निराश हो गयी हूं ।"

नायिका का शोकाकुल मन शंकाकुल हो उठता है और पुनः एक दार्शनिक की भांति उसके ये स्वर शिखरों में समा जाते हैं :

बेत भरी कपाई मजा-
के जसो लिखिछौ ।
न्योली के जसौ लिखिछौ ।

अर्थात्, इस बालिस्त भर के माथे में न जाने क्या क्या लिखा है! कौन जानता है ?

कल-कल निनादिनी वह नदी सुख के दिनों में कभी उसके मन को रंजित करती थी । पर, नदी के तीर पर बैठी हुई नायिका को आज प्रिय के विरह में इस नदी का कल्लोट काट खाता है :

काटी खांछो, यो गाड़ो को सुसाटा ।
मैं चानैं रै गयूं पिया की बाटा ।

तुम्हारी बाट देखती-देखती मैं थक गई हूं । इस नदी का कोलाहल भी अब मुझे जैसे काटने को आता है ।

बेचारी नायिका को अब चैन नहीं है। कभी नदी के तीर पर जाकर बैठ जाती है, तो कभी उस शिखर पर भटकती फिरती है, जहां नायक को वह विणई (एक जैबी लोक वाद्य) के स्वरों में सम्मोहित कर लेती थी और कभी स्वयं उसकी मुरली की धुन से सुध-बुध खो बैठती थी । आज पुनः इस शिखर पर अपने अधरों में विणई लेकर बैठी है वह, और अर्धचैतन्य सी मुद्रा में उसके विरह गीत मूक शिखरों को स्वर प्रदान कर गूंज उठे हैं :

पारा डाना को छै भागी,
सुर-सुर मुरली बाजीगे ।
फुर-फुर विणई बाजीगे ।
मुरली बाजिगे-
विणई बाजिगे ।

कौन है वह भाग्यवान, जो उस पार से मुरली की तान छेड़ रहा है ? (कदाचित मेरा प्रियतम ही है) किसने यह उन्माद भर दिया है मेरे अन्तर में ? . . . और अपनी ही विणई के स्वर उसे मुरली की संगत करते उसे उस पार से सुनाई देने लगते हैं :

पड़ी गो बरफ सुवा,
पड़ी गो बरफा ।
पंछी हुनों, उड़ी ऊनों-
मैं तेरी तरफा ।

उस पार शिखरों पर बर्फ पड़ी है। इसीलिए असमर्थ पा रही हूं अपने आप को तुम्हारे पास तक पहुंच पाने में । प्रियत्तम, अगर मैं काश पंछी होती तो तुम्हारे पास पहुंच जाती ।

प्रेम की पीर से नायक भी मर्माहत है । वह बुरुंस के लाल फूल को अपनी सजी-धजी नायिका समझ बैठता है :

पारा भीड़ा बुरुंसी फूली गे ।
मैं जै कुनूं, मेरी हीरूऐगे ।

कितना पागल हूं मैं ! हर बार जाने क्यों मुझे बुरुंस के फूल से भ्रम हो जाता है कि उधर से मेरी हीरू ही आ रही है ।

ठीक भी है। आखिर, विरही अपने आप को कहां तक संभाले ? विरह-ज्वाला में अनवरत दग्ध होने वाला नायक कैसे अपने होशोहवास कायम रखे। चाहते हुए भी वह वापस नायिका के पास जाने में उसकी बेबसी कितनी मार्मिक है, निम्न पंक्तियां देखिये :

द्वारों को दरखाना बटी–
देखिछो बणलेख ।
त्यारा-म्यारा करमों पर–
लेखी छो उदेख ।

मुझे ऐसा लगता है कि शायद अब हमारा यौवन इसी तड़पन में बीतेगा। कदाचित करमों की गति यही है ! उसकी तड़पन में एक चुनौती है :

मारी हैछो माखो ।
तराजू में तोलि लिये,
कैंकी माया बांकी ।

"प्रिये, तराजू में तोल कर देखो तो जरा, हम में से एक-दूसरे के प्रति किसका प्रेम बढ़कर है ?"

शायद उस प्रेम मापक तुला का कोई भी पलड़ा जमीन से नहीं उठ पा रहा है। नायिका के ध्यान में समाधिस्थ नायक अपनी आहों के माध्यम से प्रिया को संदेश भेजता है :

गाड़ काट गाये ।
दुनियें की रीत ऐसी,
तू मन बुझाये ।

"इस दुनिया (पर्वत प्रदेश) की रीति ही ऐसी है। हताश होने से कुछ नहीं बनेगा। प्रिये, मन को समझा-बुझा लेना।"

किन्तु नायिका विवश है :

पाणी को मसीक ।
भुलुला भुलुल कुनूं–
भुलुनूं क्सीक ?

"प्रियतम, (तुम्हारी आहों ने मुझे तुम्हारा संदेश पहुंचा दिया है। किन्तु) मैं भूलना भी चाहूं तो कैसे ? (क्योंकि लाख प्रयत्न करने पर भी मैं अपने मन को समझाने-बुझाने में असमर्थ हो गई हूं)"।

प्रेम के अमर गायक सूफी कवि जायसी की नागमती की भांति हमारे लोक गायक भी इन पर्वतों की 'पार्वती' का संदेश सुआ के माध्यम से प्रिय के पास भिजवाता है :

कांपनी पराण ।
मिहणी मरण सुआ
कथक हराण ।

"हे सुआ, प्रिय से कहना कि तुम्हारी प्रेयसी के सम्पूर्ण शरीर में अब कम्पन पैदा होने लगी है। इसलिए अब उसका मरण प्रायः निश्चित है। क्षणभर के लिए भी अब विरह बर्दास्त करने की क्षमता नहीं रह गई है उस में।" और यह भी :

पकै हाली पुआ ।
आंखिन में दुनियां रिटी,
हिरदा में सुआ ।

अर्थात् "मेरी दशा अब सामान्य नहीं रही। मेरे बाह्य चक्षु यद्यपि खुले हैं और दुनियां के कार्य-कलापों को देख भी रहे हैं, किन्तु बुद्धि कुछ भी ग्रहण कर सकने में समर्थ नहीं है। क्योंकि हृदय में तुम्हारी स्मृति की तीखी चुभन है, जो क्षण भर के लिए भी कम नहीं होती।" और यह भी :

डुलायो चंवर ।
मैं हुंलो गुलाबी फूल,
तूं हये भंवर ।

"प्रियतम, यदि सचमुच मिलन से पूर्व यह विरहाग्नि मेरे प्राणों को ले ले तो तुम दुखी न होना। मैं फिर अगला जन्म धारण कर गुलाब का फूल बनूंगी और तुम भी (क्योंकि विश्वास है कि मेरे बिना तुम भी जीवित न रह सकोगे) भ्रमर बन कर आना (और फूल के समीप मंडराते रहोगे, जिससे फिर कभी विरह का सामना नहीं करना पड़ेगा)।"

इस प्रकार वियोग शृंगार की दसों दशाओं के अगणित उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं। उपरोक्त कतिपय लोकगीतों से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि यहां का लोक मानस वियोग व्यथा से पीड़ित होकर इन विरह गीतों के समर्पण के लिए सदियों से उचित पात्र की प्रतीक्षा में आज भी गा रहा है :

निडलै की माणी ।
टुटिया हिरदा घरूं–
कैंकी खुटकाणी ?

अर्थात्, मैं इस टूटे हृदय से निकले इन गीतों को किसे समर्पित करूं ?"

अन्त में इन्हीं शिखरों के अंचल में पोषित सुकवि पन्त की निम्नांकित पंक्तियों से प्रस्तुत लेख का समापन करना यथेष्ट होगा :

हाय किसके उर में
उतारूं अपने उर का भार !
किसे अब दूं उपहार
गूंथ यह अश्रुकणों का हार ?

पर्वतीय गीतों की गूंज

--श्रीमती दमयंती शर्मा

सारा पर्वतीय प्रदेश प्रकृति की मनोरम गोद में सदियों से खेलता चला आ रहा है। पर्वतीय क्षेत्रों में मीलों तक फैली हुई फूलों की घाटी स्वर्ग का अलौकिक सौन्दर्य प्रस्तुत करती है। पर्वतीय धरती और वहां के लुभाने दृश्य कवियों के लिए प्रेरणा देने वाले रहे हैं। वहां की इठलाती नदियां, वहां के झरने, फूलों से लदी डालियां, हरे भरे जंगल, मखमल के समान फैली हुई दूब, ठण्डी ठण्डी हवा आदि सब बहुत ही मनोरम वातावरण उत्पन्न करते हैं। कभी झिलमिलाते तारों का दृश्य वहां की शोभा बढ़ाता है तो कभी धरती की हरियाली। बुरांश के लाल लाल फूल, धरती को सजाते हुए प्यौलो के पीले और 'दुदभाती के सफेद पुष्प वहां के जीवन में नया उत्साह और प्रेरणा देते हैं।

वहां के लोक कवि धार्मिक पवित्रता और प्राकृतिक सौन्दर्य के सामंजस्यपूर्ण वातावरण से प्रेरित होकर अपने गीतों को मिठास भरे स्वर से सजाते हैं। यही कारण है कि पर्वतीय लोक गीतों में उल्लास, सौन्दर्य, मिठास, करुणा और मार्मिक अनुभूति का स्वर गूंजता रहता है। यहां के लोक साहित्य म विद्यमान प्रकृति चित्रण और काव्य सौन्दर्य कालिदास के प्रकृति चित्रण की याद दिलाता है। उपमान भी वहीं के हैं। नायिका सुन्दर है तो जून (ज्योत्सना) की भांति, चपल बालिकाओं के नृत्य के थिरकन का झरने की कल-कल से स्वर मिलता है। हरियाली से भरी हुई धरती स्नेह से परिपूरित हृदय के समान है। आस्थाएं हैं तो समुद्र की गहराई की तरह, मान्यताएं और आदर्श है तो स्वच्छ धवल हिमालय की ऊंचाई की तरह।

बांज और बुरांश के फूलों से सजी हुई कुमाऊं और गढ़वाल की धरती, घुगुती और हिलांस के मीठे बोल और झरनों का सुरीला संगीत सब कुछ मन को लुभाता है। फूलों की घाटी वाला मनोरम दृश्य प्रातःकाल की पावन बेला और रुपहली सांझ की लाली की छाया में अद्भुत और अलौकिक सौन्दर्य का दर्शन कराता है। गढ़वाल का गायक भी वहां की धरती की तरह अपने गीतों द्वारा मनोहारी समा बांध देता है। आरती सजाती हुई महिलाएं, हाथ में दीप लिए नन्हीं-नन्हीं बालिकाएं भारत माता के गीत गाती हैं। राष्ट्र की पूजा के इस गीत के स्वर हाथ में तिरंगा लिए भारत माता के चरणों में समर्पित हैं :—

तेरि पूजा करदू भारत माता
तेरो सिरताज ऊंचो हिमाल ए————————।
गले की माला गंगा जमना ए————————।

मिलन की मधुर घड़ियों में वहां का जीवन हंसते खेलते और नाचते गाते जीवन की थकान और कड़वाहट को भी मिठास म बदल देता है। गीत के बोल हैं :

तेरि मेरि च जोड़ी, के माना बिगै दे
सौ झड़यूं की छ्वी छन, छ्वी न लगै दे।

इसी बीच प्रस्ताव होता है मायके जाने का। पर पति मिलन की इन घड़ियों को कैसे बदलने दे। प्रेयसी को कैसे जाने दे। प्रार्थना होती है मां की याद आ रही है उत्तर मिलता है मां को बुला लेंगे देखिए :

तेरि खुटि का सलामा,
मी मैत जॉण दे भागि,

तू मेरी हियै की प्यारी,
तू मैता नी जा भागी।

इजू की याद ऐ रैछ,
मी मैत जॉण दे भागी।

तेरि इजा येति बुलौंला,
तू मैत न जा भागी।

गंगा-जमना वाले इस देश की धरती, हिमालय की पावनता वाली यहां की माटी और सबके मन को उल्लास से भर देने वाला यहां का प्राकृतिक सौंदर्य स्वर्ग का आनन्द देने में समर्थ है।

गंगा जमना बगदी दादि हमार देशमा।
बदरी, केदार धाम दादि हमार देशमा॥

ऐसी पावन धारा हमारा स्वर्ग है, हमारी मां है :

यो हमरी धर्ति हमर स्वर्ग,
हमीर मां छ।

सारे पर्वतीय प्रदेश में सवेरा होते ही पनघट पर गागरें खनकने लगती हैं। चक्कियों की आवाज में पक्षियों का कलरव खो जाता है। फिर चरवाहे अपने ढोरों को लेकर जंगल की ओर चल पड़ते हैं। स्त्रियां हाथ में दरांती और रस्सी लेकर घास के लिए चल पड़ती हैं। किसान हल बैल लेकर निकल पड़ते हैं। छोटे-छोटे बच्चे माता-पिता के साथ पीछे-पीछे खेतों में ही चल पड़ते हैं, जो नहीं आ सकते वे घर में पत्थर के टुकड़ों के खिलौने या कपड़े की गेंद से खेलते हैं तथा दाड़िम के फूलों की बारात सजाते हैं। इस प्रकार दिन भर अपने काम में लगे हुए कुमाऊँ के लोग सांझ को घर लौटते हैं और इसी तरह जीवन का क्रम चलता रहता है।

इस श्रम से लथपथ जीवन में वे कुछ क्षण ऐसे निकाल लेते हैं जब उनका हृदय मधुर गीतों को जन्म देता है। कभी बांसुरी के स्वर के साथ, कभी पहाड़ की ऊंची चोटियों से झरनों और नदियों की कलकल के साथ, कभी गहरी घाटियों से पक्षियों की कुहुक के साथ गीतों के मीठे स्वर सुनाई पड़ते हैं। ऊंची नीची, टेढ़ी-मेढ़ी पथरीली राहों पर चलता हुआ राहगीर गाता है तो छोटे-छोटे सीढ़ीनुमा खेतों में काम करते हुए किसान या वहां की स्त्रियां कानों में गीतों का रस घोलती रहती हैं। ये गीत अनेक रूप में हमारे सामने आते हैं तो कभी परदेश गए हुए प्रियजन की याद में, तो कभी मायके की याद में घुलती हुई बेटी की पुकार के रूप में।

कश्मीर की पहाड़ियों पर शत्रु का मुकाबला करते हुए प्रियतम की याद में खेतों में काम करती हुई विरहिणी गाती है :

तुम होला स्वामी कश्मीरै की घाट्यूं में,
मैं छौं एकली पहाड़ै की डाड्यूं में।

इसी विरह वेदना में उसके मन का पंछी उड़कर प्रियतम के पास पहुंच जाना चाहता है —"पंछी हनी उड़ी जानी में सुआ का पास" में यही लालसा है। परदेस गए प्रिय की याद भला किसे नहीं सताती :

सुआ गया परदेस, मी लागो निसास।

इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रकृति की गोद में पलन वाले कुमाऊँ का प्राकृतिक सौन्दर्य तो अद्वितीय है ही वहां का जीवन भी सुन्दर है। वहां श्रम है तो सरसता भी, संघर्ष है तो उत्साह भी, विषम परिस्थितियां हैं तो लगन और सादगी भी। वहां का जीवन फूलों की तरह काटों में पनपता, पलता और विकसित होता है। प्राकृतिक वातावरण के सौन्दर्य के कारण कुमाऊं का जीवन रस और रंग में डूबा हुआ रहता है। वैसे प्रकृति का कठोर रूप भी इस अंचल में विद्यमान है। इसी कारण वहां के जीवन में कठोर श्रम का प्रमुख स्थान है। छोटे-छोटे सीढ़ीनुमा खेत, टेड़े-मेढ़े रास्ते, ऊंची-नीची, पगडंडियां, गहरी घाटियां, पथरीली राहें, ऊंची-नीची, पहाड़ियां और घने जंगल यहां के जीवन को हर प्रकार से प्रभावित करते हैं।

कुमाऊंनी लोक साहित्य में संस्कृति का स्वरूप

--डॉ. रमेश चन्द्र पंत

मानव को एकता और प्रेम की एक सूत्रता में बांधने का श्रेय संस्कृति को है। जो युगीन जीवन को आत्मसात करके मानवता का मार्ग प्रशस्त कराती है। विगत काल की मान्यताएं, परम्पराएं एवं धारणाएं वर्तमान के लिए मार्गदर्शक होती हैं और वही वर्तमान, भविष्य के लिए मानवजीवन के कार्यकलापों की सामग्री उपलब्ध कराता है। अस्तु, संस्कृति का स्वरूप मानव के लिए बौद्धिक, आध्यात्मिक, नैतिक आदर्शों का निर्माण कर मानवीय संवेदनाओं की सृष्टि करता है। प्रत्येक अंचल की अपनी सांस्कृतिक धरोहर होती है, जो वहां के राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जनजीवन में पल्लवित एवं पुष्पित होती है।

हिमाच्छादित कुमाउं अंचल की सांस्कृतिक परंपरा बहुत अधिक समृद्ध है। यह भूमि प्राचीन काल से वैदिक संस्कृति की चिर उन्नायिका भूमि रही है। देवताओं की विहार स्थली, शिवजी की माया भूमि, कालिदास की अलकापुरी और पांडवों के स्वर्गारोहण द्वार के रूप में प्राचीन काल से ही सुविदित रही है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में वर्णित यक्ष, गंधर्व, किन्नर, नाग व खशों की आदि भूमि रही है। खश जाति के लोग ही कुमाऊं के आदिवासी रहे हैं, जो वर्तमान समय में ब्राह्मण और क्षत्रियों में बराबर रूप से व्याप्त हैं। भारत में जब विदेशी आक्रमणकारियों–शकों, हूणों, मंगोलों, मुसलमानों व अंग्रेजों के हमले हुए और कुछ आक्रमणकारियों ने दीर्घ काल तक हमारे देश में शासन किया तो भारत के विभिन्न स्थानों से वैदिक धर्म के आस्थावादी लोग अपनी सांस्कृतिक धरोहर को सुरक्षित रखने के लिए समय-समय पर इस पर्वतीय प्रदेश में आ बसे। विभिन्न क्षेत्रों से आए हुए, भिन्न-भिन्न संस्कृति की मान्यता के लोगों ने, इस अंचल की संस्कृति में स्वयं को आत्मसात कर लिया। इसी कारण अनोखे वैविध्य की झलक यहां की संस्कृति में देखने को मिलती है।

परिश्रम साध्य कुमाऊं का लोक जीवन विभिन्न पर्वों उत्सवों, त्यौहारों एवं मेलों में अपनी रंगीनता की अमिट छाप छोड़ देता है। यही यहां की संस्कृति की अमूल्य धरोहर हैं और इन्हीं सांस्कृतिक उत्सवों से यहां का लोक जीवन अनुप्राणित होता आया है। एक ओर यहां के लोक देवताओं, प्राचीन वीर मल्लों सुभटों, अमर प्रेम में जीवनोत्सर्ग करने वाले प्रेमियों ने यहां के लोक प्रबंध काव्य को जन्म दिया है तो दूसरी ओर प्रकृति की दिव्य सुषमा, जीवन संस्कारों, ईश्वर भक्ति, वात्सल्य प्रेम, प्रेमी-प्रेमिकाओं के उन्मुक्त उद्गारों ने मुक्तक छंदों का रूप धारण कर लोक साहित्य की प्रबन्ध-काव्येत्तर धारा को विकसित किया है। कुमाऊं के लोक साहित्य में प्राचीन काल से लेकर अधुनातन परम्पराओं का सुन्दर समन्वय हुआ है।

धर्म-परायणता भारतीय संस्कृति का प्राण है, इसका अपवाद यहां का लोक साहित्य नहीं है। यहां की लोक गाथाओं में आर्य तथा आर्येत्तर दोनों रूपों में ईश्वर की शक्ति और महत्ता पर अटूट आस्था व्यक्त की गई है। स्थानीय लोक देवी-देवताओं का महत्व सर्वाधिक है। प्रत्येक कार्य का शुभारंभ देवताओं की स्तुति से होता है। जागरों तथा संस्कारों में इसकी झलक हमें सर्वत्र देखने को मिल जाती है। 'शगुन आंखरों' द्वारा जहां संस्कारों का प्रारंभ स्त्री कण्ठ द्वारा होता है, तो जागरों में लोक गायक भूमि के रक्षक (भूमियां) तथा स्थानी देवी-देवताओं की स्तुति से जागरों का प्रारंभ करता है। वह कहता है "हे भूमि के रक्षक तथा थाती के स्वामी, तुम हमारी रक्षा करना तथा पंचनाम देवताओं तुम सफल होना :

सुफल है जाया तुमी यो गौ का भूमियां
दैण हैयी जाया तुमी था ती का थत्याव।
पंचनाम देवताओं तुमी सुफ्ल है जाया॥

कुमाऊं की कोई भी लोक गाथा ऐसी नहीं है, जिसका प्रारंभ देवी देवताओं की स्तुति से नहीं किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि यहां के लोक-जीवन में ईश्वर के प्रति अटूट आस्था है, चाहे वह स्थानीय देवी-देवता हों या पौराणिक या वैदिक देवता। पौराणिक एवं वैदिक देवी-देवताओं का भी लौकिक रूप ही अधिक देखने को मिलता है।

लौकिक धरातल में धर्म, अर्थ काम मोक्ष के लिए लोक देवता से मन्नत मांगना, पूजा-अर्चना, नवान्न रूप में देवताओं को अनाज अर्पण करना, भोग लगाना, जागर देना, तीर्थ, व्रत, दान-पुण्य, धर्मशालाओं-मंदिरों का निर्माण, धन्याली लगाना, बैसी करना, नौर्त लगाना, छः मासी होना, समसाणी देना, बयाली पूजा, चक्र पूजा, बलि पूजा आदि अनेक परंपराओं का आयोजन होता रहता है। इनकी पूजा की अनेक पद्धतियां लोक-मान्ताओं के आधार पर प्रचलित हैं। अनेक देवी-देवताओं की पूजा पद्धति 'तांत्रिक' रूप में देखने को मिलती है। विभिन्न प्राकृतिक रंगों द्वारा उस देवी व देवता का चक्र बनाकर 'पशु बलि' देने की परंपरा आज भी देखने को मिलती है। इसी प्रकार सिद्धि प्राप्त करना, गुह्य साधनाओं का ज्ञान, तथा मंत्रों का प्रभाव भी यत्र-तत्र पाया जाता है।

लोक गाथाओं में सामान्य शिक्षा स्तर का कोई भी उल्लख नहीं मिलता है। यद्यपि वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता ने हमारे जीवन को एक नया मोड़ अवश्य दिया है जिस कारण उनके स्वरूप में भी अन्तर आया है। इन गाथाओं के गायन की अनेक शैलियों का निर्माण हो रहा है, जिससे लोक तत्व के स्थान पर अभिजात्य का बोझिलपन अधिक परिलक्षित होता है। यहां के गाथा नायक नायिकाएं अनेक ललित कलाओं में दक्ष और निवणात थे। प्राचीन समय में प्रकृति की उन्मुक्त गोद में अनेक गीत और नृत्यों का समायोजन होता था। विशेष रूप से पर्वों, उत्सवों एवं मेलों में इनकी विशेष परंपरा देखने को मिलती थी। यद्यपि आज भी इनका समायोजन होता है परन्तु स्वरूप में काफी अन्तर आ गया है। अनेक गीत और नृत्यों का अस्तित्व ही मिट चुका है। आज भी गीत और नृत्य होते हैं परन्तु उनमें लोक तत्व का सर्वथा अभाव रहता है; धम्मा धौस्याला, चांचरी, छपेली, झोडे, बैर भगनौल, न्यौली, जोड़, फाग आदि लोक-गीतों और लोक-नृत्यों का अभाव होता जा रहा है। बंशी वादन के अनेक उदाहरण गाथाओं में देखने को मिलते हैं। 'गड़ नाथ गाथा' में गाथा नायक अपनी वंशी के स्वर से ही किसी दूसरे की स्त्री को मोह लेता है। उसकी वंशी ने तो उसे काल के मुंह में डाल दिया। उदाहरण दृष्टव्य है :

दिगौ ननौली-धुरा बंशी बाजी गे,
कुरेद लैंती सिपौ हिय भरी ऊंछ
बौ बनसी सबद सुयी जनमी गयी,
गंगनाथ-गुसाई सुयी जनमी गई।

इसके अतिरिक्त ढोल, दमामा, नङारा, (नगारा) हुणका, डंबर, तिुरी, रणसिंग, तामा बिजसार, भुकर आदि वाद्य यंत्रों को बजाने की विभिन्न शैलियां भी आज भी किसी न किसी रूप में देखने को मिलती हैं।

यहां की गाथाओं के परिशीलन से ज्ञात होता है कि बीर, सुभट या प्रेमी-प्रेमिका, गढ़ और कोटों में रहते थे। इन गढ़-कोटों को व्यवस्था एक प्रकार से सामन्ती प्रथा पर आधारित थी। गढ़ और कोटों क स्वामी महलों में रहते थे। ये प्रायः तिमंजिला होते थे। जिनमें पूर्वी झरोखे और दक्षिणी छज्जे होते थे। ये भवन अनेक खंडों म विभक्त होते थे। प्रत्येक खंड का नामकरण भी उस वस्तु या अन्य सम्पत्ति के आधार पर होता था जो उसमें रखी जाती थी। उसमें रनिवास भी बना रहता था—यथा :

तिपुर महल त्यारा, यों रंग महल
अन्न की कुठेरी तरी, धन की मजोली।
पुरबिया झरौख त्यारा, दक्षिणी छाजा,
राणो को ख्यांस त्यारा लाल वाजा मोरी॥

सामान्य लोग दो मंजिले भवनों म रहते आए हैं। जानवरों के बांधने वाले स्थान जो ग्वाड़, खरक, और छान नाम से जाने जाते हैं, अलग होते हैं।

समाज में चार प्रकार के वर्ग मिलते हैं, प्रत्येक वर्ग की अनेक जातियां और उपजातियां देखने को मिलती हैं। एक गांव में एक ही जाति या उपजाति के लोग रहते हैं। दूसरी जाति के लोग उसम केवल 'घर जवांई' के रूप में रहेंगे। पूजा-पाठ, कर्म-कांडों में ब्राह्मणों को महत्व दिया जाता है। कुमाऊं की लोक-गाथाओं के अधिकांश नायक क्षत्रिय वंशक हैं, जो युद्ध कला के सिद्ध होते थे। प्राचीन समय से विभिन्न क्षेत्र जो 'हाट' तथा 'ओट' नाम से प्रचलित हैं, व्यापारियों की व्यापार स्थली रही है। आज भी इस वर्ग के लोग यहां रहते हैं। लोहार, चन्याल, आगरी, पन्वारी आदि हरिजन जातियों का वर्ग उनके हस्तकौशल पर आधारित है। दास-वरमियों का मुख्य काम 'घटाई-वढ़ाई' करना है, इनको कुमाऊं का चारण कहना चाहिए। कुमाऊं के लोक साहित्य के निर्माण एवं उसको उपजीव्य रखने में इनका विशेष महत्व है। हुणकिया जाति के लोगों का भी यहां के साहित्य निर्माण में महत्व कम नहीं है।

परिवार में मातृ-प्रधान कुटुम्ब मिलते हैं। गाथाओं तथा लोकगीतों में मातृ प्रधान कुटुम्बों के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। संस्कारों में मातृसत्ता का विशेष उल्लेख मिलता है। माता ही प्रत्येक संस्कार को बड़े ही मनोयोग से सम्पन्न करती है। समाज में महिलाओं का स्थान बिल्कुल गौण है। लोक जीवन में पुत्री का जन्म दुर्भाग्यपूर्ण माना जाता है। पाली पोसी लड़की को किसी अन्जान घर को सौंप देना जहां उसे सुख मिलेगा भी या नहीं?—माता पिता के लिए इससे बड़ा दुख और क्या होगा? मां-बाप की करुण व्यथा इन शब्दों में :

लौटी हुंनी घास खानी, खा भैंसी पराव,
चेली हुनी थात खाती, जा चैंली सौरास।

पति-घर में गई वह बहू मायके की याद में तड़पती रहती है। चैत का महीना आया नहीं कि उसकी आंख 'भिटोली' के लिए तरस जाती हैं। उसका भाई उसे भेजने आएगा, उसकी मां उसके लिए 'खाजा-कलऊ' बनाकर भेजेगी और उसका पिता उसके लिए नए कपड़ सिलवाकर भेजगा। तभी वह बसन्तकालीन पक्षी कपुवां, न्यौली को संबोधित करते हुए कहते है कि 'तुम मेरे मायके देश में जाकर बोलो, मेरी मां सुनगी तो भाई को 'भिटोली' (भटन) लगाएगी।

कुमाऊं में विवाह की अनेक प्रथाएं, कन्यादान, सरौल, आंचर, नौली निकालना, छुडौली आदि प्रचलित हैं। सामाजिक मान-मर्यादा के आधार पर पिता की राय पर विवाह होता है। लड़का कैसा ही क्यों न हो पिता जो कुछ कह दगा लड़की के न चाहने पर भी तथा अबोधावस्था में उसको दूसरे के घर सौंप दिया जाता है। बाल-विवाह और अनमल वृद्ध विवाह के अनक उदाहरण गीतों तथा गाथाओं में मिलते हैं। कोई स्त्री जिसका पति बढ़ा हो चुका है, अपनी मार्मिकता को व्यक्त करत हुए कह रही है कि मैं अच्छा श्रगांर करके क्या करुं मेरे खेती के पिता तो बूढ़े हो गए हैं :

के करूं सासू लम्ब चरयो ले, रेवती बौज्यू बुढ़।

समाज में घूंघट प्रथा, नजर लगना, तंत्र-मंत्र शगन-अपशगुन आदि की परंपरा देखने को मिलती है। शगुनों के आधार पर, भविष्य की घटना के बारे में जानने की परंपरा का उल्लेख लोक साहित्य में यत्र देखने को मिलता है। मालूशाही की नायिका रजूली जब अपने प्रिय के कपड़े धोने गई तो उन कपड़ों को साफ न होते देख उसके मन में शंका पैदा

हो गई और शंका सत्य निकली :

कपाड़ सुजूणेछी गंगा का ढीक,
सुजण नि रया कि बात-बिगड़ी ।
मन में सोच पड़ा, हिय में उदास,
धन मालुवा तेरी पराणी कि दुख आय ॥

इसी प्रकार दैण-काग, वौं-नाग, छींक, विचार आदि मान्यताओं का उल्लेख मिलता है।

भोजन व्यवस्था में 'छत्तीस-ज्यूनार' और 'वत्तीस प्रकार' का वर्णन भी यथा स्थान मिलता है। केस सज्जा के लिए 'बाल बाल मोत्यू गठ्यठा, विभिन्न जेवरों वस्त्रों, धगिया, अङिया, पटकन, फेटा, पागड़ा आदि का वर्णन भी लोक साहित्य में यत्र तत्र हुआ है। योगियों की वेश भूषा, खान-पान आदि का वर्णन भी काफी मात्रा में देखा जाता है। गङनाथ गाथा में तो 'नाथ सम्प्रदाय' की झलक स्पष्ट रूप से देखने को मिलती है।

कुमाऊं में प्राचीन काल से आजीविका का प्रमुख साधन पशु-पालन रहा होगा। मालूशाही में सुनपति सौक भेड़ बकरियों में नमक लादकर लाता था और तराई भावर तक जाकर उसके बदले अनाज और अन्य आवश्यक वस्तुओं को लाता था। रमौल गाथा तो पूर्णतः 'भेड़ पालन पर आधारित है। गाथा नायक अपनी भेड़ों को लेकर जंगल-जंगल जाया करते थे। लोक कृषि भी करते थे। विनिमय वस्तुओं को देकर या लेकर होता था। अनाजों में धान, महुवा, गहत, भट्ट, जौ, फाफर आदि होते आए हैं। धान के खेतों में रोपाई का कार्य तथा मडुवा गोड़ाई का कार्य गांव में आज भी बड़े धूम-धाम और बड़े समूह के साथ सम्पन्न होता है। रोपाइयों में एक ओर हल जोतता हुआ किसान, खेतों को चोरस बनाने वाले, 'तोपार' धान की पौध को उखाड़ पर खेतों में रोपण करने वाली पुतरियां हुणका बजाता हुआ गायक जो कार्य में उत्साह प्रदान करने वाले चरित्रों की कथाओं से, श्रम साध्यता में संगीत तथा गेयता से वातावरण को रंगीन बना देता है—यथा :

घड़ाई बड़ाई हैरे सवाई-रोपाई,
बार बीसी रोयार, नौ बीसी तोपार,
हुणुक बाजी रय रेछेम-तैछम ।
चांदी खेत भाज हयियों की हकाहाक है रैछ हो ।

कुमाऊं में अधिकांश लोग आजीविका के लिए घर से बाहर हैं। प्राचीन समय में भी अनेक लोग राजा-महाराजाओं के चाकरी का काम करते थे। आज तो यह परम्परा सर्वाधिक है। शिक्षा का अर्थ घर से बाहर जाकर नौकरी करना है। मुक्तक गीतों में प्रवासी पति के वियोग में विरहिणी का करुण कण्ठ अनेक रूपों में सामने आया है। इन गीतों को प्रवासी-गीत कहना अधिक सार्थक है।

कुमाऊं की लोक गाथाओं में यहां की ऐतिहासिक परंपरा भी देखने को मिलती है। अनेक कत्यूरी राजाओं, अनेक भडों एवं वैगों के वर्णन में इतिहास के चित्र सामने आते हैं तथा तत्कालीन समाज व्यवस्था, अर्थ व्यवस्था एवं राजनैतिक व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। गढ़ों में स्वामी का राज दरबार लगता था। अनेक मंत्री और चाकर राजदरबार में उपस्थित रहते थे। सभासद बारह पंक्तियों में बैठते थे, उनके मध्य एक दीवान बैठता था। नौ व्यक्तियों की न्यायिक अदालत होती थी। राजमहल के मुख्य द्वार पर दो प्रहरी हमेशा पहरा देते थे, आदि।

प्राकृतिक वातावरण से परिपूर्ण यहां के लोक-जीवन की सांस्कृतिक परम्परा का यथातथ्य वर्णन यहां के लोक साहित्य में अत्यन्त विस्तार से हुआ है। स्थानीय प्रकृति को मानवीय गुणों से युक्त मानकर उसका संश्लिष्ट चित्रण भी यथास्थान देखने को मिलता है।

कुमाऊंनी लोक साहित्य में भूत-प्रेतों की शक्ति तथा उनके पूजा विधान का महत्व भी विशेष रूप से देखने को मिलता है। कुछ भूतों को लोक जीवन का सहायक माना गया है तो किन्हीं भूतों का अनिष्ट-कारी रूप भी देखने में आता है, जहां जागरों में, 'मै दयो भूत'(मायके के तथा कुल में पूजे जाने वाले) पौराणिक आख्यानों से संबधित कथाओं के माध्यम से जागर लगाकर पूजे जाते हैं तो दूसरी ओर कुछ भूत उचित क्रिया के मिलने के कारण दुष्ट-आत्मा के रूप में लोक जीवन में व्याप्त हैं। इनका प्रभाव निश्चित क्षेत्रों में और समयानुकुल होता है। इनके प्रभाव से बचने के लिए बकरी की बलि, पत्थर के छोट टुकड़े (डांसी ढुड), मुर्गी, गजिया गान (भूकन्नद विशेष), छिपकली, रंगी, सिंदूर लोहे का टुकड़ा आदि भाग रूप में दिया जाता है। पूजा विधान के क्षेत्र भी इन भूतों के लिए निश्चित होते हैं। यथा, चौराहे में दलदल पानी की भूमि (सिमार) तथा पर्वत शिखरों में इनकी पूजा होती है।

कुमाउं की विशाल संस्कृति के संक्षिप्त विवरण से स्पष्ट होता है कि प्राचीन काल से यह संस्कृति युगयुगीन जीवन को आत्मसात करती हुई लोक जीवन की परम्परागत विरासत है। यहां की संस्कृति में आदि विचारों, अवस्थाओं का समंजस्य सर्वत्र अभिव्यंजित है। मानव की आदिम अवस्था प्राकृत, तथा पराप्राकृत में भेद नहीं कर पाई जिस कारण लोक-जीवन में पराप्राकृत तत्वों का समावेश आज भी अनेक आशाओं, आकांक्षाओं द्वारा परिपालित होता आया है। लोक जीवन की परंपराएं कालान्तर में परिवर्तित और परिवर्धित होकर अपने स्वरूप में वैविध्य लाते हैं। परन्तु उसका संबंध भूतकाल एवं भविष्य से अवश्य जुड़ा रहता है। कुमाउं संस्कृति की यह प्रवृत्ति यहां की लोक गाथाओं, लोकगीतों, लोक-वार्ताओं, दत-कथाओं आदि में देखने की मिलती है, जिनमें कुमाऊं संस्कृति **का** सजीव तथा मुंह बोलता चित्र उपलब्ध है।
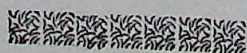
उत्तराखंड के लोक नृत्य

--मदन थपलियाल

सत्यम, शिवम, सुन्दरम का जितना सुन्दर समन्वय उतराखण्ड के अंचल में देखने को मिलता है उतना शायद ही कहीं मिलता हो। सृष्टि के आदि से ही समुदाय में रहने की भावना मनुष्य की अवश्य रही होगी इसी कारण मनुष्य प्रत्येक कार्य के लिए किसी न किसी साथ की आवश्यकता महसूस करता है। दुख हो या सुख, समुदाय के साथ रहने की भावना हर जगह झलकती है। सुख को बढ़ाने और दुख को बंटाने के लिए समुदाय ही उपयुक्त है। समुदाय ने ही मनु य को कुछ करने के लिए अभिप्रेरित किया। सामूहिक कृषि से लेकर सामूहिक भोज तक की सभी कड़ियों के मध्य मे मेहनत-मजदूरी, आदान-प्रदान, नृत्य-संगीत आदि आते हैं। सामूहिक नृत्य उत्तराखण्ड में परम्परागत हैं इसलिए इन नृत्यों को लोक नृत्य की श्रेणी में रखा गया है।

लोक नृत्यों और लोक गीतों की जन्मस्थली ग्रामीण आंचल ही है। जिन गांवों से लोगों का पलायन हुआ है या जिन गांवों का शहरीकरण हुआ है वहां के लोक गीत नृत्यों का प्रायः लोप सा हो गया है। शहरों में लोक कला का विकृत रूप नजर आता है जहां कि इन्हें पुनः पुनः दोहरा कर अक्षुण्य वनाया जा सकता है।

निरंतर परिश्रम से जूझते हुए उत्तराखण्ड के लोग मनोरंजन के लिए कुछ न कुछ समय निकाल लेते हैं। उत्तराखण्ड की समस्त उपत्यकायें, गिरि गुफायें, कन्दरायें, लोक गीतों की मधुर ध्वनि और ताल पर थिरकते हुए पगध्वनि की गूंज से प्रतिध्वनित होती रही है। उत्तराखण्ड के सभी जिलों चाहे वह अल्मोड़ा, टिहरी, पिथौरागढ़, चमौली, उत्तरकाशीं, नैनीताल, देहरादून या पौड़ी ही हों सभी जगह लोक गीतों नृत्यों का समानान्तर बोल बाला है। जौनसार भाबर तो पूरे वर्ष ही नृत्य में डूबा रहता है। अन्य क्षेत्रों में कहीं पांडव नृत्य का मंडाण है तो कहीं कत्यूरों की जागर लगती है। गढ़वाल में कहते हैं कि "आज पांडव नाचला हमारा बीच मां" तो कुमाऊं में कहा जाता है कि "जा आज कत्यूंरा नाचला हमारा येती हूंणी म।" सर्दियों की रातों में लोग चौक में मंडाण लगाकर प्राचीन कथाएं गाते रहते हैं। कहीं मालूशाही और हरूहीत की गाथा लगती है तो कहीं गंगू रमोला, लोदी रिखोला और कफ्फू चौहान की गाथायें लय-ताल पर थिरकती रहती हैं।

विभिन्न स्वरों में गाता है उत्तराखण्ड का अंचल, खुदेड गीत गढ़वाल के प्रसिद्ध हैं। कुमाऊँ के झोडा, झुमेली, चौफ्ला, भगनौल और चांचरी तो वातावरण को अत्यन्त मधुर रस से सराबोर कर देते हैं। झंकरू पैक की गाथा, जीतू बगड़वाल के पंचाडे और हरूहोत की कथा तो वहां का लोक गायक गाता-गाता नहीं थकता। चौफ्ला थड्या, झूमलो आदि ऐसे नृत्य हैं जो कि लगभग समस्त उत्तराखण्ड के आंचल में प्रचलित हैं। मुख्यतः उत्तराखण्ड के आंचल में चौफ्ला, थड्या, झुमलो, सरौं, झौड़ा, चांचरी, थालीनृत्य, छोलिया, पंडौं, कत्यूरों की जागर, भडेला बादी, लालुडी आदि नृत्य हैं जिनका प्रचलन अभी भी अलग-अलग स्थानों पर मिलता है। घसियारी गीत, मैती गीत, चैती गीत आदि के द्वारा इस आंचल विशेष की युवती अपने उद्‌गार प्रकट करती है। खेतों की गुडाई कटाई रूपाई आदि के समय अब भी कई स्थानों पर हुडक्या, नाचता, बजाता और गाता रहता है। तथा तान-ताल लय पर सामूहित कार्य शीघ्र हो जाता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि नपाली लोक गीत-नृत्यों का प्रभाव उत्तराखण्ड की आंचलिकता पर दृष्टिगोचर होता है। न्योली गीत, चांचरी, छपेली, झुमैलो चौफ्ला, छोपती आदि गीत-नृत्य नेपाल की ही देन है। नेपाली शैली पर नाचने गाने वाले अधिकत्तर पिथौरागढ़, डोटीसौर, सीरा आदि क्षेत्रों में देखने को मिलते हैं।

सर्दियों की रातों में जहां मंडाण लगते हैं वहां बसन्तऋतु की रातों में समस्त वातावरण विभिन्न प्रकार के गीत नृत्यों से झूम उठता है। फसल कटने के पश्चात् गांव के स्त्री पुरुष चौक में एकत्रित होकर विभिन्न प्रकार के नृत्यों को प्रस्तुत करते हैं इन नृत्यों को प्रस्तुत करते समय किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। सभीएक जट होकर नाचते गाते हैं।

सरा क मिडोली, नै डाली पंया जामी।
द्वि पत्ती हवै ग्येय, नै, डाली पंयां जामी॥

और

नंदू त्यारू दादु का जायूं च, दादु सुनार कि ओट च।
ओट बैठि कि क्ल करदू च, नाक नयूली गडौंद च॥

सामूहिक नृत्यों के बाद एकल नृत्य और गीत भी गाये जाते हैं और अपने दुःखों को हंसते खेलते गीतों में भुला देते हैं :

रैंमासी को फूल कविलास,
रैंमासी को फूल कविलास ।

कै मैना फूललौ कविलास,
को जालो ह्यूं चला कविलास ?

कै देव सोभलो कविलास,
रैंमासी को फूल कविलास ?

मादेव जी सोभलो कविलास,
पार्वती जी सोभलो कविलास ।

** ** **

छिः बाबा छाम्या कू नी दीणू
छःम्या च ग्वेरू कू राजा......

* * *

साबासे म्यारा मोति ढ़ांगा......॥
दस रूप्यों कू मोति ढांगा, सौ रूपया का सींगा,......।

उत्तराखण्ड के अंचल में पाई जाने वाली उपजातियां वादी, औजी धामी, बेडा, ढ़क्की, जागरी आदि ऐसे हैं जिन्हें लोक संगीत का उन्नायक माना जा सकता है। इन्हीं जातियों के पास आज तक लोक कला का संग्रह उपलब्ध रहा है। इनके वाद्यों ने यहां के निवासियों के पांवों में थिरक पैदा की। शरीर में हलचल पैदा की और सामूहिक रूप से कार्य करने की प्रेरणा दी। इन लोक कलाकारों के प्रमुख वाद्य हैं :—बांसुरी, मुरली, मोछंग, थाली, डोंरू, शंख, डफली, रणसिंह, भेरी, रामसौर, घंटी, घुंघरू, घांड, ढोलक, ढोल, दमाउ, सिणाई, मसग, एकतारा, दुतारा, तुर्री, खाकर आदि। आजकल ढोल दमाऊ का प्रचलन ही अधिक हो रहा है। शादियों में मसग-सिणाई भी कभी कभी नजर आते हैं।

उत्तराखण्ड के लोक गीत और नृत्य जहां अपनी प्राचीन परम्परा को बनाये हुए हैं, वहां आज की नवीनता से यह परम्परा अछूती नहीं रह पाई है तथा नूतन पुरातन का यह अद्भुत सामंजस्य इन लोकगीत और नृत्यों में स्पष्ट दिखाई देने लगा है। नवीनता का पुरातन परम्परा में अधिक समावेश होने से कहीं ऐसा न हो कि पुरातनता लुप्त प्रायः सी हो जाय। इस पुरातनता के संरक्षण के लिए सभी प्रयास किए जाने चाहिए जिससे कि लोक कला का स्वरूप जीवित रह सके।

गढ़वाल की संस्कृति

—संपूर्णानन्द चचंल

ग्यारह लाख वर्ग मील और लगभग 15 लाख से अधिक जनसंख्या वाला गढ़वाल जनपद अब चार भागों में विभक्त है। (चमोली, पौड़ी, टिहरी, उत्तरकाशी में) जिसके उत्तर में तिब्बत, दक्षिण में देहरादून, पूरब में कुमाऊँ तथा पश्चिम में हिमाचल से घिरा हुआ उ० प्र० का एक छोटा सा भाग यह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है।

हिमालय की गोद में बसा हुआ, यह क्षेत्र गढ़वाल नाम से क्यों जाना जाता है? क्योंकि, यहां पहले समय में किले हुआ करते थे जो कि अलग भागों में बंटे रहते थे यानि यहां 52 गढ़ थे (गढ़वाल गढ़ शब्द से किले का ज्ञान होता है और उसमें वाला प्रत्यय जुड़ने से गढ़वाल शब्द बना है) गढ़ों के होने के कारण यहां का गढ़वाल नाम पड़ा। गढ़वाल की संस्कृति पुरानी तो है लेकिन लुभावनी है प्रकृति में रमणियता है। दुनिया के पर्यटक यहां आते हैं, यहां के पर्वत, घाटी, पशु-पक्षी, नदियां तथा झरने, आदि, वातावरण को देखकर इस कदर मोहित हो जाते हैं कि यहां की धरती में विलीन होने को उनका जी करने लगता है। यहां की संस्कृति में प्रेम और सहिष्णुता का प्रमुख स्थान है। आदि गुरु शंकराचार्य ने गढ़वाल को चार धामों में प्रमुख धाम बताया है।

प्राचीन काल में प्रचलित विविध नाम :—प्राचीन काल में यह प्रदेश ब्रह्मार्वत के नाम से जाना जाता था तथा पुराणों में केदार खण्ड के नाम से एवं पाली साहित्य में हिमवन्त के प्रसिद्ध था पंद्रहवी शताब्दी के बाद जब पंवार वंशीय महाराजा अजयपाल न यहां के सब ठाकुरी राजाओं और सरदारों को जीत कर एक विस्तृत राज्य स्थापित किया तब यहां 52 गढ़ों का एक होन क कारण यहां लगभग 1500 से 1515 के बीच इसका नाम गढ़वाल पड़ा वैसे गढ़वाल को पांचाल दश, दवभूमि, तपोभूमि वद्रिका श्रम आदि कई नामों का उल्लेख मिलता है।

शासनकाल :—कत्यूरो हिमालय का प्रथम ऐतिहासिक राजवंश किन्तु इसके आरम्भिक राजाओं का काल निश्चित करना इतिहासकारों के लिए एक दुर्गम समस्या है इनके कुछ ताम्र पत्र एवं एक शिला लेख मिले हैं परम्परा के अनुसार इनके वंश का संस्थापक वासुदेव था। कत्यूरी राजा जोशीमठ में रहते थे (जो सन् 850 के लगभग माना जाता है) इनका शासन गढ़वाल में 1015 सन् तक रहा तथा सन् 1400 तक अराजकता रही इसके बाद गढ़वाल में पंवार वंश की स्थापना हुई। गढ़वाल के इतिहास में एक भंयकर दुर्घटना गोरखों के काल की (सन् 1803 से 1814) है अंग्रेजों की सहायता से पंवार वंशीयरावा 1814 में गढ़वाल को गोरखों के पंजे से मुक्त किया गढ़वाल का आधार भाग पौड़ी गढ़वाल अंग्रेजों के पास चला गया आधा भाग टिहरी पर पंवार राजाओं का आधिपत्य हो गया। स्वाधीनता के वाद टिहरी का उत्तर प्रदेश में विलीनीकरण हो गया और सन् 1960 में शासन सुविधा के लिए गढ़वाल जनपद को चार भागों (पौड़ी, चमोली, टिहरी, उत्तरकाशी) में बांट दिया।

भौगोलिक वातावरण :—लगभग 11 लाख वर्गमील का गढ़वाल 15 लाख के लगभग जनसंख्या वाला क्षेत्र है यहां धरातल 1000 फीट से आरम्भ होकर लगभग 25000 फीट है चारों ओर पर्वतों, चोटियों यानि हिमालय, शिवालिक से घिरा हुआ तथा गंगा, यमुना, अलकनन्दा, मन्दाकिनी, टोंस, भागीरथी आदि प्रमुख नदियां बहती हैं, यहां तांवा लोहा, शीशा तथा कुछ माता में सोना व हीरा भी होने का उल्लेख है। जलवायु अधिकतर समशीतोष्ण है लेकिन जलवायु में (डांडो घाटियों में वृष्टि छाया आ जाने के कारण) तुरन्त बदलाव आ जाता है यहां वर्ष में तीन ऋतु ही बांटी जाती हैं—हृयूंद, खरसौ, चौमासो कृषि मुख्य साधन तथा जड़ी बूटियों का भण्डार गढ़वाल प्रदेश है। पशु पक्षी लगभग सभी किस्म के पाये जाते हैं। वांज, वुरांस, चीड़, देवदार के पेड़ अधिकतर पाये जाते हैं।

संस्कृति व भाषा :—यहां के आदिवासी यक्ष, किन्नर, नाग, किरात, कोल, खष जुर्जर, हूण, कुमंयुं, आर्ध आदि अनेक जातियां थीं यहां की भाषा संस्कृति पर वे अपनी अमिट छाप छोड़ गये, जिनकी कि प्राचीन कालीन यक्ष, किन्नर आदि के नामों से अनेक कथाएं समाज में पायी जाती हैं। कुवेर यक्षों का राजा था। अलकनन्दा के तट पर अलका उसकी राजधानी थी, गढ़वाल में यक्षों को जग्स या जाटव कहा जाता है। बाद में जग्स भूत और जाख देवता माने जाने लगे। आज भी गढ़वाल में जाख जाखणी, जगोठ, जखोली आदि नाम मिलते हैं। किन्नरी भाषा का देवता सूचक सू शब्द गढ़वाल में बहुत व्यापक है। जौनसार में महासू सबसे बड़ा देवता है आर्यो ने सू के आगे मथ जोड़ दिया सू शब्द से कई नाम गांव पट्टीयों के हों धरासू, लगासू आदि गढ़वाल पर नागों का पर्याप्त प्रभाव है। यहां के लोक गीतों और लोक विश्वासों पर इनके प्रसंग मिलते हैं गढ़-वाल में नागराजा, नगेलों दुधाधारी नाग आदि नामों से नागों की पूजा होती है। किरातों के बीच कुछ प्रसंग है, वेद व्यास ने गढ़वाल का विस्तृत वर्णन के लिए केदार खण्ड नाम से स्कन्द पुराण का एक अलग भाग रचा उसमें किरातों का भी उल्लेख है। खष आर्यो का भी, यहां खष अभी भी पर्याप्त संख्या में निवास करते हैं। यहां के निवासियों का जीवन साधारण है। गढ़वाल में गरीब कृषक लोग निवास करते हैं। ऊपर डांडों के क्षेत्रों में लोग खरसों को डांडों में बकरी भेड़ आदि पशुओं के पालन पोषण करते हैं और स्यूद को नीचे की ओर आ जाते हैं गढ़वाल की भूमि कोई आर्थिक उपजाऊ नहीं है फिर भी दुकानों से अन्न तथा अन्य सामग्री खरीदनी पड़ती है। गढ़वाल में मकान लकड़ी के भी तथा पत्थर के भी

दो मंजिल वाले पाये जाते हैं। जिनमें कि निचली मंजिल में पशु बधें रहते हैं। मकानों की छत स्लेटों की होती है। शादी व तीज त्यौहारों में ढोल, नगाड़े, सिणाई, रणसिंघा मसकीवाजा आदि का प्रयोग किया जाता है, गढ़वाल के कुछ क्षेत्रों में इन समयों पर नृत्य गान का आयोजन भी किया जाता है (जैसे रेवाई आदि क्षेत्रों में) अन्य क्षेत्रों में साधारण नृत्य गान कभी-कभी प्रमुख उत्सव के समय होता है रेवाई में पुरूष, स्त्री एक दूसरे का हाथ थाम कर एक घेरा बनाते हैं और बारी-बारी से गीत गाते हैं। और सिर झुकाकर एक टाप पीछे और एक टाप आगे करके घूमतें हैं। परन्तु अन्य क्षेत्रों में गीत यानि जागर (जो कि ढोल सागर एक गढ़वाली भाषा का ढोल के ताल बोल मंत्रों का अमूल्य ग्रन्थ है) औजी जाति का हरिजन ढ़ोल बजाते हुए गाता है और लोग घेरा बनाकर (सिर्फ पुरूष) गोल घेरे में नाचते हैं देवता आदि भी आते हैं भगवती, वगासू (शिव) पाण्डव, भैरू-नरसिंह नागराजा हन्त्या, रथ, आदि उनको डोल सागर ग्रन्थ के मंत्रों द्वारा वह औजी नचाकर फिर धर्यायी देता है (शान्त कर देता है) अपनी गढ़वाली लोक कला का एक मंच है जो जगह-जगह अपनी कला प्रदर्शित करता है (देहरादून में) तीर्थ स्थानों पर मेले लगते हैं गांव की दीडी भूली सज धज कर धोती ब्लाउज, नथोली, तुलाक, तेमणया मुरका, पौछी, इयूरी, आदि गहनों को पहन कर मेले में जाती है देवताओं की भेंट के लिए श्रीफल ले जाती हैं तथा गढ़वाल में वन (जंगल) में घास लकड़ी काटती हुई महिला बड़ा रसीला गीत गाकर वन के पक्षियों तक को एकाग्रचित कर लेती है—(गढ़वाल में विवाह प्रथा कुछ हिस्से में रवाई आदि में कहीं-कहीं पर बाल-विवाह तथा विनिमय विवाह एवं क्रय विवाह आदि एक प्रथा मानी जाती है) गढ़वाल में कलेऊ इधर उधर रिश्तेदारी में जाते समय बेरी-वारी व अन्य गेहूं के आटे को रोटी चावल के आटे के मीठे अरसा तथा उड़द की दाल की पकोड़ी प्रसिद्ध कलेऊ माना जाता है। कहीं-कहीं अश्के. पिनवे आदि भी बनते हैं। कुछ देवताओं पर भी गीत लिखे गये हैं तथा हर समस्या पर गढ़वाली गीत ही गढ़वाल के देवी देवता बड़े ही प्रचधारी है (वरदानी) माता सुरकन्डा (भगवती दुर्गा) के प्रकट होने पर या नाचने पर औजी यह जागर कहता है। धूप चावल आदि देते हैं।

जय जगत वन्दिनी विरेमण्डी एक-2 नाम का संसर नाम छन तेरा
वालु कआरी शानकूर में भद्रकाली माता तुम्हारो ध्यान जाये
ऋषि केश में अनिच्छा देवी 1)
सिलण में जैंतापुरी 1)
खास पट्टी में चन्द्रवदनी 1)

* * * * * * *

जै माया मेरी सकल भवानी दैणी सरस्वती बोयी भगवती
मन हवैंगी चितू उचा ध्योली गढ़ उचों ध्यौलीगढ़ तेरो दैतू न घेरीमाली

* * * * * * *

पैंदासरी हवैंन तेरा नौ नारसिंह छट्यासी भैरव

* * * * * * *

माता नहेण जाली सैवा ऋषिकेश तखलीनी माता सूतो स्नान...

इसी प्रकार पाण्डवों के नाचने या नचाने पर पहले द्रोपदी फिर बारी-बारी से पाण्डव तथा बाद में कृष्ण नाचते हैं। धूप चावल मिठाई आदि थाली में

ध्यान जागे दिशा द्रौपदी को ध्यान जागे
धर्मी युदेशल को ध्यान जागे
पीताम्बरी धोती त्वैंन सजेल्योण............

* * * * * * * *

जागर की धुन से ढोल नगाड़ों की आवाज से शरीर कम्पायमान होते हैं द्रोपदी के नाचने पर पाण्डवों को न्योता दिया जाता है।

जैंती का खेल्वार स्वैला हे पाण्डवो
अश्व मेघीयज्ञी हेला होला पाण्डवो
पैया सिरी पाति होली हे पाण्डवो
जाऊ की जवाती होली हे पाण्डवो

इसी प्रकार सभी पाण्डव नाचते हैं कृष्ण नाचतें हैं उनकी गाथा की औ जी कहता है और फिर ये शान्त हो जाते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि यहां के आदिवासी यक्ष किन्नर नाग आदि थे यहां इनका प्रभाव परिलक्षित के किराती भाषा में डांडा पाखा (पहाड़) कुड़ो (मकान) है फिर कोल भील द्रविड़ आय उनसे कोली, कोलरा वड़ा, डोमड़ा, डोम (हरिजन जाति) आदि शब्द आज भी विद्यमान हैं आर्यों के सम्पर्क स यहां पूर्णतः आर्य भाषा बन गई राष्ट्र भाषा की श्रीवृद्धि में तथा प्रचार में गढ़वाली भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है गढ़वाली के अनेक शब्दों से हिन्दी का शब्द कोष बढ़ सकता है। गढ़वाली और हिन्दी की व्याकरण एक सी है। गढ़वाली भाषा प्राचीन भाषा लगती है। स्थान-स्थान पर औजी ठुडक्या, वादी धेडियाल्या आदि से तथा वृद्धों से लोक कथायें लोक गीत-लोकोक्ति, लोक गीतों में मांगल, जागर, पांवडे बहुत पुरसे हैं। इससे भाषा का पुराना स्वरूप स्पष्ट होता है। लोकोक्ति जनता की उक्तियां जो कि अपन स्थान पर खरी उतरती हैं। गढ़वाली भाषा का प्रतिनिधि साहित्य बहुत कम है गढ़वाली में कुछ खण्ड काव्य, मुक्तक काव्य, नाटक गीत लिखे गये हैं जिनसे आधुनिक गद्य पद्य शैली में कुछ सहायता मिलती है। ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि सामाजिक सांस्कृतिक तथा पदार्थ परक वर्गीकरण के लिए गढ़वाल के कुनिंद, गढ़वांग मानो सांही, फतेशाली आदि कुल पुराने सिक्के देवी देवताओं के मठ मन्दिर, नाप तोल के पैमाने जातियों गढ़ों पट्टियों के नाम से पता चलता है। गढ़वालियों में गोरखनाथ, मैमन्दावीर, हनुमन्तवीर मच्छिन्दु तथा चौरंगी नाथ आदि की वाणियां प्राप्त होती हैं। इनके तंत्र मंत्रों की भाषा बड़ी तड़कीली भड़कीली ओजस्वपूर्ण है।

गढ़वाली भाषा का एक उदाहरण शिला लेख माल देवल (टिहरी का) नीव संवत् 1882 का भादौं 15 गते श्री लक्ष्मी नारायण जी को मठ लायो टुटेंड पिढ़ियो को थयो अब श्री धनीराम डोभाल श्री सिरमौरिया राज धैंक गुरुजनों गुसेयू मानणको श्री महाराज जैकृत शाह

को एज थामण को मदतल्यायो तब अतराम डोभाल को नुधेपुर की कमिणायी दिनी कमिणायोम झगड़ राज सिरमौरिया को हुक्म हो या मठ चिविकपूरो होयो ।

गढ़वाली भाषा में आंचलिक गीत कई प्रकार के होते हैं जैसे :

1. मांगल 2. झुमैलो 3. थड़यागीत 4. वाजूवन्द 5. खुदेड़ 6. चौंफला 7. चैतीगीत 8. चौमास 9. वारमासा 10. पट 11. सामयिक गीत 12. राष्ट्रीय गीत

उदाहरण :

भारत म थौ औणू औ डालू ओधी ।
कनी थै सुथडी जब पैदा हवै गोथी ।।

तारीक थै डी मैनू अक्टूबर । पैदा हवै गांधी अठार सौ उनत्तर ।।
काठियावाड़ पोर बन्दर गुजरात । अंग्रेज क करी तेंन उत्पात ।।

माता पुतली वावा कर्मचन्द गांधी । आफू मोहन महात्मा गांधी
विचार ऊचा-2 करी वकालात । समझीगे गोधी अंजरेजू की बात
अफ्रीका म देखी तौन अत्याचार । दुखी हवै छमन करी छ विचार
देश का खातिर उठाल्यन लोग । अंग्रेज समझीगे कनु बिगड़ी जोग

* * * * * * * *

राष्ट्र पिता वोदान महात्मा गांधी । राजघाट म छ तौकी समाधी
मेरी तरफ सी गांधी क नमस्कार । आफू अमर करी यख को उद्धार

आज के युग में ये भले ही पिछड़े लगते हों परन्तु गरीबी के कारण गढ़वाली अपना समय काटने को गीत, मेले, मंडाण द्वारा अपना मनोरंजन करके अपने नीरस जीवन को सरस बना देता है और यह मात्र धर्म न रह कर सामुदायिक भावना से ओत-प्रोत मनोरंजन हो जाता है ।

प्रकृति के बदलते स्वरूप के साथ जुड़े कुमाऊं के त्यौहार

--आनन्द बल्लभ उप्रेती

समूचे भारत में अपनी एक विशिष्ट सभ्यता, संस्कृति एवं परम्परा का जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है, उसमें विभिन्न अंचलों की सभ्यता, संस्कृति और परम्परा समाहित होकर अनेकता में एकता और एकता में अनेकता का बोध कराती हुई अपनी पहचान बनाये हुए है। जीवन के विविध आयामों के साथ संस्कृति का सम्मिश्रण ही भारत की आत्मा को प्रदर्शित करने का माध्यम रहा है। संस्कृति और जीवन इन दो को पृथक कर देखना सम्भव ही प्रतीत नहीं होता।

भारत की सांस्कृतिक विशिष्टताओं में सबसे प्रमुख उसकी विविधता है। विभिन्न भौगोलिक परिवेशों में छोटी-छोटी इकाईयां अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराओं के लिये जानी जाती है। इस विविधता की झलक प्रत्येक अंचल में उसके उत्सवों और त्योहारों में परिलक्षित होती है। कुमाऊं क्षेत्र में बड़े उत्साह के साथ मनाये जाने वाले त्यौहारों के अतिरिक्त स्थानीय उत्सव इस अर्थ में पूरे आंचलिक ठहरते हैं कि वे जनमानस को प्रभावित करने वाली प्रकृति से ऋतुओं के परिवर्तन के साथ आत्मसात होकर जुड़ते हैं। जिनमें प्रमुख इस प्रकार हैं :--

बसन्त पंचमी :--कड़कड़ाती ठिठुरती सर्दी की समाप्ति के बाद प्रकृति में नये जीवन का आरम्भ होने लगता है। वृक्षों में हरियाली छाने लगती है और प्रकृति के साथ प्राणी मात्र में नई चेतना और नये जीवन का संचार होने लगता है। फरवरी के प्रथम सप्ताह में जब दिन कुछ बड़े होने लगते हैं और वृक्षों में कहीं-कहीं कोंपलें फूटने लगती हैं; प्रकृति के इस नये रूप का स्वागत करने के लिए बसन्तोत्सव का आयोजन यहां होता है। फाल्गुन मास की पंचमी के दिन से होली तक मौसम में निरन्तर परिवर्तन आता जाता है और सारी प्रकृति नये रस-राग में सराबोर होती जाती है। बसन्त पंचमी के दिन बसन्त के स्वागत के साथ-साथ सरस्वती पूजा का प्रावधान भी है। स्त्री-पुरुष बच्चे पीले रंग के कपड़े पहनते है, पीला रुमाल गले में लटकाते हैं और सरस पकवान बनाये जाते हैं। महिलाओं और कुमारी लड़कियों द्वारा पहले पूजा की जाती हैं फिर पुरुषों को तिलक लगाने के बाद उनके सिर में हरे-हरे जौ की पत्तियां रख कर जौ की तरह पुष्ट और हरा-भरा रहने की कामना के साथ उन्हें आशीर्वाद दिया जाता है। पुरुषों द्वारा रिश्ते व उम्र में बड़ी महिलाओं से आशीर्वाद लेने की यह प्रथा वर्ष में कम से कम सात बार यहां प्रचलित है। अपने से रिश्ते व उम्र में छोटी महिलाओं तथा बालिकाओं को पुरुषों द्वारा आशीर्वाद देने के बाद कुछ भेंट देने की प्रथा भी प्रचलित है।

फुलदेई :--प्रकृति के बदलाव से संबंध रखने वाला दूसरा त्यौहार मार्च के द्वितीय सप्ताह में होता है। चैत मास में बसन्त ऋतु जब भरपूर प्राकृतिक छटा के साथ निखर कर आती है कली-कली में नई उमंग, नया रस दौड़ने लगता है, चारों और फूल खिलने लगते हैं; भौंरें फूल-फूल पर मंडराने लगते हैं; पशु-पक्षी और जन-मानस में एक नई उमंग का प्रस्फुरण होने लगता है, चारों ओर यौवन का हल्का नशा सा छाने लगता है, आमों में बौर फूटने लगते हैं, वातावरण संगीतमय होने लगता है, तब चैत्र मास की संक्रान्ति को फूलदेई (फूल-देई) नामक उत्सव मनाया जाताहै। कुमारी बालिकाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के फूल और चावलों को थाली में रख कर पहले अपने द्वार (देई) की पूजा की जाती है फिर पड़ोसियों के घर जाया जाता है तथा प्रत्येक घर की देहली में फूल-चावल बिखेरे जाते हैं और यह कामना की जाती है कि यह घर द्वार फूलों की तरह खिलता रहे, हंसता रहे, यहां सदा प्रसन्नता निवास करे, धन-धान्य स परिपूर्ण हो, यहां रिद्धि-सिद्धि निवास करे। बालिकायें फूल और चावल बिखेरती कहती हैं--"फूल देई, छम्मा दई, भरियां भकार, दैणी द्वार।" आदि।

इन बालिकाओं को गुड़, चावल या भोजन के रूप में उपहार दिया जाता है। एक ओर फूलों से झूमते पेड़-पौधे, दूसरी ओर सुन्दर कपड़ों में सजी-धजी बालिकायें मंगल गीतों के साथ हंसती-खेलती प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित करती हुई जन मानस में नई उमंग भर देती हैं। इस मास प्रत्येक घर में शादी शुदा और कुमारी लड़कियों को भिटौली (उपहार) देने की रस्म अदा की जाती है। उपहार में सुन्दर-स्वादिष्ट पकवान और कपड़े दिये जाते हैं। भाई द्वारा बहिन के ससुराल में भिटौली (उपहार) ले जायी जाती है, जो इस मास, के प्रारम्भ होते ही प्रतीक्षारत बाट जोहती रहती हैं। यहां के लोकगीतों में भिटौली का इन्तजार करती नव विवाहिताओं का बड़ा सुन्दर वर्णन मिलता है, जो सहज में ही यहां के कठोर और परिश्रमी जीवन की झांकी प्रस्तुत करता हुआ प्रत्येक सहृदय व्यक्ति को झकझोर देता है। चारणों की तरह ऋतुरेंण (एक गीत) गान वाले लोग महिने भर घर-घर जाकर--"जो भागी जियलो, यो दिना भेटलो"--गीत गाकर उपहार प्राप्त करते हैं।

हरियाला :--ग्रीष्म की तपन के बाद वर्षा के प्रारम्भ होने पर वर्षा और हरियाली के स्वागत में, श्रावण मास की संक्रान्ति (जौलाय के मध्य) को "हरेला" नामक यह त्योहार बनाया जाता है। इस दिन से दस दिन पूर्व पांच या सात प्रकार के अन्न मिला कर एक छोटी सी

टोकरी में बो दिये जाते हैं जिसे अपने घर के अन्दर पूजा के स्थान पर रखा जाता है। नित्य ही पूजा के समय उसमें जल चढ़ाया जाता है और वह दस दिन में बढ़ कर छः से आठ इंच तक लम्बा हो जाता है। आषाढ़ मास के अन्तिम दिन गौरी महेश्वर की पूजा उस टोकरी के पास की जाती है और मिट्टी के डिकारे (गौरी-महेश्वर की प्रतिमायें) बना कर उनका पूजन किया जाता है। टोकरी के बीच में एक फल रखा जाता है। आठ योगिनियों यानि ग्रह दशाओं—"मंगला, पिंगला, धान्या, भ्रामरी, भद्रिका तथा, उल्लिका, सिद्धिदायी च संकटा योगिनी तथा।"—की पूजा की जाती है।

संक्रान्ति के दिन हरेला यानी उगे हुए सप्त धान्यों की—"रोग-शोक निवारणार्थ प्राण रक्षक वनस्पति, इह गच्छ नमस्तेस्तु हर देवे नमोस्तुते।" आदि मंत्रों के साथपुनः पूजा की जाती है और हरेला काटा जाता है। घर के सभी, लोग माथे पर तिलक लगाते हैं और महिलायें व बालिकायें सब के सिर में हरियाला रख कर आशीर्वाद देते हुए कहती हैं—"जी रया नागि रया, यो दिन-यो बार भटनै रया, स्यावकि जसि बुद्धि सियक जस तराण है जो, धरति जास चकाव, आकाश जास बकाव है जया।"

महिलाओं और बालिकाओं को बड़ों द्वारा उपहार प्राप्त होते है। स्वादिष्ट पकवान बनाये जाते हैं और एक दूसरे को बांटे जाते हैं। इस दिन को वृक्षारोपण दिवस के रूप में भी मनाया जाता है। प्रत्येक परिवार इस दिन नये वृक्षों और फूलों को लगाता है। वृक्षारोपण की यह प्रथा मौसम के साथ मेल खाती और प्रकृति के साथ मानव जीवन को जोड़ती बहुत प्राचीन है।

वर्षा के अन्त और जाड़ों के प्रारम्भ में अश्विन माह की दसमी यानि दशहरे के पर्व पर भी हरियाले का पर्व इसी प्रकार की धूम-धाम से मनाया जाता है और इसी प्रकार की प्रक्रिया दुहराई जाती है। कहीं-कहीं चैत में भी हरियाला त्योहार मनाया जाता है।

वलगिया या घी संक्रान्तिः—भादो मास के प्रथम दिन, लगभग अगस्त के मध्य में, यह त्योहार मनाया जाता है। उन दिनों चारों ओर हरा-भरा प्राकृतिक वातावरण छाया रहता है, खेत हरे हो जाते हैं, नई-नई सब्जियां पैदा होने लगती हैं और घी-दूध पर्याप्त मात्रा में होता है। घी में बने पकवान इस दिन बनाये जाते हैं। सब्जी, फल, दही, घी तथा हाथ की निर्मित सामग्रियां अपने से बड़ों को भेंट की जाती हैं। कुटीर उद्योगों को बढ़ावा देने के लिए इस त्यौहार को महत्वपूर्ण माना जाता है इन उपहारों के बदले नकद अथवा अन्य रूपों में उपहार दिये जाते हैं। नमूने के बतौर हस्तनिर्मित व उपजाई सामग्री उपहार में भेंट कर उसके बदले उपहार प्राप्त कर कुटीर उद्योगों के सामान को विज्ञापित करने की यह प्रथा बहुत अच्छी है। कालान्तर में इसे दासों द्वारा अथवा निम्न वर्ग द्वारा उच्चवर्ग को दी जाने वाली भेंट का स्वरूप माना जाने लगा, परिणामतः इस प्रथा का स्वरूप बदलता चला गया और धीरे-धीरे इस त्योहार के इस महत्व को भुलाया जा रहा है।

बिरुड़ पंचमी:—भादों मास में बिरुड़ यानी पांच प्रकार के अन्न की पोटली बना कर गौरा—महेश्वर की पूजा की जाती है। पंचमी को ये बिरुड़ भिगो दिये जाते है और अष्टमी के दिन गौरा—महेश्वर के सप्तधान्यों के पौधों से बने पुतले बना कर उनकी पूजा की जाती है। आस पास की महिलायें किसी एक घर में इकठ्ठा होकर भित्ति चित्र बनाती हैं और आपस में पूजा के साथ जन श्रुतियों के आधार पर प्रचलित पारम्परिक कथायें सुनाती हैं। जिनमें "बिणभाट" की कथा, "सपूतियों कु सनने की, (निपूतियों) के गुनने की, कह कर, अधिकांश स्थानों पर आठों के नाम से यह पर्व पुकारा जाता है और पूरे माह शाम को महिलायें और पुरुष नृत्य-गीत में तल्लीन रहते हैं। एक ओर फसल लहलहाती है, हरियाली छाई रहती है, वर्षा की फुहारों क साथ दूसरी ओर स्वतः ही गीत फूटने लगते हैं और प्रकृति के साथ मनुष्य का रिश्ता जुड़ता है। इस अंचल के रस भर, मिलन, प्रेम व विरह के प्रसिद्ध गीत "चांचरी", "झोड़े" "भगनौले" आदि इसी उत्सव के गीत हैं।

खतडुवा:—असोज मास की संक्रान्ति के दिन (सितम्बर के मध्य) जाड़े के आगमन की सूचना देने के लिये कुमाऊं में खतडुवा नामक यह उत्सव मनाया जाता है। यद्यपि कुछ लोगों के अनुसार इसे दो राजाओं की हार-जीत से सम्बद्ध किया जाता है और हर गांव में आग जला कर विजय की सूचना का आधार मानते हैं लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत प्रतीत होती है। वर्षा के अन्त और जाड़ों के प्रारम्भ में गांव के ऊंचे टीले में घास-फूस इकट्ठा कर पुतला सा बनाया जाता है और शाम को सामूहिक रूप से जलाया जाता है। चीड़ के छिलकों की मशाल लेकर हर घर से लोग जाते हैं और खतडुवा नामक पुतले को जला कर जाड़े के आगमन की सूचना देते हैं और वर्षा में होने वाले कीड़े मकोड़े इस सफाई और धुंए से मर जाया करते हैं। इस क्षेत्र में "खतड़ा" का अर्थ कपड़े, रजाई, गद्दे आदि से होता है और जाड़ों के आगमन पर ही "खतड़ों" की जरूरत लोगों को होती है, इसी दिन से अधिक कपड़े पहिनना व ओढ़ना प्रारम्भ किया जाता है।

इस दिन पशुओं को हरा चारा खिला कर इस बात का संकेत दिया जाता है कि—"अब जाड़ा प्रारम्भ हो गया है, हरी घास का बढ़ना बन्द हो जायेगा। आज का उत्सव तुम्हारे लिये मनाया जा रहा है।" खीरे काट कर एक दूसरे को बांटे जाते हैं और ग्वालों को खीरे उपहार में दिये जाते हैं। घर तथा पशुओं के गोठ में खतडुवा जलाने के बाद मशालें घुमाई जाती हैं, जिससे बुरी आत्मायें भाग जाती हैं ऐसा जनश्रुतियों में कहा जाता है। एतिहासिक राजाओं की लड़ाई और बुरी आत्माओं की प्राचीनतम कहानियां आपस में मेल नहीं खातीं और उसका सामंजस्य भी नहीं बैठता है। सम्भव है छोटे-छोटे माण्डलीक राजाओं की हार-जीत का फैसला उस दिन हुआ हो। जनश्रुतियों तथा गाथाओं का आधार कुछ भी रहा हो यह उत्सव जाड़े के आगमन का सूचक है और वातावरण में पैदा होने वाले अदृश्य कीटों को खत्म करने के लिये मनाये जाने का औचित्य अधिक जान पड़ता है।

धुगुतिया (उत्रैणः):—जनवरी मांस की कड़कड़ाती सर्दी के मध्य मकर संक्रान्ति के पर्व पर घुगुतिया त्योहार का उत्सव यहां मनाया जाता है। इस संबंध में भी कई कथायें प्रचलित हैं जो जनश्रुतियों में विभिन्न मोड़ों को लेती हुई भ्रमित सा कर देती हैं। लेकिन प्रकृति के अपने परिवर्तित रूप के साथ इस त्यौहार का मनाया जाना अधिक औचित्यपूर्ण प्रतीत होता है। उस दिन सूर्य उत्तरायण की ओर प्रस्थान करता है। धार्मिक दृष्टि से भी समूचे देश में इस पर्व को महत्वपूण माना जाता है। यहां लोग उस दिन काफी गरिष्ट पकवान बनाकर

खाते हैं और आपस में बांटते हैं। जाड़े में ठिठुरते पक्षियों विशषत कौवों को भी पकवान दिये जाते हैं। बच्चे प्रातः उठ कर पकवानों से बनी-माला पहिन कर कौवों को बुलाते हैं। ढाल, तलवार, हुड़का, दाड़िम के फूल, घुगुते आदि आटे की लोइयों से तैयार कर पका लिये जाते हैं और उनकी माला बना ली जाती है। बीच में नारंगी का दाना भी डाला जाता है। बच्चे "काले कव्वा काले कव्वा" अदि पुकार कर कव्वों को पकवान खिलाते हैं और बदले में उनसे सुख और समृद्धि की कामना करते हैं विभिन्न नदियों के किनारे इस दिन मेलों का आयोजन भी स्थान-स्थान पर होता है।

मकर संक्रान्ति का पर्व देश के विभिन्न भागों में मनाया जाता है। यहां भी इसका ऐतिहासिक, धार्मिक, सांस्कृतिक व राजनैतिक महत्व तो रहा है लेकिन "धुगुतिया" के रूप में मनाये जाने वाले इस उत्सव को जाड़े की ठिठुरन और गरिष्ट भोजन के साथ जोड़ा जाना अधिक उचित होगा।

कुमाऊं अंचल के उत्सव पारस्परिक स्नेह, सौजन्य, सौहार्द, सद्भावना एवं सहिष्णुता के परिचायक यहां के जनमानस की उस आधारभूत मान्यता को प्रकाशित करते हैं जो वृहद्तर आयामों में सम्पूर्ण देश के विकास एवं सम्पन्नता में एक योगदान के रूप में पूरे कुमाऊं क्षेत्र को देश की मूलधारा से जोड़ देती है। राष्ट्रीय स्तर पर मनाये जाने वाले त्योहारों से जहां यह अंचल जुड़ा हुआ है वहीं प्रकृति के बदलते रूपों से जुड़े इन आंचलिक पर्वों की अपनी अलग पहचान है।
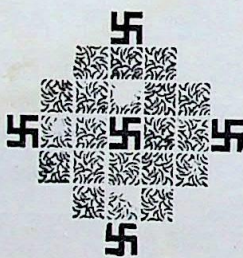
संपादकीय

"संस्कृति" के गत दो अंकों में उत्तराखण्ड की समृद्ध सांस्कृतिक परम्पराओं की एक झांकी हम पहले ही प्रस्तुत कर चुके हैं। इसके अलावा देश के इसी क्षेत्र के बहुत से अन्य सांस्कृतिक रंग भी हैं जिन्हें हम कभी फिर प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। तथापि, "संस्कृति" के प्रस्तुत अंक में हम देश के विभिन्न भागों से संबंधित रंगारंग सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है इससे एक रस के बाद, अनेक रसामृत से सुधी पाठकों की ज्ञान पिपासा और अधिक तृप्त हो सकेगी।

इस तथ्य से हम पूर्णतः अवगत हैं कि "संस्कृति" के प्रकाशन में हम कुछ पिछड़ गये हैं। इसके अनेक अपरिहार्य कारण हैं जिन्हें दूर करने के लिये हम प्रयत्नशील हैं और हमें आशा है कि बहुत शीघ्र ही "संस्कृति" नियमित रूप से पाठकों तक पहुंच सकेगी, क्योंकि कोई भी बाधा हमारी गति को धीमा तो कर सकती है, हमारी प्रगति को रोक नहीं सकती--कारण है हमारा मूलाधार "चरैवेति चरैवेति"। मानव हो या राष्ट्र जब तक इस सिद्वान्त पर चलते हैं वह जीवित रहते हैं क्योंकि चलना ही जीवन है। हमारे इसी मूलाधार के सम्बन्ध में आप श्री मुकुल चन्द पांडेय के लेख "भारतीय संस्कृति का मूलाधार चरैवेति" से और भी अनुप्राणित हो सकते हैं।

"संस्कृति" का यह अंक अक्तूबर,--दिसम्बर, 1985 से संबंधित है--यद्यपि यह पाठकों तक विलम्ब से ही पहुंच पा रहा है। हमारी इस समृद्ध सांस्कृतिक दाय की एक सबल प्रतीक थी हमारी भूतपूर्व स्वर्गीय प्रधान मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी। उनकी पहली पुण्य तिथि पर "संस्कृति" परिवार की ओर से हम कुछ श्रद्धा सुमन भेंट कर रहे हैं। प्रख्यात हिन्दी लेखक श्री जीवन नायक की सबल लेखनी से प्रस्तुत है "मेरी कहानी" जिसमें आपको, स्वर्गीय प्रधान मंत्री आपसे संबोधित दिखाई पड़ेंगी। विज्ञान हो या संस्कृति, कश्मीर हो या कन्याकुमारी, देश की सर्वांगीण प्रगति के लिये स्वर्गीय इन्दिरा जी का योगदान अविस्मरणीय है। उन्होंने इस देश की माटी की गन्ध को पहचाना, देशवासियों की नब्ज को पढ़ा और न केवल अपने व्यक्तित्व में प्राचीन और अर्वाचीन का एक सौम्य संगम प्रस्तुत किया बल्कि कला, संस्कृति आदि जैसे उपेक्षित क्षेत्रों पर विशेष ध्यान देकर उनके विकास और प्रसार का पथ प्रशस्त किया।

मानव जब अपने प्रयासों को धूमिल होता देख क्लान्त सा गिरने लगता है तो वह प्रेरणा के लिये शक्ति की आराधना करता है। इस क्रम में श्री दीनानाथ दुबे का लेख "जहां 'या देवी सर्व भूतेषु' का स्वर हमेशा गूंजता है", बहुत रोचक और शिक्षाप्रद बन पड़ा है। शक्ति को हम अपनी आवश्यकता के अनुसार अनेक रूपों में देखते हैं। कलाकार के लिये वह वीणावादिनी सरस्वती है और झुझारू सैनिक के लिये रणचन्डी। कुछ भी हो यही अनजानी शक्ति प्रकृति में सर्वत्र व्याप्त है और जरूरत इस बात की है कि उसे पहचानने के लिये हम अपने हृदय नेत्र खोलें। इसके साथ-साथ पाठक देखेंगे डॉ० कुमारी कृष्णा गुप्ता का लेख "वैदिक कालीन देवता--रुद्र शिव"। श्री शम्सुद्दीन का लेख "भारत के आधुनिक सन्दर्भ में मानस" बहुत ही रसीला और शिक्षाप्रद बन पड़ा है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम इस देश के हर मानव, चाहे वह उत्तर में रहता हो या दक्षिण में, कुलीन हो या कंगाल, सब के मानस पटल पर विराजते हैं, दुख की घड़ियों में उन्हें जीना सिखाते हैं और समाज के लिये स्वस्थ और काल-सिद्ध मर्यादाओं का न केवल प्रचार करते हैं बल्कि उन पर चलते भी दीखते हैं।

भारतीय संस्कृति केवल देश की भौगोलिक सीमाओं तक ही नहीं रुकी है। जापान हो या इण्डोनेशिया, नेपाल हो या मारिशस, भारतीय संस्कृति की छाप हमें समूचे संसार में किसी न किसी रूप में देखने को मिलती है। अशोक महान ने यदि बौद्ध धर्म के माध्यम से भारतीय संस्कृति को इण्डोनेशिया, चीन, जापान, आदि में प्रसारित किया तो इस देश से गये हुए सहस्त्रों श्रमिकों ने मारिशस में भारतीय संस्कृति की संस्थापना की और उसका विकास किया। आज जरूरत इस बात की है कि हम अपनी सांस्कृतिक पहचान से अवगत हों और संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिये विदेशों में भी उतने ही सरगरम रहें जितने कि इस देश में हैं। "बृहतर भारतीय संस्कृति" स्तम्भ के अन्तर्गत कुछ ऐसे ही लेख प्रस्तुत किये गये हैं।

पूर्व हो या पश्चिम, उत्तर हो या दक्षिण, आज हमारी सीमाओं पर राष्ट्र विरोधी शक्तियां सिर उठा रही हैं, जिसके परिणाम स्वरूप हमारी सांस्कृतिक एकता और राष्ट्रीय अखण्डता को भी चुनौती का सामना करना पड़ रहा है। अमृत का सरोवर, अमृतसर जो गुरुओं के पुण्य प्रताप से पिछली अनेक शताब्दियों से भाई-चारे, परस्पर मेल और शान्ति का प्रतीक चला आ रहा था, आज अशान्त है। संवेदनशील कवयित्री का कोमल मन इससे सहज द्रवित हुआ है और इसी प्रसंग में प्रस्तुत है कुसुम श्रीवास्तव की मर्मस्पर्शी कविता "अमृतसर की पाती देशवासियों के नाम"।

हमारी खोई हुई राष्ट्रीय पहचान को आज से कुछ वर्ष पूर्व जिस ओजस्वी वाणी ने मूर्त रूप दिया और जन-जन के मन में देशभक्ति और परस्पर प्रेम का संदेश देकर हमारी चरमराती सांस्कृतिक विरासत और राष्ट्रीय अखण्डता को पुनः उजागर किया, वह ओजस्वी वाणी थी--राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त की। संप्रति समूचे देश में उनकी जन्म शताब्दी मनाई जा रही है। यह वह समय है जब हमें यह सोचने पर विवश हो जाना पड़ता है कि केवल आजादी पा लेने से ही काम पूरा नहीं होता है, बल्कि एक पड़ाव के बाद उससे भी गुरुतर और दुर्गम पड़ाव की ओर हम अग्रसर होते हैं। स्वर्गीय गुप्त जी ने हमें यही सिखाया था कि सतत् जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है। हमें एक बार फिर यह व्रत लेना होगा कि देश के इन सपूतों ने जिस कर्मठता और समर्पण भावना से दुर्दमनीय शक्तियों से जूझकर हमें स्वतन्त्र भारत का नागरिक होने का गौरव प्रदान किया, हम उनकी अमानत को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये अपना सर्वस्व न्यौछावर करने के लिये तत्पर रहेंगे। ऐसी ही कुछ भावनायें श्री विनोद कुमार सिन्हा के लेख "भावात्मक एकता के सन्दर्भ में राष्ट्र कवि गुप्त जी की याद" में व्यक्त की गई है।

आशा है कि संस्कृति का यह अंक पाठकों को पसन्द आयेगा और वे इसके प्रकाशन में हुए विलम्ब के लिये आत्मीयता का परिचय देते हुए उसकी अनदेखी करेंगे।

--सम्पादक

मेरी कहानी

—जीवन नायक

68 साल पहले मेरा जन्म गंगा के किनारे प्रयाग राज में हुआ था। मेरे दादा नामी वकील थे। हम एक बड़े से मकान में रहते थे। उसमें लुकने-छिपने, दौड़ने और खेलने के लिए काफी जगह थी। वह सचमुच आनंद देने वाला घर था। उसका नाम "आनंद-भवन" ठीक ही था। पर एक दिन मेरे दादा ने वह घर स्वराज की लड़ाई लड़ने वालों को दे दिया। उसमें कांग्रेस-पार्टी का दफ्तर लगने लगा और उसका नाम 'स्वराज-भवन' हो गया। कुछ दिन बाद मेरी मां ने उसमें एक अस्पताल भी खुलवा दिया था।

स्वराज-भवन में रहने वालों की आए दिन तलाशियां होती रहती थीं। पुलिस उन पर लाठियां बरसाती थी। कभी-कभी पकड़कर ले जाती थी और जेल भेज देती थी। स्वराज-भवन में स्वयंसेवकों को ट्रेनिंग दी जाती थी और उसमें बहुत-से लोग आकर रहते थे।

सात-आठ साल बाद मेरे दादा ने हमारे रहने के लिए एक दूसरा मकान उसी अहाते में बनवाया था। यह घर हमारे पुराने मकान से बहुत छोटा था। फिर भी इसमें आने-जाने वालों का तांता लगा रहता था। रेलवे-स्टेशन की तरह इसमें बहुत-से लोग आते-जाते रहते थे। किसान, मजदूर, कलाकार, जाने-माने विद्वान्, देशी, विदेशी—सभी तरह के लोग होते थे। गांधीजी अक्सर आते थे। वहां हर दिन छोटी-बड़ी सभाएं हुआ करती थीं। अंग्रेज भी आकर ठहरते थे और हमारे मेहमान हुआ करते थे। उनसे हमारी कोई लड़ाई नहीं थी। हमारी लड़ाई उनके तौर-तरीके से थी।

मैं अपने माता-पिता की अकेली संतान थी। मेरे पिता और मेरी मां मिलकर शाम को रामायण और वैसी ही दूसरी किताबें पढ़ा करते थे और किस्से-कहानियों की तरह मुझे सुनाते थे। मेरे दादा को कुश्ती लड़ने का शौक था। मेरे पिता नियम से व्यायाम करते थे। मुझे भी प्रतिदिन दौड़ना पड़ता था। मैंने तैराकी और घुड़सवारी सीखी थी।

मैं छोटी थी तब हमारी एक रिश्तेदार विदेश से मेरे लिए एक सुंदर "फ्राक" लाई थीं। उसे देखकर मेरा जी ललचा गया था। पर मैंने कहा—"इसे ले जाइए। मैं कोई विदेशी चीज नहीं पहनूंगी।" मुझे उस होली की याद आ गई थी जिसमें हमने अपनी विदेशी चीजें और कपड़े जला डाले थे। कांपते हाथों से एक दिन मैंने अपनी विदेशी गुड़िया भी जला डाली थी। तब हम सब मोटी और खुरदरी खादी पहनने लगे थे और देश में बनी चीजें ही काम में लाते थे।

मेरे दादा ने बचपन में मुझे एक चरखा उपहार में दिया था। जब बड़े-बूढ़े बातों में लग जाते तो मैं चरखा कातने बैठ जाती थी। उन्हीं दिनों मेरे पिता ने मुझे जेल से पहली बार हिंदी में पत्र लिखा था कि अपने चरखे पर काता हुआ सूत मैं उन्हें भेज दूं। वह चरखा वर्षों मेरे पास रहा और काम आया।

तेरह साल की उम्र में मैंने बच्चों की एक सेना बनाई थी। मेरी मां ने इसे "वानर-सेना" का नाम दिया था। जिस तरह बंदरों की सेना ने रावण से लड़ने और सीता को छुड़ाने में राम की मदद की थी उसी तरह हमारी वानर-सेना अंग्रेजों से लड़ने और भारत-माता को मुक्त करने में गांधीजी की मदद करती थी। अपने को आजादी का सिपाही मानकर हम बेहद खुश होते थे। गांधीजी ने सिखाया था कि "इस दुनियां में कोई चीज मुफ्त नहीं मिलती। आजादी हो या एकता—उसकी कीमत चुकाने के लिए लगातार काम करना पड़ता है।"

आजादी की लड़ाई में हिस्सा लेने के कारण मेरे माता-पिता अधिकतर जेल में रहते थे। इस कारण मेरी पढ़ाई बंधकर नहीं हो पाई। शुरू में मेरी पढ़ाई इलाहाबाद में हुई थी, फिर दिल्ली, पुणें (पूना) और बंबई में। 1934-35 में मैं गुरुदेव रवींद्रनाथ के शांति निकेतन (बोलपुर, पं० बंगाल) में पढ़ने गई थी। वहां सुबह चार बजे उठना पड़ता था। अपने कपड़े खुद धोने पड़ते थे और अपनी कक्षा की सफाई भी करनी पड़ती थी। वहां मैंने चित्रकला और नृत्य सीखा था। शाम को हम विद्यार्थी बहुधा गुरुदेव के पैरों के पास बैठकर उनसे बातें किया करते थे। कभी-कभी वे अपनी कविताएं या दूसरी पुस्तकें ज़ोर-ज़ोर से पढ़कर हमें सुनाते थे। बड़ा आनंद आता था। गुरुदेव भारत के प्राचीन संतों जैसे लगते थे, फिर भी वे आजकल के व्यक्ति थे। उनमें पुराने और नएपन का अद्भुत मेल था। उन्होंने सिखाया था कि "यह समूची दुनिया मेरा घर है और सभी मानव मेरे भाई हैं।"

आगे की पढ़ाई के लिए मैं स्विट्ज़रलैंड चली गई थी। उन्हीं दिनों मेरी माँ नहीं रहीं। फिर मेरी पढ़ाई इंग्लैंड में हुई। 1938 में स्वदेश लौटने पर मैं बीमार हो गई और पढ़ाई फिर रुक गई। मैंने कहा न कि मेरी पढ़ाई बंधकर नहीं हो पाई। सच तो यह है कि मैंने अपने पिता के पत्रों से बहुत कुछ जांना, समझा और सीखा। वे पत्र पुस्तक के रूप में अब भी मिलते हैं।

छः वर्ष विदेश में रहकर जब मैं, 1941 में भारत लौटी तो मैंने कुछ दिन गांधीजी के पास सेवा ग्राम आश्रम (वर्धा) में बिताए थे। पच्चीस वर्ष की

ग्रायु में मेरा विवाह हुआ। छह माह बाद "भारत छोड़ो" आंदोलन में मैं गिरफ्तार कर ली गई और आठ माह बाद छूटी।

मेरे पहले बेटे का जन्म बम्बई में हुआ था। स्त्री का जीवन मां बनकर ही पूरा होता है। नन्हां बच्चा माता के मन को आनंद और आश्चर्य से भर देता है। दो साल बाद मैं दूसरे बेटे की मां बन गई थी। धीरे-धीरे बच्चे बड़े हो गए तो उन्हें छात्रावास में रखना पड़ा क्योंकि तब मैंने देश का दौरा शुरू कर दिया था। मैं कहीं भी होती, बच्चों को हर हफ्ते एक चिट्ठी जरूर लिख दिया करती थी। चिट्ठी-पत्री का मेरे जीवन में बड़ा महत्व रहा है। पत्रों की बात चलती है तो मेरे सामने एक चेहरा उभर आता है। घर से कोसों दूर, देश की सीमा पर तैनात, सैनिक का चेहरा। वह जब कागज-कलम लेकर चिट्ठी लिखने बैठता है और उसमें अपना दिल उडेल देना चाहता है तो एकाएक उसका हाथ रुक जाता है। वह सोचने लगता है कि उसकी चिट्ठी को पत्नी तो पढ़ नहीं सकेगी, दूसरे से पढ़वाएगी। बस, उसका हाथ बंध जाता है। उसका मन पीड़ा से भर जाता है। यह पीड़ा केवल हमारे जवानों को ही नहीं सालती, दूसरों को भी सताती है। चिट्ठी सभी के लिए एक बहुत बड़ा आसरा है; पर तुम्हीं कहो—पराए से लिखवाई और पराए से पढ़वाई चिट्ठी से बातं बनती है क्या? मैं चाहती हूं कि किसी पति को अपनी पत्नी के अनपढ़ होने का दुख न झेलना पड़े।

बीस-बाईस साल पहले की बात है कि राजस्थान के अरड़ावता गांव में लड़कियों का एक स्कूल शुरू किया गया था। पहले दिन स्कूल में सिर्फ तीन लड़कियां आई थीं। आज वहां लगभग दो हजार लड़कियां पढ़ रही हैं। मैं इस स्कूल को देख चुकी हूं। छोटे-छोटे से गांव में ज्ञान के उस झिलमिलाते दीप को देखकर मुझे बेहद खुशी हुई थी। यदि पढ़ने-लिखने की सुविधा लड़कियों को अपने गांव में ही मिले तो स्त्री-शिक्षा का प्रसार जल्द हो सकेगा। हमारी बहनों को अशिक्षा के अंधेरे में भटकना नहीं पड़ेगा। उन पर अंधविश्वास और रूढ़ियों की जकड़ ढीली पड़ जाएगी। पढ़ाई-लिखाई के साथ खेल-कूद भी जरूरी हैं। अरड़ावता के स्कूल में खेलों की अच्छी व्यवस्था है। लड़कियों को खेलों से बचना नहीं चाहिए। खेल स्वास्थ्य के लिए ही जरूरी नहीं हैं, स्फूर्ति के साथ-साथ मिलकर खेलने और काम करने की भावना के लिए भी जरूरी हैं। यह ऐसा गुण है जो हर जगह लाभदायक है। समय आने पर हमने इस तरफ विशेष ध्यान दिया और खेल-कूद का अलग विभाग बनाया।

15 अगस्त, 1947 को देश आजाद हुआ और देश की सरकार को चलाने का काम मेरे पिता को सौंपा गया। वे प्रधान मंत्री बनाए गए और दिल्ली में रहने लगे। मैं उनके साथ सत्रह साल तक रही। देश-विदेश घूमी। अनेक नेताओं से मिली। मैंने नए-नए विचार और अनुभव प्राप्त किए।

30 जनवरी, 1948 को गांधीजी एक हत्यारे की गोली का शिकार हो गए। मृत्यु के एक दिन पहले मैं गांधीजी से अंतिम बार मिली थी। गांधीजी महात्मा थे। उन्हें न पुरस्कार का लोभ था, न दंड का भय। वे इस बात की मिसाल थे कि आदमी कितनी ऊंचाई तक उठ सकता है। गांधीजी के न रहने पर मेरे पिता का जीवन एक विचित्र सूनेपन से भर गया था। वे गांधीजी को जादूगर कहा करते थे। गांधीजी की मृत्यु के बाद उनका जादू जवाहरलाल नेहरू पर सचमुच चल गया था। गांधी जी ने जैसी भविष्यवाणी की थी, मेरे पिता गांधीजी के विचारों को अपनाने और उन्हें निष्ठा के साथ जनता तक पहुंचाने के काम में ही नहीं लगे, वे गांधीजी की ही भाषा बोलने लगे थे।

जब से होश संभाला मैंने कांग्रेस का काम किया। 1935 से वही काम मैं नियम से करने लगी और 1960 में कांग्रेस की अध्यक्ष बनाई गई। 1962 में मेरे पति चल बसे और मई 1964 में पिताजी नहीं रहे। पिता की मृत्यु के दो माह बाद मुझे भारत सरकार में मंत्री पद दिया गया था और 24 जनवरी, 1966 को भारत के शासन की बागडोर मुझे सौंपी गई थी।

उस समय देश 1965 की लड़ाई के असर से उबर रहा था। सूखे से ग्रस्त क्षेत्रों में व्याकुलता थी। यहां वहां अकाल की छाया गहरा रही थी। मैंने पाया कि खरपतवार और कीटमार दवाओं तथा नई-नई रासायनिक खादों के लगातार उपयोग से आदमी, जीव-जंतु, वनस्पति और स्वयं धरती पर होने वाले उनके खराब असर से लोग बेखबर हैं। बढ़ती हुई आबादी के लिए अनाज, कोयला, मिट्टी तेल और पेट्रोल के हमारे भंडार पूरे नहीं पड़ेंगे। पुराने राजा-महाराजाओं को अपने खर्च के लिए सरकार से भारी रकमें मिल रही हैं। मैंने देखा कि हजारों एकड़ भूमि में फैले हरे-भरे जंगलों का सफाया हो चुका है और करोड़ों मन मिट्टी क्षार-क्षार हो चुकी है। मैंने सोचा कि लोगों से प्रकृति के साथ शांतिपूर्वक रहने के लिए तभी कहा जा सकता है जब उन्हें खाने-पीने, रहने और काम पाने की गारंटी हो। प्रकृति को नष्ट किए बिना आर्थिक विकास तभी हो सकता है जब प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बच्चे के लिए वनों का संरक्षण उसका धर्म बन जाए। हमारे पुराने ऋषि-मुनि जानते थे कि सभी प्रकार के जीवन और प्रकृति के साधन एक दूसरे से इस कदर कस कर जुड़े हुए हैं कि यदि किसी एक में गड़बड़ी हो तो वह दूसरे तक पहुंचे बिना नहीं रहती।

गरीब से गरीब को राहत देने के लिए हमने बीसों तरह के काम तय किए। अकाल की छाया को हरियाली में बदलने का बीड़ा उठाया। बैंकों को सरकारी कब्जे में लिया। तेल की खोज की गई और तेल के कुओं की खुदाई का काम शुरू किया गया। जरूरतमंद लोगों

की मदद के लिए सुधार के कई काम हमने हाथ में लिए।

हमने विज्ञान को पिछड़ेपन से उबरने के साधन के रूप में देखा है। उन्नत वैज्ञानिक क्षेत्रों में खोज करना हमारे लिए बहुत जरूरी है। हमारा अंतरिक्ष कार्यक्रम शिक्षा और समाचार देने के लिए, मानसून की गहरी जानकारी के लिए और खनिजों का पता लगाने के लिए है। जमीन के बजाय आसमान से ज्यादा अच्छे नक्शे बनाए जा सकते हैं। हमारा परमाणु कार्यक्रम खेती-बाड़ी और दवा-दारू को समर्पित है। हम परमाणु-शस्त्रों में विश्वास नहीं रखते और न ही ऐसे शस्त्र अपने पास रखते हैं। समुद्र-विज्ञान की मदद से हम खाद्य और खनिजों का भंडार बढ़ाना चाहते हैं। विशुद्ध खोज के क्षेत्र में ऐसे कई प्रयोग किए गए हैं जिनसे आम बीमारियों के इलाज और उपयोगी वस्तुओं की ईजाद में मदद मिली है। मैं चाहती हूं कि विज्ञान का लाभ समाज के सबसे निचले तबके को मिले। विज्ञान केवल समृद्ध लोगों के लिए नहीं है। विज्ञान की जरूरत उन्हें ज्यादा है जो अकिंचन हैं। उनके भले के लिए जो भी चीज कारगर होगी हम उससे उन्हें वंचित नहीं रखेंगे। हमारे वैज्ञानिक राष्ट्र के हित में तरह-तरह के जोखिम उठाने को तैयार रहते हैं। मैं उन्हें बधाई देती हूं और उनकी सुरक्षा के लिए प्रार्थना करती हूं।

हमारी प्यारी पृथ्वी की गोद में दो चमत्कार पलते हैं--जीवन और बुद्धि। ये ही बाकी सारे चमत्कारों की जड़ हैं। अफसोस की बात है कि आदमी की अपनी ही कामनाएं और करतूतें उसके लिए भयानक खतरा बन गई हैं। एक छोर पर हिंसा, दूसरे पर गरीबी--आदमी के लिए सबसे बड़े प्रदूषण ये ही हैं।

बरसों पहले मैंने महाराष्ट्र के संत तुकड़ो जी को गाते सुना था-"सबके लिए खुला है मंदिर ये हमारा, आओ कोई भी धर्मी, आओ कोई भी पंथी ..", भारत-माता का मंदिर सबके लिए खुला है। हम सभी से दोस्ती का हाथ बढ़ाते हैं। शर्त इतनी ही है कि हमारे घरेलू मामलों में कोई दस्तंदाजी न करें। हिन्दुस्तान की आजादी और अखंडता को खतरे में डालने वाली किसी भी बात को मैं दुर्भाग्यपूर्ण समझती हूं और सहन नहीं कर सकती।

मुझे ऐसे लोग पसंद है जो कठिनाइयों से हार नहीं मानते, दूसरों की सेवा में अपना जीवन लगा देते हैं। स्त्री हो या पुरुष--उसे हिम्मतवाला होना चाहिए, ऐसा जिस पर भरोसा किया जा सके; जो दूसरों को समझने और उनकी मदद करने को सदा तैयार रहे। आचार्यों में मुझे आदि शंकराचार्य बहुत अच्छे लगते हैं। इतिहास में मैं हब्बा खातून को पसंद करती हूं जो सोलहवीं सदी में कश्मीर की महारानी थीं।

मुझे ऐसे दोस्त पसंद हैं जो हंसी की फुलझड़ी छोड़कर दूसरों को खुश रखते हैं। बड़े-बड़े छायादार झाड़ और उनके पास कलकल करते हुए झरने मुझे पसंद हैं। मैं सुरीली आवाज की कायल हूं। बदलते हुए पत्तों का सुनहरा ंग मेरी आंखों को ठंडक पहुंचाता है। मुझे लाल और हरे रंग भाते हैं। वसंत ऋतु में पहाड़ों पर उगने वाले फूल और बर्फ की टोपी वाले "रेडस्टार्ट" पक्षी बहुत पसंद आते हैं।

राष्ट्र की सेवा करते हुए यदि मैं मर भी जाऊं तो मुझे पूरा विश्वास है कि मेरे खून की हर बूंद देश को आगे बढ़ाने और उसे मजबूत बनाने के काम आएगी। मुझसे प्यार करने वालों को तकलीफ दिए बिना मैं शान के साथ मरना चाहती हूं। विदा के समय, आंखों में आंसू लाए बिना, तुम मुझे अपनी शुभकामनाएं देना और ऐसी मुस्कान देना जिसे तुमसे दूर रहकर भी मैं हरदम संजोए रख सकूं।

कुछ बरस पहले लोग मुझे "गूंगी गुड़िया" कहते थे। वे ही आज मुझे "दुर्गा" कहते हैं। बताओ, मैं कौन हूं?

अमृतसर की पाती देशवासियों के नाम

मैं एक बेज़ुबान नगर हूं
मौत के करीब हूं
लेकिन अभी सांस बाकी है
अतीत की खुशनुमा यादें
रागियों के पावन बोल
सुगन्धित अगरू के बीच
सुखमणी का पाठ
सबने मुझे सच ही
अमृत का सरोवर बनाया था
लेकिन आज
मैं अपनी पहचान खो चुका हूं
गोली और बारूद के धुएं से
मेरा दम घुट रहा है
अपने ही रक्त की पिपासा से
विकल तुम
विपथगामी बन चुके हो
और तुम्हारी दहकती ज्वाला में
जल रहा है
मेरी अस्मिता का चन्दन वन
रक्त के सरोवर में
ऊपर से नीचे तक डूबा मैं
अभी भी
अमृत की बूंदों को ढूंढ रहा हूं
शायद
कोई बूंद जीवित हो, सप्राण हो
इस एक बूंद की तलाश में
मैं विकल हूं
इसीलिए यह पाती भेजता हूं
धुएं और बारूद में दबी
यह अमृत बूंद
अभी जीवित होगी
इसे ढूंढने में
मेरी मदद करो मेरे भाई !
गोली और बारूद
तुम्हारी अपनी संस्कृति नहीं है
और मैं जानता हूं
ये अंधाधुंध हत्याएं
तुम्हारा स्वभाव नहीं है
न जाने
किस की कुदृष्टि का कुहासा है
सब मिल कर
इसे हटा दो, मेरे भाई !
और मुझ बेज़ुबान को
उस का नाम लौटा कर
मरने से बचा लो, मेरे भाई ।

—कुसुम श्रीवास्तव

हमारे आर्षग्रंथों में ऐतरेय ब्राह्मण को सबसे श्रेष्ठ माना गया है। विशेष बात तो यह है कि इसका रचयिता आर्यपुत्र न होकर "इतरा" अर्थात् शूद्रमाता का पुत्र था। एक समकालीन किंवदंती हैं कि वह भूमिपुत्र था। इसीलिए उसका नाम भी महीदास पड़ा। ऐतरेय ब्राह्मण का मंत्र-चरैवेति-आगे चलो, आगे चलो, आगे बढ़े चलो, उसी भावना को प्रकट करता है जिस भावना से प्रेरित होकर हमारे युवा-प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी कहते हैं--"हमें आगे चलना है; हमें विश्राम नहीं करना है, हम उन्नीसवीं सदी की प्रगति की दौड़ में पिछड़ गये। अब हमें बीसवीं सदी में उसकी पूर्ति कर तेजी से इक्कीसवीं सदी में प्रगतिशील देशों के समकक्ष आना है।"

इस दृष्टि से मानव आत्मा अपने हृदय की गहराई में अनंत की व्याकुल पुकार सुनती है तभी अथर्ववेद में ऋषियों ने यह पूछा है--

"कथंबातो मेलयति कथं न रमतेमनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्ती नलयन्ति कदाचन॥"
(अथर्व 10:7:37)

अर्थात् वायु क्यों स्थिर नहीं रहती? मानव मस्तिष्क विश्राम क्यों नहीं करता? क्यों और किसकी तलाश में सरिता दौड़ती रहती है और अपनी धारा को एक क्षण के लिए भी नहीं रोकती? सृष्टि के हृदय में अनंत की सर्वव्यापी पुकार है। जो एक बार भी इस अहम् पुकार की ओर ध्यान देता है वह सुगमता से समाज के आचार-विचार और बंधनों की जंजीरें तोड़ देता है।

भारतीय संस्कृति का मूलाधार : चरैवेति

--मुकुल चन्द पांडेय

चरैवेति मंत्र के अनुसार लम्बी प्रगति यात्रा से थके हुए व्यक्ति में अवर्णनीय भव्यता आ जाती है। चाहे कोई कितना ही अहम और महत्त्वपूर्ण व्यक्ति क्यों न हो यदि वह प्रगति पथ छोड़कर इस दुनिया में बेकार बैठता है तो वह तुच्छ बन जाता है। प्रगति पथ पर जो निरंतर चलता रहता है, परमात्मा उसका सखा और सहयात्री होता है। इसलिए हे यात्री चलता चल। चलता चल।

आगे के श्लोकों में चरैवेति का ऋषि कहता है--बेकार मनुष्य का भाग्य भी बेकार हो जाता है। जब कोई उठकर सीधा खड़ा हो जाता है तो उसका भाग्य भी उठकर खड़ा हो जाता है। यदि वह लेट जाता है तो उसका भाग्य भी उसके साथ लेट जाता है। जो प्रगति के मार्ग में आग चलता जाता है, उसकी सफलता और उसका पथ भी उसके साथ-साथ चलता है। इसलिए हे यात्री! चलता चल! चलता चल!

सामाजिक आचार-विचार के बंधनों से ऊपर उठकर सबको एक भारतीय समाज का अंग बनाकर भारतीय समाज की समग्रता में सबको समेटने में हमें "जाबालोपनिषद्" "सन्यासोपनिषद् मैत्रेमीउपनिषद" इतिहासोपरिषद् मानस वेद को ही वेदों में श्रेष्ठ मानकर कहता है:--

"ऋचो ह्यो वेद स वेद देवान्।
यजूषि यो वेद स वेद यजम्,
समानि यो वेद अवेद सर्वं,
यो मानसवेदस वेद ब्राह्मम्॥

अर्थात् यदि तुमने ऋग्वेद का अध्ययन किया है तो तुमने अधिक से अधिक देवताओं के बारे में जाना होगा, यदि तुमने यजुर्वेद का अध्ययन किया होगा तब तुम बलिदान की रूढ़ियों को विस्तार से जान गये होंगे, यदि तुमने सामवेद का अध्ययन किया होगा तो तुम्हें अब सामान्य बातें ज्ञात हो गई होंगी किन्तु अपने अंतर के मानस वेद का अध्ययन करने पर ही तुम मानव मात्र में ब्रह्म के दर्शन कर सकते हो।

आर्यों का अभ्युदय : सांस्कृतिक सरितप्रवाह

उत्तरी भारत में आर्य अपनी सामाजिक व्यवस्था और राज्यों की स्थापना करते हैं। नये आगंतुकों और पुरातन निवासियों में जमकर संग्राम होते हैं और यह वर्षों तक चलते हैं। इन संग्रामों की चर्चा ऋग्वेद में की गई है लेकिन अंत में आये द्रविड़ और आदिज वन जातियां एक दूसरे में घुलमिल जाती हैं। इस जातियों के समन्वय से ही भारत की पहली सभ्यता और संस्कृति की दागबेल पड़ती है।

इस सभ्यता की खूबी यह है कि इसमें गंगा, जमुना और सरस्वती की सांस्कृतिक धाराएं इस तरह से मिल गई हैं जिस तरह प्रयाग का त्रिवेणी संगम। आर्यों की दृष्टि दुनिया के बाहरी रंगरूप पर मोहित थी। धन-दौलत, दूध-पूत की चाह इनकी आकांक्षाओं को बुदबुदाती थी। आर्य मनचले, योद्धा और जुझारू थे। सचाई और निर्भयता को आदमी का असली जौहर मानते थे, गल्लाबानों का जीवन बसर करते थे, दिल चुलबुले थे, साहसवण हुआ था, न देवताओं से दबते थे न आदमियों से, हंसमुख, खुले दिल और आजाद थे। नृत्य और संगीत के शौकीन थे। वैदिक ऋचाओं में देवताओं की स्तुति और गीतों की रचना करते थे और उन्हें संगीत के स्वरों में गाते थे। संस्कृत इनकी भाषा थी, करारी, लचकदार और रसीली। इनके विचारों में गंभीरता थी और मन में दिलेरी।

आर्य जन सिंधु नदी की वाड़ी से निकलकर गंगा के कोठे में आये तो सारे आर्यावर्त में फैल गये। उस समय-आर्यावर्त की सीमाएं थीं--

"आर्यावर्त्त पुण्यभूमि मध्यं विध्या-हिमालय॥" जैसे जैसे भारत में आर्यों की जनसंख्या बढ़ती गई वैसे आर्यावर्त की सीमाएं भी बढ़ती गई। यहां तक

कि इसमें दक्षिण भारत भी शामिल हो गया। ऋग्वेद में तो सप्तसिंधु की चर्चा है, किन्तु पुराणों में बढ़ती हुई भौगोलिक सीमाओं का अंकित करने वाली विविध नदियों के नाम शामिल कर लिये गये हैं।

इस बात के अगणित प्रमाण है कि प्राचीन भारत भौगोलिक, राजनैतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक देश था। विस्तार में महान् और आचार-विचार, भाषा, धर्म और रीति-रिवाजों में विविधता के होते हुए भी भारत में एक मौलिक एकता थी। "भारत हमारी महान मातृभूमि है"। यह विचार प्रत्येक भारतवासी के अंदर व्याप्त था। जिज्ञासा होती है यह जानने की कि भारतीय संस्कृति में यह समग्ररूपता का गुण आया कैसे? वास्तव में किसी भी संस्कृति का आधार होता है उसका ज्ञान की तरफ भाव। ज्ञान का भाव जब तीव्र हुआ तो भारतीय संस्कृति को तलाश हुई कि सत्य क्या है? उसके सप्रमाण होने की कसौटी क्या है? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है? उसका विकासक्रम क्या है? इन सभी समस्याओं पर उपनिषदों के ऋषियों ने जो हल उपस्थित किया है उनका ही युगों तक हमारे दार्शनिक विचारों का प्राधान्य रहा।

उपनिषदों के ऋषियों ने इस बात पर गंभीरता से विचार किया और इस परिणाम पर पहुंचे कि विद्या दो प्रकार की होती है—नाम और रूप के जाल में फंसा हुआ, काल और दिक् से घिरा हुआ अस्थिर जगत् ही पहली तरह की विद्या का विषय है। अपरा नाम की यह विद्या सचमुच अविद्या है। उपनिषद् के अनुसार जो अविद्या की उपासना करते हैं वे अंधकार में प्रवेश करते हैं और जो इस अपरा विद्या की उपासना करते हैं वे उससे भी गहरे अंधकार में प्रवेश करते हैं। संत कबीर इसको दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हैं वे कहते हैं:—

"हे विद्या तुम बड़ी अविद्या, तुम संतन कदर न जानी।" दूसरी प्रकार की विद्या पर कहलाती है। सत् तथा ब्रह्म इसका विषय है। संसार के बंधनों को छुड़ाना इसका लक्ष्य है। आनन्द की ओर ले जाने वाली; सत्य तथा अनंत सत्ता का दर्शन ही इसका सार है। इस तरह से इस में विषयी और विषय ज्ञाता और ज्ञेय का भेद समाप्त होकर सिर्फ साक्षात्कार रह जाता है, उसके बाद यह साक्षात्कार तादात्म्य में बदल जाता है। तब इस अपरा विद्या का ज्ञाता उसी एक ब्रह्म का दर्शन करता है, अपने पराये का भेद समाप्त हो जाता है। उसके निकट सारी वसुधा एक कुटुम्ब बन जाती है। मनुष्य जब अपना आपा मेटता है तब बीच का परदा हट जाता है और आत्मा तादात्म्य प्राप्त करती है। इसी को संत कबीर ने यों व्यक्त किया है:—

"जब मैं था तब तू नहीं, अब तू है मैंनाहिं,
प्रेमगली अति सांकरी, यामें दो न समाहिं॥

उपनिषदों ने जो ज्ञान की धारा बहाई उसने उस समय के पिछले धर्मों के दार्शनिक रूप को मुख्यतया तीन भागों में विभक्त कर दिया। पहला वह जो मौजूद जन्म पर ही विचार करता है, तीसरा वह जो जन्म-जन्मांतर के उपरांत आवागमन से मुक्ति का विचार करता है जो वर्ग जन्मजन्मान्तर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक से अधिक समय तक स्थिर रखने की कामना करता है उसे प्रवर्तक धर्म की संज्ञा मिली। प्रवर्तक धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म तीन पुरुषार्थ हैं। उनमें आवागमन की मुक्ति से कल्पना नहीं है। वैदिक दर्शनों में मीमांसा दर्शन प्रवर्तक धर्म का ही रूप है। प्रवर्तकधर्म-समाजगामी था। प्रवर्तक धर्म के अनुसार व्यक्ति को जन्म से ही तीन ऋण से उऋण होने की शिक्षा मिलती है। ऋषि ऋण अर्थात् विद्याध्ययन, पितृऋण अर्थात् संतानोत्पादन और देवऋण अर्थात् यज्ञ योगादि का पालन। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम आवश्यक है।

विवर्तधर्म की दृष्टि में इस जन्म या जन्मांतर में कितना ही सुख क्यों न मिले, वह सुख चिरस्थायी नहीं होता। इसीलिए व्यक्ति को आवागमन से मुक्ति का ही प्रयत्न करना चाहिए और इसके लिए आत्मा की शुद्धि आवश्यक है।

सांस्कृतिक विरासत की वेगवती धारा

सच तो यह है कि उपनिषदों की शिक्षा को आधार बनाकर हजार डेढ़ हजार वर्ष तक भारतीय संस्कृति की धारा बड़े वेग के साथ बही। फिर उसकी चाल मद्धिम पड़ी। उसका निर्मल जल गन्दा होने लगा। महाभारत की भयानक लड़ाई के बाद भारतीय संस्कृति को आघात लगा। पुराना समाज टूट चुका था। पुराने राज मिट चुके थे। भारत क्रांति के लिए तैयार था। महावीर और गौतम बुद्ध ने पुरानी दुनिया को पलट दिया और एक नये युग का संदेश दिया। इस नये युग की धरती नई थी और आसमान नया था। यह वह जमाना था। जब ईरान, यूनान, रोम, चीन, तुरान और खोरासान से गिरोह के गिरोह ठट के ठट भारत में आये और यहां आकर बस गये, हूण और शक, कुषाण और बख्तरा, युरची, जाट और गूजर सबने यहां पनाह लिया। यह वह समय था जब मौर्य, सातवाहनों और गुप्तों के साम्राज्य कायम हुए। यह प्रयत्न किया गया कि सारे देश को एक छत्रछाया में लाया जाए लेकिन भारत तो एक उपमहाद्वीप था। जहां कितनी ही भाषाएं और कितने ही रस्मरिवाज प्रचलित थे।

यजुर्वेद में आया है—"हे ईश्वर। सबके स्वामी। हम सबके हृदयों में, हमारे ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के हृदयों में एक दूसरे के लिए प्रेम पैदा करें ताकि हम एक दूसरे को सुख पहुंचा सकें। हम एक दूसरे से मीठी बात करें, सबके साथ नम्रता का बर्ताव करें। सब एक दूसरे का भला करें और एक दूसरे की सेवा करें।"

अथर्ववेद में भी यही दोहराया गया है—हे ईश्वर। हम सबको एक दूसरे के साथ प्रेम और अपनत्व के सुदृढ़ बंधनों में बांध दे। हमारे ब्राह्मण, क्षत्रिय,

वैश्य और शूद्र और उन सबको जो हमारे मित्र हैं, आत्मीयता के धागों में बांध दें और जो हमारे शत्रु हैं उन्हें भी हमारा मित्र बना दें।

प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रासंगिकता

प्राचीन भारत में समाज व्यवस्था के लिए नियम बनाने का काम राजा नहीं ऋषि और मुनि करते थे। जमाने के साथ-साथ इन नियमों और कानूनों के स्रोत भी बढ़ते गये। इन स्रोतों में स्मृति और शिष्टाचार मुख्य थे। इनके अतिरिक्त राजकीय आज्ञाएं, न्याय, मीमांसा नजीरें, स्थानीय रूढ़ियां और परंपराएं कानूनी व्यवस्था की अंग बन गयीं। इस प्राचीन सामाजिक व्यवस्था को धर्मशास्त्र या धर्मसूत्र के नाम से पुकारा जाता था। इनमें संशोधन और परिवर्तन भी हुए। यह संशोधित और परिवर्तित नियम शिष्टाचार या सदाचार के नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके अतिरिक्त स्मृतिकारों ने स्थानीय रूढ़ियों को भी मान्य व्यवस्था के अंतर्गत शामिल कर लिया। प्राचीन स्मृतिकारों को इस बात का आभास था कि भारत जैसा विशाल देश अनेक संप्रदायों और भिन्न-भिन्न आचार-विचारों का केंद्र बनेगा। इसीलिए इन भारतीय स्मृतिकारों ने यह बात स्पष्ट कर दी कि जो आचरण एक समुदाय या संप्रदाय के लिए मान्य है, दूसरे संप्रदाय के लोग उसका पालन करने के लिए बाध्य नहीं हैं। स्मृतिकारों ने इस बात को भी साफ कर दिया कि दक्षिण के आचार-विचार का पालन दक्षिण भारत के लोग करेंगे और उत्तर के आचार-विचार का पालन उत्तर के लोग करेंगे।

देवल स्मृति के अनुसार केवल उन्हीं आचार-विचारों का पालन करना चाहिए जो न्यायदृष्ट और कल्याणकारी हों :—

यस्मिन देशो या आचारो न्याय दृष्टः संकल्पित :,

स तास्यिन्निवे कर्त्तव्या न तु देशान्तरे स्मृतः।

इस प्रकार विविध स्मृतिकारों ने स्मृतियों की रचना के समय स्थानीय रीति रिवाजों को ध्यान में रखा। ऐसे रीति रिवाज मान्य समझे गये जिनका मूल "धर्म" में था। मनु कहते हैं :— किसी भी देश, पुर, नगर, ग्राम आदि में जिस धर्म का भी पालन होता है उसका उसी रूप में पालन करना चाहिए।

यस्मिन देशे, पुरे, ग्राम, त्रैविद्ये नगरे ऽपिवा।

यो यत्र विहितो, धर्मस्तं धर्म न विचाल्येत् ॥

ईसा से पांच शताब्दी पूर्व स्मृतिकार बोधायन ने उत्तर भारत और दक्षिण भारत के रीति रिवाजों के स्पष्ट अंतर का उल्लेख किया और दोनों को अपने-अपने रीतिरिवाजों के साथ आचरण करने की अनुमति दी। दक्षिण भारत के जिन पांच विशिष्ट रिवाजों का उल्लेख कर बोधायन उनका पालन न्यायिक ठहराते हैं वह रिवाज हैं :—

1. अदीक्षित के साथ भोजन न करना,
2. अपने पति के साथ भोजन करना,
3. बासी भात और भात की कांजी खाना,
4. ममेरी बहन के साथ विवाह करना,
5. फुफेरी बहन के साथ विवाह करना।

बोधायन के अनुसार उत्तर भारत के पांच रिवाज थे :—

1. ऊन का व्यापार करना,
2. मदिरा पान करना,
3. जिनके ऊपर और नीचे दोनों जबाड़ों में दांत हों ऐसे पशु बेचना,
4. अस्त्र-शस्त्र बेचना, और
5. समुद्र यात्रा करना। मनु के अनुसार पति को चाहिए कि न तो वह पत्नी के साथ भोजन करे और न उसे खाते, छींकते, जम्हाई लेते या आराम से बैठे हुए देखें।

दक्षिणात्यों के ममेरी व फुफेरी बहन के विवाह को बोधायन ने न्यायिक ठहराया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यदि कोई व्यक्ति ममेरी बहन से विवाह करता है तो उसे प्रायश्चित के रूप में चंद्रायणव्रत करना चाहिए, किंतु भृगु-संहिता से विदित होता है कि इन विवाहों को वैदिक स्वीकृति थी। ऋग्वेद संहिता में इन्द्र को संबोधित करते हुए कहा गया है :—

"हे इन्द्र! तू यज्ञ की बलि उसी तरह सहर्ष स्वीकार कर जिस तरह कोई मामा और बुआ की लड़की को विवाह में स्वीकार करता है।"

समग्ररूपता के मौलिक आधार

भारतीय संस्कृति की समग्ररूपता ने फिर एक बार इतिहास के पृष्ठ को पलटने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का मुख्य श्रेय आदि शंकराचार्य को है। शंकर ने उस समय अनेक हिंदू संप्रदायों को मिलाकर उन्हें दार्शनिक नींव और एक रूप देने का प्रयत्न किया। शंकर ने हिन्दू धर्म में अनेक नये परिवर्तन किए। उन्होंने सब कार्यों के लोगों के लिए सन्यास की दीक्षा को न्याय घोषित कर दिया। मनुष्य पंचायत में उन्होंने लिखा है :—

"कोई भी तत्वदर्शी मनुष्य मेरा सच्चा-गुरु है, चाहे वह द्विज हो चाहे चांडाल।" वैष्णव और आचार्यों ने अनेक स्थलों पर शंकर का कड़ा विरोध किया।

यद्यपि रामानुज शंकराचार्य के अद्वैत को पूरी तरह मानते हैं फिर भी दोनों के सिद्धांतों के बीच में कुछ बातों का मतभेद है। रामानुज का ईश्वर सब कुछ देखने वाला, सब कुछ करने वाला और सब जगह उपस्थित रहने वाला है। उसके अंदर अपार दया है। वह दुनिया को बनाने वाला और उसको चलाने वाला है। वह समस्त चेतन और जड़ चीजों के अंदर बसता है। उसकी ही दया से मनुष्य आवागमन से अंत में छुटकारा पाते है। भक्ति आंदोलन के बल पर भारतीय संस्कृति के विकास में रामानुज की महत्ता है। भक्ति आंदोलन ने फिर एक बार भारतीय संस्कृति की समग्ररूपता को बलवती बना दिया।

भारतीय संस्कृति में विद्वानों का आदर

—सोती वीरेन्द्र चन्द्र

प्राचीन भारत में विद्वान विशेष मान पाने के अधिकारी थे। यजुर्वेद के अध्याय 31 मंत्र 16 के पुरुष सूक्त में कहा गया है :—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥

—विद्वानों को देव कहते हैं और वे सबके पूज्य होते हैं।

जहां विद्वान परम पुरुषार्थ से जिस पद को प्राप्त होके नित्य आनन्द में रहते हैं उसको मोक्ष कहते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में भी कहा गया है: विद्वांसो हि देवा।

—जो विद्वान हैं वे देवताओं की श्रेणी में आते हैं।

भारतीय आदर्श है :
मातृदेवो भव, पितृ देवो भव,
आचार्या देवो भव, अतिथि देवो भव।
—तैत्तिरीयारण्यक प्र० 7/अनु० ॥

—माता-पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा करना देव पूजा कहलाता है।

बुद्धिजीवी विद्वान ही राष्ट्र को सन्मार्ग दिखाते हैं। अतएव भारतीय संस्कृति ने विद्वानों की गरिमा को दृष्टिकोण में रखते हुए उनका आदर करने के संबंध में अत्यन्त अनुकरणीय मान्यताएं स्थापित की हैं। परम्पराओं के अनुसार समाज में उनको सर्वोपरि स्थान दिया गया है। यहां तक कि राजा से भी अधिक श्रेष्ठ, विद्वानों को माना गया है। इसकी पुष्टि एपोलोनियस के शिष्य दामिस के एक विवरण से स्पष्ट होती है जिसे नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

"हम जब आचार्य के आश्रम में ठहरे हुए थे तब एक दिन समाचार मिला कि उस राज्य का राजा आचार्य से मिलने आ रहा है। हमने देखा कि राजा की आवभगत और ठहराने के लिए कोई विशेष प्रबंध नहीं किया जा रहा है।"

"कुछ क्षणों के बाद राजा आश्रम में पहुंचा। उसके साथ उसका भाई और लड़का भी था। सभी स्वर्ण आभूषण पहने हुए थे। एपोलोनियस ने सोचा उठकर राजा का आदर करना चाहिए। वह उठने ही लगा था कि आचार्य ने कंधा दबाकर उसको नीचे बैठा दिया और कहा "हमारे देश में ऐसी प्रथा नहीं है।"

"राजा ने आकर ऋषि को नमस्कार किया और ऋषि ने राजा तथा उसके साथियों को आशीर्वाद दिया।"

यह दम्भ का दृष्टान्त नहीं वरन् इस बात का द्योतक है कि किस प्रकार भारत में विद्वान सर्वोच्च आदर के पात्र थे।

यहां यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन काल में भारतीय दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने अन्य देशों से भी जिज्ञासु आया करते थे। यूनान के दार्शनिक पाइथागोरस के शिष्य एपोलोनियस जो महात्मा ईसा के समकालीन थे, पहली शताब्दी में भारत आए थे। उन्होंने भारत में योगियों के आश्रम में रह कर अपनी ज्ञान पिपासा बुझाई। वह अपने साथ अपने शिष्य टानिस को भी लाए थे।

वेद का उपदेश है :

तद्यस्यैवं विद्वान व्रात्यो राज्ञोऽ तिथि-र्गृहाना गच्छेत् ॥ ॥

श्रेयांसमेनमा त्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते

तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ 2 ॥

—अथर्ववेद 15/10

तद् यस्यैव विद्वान व्रात्योऽ तिथिर्गृहाना-गच्छेत् ॥ ॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य बृयाद् व्रात्य ककावात्सी र्वात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा से प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा से वशस्ताथास्तु व्रात्य यथा से निकामस्त-थास्त्विति ॥ 2 ॥

—अथर्ववेद 15/11

—जब विद्वान एवं व्रतधारी अतिथि राजा के घर आएं, तब राजा को उचित है कि वह उस अतिथि को अपने से भी अधिक श्रेष्ठ माने। इससे राजा न तो क्षत्रिय कुल में ही दोषी होता है और न राष्ट्र की ही ओर से दोषी होता है।

—जिसके घर में व्रतशील एवं विद्वान अतिथि आ जाए तब उस मनुष्य को चाहिए कि वह उठकर अतिथि का स्वागत करते हुए कहे कि—हे व्रात्य ! आप कहां से आ रहे हैं ? आइए, लीजिए यह जल है, आप तृप्त हों, और जो आपकी इच्छा हो, वह ही वस्तु प्रस्तुत की जाए तथा जो आज्ञा हो वही किया जाए।

अन्यत्र एक श्लोक में कहा गया है :

शूराश्च कृतविद्याश्च रूपवत्यश्च योषितः।

यत्र तत्र गमिष्यन्ति तत्र तत्रकृत्या-त्नया : ॥

—शूरवीर पुरुष विद्वान और रूपवती स्त्रियां — ये जहां-जहां जाएंगी वहां-वहां

उनको मान मिलता जाएगा अर्थात् शूर, विद्वान और सुन्दरी को सर्वत्र सम्मान मिलता है।

आचार्य चाणक्य का कथन है :

विद्वान प्रशस्यते लोके, विद्वान सर्वत्र गौरवम्।

विद्यया लभते सर्व विद्या : सर्वत्र पूज्यते ।।

—इस संसार में विद्वान प्रशस्ति को प्राप्त करता है, विद्वान सब जगह गौरवान्वित होता है, विद्वान विद्या के द्वारा सब कुछ जान लेता है। अंतः उसकी सर्वत्र पूजा होती है।

मनुस्मृति में भी आदेश निहित है :

चक्रिणो दशमीस्थस्य रोगिणो भारिणः स्त्रियाः।

स्नातकस्य च राज्ञश्च पन्था देयो वरस्य च ।। 138 ।।

तेषां तु समवेतानां मान्यो स्नातक पार्थिवौ ।

राज स्नातक योश्चैव स्नातको नृपमान भाक् ।। 139 ।।

—मनुस्मृति अध्याय 2

—रथारुढ़ अति वृद्ध रोगी, भारवाहक, स्त्री, स्नातक, राजा और वर को मार्ग देना आवश्यक है। यह सब साथ हो तो इनमें स्नातक और राजा अधिक मान्य हैं तथा स्नातक को राजा से विशिष्ट समझें।

इस देश की संस्कृति के व्यवधान में विद्वान और राजा की समानता नहीं :

विद्वत्वं च नृप त्वं च नैव तुल्यं कदाचन।
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र-पूज्यते।

—चाणक्य नीति शास्त्र

इसकी व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश के पंचम समुल्लास में लिखा है— "विद्वान और राजा की कभी तुल्यता नहीं हो सकती, क्योंकि राजा अपने राज्य ही में मान और सत्कार पाता है और विद्वान सर्वत्र मान और प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।"

यह ही भाव नीचे लिखे दोहे में ध्वनित होते हैं :

पंडित और भूपाल की, जग में समता नाहि।
राजा पुजे स्वदेश में, पंडित सब जग माहि ।।

यह सच भी है आधुनिक काल में ही देखिए। कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ टैगोर एवं उद्भट विज्ञान वेत्ता चन्द्र शेखर वेंकट रमन ने नोबल पुरस्कार प्राप्त कर अपने-अपने क्षेत्र में विश्वव्यापी ख्याति एवं सम्मान प्राप्त किया।

ब्राह्मणों को वेदाध्ययन अनिवार्य था एवं वेद्विज्ञ होने के कारण उनकी मर्मज्ञ विद्वानों में परिगणना होती थी। पुराविद् अल्तेकर के अनुसार सिन्धु घाटी के विद्वान ब्राह्मण कहलाते थे। महर्षि मनु का कथन था :

कुलान्यकुलता यान्ति ब्राह्मणातिक्रमेण च
—मनुस्मृति अध्याय 3/63

—ब्राह्मण का सम्मान न होने से श्रेष्ठ कुलों की भी कुलीनता नही रहती। कवि-कुल गुरु कालीदास की भी इस संबंध में उपादेय उक्ति विचारणीय है :

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः।

—रघुवंश 1/79

—पूज्य की पूजा न करना, श्रेय को प्राप्त होने से रोक देता है।

यह उल्लेखनीय है कि विद्वानों का यह रुतबा उनकी असाधारण विद्वता, ज्ञान एवं महान बुद्धिमान होने तथा उनके अन्य गुणों के कारण था।

जब कभी किसी के साथ संगति की जाय उस समय यह अत्यन्त आवश्यक विचारणीय विषय होना चाहिए कि ये सत्संगति है या नहीं? क्योंकि कुसंगति का परिणाम होता है सर्वनाश। सर्वोत्तम संगति विद्वानों के साथ होती है। उनके साथ की गई संगति सदैव कल्याणकारी होती है। उसका सौरभ कुछ और ही होता है।

वेद ने भी इस संबंध में मार्ग दर्शन किया है :

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो य पृणाति स ह देवेषु गच्छति।

तस्मा, आयो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्-नस्या इयं दक्षिणा पिन्वते सदा ।।

—ऋग्वेद 1/125/5

—जो सदा विद्वानों के साथ रहता है, वह सुखकारी स्वर्ग में निवास करता है, जहां ईश्वर स्थान देता है तथा सूर्य किरणें दक्षिणा देती है। इस प्रकार इस मंत्र में विद्वानों के सत्संग का महत्व बतलाया गया है। विद्वानों के सत्संग से अविवेक दूर होता है। मानसिक तथा आत्मिक उन्नति होती है।

ज्ञानी सुदामा जब द्वारिकापुरी अपने सखा द्वारिकाधीश से मिलने गए तब उनकी अगवानी के समय कृष्णजी ने अपने आप उनके पैर धोए और भावावेश में :

पानी परात को हाथ छुयो नहिं,
नैनन के जल सों पग धोए ।।

इतिहास साक्षी है कि छत्रपति शिवाजी ने समरथ गुरु रामदास की पालकी में अपना कंधा लगाया था। इसी प्रकार छत्रसाल ने अपने राजकवि भूषण के सम्मान में उनकी पालकी उठाई थी।

यह था विद्वानों का आदर करने संबंधी भारतीय आदर्श। यह सांस्कृतिक अवधारणाएं कितने उच्च धरातल को स्पर्श करती हैं।

अर्वाचीन काल में विद्वानों के प्रति आदर एवं सम्मान करने की मान्यताओं में मूल्य-हीनता आई और उनमें अत्यधिक ह्रास हुआ है। सच देखा जाए तब इस संबंध में परम्पराएं लगभग लोप ही हो गई हैं। विद्यार्थियों को तो छोड़िए, जिनके द्वारा विश्वविद्यालयों में अपने प्रतिभा सम्पन्न विद्वान आचार्यों एवं कुलपतियों का यथा-योग्य आदर करना तो दर किनार रहा, उनके साथ अभद्र एवं अशिष्ट व्यवहार कर उन्हें अनादृत करने की घटनाएं आए दिन घटती रहती है। शासन में प्रायः कुछ अधिकारीगण तक विद्वानों, कवियों, कलाकारों एवं विज्ञान वेत्ताओं का यथोचित आदर उस प्रकार नहीं करते जिसके कि वे हमारी संस्कृति के अनुसार अधिकृत हैं।

हां, इस दिशा में कभी-कभी कोई किरण दीख जाती है। जो प्रेरणा की अजेस्त्र स्रोत होती है। नवनीत के जून, 1978 के अंक में सण्डे स्टैंडर्ड से साभार "सौरभ" शीर्षक के अन्तर्गत एक घटना प्रकाशित की गई थी जिसे कृतज्ञतापूर्वक यहां उद्धृत किया जा रहा है :

"सचमुच पद और अधिकार ने राजगोपालाचार्य की मानवीयता में कोई अंतर नहीं आने दिया। भारत के मूर्धन्य पुस्तकालय-विज्ञानी स्वर्गीय डा०एस०आर० रंगनाथन् ने सन् 1948 में राष्ट्र संघ दिवस के समारोह में राजा जी से अपनी मुलाकात का वर्णन किया है। उस समारोह में विशिष्ट व्यक्तियों का जमावड़ा था। चोटी के राजनयिक जमा थे। रंगनाथन पीछे एक कतार में बैठे हुए थे। वे केवल राजाजी को सुनने के लिए वहां गए थे। राजा जी ने उन्हें देख लिया। रंगनाथन ने लिखा है--"भीड़ को चीरते हुए वे वहां आए, जहां मैं बैठा था, और बोले --"इस राजनीतिक तमाशे से आप प्रोफेसरों का क्या संबंध है।" "मैंने कहा-- हम इस राजनीतिक मजमे को एकेडमिक गंध देने आए हैं। फिर हम सब एक फिल्म प्रदर्शन देखने लगे।"

"जैसा कि स्वाभाविक था, राजाजी प्रथम पंक्ति में थे और मैं उनसे एक कतार पीछे बैठा था। उनका ए०डी०सी० मेरे पास आया और बोला--महामहिम ने आपको याद फरमाया है।" मैं उसके साथ गया। राजाजी तमिल में बोले-- यहीं बैठिए, कोई प्रोफेसर या पुस्तकालयाध्यक्ष गवर्नर जनरल से किस बात में कम है। आप शरमाते और पीछे की कतार में क्यों जा बैठते हैं। क्या मानवीय मूल्यों और मानवीय संबंधों के इससे ऊंचे उठाव की कल्पना की जा सकती है।"

इसी प्रकार का प्रधानमंत्री इन्दिरा गांधी से संबंधित एक उदाहरण उल्लेखनीय है। प्रख्यात मूर्तिकार अवतार सिंह पंवार एवं मेरा निवास स्थान लखनऊ में पास-पास है। उनके गृह पर एक दिन हिन्दी के उद्भट विद्वान डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी पधारे थे। श्री पंवार ने उन्हें बैठाकर उनकी एक मूर्ति बनाई। उस समय द्विवेदी जी ने सुनाया कि श्रीमती इन्दिरा गांधी, प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में आयोजित भारत सरकार की एक समिति के वह सदस्य थे। समिति के संयोजक उन्हें पहिचान नहीं पाए। अतएव वह समिति की बैठक में पीछे जा कर बैठ गए। श्रीमति गांधी ने जब उन्हें देखा तब वह स्वयं उठकर आई और उन्हें उठाकर अपने साथ ले गई तथा प्रथम पंक्ति में उन्हें बैठाया।

विद्वानों का आदर किस प्रकार किया जाता है। इस संबंध में इतिहास के प्रकांड विद्वान पदमभूषण ईश्वरी प्रसाद ने मुझे दो घटनाएं सुनाई। इस आंशका से कि इसको सुनकर गर्वोक्ति का भान न हो उनका कहना था कि क्योंकि ये उनसे संबंधित हैं अतएव उन्हें स्वयं अपने मुंह से कहना अच्छा नहीं लगता--जब डाक्टर सम्पूर्णानन्द उत्तर प्रदेश के मुख्य मंत्री थे उस अवधि में डाक्टर ईश्वरी प्रसाद उत्तर प्रदेश विधान-परिषद के सदस्य थे। मुख्य मंत्री जी ने उन्हें कई ऐसी समितियों का सदस्य मनोनीत कर रखा था जिनके वह स्वयं अध्यक्ष थे। डाक्टर ईश्वरी प्रसाद को कभी-कभी उन समितियों की बैठकों में पहुंचने में देर हो जाती थी परन्तु जैसे ही वह समिति के कक्ष में घुसते सदैव डा० सम्पूर्णानन्द तुरन्त अपने अध्यक्ष के स्थान से उठकर खड़े हो जाते और हाथ जोड़ते हुए, आइए महाराज! कहकर उनका स्वागत करते।

डाक्टर ईश्वरी प्रसाद ने एक सज्जन के अनुरोध पर आदित्यनाथ झा, आई०सी०एस०, उप-राज्यपाल, देहली, जिनसे वह उनके इलाहाबाद विश्वविद्यालय में छात्र जीवन के समय से भली भांति परिचित थे, को एक संस्तुति पत्र लिख दिया। श्री झा ने अपने उत्तर में इन मूर्धन्य मनीषी को आदरणीय महोदय के अभिवादन से संबोधित किया एवं अंत में आपका आज्ञाकारी आदित्य लिखा।

आदित्य नाथ झा के संबंध में एक आंखों देखे दृश्य का उल्लेख भी करना मैं अभीष्ट समझता हूं। श्री झा जो इलाहाबाद के निवासी थे, वहां आए हुए थे, उन्हीं दिनों इलाहाबाद में लखनऊ के राजकीय कला एवं शिल्प महाविद्यालय के कुछ प्रतिष्ठित कलाकारों की कृतियों की प्रदर्शनी आयोजित की गई। मैं उस संस्था का रजिस्ट्रार था। श्री झा से उसका उद्घाटन करवाया गया। आमंत्रित अतिथियों में महान कलाकार क्षितिन्द्र मजूमदार भी उपस्थिति थे जो इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ललित कला के अध्यापक रह चुके थे। उद्घाटन करते समय श्री झा ने उन्हें अपने बराबर में बैठाया तथा उन्हें आचार्य प्रवर कहकर संबोधित किया। उद्घाटन के उपरान्त चलते समय श्री झा ने उनसे आग्रह किया कि उप-राज्यपाल की मोटर में पहले वह बैठे तब श्री झा बैठे और उन श्रद्धेय कलाकार को उनके घर पहुंचाने के बाद अपने निवास स्थान जार्ज टाउन गए। इन दृष्टांतों से कौन अभिभूत हुए बिना रह सकता है। ऐसे प्रेरणादायी व्यक्तित्व ही अचेत पड़े आदर्शों को अपने निजी उदाहरण द्वारा नवचेतना प्रदान कर सकते हैं।

विद्वानों का आदर करना भारतीय संस्कृति की एक पारम्परिक विशिष्टता रही है। प्रबुध विद्वानों, कवियों, कलाकारों एवं विज्ञानवेत्ताओं का जो आदर सत्कार करता है वह उसका तो सम्मान करता ही है, स्वयं को भी ऐसा करने से गौरवान्वित करता है तथा दूसरों के लिए प्रेरणा का सतत् स्रोत बनता है। समसामयिक परिप्रेक्ष्य में विद्वान मनीषियों के आदर करने संबंधी मान्यताओं की सार्थकता एवं उपादेयता की जागरूकता को उजागर करना परमावश्यक है।

जहां "या देवी सर्वभूतेषु" का स्वर हमेशा गूंजता है

—दीनानाथ दुबे,

गंगा तट पर विन्ध्य पर्वत की उपत्यका के साये में लगभग सात किलोमीटर चन्द्राकार क्षेत्र में फैले विन्ध्याचल को जागृत शक्तिपीठ माना गया है। यहां देवी दुर्गा के तीनों रूपों–महाकाली, महासरस्वती और महालक्ष्मी के सिद्ध मन्दिर हैं, जहां अश्विन और चैत्र में नवरात्र के अवसर पर शक्ति उपासकों की अपार भीड़ दर्शनार्थ उमड़ पड़ती है। तीर्थराज प्रयाग, त्रैलोक्य से न्यारी काशी के मध्य, विन्ध्य पर्वत मेखला की गोद में बसा विन्ध्याचल शक्ति उपासना के 52 पीठों में मुख्य पीठ है। शैव, वैष्णव सम्प्रदायों में इस शक्तिपीठ को अत्यन्त श्रद्धा से देखा जाता है। तांत्रिक सम्प्रदाय में विन्ध्याचल को साधना के लिए विशेष पवित्र माना गया है। यों भी बारह मास यहां देश के कोने कोने से तीर्थ यात्री आते रहते हैं, परन्तु अश्विन और चैत्र मास को नवरात्रि के दिनों में इस स्थान की छटा और भी द्विगुणित हो जाती है, जब श्रद्धालुओं का अपार जन समूह एक स्वर से, "जय बोलो भगवती विन्ध्वासिनी की" के तुमुल निनाद से आकाश को भी गूंजा देता है। इन दिनों इतनी भीड़ होती है कि मन्दिर मे देवी के दर्शन के लिए भक्तों को हाथ में चुनरी नारियल लिए घंटों इन्तजार करना पड़ता है––तब कहीं दर्शन हो पाता है। नवरात्रि के दिनों में अनुष्टान की पूर्ति और भगवती की कृपा प्राप्ति के लिए सहस्त्रों की संख्या में दूर–दूर के स्थानों से आकर महात्मा वेदपाठी, और साधू संत नवरात्रि में नौ दिन रहकर अर्हनिश पूजन, उपासना और ध्यान में तत्पर रहते हैं।

विष्णु पुराण, अग्नि पुराण, देवी भागवत आदि जितने भी हमारे वाङमय हैं, उनमें विन्ध्याचल को साधना के लिए अत्यन्त पवित्र माना गया है। श्री दुर्गासप्तशती के 11 अध्याय के 42वें श्लोक में श्री भगवती देवी ने स्वयं कहा है :—

वैवस्वते अन्तरे प्राप्ते अष्टा विंशति में युगै।
शुम्भो निशुम्भ चौवन्या वुत्यत्सते महासुरौं॥
नन्दगोप गृहे जाता यशोदा गर्भ सम्भवा। नाशयिस्यामि ततस्तो विन्ध्याचल निवासिनी॥

अर्थात् देवताओं! वैवस्त मनवन्तर के अट्ठाइसवें युग में शुम्भ और निशुम्भ नाम के दो अन्य महादैत्य उत्पन्न होंगे। तब मैं नन्दगांव के घर में उनकी पत्नी यशोदा के गर्भ से अवतीर्ण होकर विन्ध्याचल में जाकर रहूंगी और उक्त दोनों असुरों का नाश करूंगी।

अग्नि पुराण में विन्ध्य महात्मा की कथा माता पार्वती के पूछने पर भगवान शंकर ने इस प्रकार बतायी है। "एक बार कलि के प्रभाव, संताप से पीड़ित होकर, अनेक ऋषि शौनक के नेतृत्व में ब्रह्माजी के पास गये और उनसे निवेदन किया कि हम लोक कलियुग के पापाचारों से भयभीत होकर आपकी शरण में आये है। हमें ऐसा स्थान बतायें जहां मानव कल्याण के लिए हम सभी तप कर सकें। ऋषियों की बात सुनकर ब्रह्माजी ने कहा—हे ऋषियों, आप लोगों को मैं यह चक्र देता हूं, जहाँ यह चक्र कुंठित हो जाए, वही स्थान आपकी साधना के अनुकूल होगा। ब्रह्मा के आदेशानुसार ऋषि भेंट चक्र को लेकर घूमते रहे और जब इस क्षेत्र में पहुंचे तो चक्र कुंठित हो गया। श्रीमद्देवी भागवत के दशम स्कन्ध में एक और कथा आती है। इस कथा में मनु ने वीर समुद्र पर देवी की घोर तपस्या की और भगवती उन्हें वर देकर विन्ध्याचल चली आई और विन्ध्यवासिनी कहलायी। पश्चतु मनोरम जगाम विन्ध्यपर्वतम् स्तोकेषु प्रार्थना विन्ध्यवासिनीति व शैनक॥ त्रिपुरारी रहस्य में प्रधान देवी विग्रह के 12 स्थान बताये गये हैं और उनमें विन्ध्याचल भी एक है।

महाभारत काल में शक्ति की उपासना भली भांति की जाती थी। दुर्गा भवानी की स्तुति धर्मराज युधिष्ठर ने उस समय की थी जब वे महाघोर विपत्ति में विराट नगर में रह रहे थे। आपदा निवारण के लिए यह विनती विन्ध्यवासनीं स्त्रोत के नाम से विख्यात है :—

यशोगर्भ समुद्रभूता नारायण वरप्रियाम्। नन्दगोपकुले जाती मूंगल्यांकुल
वनिर्धनीम् कंसविद्रा रोपणे करीम सुराणां धपकरीम्।
शिलाप्त विनिं शिप्ता माकंशि॥

विन्ध्ये चैव नगश्रेष्ठे तव स्थानं हि शाश्यतम्। कालि कालि महाकालि। सीधुमासं पशुप्रिये॥ हे भगवती अत्य यशोदा गर्भ से उत्पन्न नारायण की अत्यन्त प्रिय नारायणी रूपा है। आप ही नन्दकुल में उत्पन्न कल्याणकारी भक्तों के कुल को बढ़ाने वाली हैं। आप ही कंस को भय उत्पन्न करने वाली

असुरों की संहारिका हैं। आपको जब शिलातट पर कंस ने पटका था, उस समय उसके हाथ से छूट कर आप ही आकाश गमन कर गयी थी। विन्ध्याचल में आपका शाश्वत स्थान है। हे कालिकालि, महाकालि, मांस मदिरा और पशु तुझे प्यारे हैं।

जब महाभारत का युद्ध प्रारम्भ हुआ, उससे पहले भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को भगवती विन्ध्यवासिनी की भक्ति और स्तुति का उपदेश दिया था। (भीष्म पर्व-अध्याय 23)। अर्जुन की यह स्तुति विन्ध्यवासिनी स्तुति के रूप में प्रसिद्ध है।

ऋषियों ने उपासना के तीन मार्ग बताये हैं--सात्विक, राजसिक और तामसिक। देवी पूजा भी इन्हीं तीनों प्रकार से होती आयी है। सात्विक उपासक अपनी प्रकृति से अनुसार पत्र, पुष्प, फल, गन्ध, धूप, दीप, नैवेद्य, आदि व राजसिक उपासक अपनी भावना व सामर्थ्य के अनुसार छत्र, चामर, शैय सुवर्ण से और तामसिक, उपासक अपने संस्कारों के अनुसार मद्य, मांस और तामसी पदार्थों को भेंट करते हैं। देवी की यह उपासना दक्षिण और बाम मार्ग के नाम से जानी जाती है।

विन्ध्य महात्म्य की अनेक कथाएं हैं। जिनके अनुसार इस क्षेत्र का महात्म्य असीम व अनन्त है। स्वयं भगवान विष्णु और लक्ष्मी जी ने इस क्षेत्र में शिवजी की कठोर तपस्या की थी। शिवजी ने विष्णु जी को चतुर्भुजी रूप तथा लक्ष्मी जी को भुवन मोहिनी रूप प्रदान किया था। तारकेश्वर महादेव के पश्चिम में नारायण सरोवर जो अब गंगा जी में समा गया है और महालक्ष्मी कुंड के बारे में जनश्रुति है कि विष्णु जी और लक्ष्मी जी ने यहां शिव की पूजा की थी।

यों भी विन्ध्याचल क्षेत्र वाल्मिकी, वशिष्ठ, अगस्त्य, भर्तृहरि, और तांत्रिक सम्प्रदाय के योगियों, बाबा मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, बालानाथ, महानाथ, अघोरनाथ, मन्मथनाथ आदि की तपोभूमि
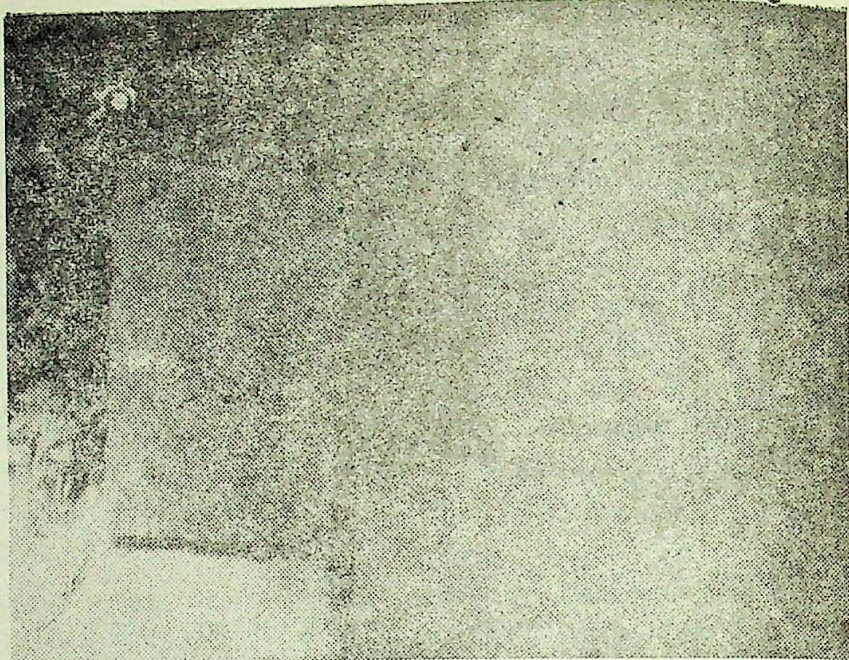
रही है। आज भी इस क्षेत्र में अगणित कुंड, खोह और, कन्दराएं मिल जाएंगी, जो किसी न किसी ऋषि की तपः स्थली से सम्बन्धित हैं। ब्रह्मा कुंड गोकर्ण कुंड का विशेष महत्व है। जन-जीवन में ऐसी किंवदन्तियां प्रचलित हैं कि इस क्षेत्र में कई ऐसे महात्मा हैं, जो सैंकड़ों वर्षों से तपस्या में लीन हैं पर वे किसी को दिखायी नहीं देते। भाग्यवश कोई भूला-भटका इन स्थलों तक पहुंच जाता है तो वह अद्भुत स्मृतियां लिये रोमांचित होकर घर लौट आता है।

विन्ध्याचल कस्बा मिरजापुर नगर से 7 मील पश्चिम उत्तर रेलवे की इलाहाबाद मुगलसराय मुख्य लाइन पर स्थित है। अब यह एक बड़े कस्बे के रूप में विकसित हो गया है। मुख्यतः यह पन्डो की नगरी है, जिसमें 600 से ऊपर पंडों के घर हैं। विन्ध्याचल की त्रिकोण यात्रा का महात्म्य है। पूर्व में महालक्ष्मी, पश्चिम में महा-सरस्वती और पश्चिम में महाकाली की स्थिति है। इस त्रिकोण यात्रा में तीर्थयात्रियों को अगणित मंदिर, खोह, कन्दराएं और कुंड मिलते हैं। मंदिर से विन्ध्य पर्वत की दूरी मात्र 2 मील है। पर्वत की गोद में मंदिरों, कन्दराओं, खोहों, जलकुंडों और बावडियों की बहुलता है। विन्ध्य क्षेत्र में बावड़ियां और कुण्ड निर्माण का अत्यन्त महत्व है इनमें मुख्यतः अष्टभुजा मंदिर, सीताकुंड, भैरवकुंड गैरुआ तालाब है। इसके अलावा जंगला, मंगला, चामुण्डा, पदमा, महाकाली, भैरवनाथ, पंचमुखी महादेव, रामेश्वर मंदिर, उलटा पहाड़, सप्त सागर, भद्र काली गुफा, रामनामी वृक्ष दुर्गा खोह, त्रिकाल भैरव, बटुकनाथ, धतूरा बाबा की गुफा, नाग कुण्ड, गोकर्ण कुंड, रामेश्वरनाथ मन्दिर मंगलागौरि और रामगया का तारा देवी का तांत्रिक मंदिर आदि प्रसिद्ध हैं।

विन्ध्यवासिनी देवी का मुख्य मंदिर विन्ध्याचल के मध्य में ऊंचे स्थान पर है। मन्दिर में सिंह पर खड़ी प्रायः तीन फुट की देवी की प्रतिमा है। विन्ध्यवासिनी देवी को कौशिकी देवी भी कहा जाता है। मनु शतरूपा की तपस्या से प्रसन्न होकर देवी विन्ध्याचल पर्वत में अवतरित हुई थी। मन्दिर के पश्चिम में विशाल प्रागंण है और बारहभुजा देवी है। मन्दिर के प्रागंण में सैंकड़ों ब्राह्मण बैठकर श्री दुर्गा सप्तशती का पाठ करते हैं। विन्ध्याचल में विन्ध्यवासिनी (कौशिकी देवी) (महाकाली) चामुण्डा देवी और अष्टभुजा देवी हैं। कहते हैं कि द्वापर में श्री कृष्ण के जन्म पर वसुदेव जी श्री कृष्ण को नन्द भवन रख आये थे और यशोदा को जन्मी नवजात कन्या उठा लाये थे। कंस जब नवजात कन्या को पत्थर पर पटकने लगा, तब उसके हाथ से छुटकर कन्या आकाश में चली गयी और वहां

अपना अष्टभुज रूप प्रकट किया। वही श्री कृष्णानुजा यहां विन्ध्याचल पर्वत पर अष्टभुजा य। अष्टभुजी देवी के रूप में विराजमान हैं। मूल मन्दिर विन्ध्यवासिनी देवी का है जो प्रातःकाल से रात्रि के प्रथम प्रहर तक, दर्शनार्थ खुला रहता है। इस बीच निरन्तर हवन, पूजन, यज्ञोपवीत, मुण्डन और बलि के कार्यक्रम चलते रहते हैं।

विन्ध्यवासिनी देवी के दर्शन के पश्चात् जब यात्री विन्ध्य पर्वत पर त्रिकोण यात्रा के लिए निकलता है तो बड़ा ही आनन्द आता है। यद्यपि यत्र-तत्र पुरातत्व विभाग के बोर्ड लगे हैं और उनसे स्पष्ट है कि यदि इन स्थानों की खुदाई की जाय तो विस्मृति के गर्भ में खोये बहुत से रहस्यों पर से पर्दा उठ सकता है। पर्वत पर गेरुआ तालाब के साये में अनेकानेक कहानियां हैं जिनमें मुख्य "तेरह पालिया बसे अगोरी, बावन लगे बाजार" की कथा ज्यादा प्रचलित है। अगोरी नाम की सुन्दरी किरात कन्या को पाने के लिए यहां संग्राम हुआ था। इस तालाब के समीप ही अष्टभुजा माता का मंदिर है, जहां पहुंचने के लिए विन्ध्याचल पहाड़ पर 151 सीढ़ियां चढ़नी पड़ती हैं। गेरुआ तालाब और अष्टभुजा मंदिर के बीच में सीता कुंड और भैरव कुंड है जिसका जल अत्यन्त स्वास्थ्यवर्धक माना जाता है। कलकत्तिया सेठ अक्सर यहां स्वास्थ्य लाभ के लिये आते हैं और इन कुण्डों का जल पीते हैं। अष्टभुजा देवी के पूर्व में रामनामी के नाम से अद्भुत वृक्ष हैं। इस वृक्ष से जो भी शाखाएं निकलती हैं, वे राम के आकार की बन जाती हैं। भद्रकाली दुर्गा, खोह, धतुरा बाबा की गुफाओं में जाने से शरीर में रोमांच उत्पन्न हो जाता है। इक्का-दुक्का यात्री तो द्वार से ही लौट आता है। इन गुफाओं में देवी देवताओं की मूर्तियां प्रतिष्ठित हैं। अधिकतर मूर्तिया त्रिकाल भैरव, वटुकनाथ, हनुमान और महाकाली की हैं। इनसे स्पष्ट है कि ये स्थान प्राचीनकाल में तांत्रिक सिद्धों की तपोभूमि थे। समीप में स्थित तारादेवी मंदिर में आज भी कपाल, मसान और खप्पर आदि से पूजा की जाती है।

विन्ध्याचल क्षेत्र के धार्मिक महत्व के साथ अतीत का इतिहास भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह क्षेत्र भारशिव नागों की पुरुषार्थ भूमि रही है। भारशिव नाग सम्राट वीरसेन के विजय का डंका विक्रम दूसरी शती में बजा था जब वीरसेन ने काशी के कुषाण शासक अंगारक को इसी क्षेत्र में परास्त करके उसे पेशावर तक खदेड़ा था और इस विजय के उपलक्ष में काशी में गंगाघाट पर दशाश्वमेघ यज्ञ किया था। हमारे इतिहास में शुग वंश के पतन और गुप्त वंश के उदय के पूर्व कुषाणों की सत्ता का मरिमर्दन करने वाली शक्ति भारशिव नागों की थी। भारशिव नागों ने अपनी शक्ति का संचय इसी विन्ध्य क्षेत्र में किया था। बाद में कुछ दूरी पर कांतिपुरी बसायी थी जो आज बिगड़ते-बिगड़ते कंतित रूप में पायी जाती है। प्रसिद्ध मांडव्यगढ़ भारशिव नागों ने ही बनवाया था।

कुल मिलाकर विन्ध्याचल के पर्वतीय खोह, कन्दराएं आज भी रहस्यों का केन्द्र बिन्दु बनी हैं। बहुत सी ऐसी गुफाएं हैं जिनके द्वार शिला से बन्द कर दिये गये हैं। इन गुफाओं में प्रकाश व पवन संचार की तकनीक अद्भुत है और दर्शकों को हैरत में डाल देती है। विन्ध्याचल में नियमित रूप से काफी तीर्थयात्री दूरदराज से आते हैं। राज्य सरकार ने इस तीर्थ स्थली को एक पर्यटन केन्द्र के रूप में विकसित करने की स्वीकृति दी है। विन्ध्यपर्वत की गोद में बसने के कारण यदि पर्यटन के तरीकों से आसपास के स्थानों को विकसित किया जाय, सस्ते आवास बनाये जाये तो यह स्थान बड़ा ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसलिए इस स्थल के विकास के लिए एक योजनाबद्ध कार्यक्रम की जरूरत है। इस क्षेत्र में आये दिन होने वाले उत्सवों, कजली, दंगल, ठंडाई, भांग की मस्ती, इक्कों की सरपट दौड़ आदि का अपना आकर्षण है। कुल मिलाकर विन्ध्याचल के पर्यटन विकास की अनंत संभावनाएं हैं। केन्द्रीय पर्यटन मंत्रालय को इस क्षेत्र पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। देश में ऐसे विरले स्थान हैं जहां का भव्य ऐतिहासिक अतीत हो, गौरवमयी धार्मिक परम्परा हो, विन्ध्याचल पर्वत का साया हो, और गंगानदी का किनारा हो। यातायात की दृष्टि से यह क्षेत्र काफी उन्नत है। कुल मिलाकर इस क्षेत्र की पर्यटन विकास के लिए संभावनाओं का आकलन जल्दी किया जाना जरूरी है।

भारतीय संस्कृति की आचार संहिता पतित-पावनी गंगा

—कैलाश पचोरी

प्राच्य विद्या विशेषज्ञ मैक्स मूलर ने ठीक ही लिखा है कि भारत की नदियों में जल ही नहीं बल्कि एक समूची सभ्यता और संस्कृति भी प्रवाहित होती है। निःसंदेह नदियों ने हमें बहुत अधिक प्रभावित किया है, फिर गंगा का तो कहना ही क्या! संपूर्ण मानव समुदाय को आन्तरिक तथा बाह्य धरातल पर पवित्र कर देने का पावन संकल्प लेकर ही जैसे इस पृथ्वी पर उतरी है।

संस्कृतिक निष्ठा की प्रतीक :–गंगा हमारी प्राचीनतम आरण्यक संस्कृति की जीवंत प्रतीक ही नहीं, भारतीय दर्शन तथा वेदांत की तरल अभिव्यक्ति भी है। इसके सुरम्य तटों पर बालमीकि, व्यास, कपिल, शंकराचार्य कणादि, पिप्पलाद, भारद्वाज, वशिष्ठ, शुक्र देव विश्वामित्र, तुलसी आदि अनेक महान संतों ने मंत्र घोष के साथ ही अमूल्य ग्रन्थों की रचना कर स्मरणीय एवं गौरव-शाली इतिहास का निर्माण किया। इन महान संतों के व्यक्तित्व तथा विचारों का अनुकरण कर हमारा संपूर्ण मानव समुदाय सहज ही उपकृत हुआ है, उनकी उदात्त वैचारिक दृष्टि का स्पर्श पाकर हमारी सभ्यता समृद्ध हुई है। "संस्कृति के चार अध्याय" में हिन्दी के यशस्वी लेखक श्री रामधारी सिंह दिनकर" ने गंगा को भारतीय संस्कृति की आचार संहिता कहा है। यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि हमारी पौराणिक तथा मिथकीय चेतना को गंगा ने शाश्वत स्वरूप प्रदान किया है। जहाँ उसने राम की करूणा और केवट की संवेदना को मार्मिकता से संजोया है, वहीं अत्री, आंगीरस तथा भारद्वाज की अमोघ साधना को सार्थकता प्रदान करने का श्रेय भी उसी ने प्राप्त किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि गंगा के परम पावन साक्ष्य में ही हमारी सनातन-सांस्कृतिक यात्रा प्रारम्भ होती है। इसका सुदीर्घ प्रवाह काल-जयी कीर्तिमान स्थापित करता हुआ आज भी सतत् प्रस्थान की मुद्रा में है।

हमारा सारा वाङ्मय गंगा को केन्द्र में प्रतिष्ठित करता है, विष्णु पुराण से लेकर ब्रहम वैवर्त पुराण तक सर्वत्र इसकी विशद चर्चा मिलती है। श्रीमद् भागवत में गंगा के उद्भव एवं वहन का संक्षिप्त आख्यान इस प्रकार मिलता है—

जब भगवान विष्णु ने वामन अवतार धारण कर राजा बलि की यज्ञशाला में तीन डग पृथ्वी नापने के लिए अपना पैर आगे बढ़ाया तब उनके बायें पैर के अगूंठे से ब्रहमांड-कटाह के ऊपर का भाग फट गया। उस छिद्र से बाहर की ओर निसृत जलधारा भगवान के चरण कमलों में लगी केसर के कारण लाल हो गयी। इसका पहला नाम भगवत्पदी रखा गया। सहस्त्रों वर्ष बीत जाने पर वह स्वर्ग के शिरो भाग में स्थित ध्रुव लोक में उतरी। वहां से आकाश मार्ग में होती हुई मेरु पर्वत के शिखर पर स्थित ब्रहमपुरी में गिरी वहां इन्हें क्रमशः सीता, अलकनंदा, चक्षु तथा भद्रा के नाम से पुकारा गया। अलकनंदा ब्रह्मपुरी से दक्षिण की ओर गिरकर अनेक गिरि-शिखरों को लांघती हुई हेमकूट पर्वत पर पहुंची। वहां से उसने अत्यन्त तीव्र वेग से हिमालय के शिखरों को चीरते हुए भारतवर्ष की ओर प्रस्थान किया। लगभग सौ योजन की परिधि में गंगा का अशेष-अद्भुत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है—झल झलाता हुआ और हमारी सांस्कृतिक चेतना को उद्दीप्त करता हुआ।

उत्पत्ति एवं मूल कथाएं :–श्रीमद् देवी भागवत पुराण के नवम् स्कंध में नारद-नारायण संवाद के अन्तर्गत गंगा की उत्पति का विस्तृत प्रसंग दिया गया है। भगवान नारायण नारद को गंगा की उत्पति का रोचक आख्यान सुनाते हुए कहते है कि सूर्यवंश में सगर नामक प्रतापी तथा यशस्वी राजा हुए। उनके दो रानियां थीं वैदर्भी और शैव्या। उनकी पहली पत्नी वैदर्भी को एक सुन्दर पुत्र की प्राप्ति हुई दूसरी पत्नी शैव्या को भी भगवान शंकर के वरदान से गर्भ रह गया। लेकिन समय पूर्ण होने पर उसके गर्भ से एक मास पिन्ड की उत्पति हुई। उसे देखकर रानी बहुत दुखी हुई उसी अवस्था में उसने भगवान शंकर का ध्यान किया। अवटर दानी शिव विप्र वेश में पधारे और उस मांस पिन्ड को उन्होंने साठ हजार भागों में बांट दिया। वे सभी टुकड़े तत्काल पुत्र रूप में बदल गये।

एक बार राजा सगर ने अश्वमेघ यज्ञ का आयोजन किया लेकिन राजा इन्द्र नहीं चाहते थे कि यज्ञ सफल हो, अतः उन्होंने छल-बल से यज्ञ का घोड़ा चुरा लिया। सगर ने अपने साठ हजार पुत्रों को घोड़े की तलाश करने भेजा। इन्द्र द्वारा किए गये मति भ्रम के कारण वे एकदम फुर्ती से कपिल मुनि पर टूट पड़े। मुनि इस अप्रत्याशित आक्रमण से बड़े क्रोधित हुए। उन्होंने शाप देकर सगर के सभी पुत्रों को भस्म कर दिया। इस हृदय विदारक घटना से राजा सगर को बड़ा कष्ट पहुंचा। अतः सगर के प्रपौत्र भगीरथ ने दीर्घ-काल तक कठोर तप किया तब कहीं

जाकर उन्हें भगवान कृष्ण के दर्शन हुए। कृष्ण ने गंगा को आदेश दिया कि वे सगर के पुत्रों को जीवित कर दें। कृष्ण ने सरस्वती के श्राप का भी उल्लेख किया जिसके कारण उन्हें वैसे भी पृथ्वी पर आना ही था।

अपने प्रिय भक्त भगीरथ को समझाते हुए गंगा ने कहा कि वत्स तुम मेरा प्रचंड वेग नहीं संभाल पाओगे अतः मैं सबसे पहले भगवान शिव की जटाओं में आश्रय ग्रहण करती हूं। वहां से हिमाच्छादित श्रेणियों को पार करती हुई भारतवर्ष में आ जाऊंगी। गंगा अपने दिये गये वचन के अनुसार पृथ्वी पर आई। जैसे ही उन्होंने सगर के साठ-हजार पुत्रों का स्पर्श किया वे निमिष मात्र में ही जीवित हो उठे।

नारदीय संहिता में गंगा की उत्पति का एक प्रसंग और भी दिया गया है--गंगा, लक्ष्मी और सरस्वती ये तीनों भगवान विष्णु की भार्या हैं। एक बार सरस्वती को संदेह हुआ कि श्री हरि मेरी अपेक्षा गंगा से अधिक प्रेम करते हैं यह मानकर सौतिया डाह के अन्तर्गत वे गंगा से कठोर व्यवहार करने लगीं। यह लक्ष्मी से नहीं देखा गया। जब लक्ष्मी ने सरस्वती को समझाने का प्रयत्न किया तो गंगा का पक्षधर मानकर सरस्वती ने लक्ष्मी को मृत्यु लोक में पहुंच कर वृक्ष बन जाने का श्राप दे डाला। लक्ष्मी जी निर्दोष थीं, अतः गंगा से यह अत्याचार सहन नहीं हुआ, उसने भी सरस्वती को श्राप दिया कि वह पृथ्वी पर पहुंचकर नदी बनेगी और उसे पांच हजार वर्षों तक वहां रहना होगा। इस श्राप प्रतियोगिता में फिर सरस्वती ही क्यों पीछे रहती उन्होंने भी गंगा को मृत्यु लोक में जाकर नदी बन जाने का श्राप दे डाला। इस प्रकार सरस्वती से श्रापित होकर पतितों एंव पापियों के उद्धार हेतु भगीरथ के उग्र तप से प्रसन्न होकर राजा सगर के साठ हजार पुत्रों को जीवित करने का संकल्प लेकर गंगा भू लोक में उतरी।

पद्म पुराण में गंगा के स्वरूप का वर्णन मिलता है। पूर्ण चैतन्य परम पुरुष भगवान श्री कृष्ण के विग्रह से इनका प्राकट्य होने के कारण ये उन्हीं के समान तेजोमय और कांतियुक्त हैं। चिन्मय वस्त्र उनकी शोभा बढ़ाते है। वे भीमकाय मत्स्य की पीठ पर आसीन हैं। उषाः कालीन सूर्य की सुकुमार रश्मियों के समान उनका सुन्दर मुख है। उनकी चार भुजाएं हैं, दोनों हाथों में अमृत कलश शोभित हैं। एक हाथ में कमल और दूसरे हाथ से वे अपने भक्तों को अभय प्रदान कर रही हैं। उन्होंने मालती के फूलों का हार पहन रखा है। देवराज इन्द्र के मुकुट में लगे हुए मन्दार के फूलों के रजः कण से इन देवी के श्री चरणों में लालिमा छा गयी है। इनके पावन चरण मुमुक्ष जनों को मुक्ति देने तथा अपने भक्तों की कामनाएं पूर्ण करने में अत्यन्त कुशल हैं। वे प्रातः स्मरणीय देवी प्रसन्न होकर भगवान विष्णु का पद प्रदान करने वाली तथा विष्णु पदी के नाम से चौदह भुवनों में विख्यात हैं।

गंगा जल का महत्व एवं विशेषताएं :-- विष्णु पुराण में कहा गया है कि गंगा का दर्शन, स्नान तथा आचमन तो अलग ही है, यदि सौ योजन की दूरी से भी उनके नाम का स्मरण मात्र भी किया जाये तो यह तीन जन्मों के पाप का तुरन्त शमन कर देती है:–

"गंगा गंगेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि
स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्म
त्रयाजितम्"

गंगा जल की विशेषताओं को आरोग्य शास्त्र में इस प्रकार गिनाया गया है–

"गंगा वारि सुधा समं बहु गुण पुण्यं
सदानुष्करं
सर्वं व्याधि विनाशनं बल करं
वर्ण्य पवित्र परम्
हृदय-दीपन पाचनं सुरूचिर मिष्ठं
सु- परम लघु
स्वान्त वान्त निवारि वृद्धि जननं
दोष त्रय हनं वरम्"

अर्थात् गंगा का जल अमृत के समान बहुगुण युक्त, पवित्र, उत्तम, आयु की वृद्धि करने वाला, सर्वरोग नाशक, बल-वीर्य वर्धक, परम पवित्र, हृदय को हितकर, पाचक, रुचिकर, मीठा, उत्तम पथ्य और लघु होता है; यह भीतरी दोषों का नाश करने वाला, वृद्धि जनक, त्रिदोष नाशक, और सब जलों में श्रेष्ठ है।

गंगा जल की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि हिमालय क्षेत्र की जड़ी-बूटी, यथा ब्राहमी, रत्न ज्योति, अष्टवर्ग के अतिरिक्त शिलाजीत जैसे खनिज अपने जल स्रोतों के साथ घुल कर गंगा में मिलते रहते हैं। हर प्रकार के सम्प्रदाय एवं धर्म के लोगों ने बिना किसी धार्मिक भेद-भाव के इसकी उपयोगिता को समझने का प्रयत्न किया है। इब्न बतूता ने लिखा है कि मुहम्मद तुगलक इस जल को पीता था "आईने अकबरी" के अनुसार स्वयं सम्राट अकबर गंगा जल का उपयोग करता था। इस जल की वैज्ञानिक ढंग से जांच करने पर पाया गया कि इसमें एक विशेष प्रकार के "प्रोटैक्टिव कोलाइड" मिलते हैं जो अन्य नदियों के जल में वहुत कम पाये जाते हैं।

विश्व विख्यात जल विज्ञानी डा० हेन फेन ने गंगा जल को विश्व का सर्वश्रेष्ठ जल घोषित किया है। इसमें विभिन्न रोगों के कीटाणुओं का नाश करने की अदभुत क्षमता है। एक बार परीक्षण के रूप में उन्होंने काशी के निकट अस्सी नाले का जल निकाला उन्होंने पाया कि इसमें हैजे के असंख्य कीटाणु हैं। उन्होंने उस पानी में गंगा जल मिलाकर लगभग 6 घंटे तक रखा और पाया कि इसमें हैजे के सभी कीटाणु समाप्त हो गए हैं। फ्रांस के जाने माने वैज्ञानिक डा० हेरेल ने भी गंगा जल का विस्तृत अध्ययन किया है और उन्होंने इसमें अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है।

"गंगा" भारतीय लोक मानस से काफी गहरे तक जुडी हुई है। इसके तट पर पहुंच कर भक्तों के हृदय में आस्था की तरंगे और भी तीव्रतर होकर उठने लगती हैं। देखिए

भोजपुरी लोकगीत के इस मुखड़े में प्रि तम के वियोग से क्लांत नायिका मां गंगा से किस प्रकार उसके प्रियतम से मिलाने के लिए मनौतियां मान रही हैं :–

"हे गंगा मैया तोहे पियरी चढ़इवों, सैंया से करदे मिलनवा"

गंगा स्नान :– वैसे तो संसार के प्रत्येक देश में स्नान की सुदीर्घ परम्परा रही है, लेकिन भारतीय संस्कृति के संदर्भ में इसके अक्षुण्ण महत्व से शायद ही कोई अपरिचित हो। स्नान केवल सौन्दर्य को संवारने या हास-विलास के अन्तर्गत एक अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में ही नहीं आता है, वाह्य स्तर पर यह शरीर के रोम कूपों को धूल धक्कड़ से मुक्त करने के उपाय के रूप में हैं और आन्तरिक स्तर पर रजोगुण रूपी नन्हें तथा सूक्ष्म विकार कणों से मुक्ति पाने का सर्वप्रिय एवं सुलभ साधन है।

दो हजार वर्ष पूर्व मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में जिस प्रकार के सुसज्जित स्नानगृह पाये जाते हैं और उनमें की गई जल निकास की व्यवस्था जहां आधुनिक तकनीक के लिए भी उत्सुकता का विषय बनी हुई है, वहीं यह तात्कालिक रूप से लोगों की स्नान प्रियता का भी परिचय देती है। इस उन्नत व्यवस्था का साक्ष्य यह सिद्ध करता है कि स्नान उस दौर की सभ्यता का एक मुख्य अंग बन चुका था। अपने घर की साफ-सफाई के साथ ही शरीर की सफाई का महत्व भी लोगों की समझ में आ गया था। इतना ही नहीं, स्नान हडप्पा कालीन संस्कृति का अनिवार्य अंग भी बन चुका था, तभी इतनी विस्तृत तकनीक का आविष्कार सम्भव हो पाया।

हिन्दी के शीर्षस्थ निबंधकार श्री कुबेर नाथ राय स्नान को पंचम पुरूषार्थ का सहोदर मानते है। उनका कहना है कि वैष्णवों ने चारों पुरुषार्थों से परे ईश्वर के साक्षात्कार को पंचम पुरषार्थ रूप में देखा है ठीक वैसे ही जैसे काशी के पंडितों ने गोस्वामी तुलसीदास जी के श्रीराम चरित मानस को अपने कूट परीक्षण के बाद पंचम वेद के रूप में माना है। स्नान की सुखद अनुभूति भी ईश्वर साक्षात्कार के क्षण-भोग जैसी ही होती है। जल आदि भूत है या "सृष्टिः स्त्रष्टु राधा... रूप में परमात्मा की प्रथम भौतिक मूर्ति है। स्नान के समय इसका सम्पर्क आदि भूत के साथ एकाकार होने की चेष्टा करने जैसा है। वस्तुतः स्नान करते समय हम अनुभव करते हैं कि भीतर ही भीतर आत्मा भी तरल होकर प्रवाहमयी बन गयी है।

फिर गंगा स्नान के क्या कहने? यह बात अलग है कि सांसारिक आसक्ति एवं पापाचार में गले गले तक डूबा हमारा मलिन-मानस इसकी ताजगी और हलकेपन को उतनी गहराई या अंतरंगता के साथ अनुभव न करे, लेकिन सामान्यतः गंगा स्नान उस विराट पुरूष के जीवन्त सम्पर्क के आनन्द से कतई कम नहीं है। स्नान करते समय हमें लगता है भीतर-भीतर आत्मा भी तरल होकर प्रवाहमयी बन गयी है। फिर गंगा स्नान के क्या कहने, अवसर चाहे कुम्भ का हो या मकर संक्रांति अथवा कार्तिक पूर्णिमा का। विश्व का विराट जन मानस इसकी पावन लहरों में अपनी सनातन आस्थाओं की पुष्पांजलि भेंट कर स्वयं को कृत कृत्य अनुभव करता है। हरिद्वार हो या बिठूर, प्रयागराज हो या काशी, गंगा स्नान के लिए श्रद्धालुओं का समुद्र सा उमड़ पड़ता है। फिर हरिद्वार में हर की पौड़ी पर स्नान का महत्व अलग ही है हरिद्वार वह स्थान है जहां से शेष-शायी विष्णु का सत्ता क्षेत्र प्रारम्भ होता है, कदाचित इसीलिए इसे हरि+द्वार अर्थात् हरि के द्वार की संज्ञा से विभूषित किया गया है। कुम्भ की पुण्य दायिनी वेला में गंगा तट पर एकत्रित भाव-प्रवण जन-मानस को लेखक के सहस्त्र-सहस्त्र प्रणाम––

"गंगा धाः सप्तिः सर्वास्तीर्थानि च हृदाश्च ये।
प्रगृहीत मया दत्त मर्ध्यं सम्यक प्रसीदे च।।"

भगवद् गीता में अर्जुन द्वारा पूछे जाने पर वासुदेव श्रीकृष्ण अपनी विभूतियों का वर्णन करते हैं : मैं आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में सूर्य, मरुतों में मरीचि, नक्षत्रों में चंद्रमा, वेदों में सामवेद, देवों में वासव, रुद्रों में शंकर, धनपतियों में कुबेर, और शिखरिनों में मेरू हूं। (अध्याय 10, श्लोक 20 से 23) इस अध्याय का यदि गहराई से अध्ययन किया जाये, अथवा जैसा कि अंग्रेजी मुहावरा है, इन पंक्तियों के बीच में पढ़ा जाए तो यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि गिनाई गई विभूतियाँ गीता के रचनाकाल के चमत्कार या आश्चर्य थे।

कहा गया। महाभारत के अनुसार "सभी देवी देवता उसी पर्वत पर रहते हैं। वह इलावर्तवर्ष (भारतवर्ष के पश्चिम का वर्ष या महाद्वीप) के मध्य में स्थित समस्त प्राणियों के सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का निवास है। नक्षत्रों सहित सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन निश्चल मेरूगिरि की प्रदक्षिणा करते रहते हैं। दैत्यों सहित शुक्राचार्य मेरू पर्वत के ही शिखर पर निवास करते हैं। यहां के सब रत्नमय पर्वत और धनकोष उन्हीं के अधिकार में हैं। भगवान कुबेर उन्हीं से धन का चतुर्थ भाग प्राप्त करके उनका सदुपयोग करते हैं" (आदि० 17/5–13 तथा 99)।

मेरू पर्वत--प्राचीन विश्व का एक आश्चर्य

यमुना दत्त वैष्णव "अशोक"

श्लोक 24 में "गिरामस्म्येकमक्षरं" (मैं वाणी में एक अक्षर हूं) तथा श्लोक 33 में "अक्षराणामकारोस्मि" (मैं अक्षरों में 'अ' हूं)। इन दो पदों से स्पष्ट है कि गीता के रचयिता विद्वान के समय में लिपि और लेखन कला का ज्ञान लोगों को था। शिखरिन विशेषण शब्द का संस्कृत शब्दकोष में अर्थ है नुकीला, चोटी वाला और संज्ञा शब्द का अर्थ है मणि माला के बीच का दाना। भगवद्गीता के बाद रचे गये पुराणों में पुराणकारों ने शिखरिन को शिखर मान लिया और मेरू को मात्र मेरू कहना उचित न समझकर महामेरू, सुवर्णमय मेरू और सुमेरू नाम देकर यह कथा गढ़ डाली कि मेरू चौरासी हजार योजन की ऊंचाई तक खड़ा और इतने ही योजन तक पृथ्वी के भीतर घुसा हुआ है। भागवत और मारकण्डेय पुराण में मेरू पर्वत को सोने और रत्नों से भरा अपने तेज से सूर्य को भी तिरस्कृत करता हुआ

सुमेरू

पौराणिक अतिशयोक्ति के बावजूद हमें मेरू के अतीत के विषय में यह उपादेय जानकारी मिलती है कि वह इलावर्त अर्थात् इलाम भू भाग में स्थित था और उस पर असुर (अस्सीरिया) देश के शासक का अधिकार था।

अस्सीरिया के प्राचीन इतिहास में मेरू का सन्दर्भ ढूंढते ही हम उस सुमेर साम्राज्य पर पहुंचते हैं जिसके विषय में इतिहासकार एच० जी० वेल्स लिखता है "संभवतः विश्व के नगर बसाकर सभ्य जीवन यापन करने वाले पहले लोग सुमेरियन हैं। वे लिखना पढ़ना जानते थे। मिट्टी की बटिकाओं को खुरचकर लिखे उनके अनेक दस्तावेज पढ़ लिए गये हैं। सुमेरी भाषा ईसा के जन्म से पाँच-छः हजार वर्ष पहले पूर्वी भारत से योरोप में आइबीरिया (स्पेन, पुर्तगाल), वास्क और मध्य अफ्रीका तक की भाषा थी। सुमेरी लोग दाढ़ी और मूंछ मुड़ायें रहते थे। शरीर पर ट्यूनिक-सा सादा ऊनी वस्त्र पहनते थे, (बुक–3, 16 द डान आफ हिस्ट्री)।

सुमेरी लोग कब और कहां से आए इस सम्बन्ध में इतिहासकार आर्थर जे० टायनबी की धारणा सर्वाधिक प्रामाणिक समझी जाती है। उसी के शब्दों में "आर्य जाति का वह सार्वभौम सुमेर राज्य पश्चिम एशिया के दक्षिण में ईसा पूर्व की पांचवीं सहस्राब्दी से कितने पूर्वकाल से था इसका हमें ठीक ठीक पता नहीं चल पाया है। सुमेरी साम्राज्य के पतन होने पर ही उसकी सामाजिक व्यवस्था को नष्ट होने से बचाने के लिये तथा सुमेरी भाषा को न जानने वाले विदेशियों से अपनी पहचान बनाये रखने के लिये सुमेरी अक्कद शब्दार्थ कोशों की रचना की गई थी। सुमेरी साम्राज्य के कप्पाडोसिया और अनातोलिया प्रदेशों से इसी समय आर्यों का महानिष्क्रमण मिस्र, भारत और योरोप की ओर हुआ।"

सात हजार वर्ष पहले

आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता आज से ढाई-दो हजार वर्ष पूर्व की यूनानी सभ्यता पर आधारित है। स्वयं प्राचीन ग्रीक सभ्यता का आदर्श था। उससे भी ढाई-तीन हजार वर्ष पहले से संस्कृति सम्पन्न मिस्र देश को यह सभ्यता सुमेर से ही मिली थी। मिस्र की प्राचीन इमारतों पर उनके पूर्वजों की भूमि का जो चित्र मिलता है उसमें सुगन्धित वृक्षों के नीचे बैलों के कई जोड़े खेत जोतते दिखाये गये हैं। मिस्र का पहला पिरैमिड चतुर्थ राजवंश के शासक खुफु ने ईसा पूर्व 3733 में बनाया। वास्तुकला में उससे भी विशालतर जिक्करात या जिक्कुरात ई० पूर्व 5000 में सुमेर में बन गये थे। पिरैमिड शब्द प्राचीन मिस्र के पिर --म–स शब्द का ग्रीक रूपान्तर है। इसका मूल सुमेरी भाषा ही है। पिरमस का संस्कृत रूप प्रमीत (मरा हुआ, मृतक, बलि चढ़ाया हुआ) आज भी संस्कृत शब्द कोषों में पाया जाता है। उत्तर-दक्षिण मिस्र को मिलाकर एक राष्ट्र

बनाने वाले मिस्र के प्रथम शासक नारमेरू (ग्रीक मीनिस, हिब्रू मीना) नाम भी सुमेरी भाषा का है। फराओं शब्द मिस्री चित्रलिपि में पुरू (घर) उरू (बड़ा) लिखा जाता था जिसका अर्थ था—बड़े घर का। मिस्र में देवताओं का पिता और सृष्टि का सृजनहार पिता कहा जाता था। यह भी संस्कृत पिता का मिस्री उच्चारण है।

ऊपर के श्लोकों में अक्षरों में अ और वाणी में एक को श्रीकृष्ण की आत्मविभूति बताया गया है। अ का भारतीय आदि रूप त्र, आर्मीनी या खरोष्ठी, मिस्री चित्रलिपि के अ या उ के अनुरूप है जो सभी पश्चिमी भाषाओं में अ अंक एक की ही भांति लिखा जाता था अर्थात् I

संस्कृत शब्दावली के मरू, कशिपु, इनु, इक्ष्वाकु, सुमेरू, मेरू, अगिरू, इरिदु, बाबेलु, आदि उकारान्त शब्द उसी अक्कद भाषा के हैं जो ईसा पूर्व की तीन सहस्राब्दियों तक योरोप, मिस्र (इजिप्ट), सीरिया, फीनिसिया, ईरान, आदि देशों की व्यापारिक सम्पर्क की भाषा थी। यह भाषा सुमेरू के उत्तर में स्थित अक्कद के नाम पर (एक्केडियन) अक्कदी कही जाती है। इस भाषा में प्रथमा विभक्ति या कर्त्ताकारक में अकारान्त संज्ञा शब्द उकारान्त हो जाते हैं। अतः मूलतः सुमेरु शब्द सुमेर तथा मेरू शब्द मेर है। स्वर मात्रा विहीन अक्कद भाषा में इतिहासकारों ने इन्हें मर, म्र, मरि, मृ, मरू, मारि आदि रूप में लिखा। भारोपीय भाषाओं में भी यह प्रवृत्ति रही है। मरू शब्द मृ मूल से बना है। कुबेर की पत्नी का नाम मरूजा है। भर्तृहरि शतक में मरू और मेरु एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं—तत्प्राप्नोति मरूस्थले नितरां मेरो ततो नाधिकम् (2/49)। पश्चिमोत्तर दिशा को मरूकोण कहा जाता है। इन्द्र देवता को मेरूपाल नहीं मरूपाल कहा जाता है। मरूत्वान भी उनका एक नाम है।

मारि

सुमेरी लोगों ने दजला-फरात नदियों के मध्य की भूमि को दलदलों से साफ करके नहरें निकाल कर खेती के योग्य बनाया, जल वितरण की व्यवस्था की। यह कार्य उन्होंने उस प्रलय के बाद किया जिसकी कथा शतपथ ब्राह्मण, सुमेर के जल प्रलय उपाख्यान गिल गमिश और यहूदी बाइबिल में नूह तथा मत्स्य पुराण में मनु की कथा के रूप में वर्णित है। जल प्रलय फिर न हो जाये इसलिये सुमेरी लोग आकाशीय पिण्डों की गतिविधि का सूक्ष्म अध्ययन करने लगे। भूमि के क्रय-विक्रय, कर्मचारियों के वेतन आदि तथा व्यापारिक माल के लेन-देन के लाखों अभिलेख सुमेर के प्राचीन पुर राज्यों के उत्खनन से प्राप्त हुए हैं। ये अभिलेख दियासलाई की डिबिया के आकार की मिट्टी की बटिकाओं (क्यून फार्म टेब्लेट्स) पर कील से खुरचे अक्षरों में अंकित हैं। अंकन के उपरांत बटिका को आग में पकाकर स्थायी रूप दे दिया गया है। सुमेरी लोगों ने दिन और रात के समय को 60 बराबर बटिकाओं और प्रत्येक बटिका को 60 पलों और प्रत्येक पल को 60 विपलों में विभाजित कर पृथ्वी की परिक्रमा के वृत्त को 360 अंशों में विभक्त करने की विधि निकाली। उनकी गणना का आधार साठ था जो आज भी अनेक देशों में प्रचलित है।

सुमेरू साम्राज्य के नगर राज्यों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का लाभ उठा कर सारगोन नामक अक्कद के शासक ने (2350 ई० पू०) अनेक सुमेरी नगर राज्यों को अपने अधिकार में करके भूमध्य सागर से फारस की खाड़ी तक अपने साम्राज्य का विस्तार किया। कालान्तर में हम्मुरवि नामक शासक ने निपपुर, इरिदु, उर, सिपपार, एरिच, इसिन, लुगाश, अगदे, अश्शुर आदि नगर राज्यों को मिलाकर एकछत्र राज्य स्थापित किया और अन्तिम सुमेरी शासक जिमरी लिम को हराकर उसकी राजधानी मेरू (आजकल का मारि) पर अधिकार कर लिया। मारि लगभग 3700 वर्ष विस्मृति के गर्त में पड़ा रहा। पिछले पांच दशकों की खुदाई के फलस्वरूप इस प्राचीन नगरी का पता चला। आधुनिक काल में मारी या मारि के खण्डहरों का उत्खनन पुरातत्व की सबसे बड़ी उपलब्धि मानी जाती है। इससे मानव जाति के प्राचीन इतिहास में एक नया अध्याय जुड़ गया है। सुमेरी लोगों को सभ्यता के पथ पर सिन्धु, मिस्र, और बाबेलु से बहुत आगे कर दिया है।

मारि ही भारतीय मेरू

अधिकांश बटिकायें उस विशाल खण्डहर से प्राप्त हुई हैं जो मारि या मेर के नगर राज्य के जिमरी लिम नामक शासक का महल था। तीन सौ कमरों के उस विशाल महल की दीवारों पर मनुष्यों, देवी-देवताओं और पशु-पक्षियों के रंगीन चित्र हैं। कुछ का रंग-वार्निश आज पांच हजार वर्ष बाद भी अद्भुत चमक लिये है। महल 6 एकड़ भूमि में बना है। एक कमरे की दीवार पर राजा को अपनी इष्ट देवी की पूजा करते दिखाया गया है। महल के निर्माण करने के व्यय के अभिलेख, हर कमरे की नाप-जोख और उसमें रखे गये काष्ठोपकरण का ब्यौरा भी प्राप्त हुआ है। दो कमरे ऐसे मिले हैं जिनमें छोटी-छोटी पीठिकाओं के आगे पाटी पर कीलाक्षरों की लेखन-सामग्री मेखें और बिना पकी अभिलिखित बटिकायें मिली हैं। यह राजकुमारों की पाठशाला लगती है। रणिवास के कमरों में रत्न जटित आभूषण, स्वर्ण हार, बाजूबन्द चूड़ियां स्वर्ण पात्र, हाथी दांत के शृंगार दान और उबटन आदि की सामग्री मिली है।

महल में जल निकास की सुन्दर व्यवस्था है। दरवाजे मेहराबदार चौखटों के हैं और महल के तहखानों का निर्माण भी मेहराबदार बुनियाद पर पकाई गई ईंटों और पत्थरों से हुआ है। छतें ग्लेज्ड खपरैलों की बनी हैं। भवनों की विशालता और उनमें पाये गये सोने, बहुमूल्य रत्नों और दूर-दूर देशों से लायी गयी कलात्मक वस्तुओं के संग्रह से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि सुमेर साम्राज्य के नगर राज्यों की मणिमाला का मध्यवर्ती और उन सबमें सम्पन्न यही मारि नगर राज्य भारतीय पौराणिक गाथाओं का मेरू है।

उत्खनित अभिलेख

इस नगरी के खण्डहरों से लायाई नामक पुरातत्व खनक ने 24000 से

अधिक मृद् बटिकायें ब्रिटिश म्यूज़ियम को लाकर दी है। कुछ बटिकाओं का सम्पादन फ्रान्सीसी पुराविद आन्द्रे पैरेट ने दो खण्डों की अपनी पुस्तक "ले प्रिचुरे द् पैलेस दे मेरू" (टोरन्टो 1937–1939 में प्रकाशित) में किया है। इस पुस्तक से प्रकट होता है कि सुमेरी वैदिक आर्यों के तीन हजार वर्ष पहले के पुरखा थे। पुस्तक की कुछ बातों को यहां देना अप्रासांगिक न होगा

देवी देवता

मूल सुमेरी देवता जिसकी निपपुर में मान्यता थी, वह अन था। अन–तु प्रमुख देवदासी की उपाधि होती थी और अन–सि देव भूमि के रक्षक अर्थात् राजा की। कालान्तर में असीरिया में अन का स्थान अशुर (असुर) ने और बेबीलोन में मार्दुक (मरूत) ने ले लिया। अन का पुत्र अन–लिल वायुदेव था। अन स्वर्ग का शासक माना जाने लगा और अनलिल पृथ्वी का, तथा अनकी पाताल का। आन्द्रे के इस विवरण से स्पष्ट है कि आज जिस अनिल (वायु) शब्द से संस्कृत मूलक भाषायें परिचित है वह सुमेरी भाषा के अनलिल का ही एक रूप था। संस्कृत शब्द कोश में पांच प्रकार की वायु का उल्लेख है—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। ये सब सुमेरी अन शब्द पर प्र, अप, सम और उद, वि उपसर्ग लगा कर बने है।

कुछ बटिकायें सुमेरी शब्दों में लिखी हुई किन्तु अक्कदी लिपि में हैं। कुछ सुमेरी शब्दों के अस्सीरियन तथा हुरियन शब्दार्थों से संबंधित है। इन शब्दार्थ कोशों की आवश्यकता साम्राज्य पर सेमिटिक जाति के आक्रमणों के समय पड़ी होगी। इतिहासकार टायनबी के अनुसार मेरू नगरी को सेमिटिक आक्रमणकारियों ने ईसा पूर्व की 17 वीं सदी में ध्वस्त कर दिया। सुमेरी भाषा 1500 ई० पू० के बाद जीवित भाषा नहीं रही। अगले 1200 वर्ष तक अक्कदी भाषा अन्तर्राष्ट्रीय भाषा बन गई। ईसा के जन्म के बाद वह भी मृत हो गई और कभी-कभी कर्मकाण्डों के अवसर पर अगले दो ढ़ाई सौ वर्ष तक उसका उपयोग हुआ मिलता है।

सुमेरी भाषा में सभी मूल क्रिया धातु एक पक्षीय थे। माँ के लिये अम्मा, पिता के लिये अद्दा शब्द था। क्रियायें लिंग के अनुसार बदलती नहीं थी। लौकिक संस्कृत की सात विभक्तियों के अतिरिक्त एक और विभक्ति जिम (सम या जैसे के लिये) थी। द्रष्टव्य है कि यह जिमि रामचरित मानस में आज भी उपलब्ध है। बहुवचन के लिये एकवचन के शब्द को दो बार लिखने की प्रथा थी। यथा कुर सुमेरी में देश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कुरकुरा अनेक देशों का बोधक है। यह बहुवचन की पद्धति बंगला भाषा में आज भी मिलती है। कर्म कारक की विभक्ति 'र' या 'शु' है, करण की 'द', अपादान की विभक्ति 'त' है और सम्बन्ध कारक की 'अक'। यही प्रयोग अनेक ग्रामीण अंचलों में उत्तर भारत में आज भी मिलते हैं। फिलाडेल्फिया विश्वविद्यालय ने सुमेरी भाषा के शब्दकोष का पहला खण्ड दिसम्बर 1984 में विमोचित किया। अमेरिका सरकार से प्राप्त अनुदान से इस कोष के निर्माण का कार्य 1976 में आरम्भ हुआ था। यह 18 खण्डों में प्रकाश्य शब्दकोष इस सदी के अन्त तक पूरा हो पायेगा।

सुमेरी साहित्य के इन प्राचीन अभिलेखों से पता चलता है कि वे संसार के प्रथम ज्योतिषी, गणक, लिपिकार, भू-सर्वेक्षक और रासायनिक थे। भूमि के क्रय-विक्रय, कर्मचारियों के वेतन आदि तथा व्यापारिक माल के लेन-देन के लाखों अभिलेख सुमेर के प्राचीन पुर राज्यों के उत्खनन से प्राप्त हुए है। फिलिप के० हिट्टी अपने "सीरिया का इतिहास" नामक ग्रन्थ में लिखता है : "द पैलेस आर्किटैक्चर रिवील ए स्टेट आफ कल्चर अन्ड्रैम्ट आफ बिफोर एण्ड राइवलिंग दोज आफ इजिप्ट एण्ड मैसोपोटामिया" (राज प्रासाद का स्थापत्य संस्कृति के उस उच्च स्तर का द्योतक है जो प्राचीन मिस्र और बेबीलोनिया से होड़ लेता है। सुमेर के सम्बन्ध में इसकी कल्पना तक नहीं की गई थी)।

ईसा के जन्म के तीन हजार वर्ष पहले से ही मेरू (मारि) उस प्राचीन राजमार्ग पर था जो पश्चिम में मिस्र, उत्तर में दमिश्क होते हुए दक्षिण योरोप, पूर्व में गांधार मध्य एशिया और दक्षिण में फारस की खाड़ी की ओर के सार्थ पथों से जुड़ा था। तब सभ्य संसार को पूर्व भारत और पश्चिम में लीबिया (अफ्रीका महाद्वीप का उत्तरी भाग) तक का ही भूगोल ज्ञात हुआ। इस भू-भाग के केन्द्र-स्थल पर मारि या मेरू एक ऐसी ही व्यापारिक मण्डी रही होगी जैसी मुगलकाल में भारत के लिए सूरत (महाराष्ट्र) की नगरी हो गयी थी। इस नगर से आयातित तम्बाकू आज भी उत्तर भारत के ग्रामीण क्षेत्र में सूरती कहा जाता है। सूरती की ही भाँति की एक नशीली शराब जो मेरू से आती थी हमारे प्राचीन ग्रन्थों में मैरेय कही गयी है। दूसरी प्रमुख वस्तु अगरू थी, यह शब्द सुमेरी देव मन्दिर के पूजा स्थल अगिर में जलने वाली धूप (धूम वस्तु) से बना है। इसी धूम वस्तु को अंग्रेजी में मेर के नाम पर मिर्र और संस्कृत में मेरू या मेर कहा गया है। अरबी में भी मिर शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है।

वाट संस्कृत में परिवेष्टित निवास स्थल को कहते हैं। घर का बोधक बंगला भाषा का बाड़ी शब्द वाट के स्त्रीलिंग वाटी से व्युत्पन्न है। जिक्कुरात की कलगी या शिखरिणी पर बना आवास संस्कृत में शिखरवाट कहलाया जाता होगा, जिसे ग्रीक इतिहासकारों ने जिक्कुरात या जिग्गुरात रूप दे दिया। जिक्कुरात के शिखर पर बने इस कक्ष से आदि सुमेरी आकाशीय पिण्डों का निरीक्षण करते थे। कालान्तर में सुमेर के अतिरिक्त सीरिया, असीरिया और बाबेलु में भी जिक्कुरात बने और शिखरिणी पर बना यह कक्ष मन्दिर की पुजारिन का आवास बना। पुजारिनें राजवंश की होती थीं। राजा को प्रतिवर्ष अपना राजस्व प्राप्त करने के लिए "अकितु" संस्कार में सम्मिलित होना पड़ता था और पुजारिन के साथ सहवास करके अपने पुंसत्व को प्रमाणित करके ही उसका राज्याभिषेक होता था।

भारतीय पुराणों के कुरू (साइरस), पुर (पुरू उरु-फिरग्रोन), धारयेत वसु (दारयवहुश–डेरियस), असुर बाण (अश्शुर वाण–इ–पाल), पार्थ अर्जुन (पार्थियन अर्तवन), कम्बुज (कैम्बेसिस) आदि को ऐतिहासिक सत्यता के ऊपर पड़ा पौराणिक कल्पना का स्वर्णिम आवरण अब उतर गया है। मेरू और सुमेरू (मारि और सुमेरिया) के विषय में योरोप और अमरीका के प्राच्य विद्या संस्थानों में इतनी अपार सामग्री एकत्र है कि यह अटकल लगाना कि मेरू अफ़्रीका में स्थित किलिमंजारो की टूटी हिमश्रेणी है, अथवा कैलास पर्वत के पार स्थित कोई सुनहरी चोटी बौद्धिक जागरूकता के अभाव का द्योतक होगा।

धर्म, संस्कृति और राष्ट्रीय एकता

—डॉ० कैलाश नाथ द्विवेदी

भारतवर्ष आदिकाल से अपने जिन उत्कृष्ट उपादानों से महिमा-मंडित होकर जगत् में जीवन्त है, उसमें उसकी राष्ट्रीय एकता पर आधृत विरासत में प्राप्त, अखण्ड धार्मिक भावना एवं अक्षुण्ण संस्कृति उल्लेखनीय है। संस्कृति की सर्वांगीण समुत्कर्षपूर्ण समृद्धि में भावात्मक राष्ट्रीय एकता ही सचेतन रूप में बद्धमूल है, जो धर्म, दर्शन, कला, ज्ञान, विज्ञानादि अपने विविध अंगों को समाहित किए हुए है।

भारतीय संस्कृति एवं संस्कृत साहित्य में "र्म" शब्द लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदयदायक जैसे अतिव्यापक अर्थ में प्रयुक्त होकर "मजहब", रिलीजन, पंथ, सम्प्रदाय आदि अन्य शब्दों की अपेक्षा अधिक सार्वजनीन, व्यापक तथा उत्कर्षपूर्ण है। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, कुल-धर्म, गुरू-धर्म, शिष्यधर्म, राज-धर्म, प्रजा-धर्म आदि से समन्वित "मानव-धर्म" है जो संस्कृत में सामान्य धर्म के अन्तर्गत ग्रहण किया जाता है। इसकी सामान्य रूपरेखा अधोलिखित है —

**"धर्मस्तस्य लिंगानि दमःक्षान्तिरहिंसत।
तपोदानं शीलंच योगो वैराग्यमेव च॥
अहिंसा सत्यवादित्वमचोर्यत्यक्त कामता।
निष्परिग्रहता-चेतिप्रोक्ता धर्मः सनातनः॥"**

संस्कृति के प्राणभूत धर्म को "त्रिवर्ग" का सार स्वीकारा गया है जिसको राष्ट्रीय एकता प्राप्ति हेतु संतुलनपूर्वक, समत्व रूप से, सर्वदा सेवन करना चाहिए, जैसा कि महाभारतकार का निर्देश है— "धर्मार्थकामा समयेच सेव्याः यो ह्येकसक्तो सनरोजधन्यः॥ (शान्तिपर्व)॥

हमारी संस्कृति में राष्ट्रीय जीवन के असंख्य धर्म हैं जो कभी न जीवन को और न परस्पर धर्म को ही बाधित करते हैं। जैसा कि कहा गया है—

"धर्म, यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुधर्म तत्।
अविरोधात् तु यो धर्मः सधर्मः सत्यविक्रमः॥
("महाभारत")।

यही कारण है, हमारी संस्कृति में वैदिक, पौराणिक, वैष्णव, शैव, जैन, बौद्धादि अनेक धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ जिनमें पारस्परिक विरोध नहीं है। इस बहुशाखीय धर्म को हमारी संस्कृति से अभिन्न मानकर अनिवार्यतः प्राण-पण से पालन करने का परामर्श दिया गया है—

**"तैस्तच्छरीरमुत्सृष्टं दर्ममेकोनुगच्छति।
तस्माद्दर्मः सहायश्च सेवितव्यः स नृभिः॥"
"न जातु कामान्न भयान्न लोभात्, धर्म जह्यात् जीवीतस्यापि हेताः॥" (महाभारत)**

विश्व कवि श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर ने राष्ट्रीय एकता की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठित धर्म को संस्कृति का पर्यायवाची स्वीकार किया है। टी० एस० इलियट जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने भी धर्म को संस्कृति से अभिन्न मानते हुए पौरस्त्य विद्वानों जैसे विचार व्यक्त किए हैं—

"रिलीजन एज ए होल वे आफ लाइफ आफ ए प्यूपिल फ्राम बर्थ टु दि ग्रेव, फ्राम मोनिंग टू नाइट एन्ड इविन इन स्लीप एन्ड दैट वे आफ लाइफ इज आलसो एविजक्ट कल्चर" (नोट्स टुवर्डस डेफिनीशिन आफ कल्चर—31)।

जब धर्म मात्र जीवन का एक सुन्दर साधन भूत मार्ग है तो इसकी विविधता, सूक्ष्मता तथा सार्वजनीनता, संस्कृति एवं राष्ट्रीय एकता से सदा अविरोधी है क्योंकि कहा गया है—"सूक्ष्मागतिर्हि धर्मस्य बहुशाखा ह्यनन्तिका।" तथा धारणाद् धर्म इत्याहुः धर्मों धारयति प्रजाः॥" (महाभारत)।

जिस प्रकार धर्म जीवन का एक मार्ग है, उसी प्रकार संस्कृति भी मानव जीवन-पद्धति से भिन्न नहीं है। जिसमें उसके सर्वश्रेष्ठ सफल तथा साधनापूर्ण समवेत प्रयास समाहित रहते है। दूसरे शब्दों में मानव जीवन की धर्ममय श्रेष्ठ साधनाओं या समुपलब्धियों को संस्कृति कहा जा सकता है। जैसा कि टी० एस० इलियट और ई० बी० टाइलर जैसे पाश्चात्य विद्वानों ने समर्थित किया है —

"कल्चर इज नाट मियरली दि सम आफ सैवरल एक्टिविटीज बट द वे आफ लाईफ" (नोटस टुवर्ड्स दी डेफनीशन आफ कल्चर)

"कल्चर इज देट कम्प्लैक्स होल विच इन्क्लूड्स नौलिज, बिलीफ, आर्ट, मोरल्स, ला, कस्टम्स एन्ड अदर कैपेबिलटीज एन्ड हेबिटस एक्वायर्ड बाई मैन एज ए मेम्बर आफ सोसाइटी" (ई० बी० टाइलर, कल्चर एन्ड सोसाइटी)।

डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने संस्कृति को मनुष्य के भूत, वर्तमान और भावी जीवन का सर्वांगपूर्ण प्रकार स्वीकार किया है। वस्तुतः धर्म के समान ही इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक तथा प्रयोजन महान् है। मानव जीवन को राष्ट्रीय एकता पर आधारित व्यक्तिगत, आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक साधना के परिष्करण द्वारा परम अभ्युदय अधिगत कराने वाली सरणि ही संस्कृति है।

धर्म एवं संस्कृति वस्तुतः अभिन्नतया राष्ट्रीय एकता के प्रतिपादक एवं पोषक तत्व है जो सार्वभौम एवं सनातन तथा सार्वजनीन है, जिनमें रीति-रिवाज, जाति-पांति, वेश-भूषा, क्षेत्र, प्रान्तादि के वैषम्य का कोई प्रश्न ही नहीं है। समान धार्मिक एकतापूर्ण सांस्कृतिक धरातल पर प्रतिष्ठित राष्ट्र रूपी मन्दिर, समान रूप से, सबका पूज्य तथा सेवनीय है। जैसे—अनेक दीवारें, अनेक आले, अनेक देहलियां, अनेक मार्ग और स्तम्भ होते हुए भी एक मन्दिर का रूप देते है, वैसे ये बाह्य वेश, भूषा, रीति, रिवाज, धर्म, उत्सव,

भाषागत विभिन्नता, विभिन्नता न होकर राष्ट्रीय संस्कृति की एकतामयी बांकी झांकी बनाते हैं ।

आसेतु हिमालय हमारे देश में समान सांस्कृतिक परम्पराएं—प्रणाम, मंगलाचरण, शकुन, स्वस्तयन अभिषेक, मन्त्रपाठ, मंगलवाद्य, गीति, लाजा, अक्षत आदि प्रचलित हैं जो हमें राष्ट्रीय एकता के प्रति उद्बुद्ध करते हैं। हमारे पावन वैदिक धर्म एवं संस्कृति में मनसा वाचा कर्मणा, एकता एवं समन्वय स्थापित कर राष्ट्रीय एकता को समानता की सुदृढ़ सतह पर समारूढ़ करने का श्लाघनीय प्रयास किया गया है। वैदिक ऋषि का समानता-मूलक यह मूल मन्त्र राष्ट्रीय एकता का कितना सम्पोषक सिद्ध हो सकता है—

"समानो मंत्रः समितिः समानी, समानं मनः सह चित्तमेषां।

समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।"

ऋग्वेद 10/191/3

हमारी संस्कृति में अद्वैत वेदान्त दर्शन जगत् भर के जीव-जीव में समान आत्मा का ही नहीं, अपितु जड़ चेतन में भी समत्व बुद्धि से दर्शन करता है। इससे बढ़ कर राष्ट्रीय एकता का प्रतिपादक सांस्कृतिक तत्व कौन हो सकता है, जहां जाति, धर्म, प्रान्त, वेश भूषागत समस्त बाह्य सीमाएं एवं संकीर्णताएं स्वतः समाप्त हो जाती हैं। राष्ट्रीय एकता के सम्पोषक तत्वों में धर्म, भाषा तथा साहित्य की एकता, आर्थिक जीवन (आजीविका) की एकता आदि तत्वों की अपेक्षा राजनीतिक एकता की महत्ता सर्वथा निर्विवाद है, जैसा कि गिल क्राइस्ट का यह विचार समीचीन कहा जा सकता है—

"पोलिटिकल यूनियन, आइदर पास्ट आर फ्यूचर, इज वन आफ दि मोस्ट मार्क्ड फीचर्स आफ नेशनल्टी, सोमार्क्ड इन्डीड दैट आफ दि वैरियस यूनिटीज इट में आलमोस्ट बी सेड टु बी दि वैरी इसेंशियल (प्रिन्सिपल आफ दि पोलिटिकल साइन्स) (पेज-31)।

जाति, भाषा, प्रान्त, परम्परा, वेश-भूषा खान-पान में विभिन्नता होते हुए भी हमारे राष्ट्र में गहरी सांस्कृतिक अखण्डता तथा भावात्मक एकता रही है जिससे राष्ट्रीय एकता, राजनैतिक एकता द्वारा सरलता से सुदृढ़ होकर संपुष्ट हो सकती है। कविकुल गुरु कालिदास ने राष्ट्रीय एकता की व्यापक पृष्ठभूमि पर ही सांस्कृतिक, आध्यात्मिक एकता विधायक ऋषि-मुनियों के पावन आश्रमों, तीर्थों, मन्दिरों, नदीघाटों, मार्गों, राज्य सीमाओं के अभियानों के साथ आदिम जनजातियों का सोद्देश्य सुन्दर-चित्रण किया है। चाहे इन्दुमती स्वयवंर जैसा वैवाहिक रक्त सम्बन्ध हो या रघुदिग्विजय का महान् सीमान्त यौद्धिक अभियान, सर्वत्र राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक समुत्कर्ष के साथ संलक्षित होती है।

भारतीय संस्कृति, धर्म एवं जीवन दर्शन से, प्रभावित समस्त भारतीय जातियों का जीवन का उद्देश्य और आकांक्षाएं अभिन्न हैं। ऋषि मुनि, दार्शनिक, मनीषी अवतार एक है। साहित्य और कला की परंपराएं तत्वतः एक है। अखण्ड राजनैतिक एकता संरक्षित होकर इन समान सांस्कृतिक एवं धार्मिक विशिष्टताओं से राष्ट्रीय एकता परिपुष्ट ही होगी। अतएव राष्ट्रीय एकता के नियामक विविध ऐतिहासिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्मारकों, तीर्थों, मन्दिरों, मठों, आश्रमों, आदि का शासन द्वारा संरक्षण देते हुए राष्ट्रव्यापी पर्यटन हेतु जनता को प्रोत्साहन देना चाहिए। हमारे महान् धर्म तथा संस्कृति का वैशिष्ट्य ही इतना राष्ट्रीय एकता मूलक है कि उसने भारत को एक लोकतान्त्रिक स्वरूप प्रदान किया, जबकि हमारे पड़ोसी देश चाहे वह तमिल, सिंघली संस्कृति—युक्त लंका हो या बंगाली, पंजाबी, बलूची भाषा संस्कृति पूर्ण इस्लाम पर आधारित पाकिस्तान हो या बांग्ला देश, इनमें इतनी लोकतान्त्रिक भावात्मक राष्ट्रीय एकता और अखण्डता नहीं पायी जाती। हमें विश्वास है, भारतीय धर्म एवं संस्कृति सहिष्णुता, उदारता, करुणा, त्याग, क्षमा, विश्वबन्धुत्व आदि दिव्य धार्मिक गुणों पर आधारित होने के कारण हिंसापूर्ण विघटनकारी दुष्प्रवृत्तियों को हम चुनौती देते हुए अपनी राष्ट्रीय भावात्मक एकता एवं अखण्डता को अवश्य अक्षुण्ण बनाए रखेंगे, जिससे हम संसार को अपनी यह मंगल कामना सुना सकें—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु माकश्चित् दुखभाग् भवेत् ॥

भाषा और संस्कृति—आज के परिप्रेक्ष्य में

—जगदम्बी प्रसाद यादव

भाषा चिन्तन और अभिव्यक्ति का एक माध्यम है एवं विचार विनिमय का महत्वपूर्ण साधन है। इसी के आधार पर समाज का संगठन होता है। बिना भाषा समाज का निर्माण संभव नहीं। भाषा मानवी संस्कृति का एक अपार सागर है अर्थात् भाषा मनुष्य की संस्कृति रचना है। आत्मा और संस्कृति भाषाओं के विशेष स्वरूप को निर्धारित करती है। भाषा मानव की अनमोल निधि है। इसके अभाव में भाव मूक, विचार बधिर और व्यवहार लंगड़े बन कर रह जाते हैं।

भाषा मानव, स्थान, काल को जोड़ने वाली अद्भुत कड़ी है। इस कड़ी का प्रगटीकरण संस्कृति के रूप में भी तथा परंपरा के रूप में परिष्कृत होता है और कला के रूप में प्रतिध्वनित होता है।

भाषाओं की सामान्य और व्यापक आत्मा के समान ही एक विशेष संस्कृति भी होती है। संस्कृति मूलतः आत्मिक है। संस्कृति की रचना जीवन को समृद्ध बनाती है। संस्कृति का संबंध किसी जाति के बौद्धिक तथा मानसिक विकास से माना जाता है। जब कोई जाति विकास करती है तो अपना परिष्कार और सुधार करते हुए विशिष्ट गुणों को महत्व देने लगती है। गुण व्यक्ति या समाज को संस्कारों के रूप में मिलते हैं। संस्कृति मूलतः रहन-सहन, विचार-व्यवहार, खान-पान आदि एक विशेष पद्धति वाली सामूहिक इकाई है। इसकी छत्रछाया में सम्बद्ध समाज सुविधापूर्वक रहता है। संस्कृति उन मूल्यों, विचारों, दृष्टियों तथा नियमों का सामूहिक रूप है जिससे समाज विशेष के लोग नियंत्रित होते हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने कहा है कि सभ्यता का आंतरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अंतर के विकास का। डा० राधा कुमुद मुखर्जी ने लिखा है—

"भारत की सभ्यता और संस्कृति संसार के अन्य देशों की सभ्यता से अधिक प्राचीन और प्राणवान है। यह तथ्य इसलिए महत्वपूर्ण है कि बहुत कम देशों ने विदेशी जातियों के इतने हमलों का सामना किया जितना कि भारत ने। इस विशाल भू भाग पर आक्रमणों, युद्धों अथवा विजयों ने राज्यों और साम्राज्यों को संगठित या विघटित किया किन्तु भारतीयों के स्वभाव और चरित्र पर इसका आंतरिक प्रभाव नहीं पड़ा। विदेशी जातियों ने भारत पर हमले किए, पराजित भी किया किन्तु वे यहां की संस्कृति पर विजय प्राप्त नहीं कर सकीं। इसको अनुभव करके श्री इकबाल कह उठे—

यूनानो, मिस्र व रोमा सब मिट गए जहां से।

अब तक मगर है बाकी नामों निशां हमारा।।

कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी।

सदियों रहा है दुश्मन दौरे जमां हमारा।।

इस संस्कृति की विशेषता देखी जाए तो वह है प्राचीनता, निरन्तरता, आध्यात्मिकता और धर्म की प्रधानता। धार्मिक सहिष्णुता तथा विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ये भारतीय संस्कृति की अद्भुत विशेषताएं हैं। यही कारण था कि यहां अधिक धार्मिक चिन्तन हुए। इसमें समन्वय शक्ति की अद्भुत विशेषता है। बाहरी तत्वों को पचाने की क्षमता भारतीय संस्कृति का महत्वपूर्ण गुण है तथा गुण ग्राहयता इसका आधार है।

"वसुधैव कुटुमबकम", इसका धर्म है। मानव का सर्वांगीण विकास इसका धर्म है।

संस्कृति-समाज विशेष में जन्मती है, पनपती है और फलती है। संस्कृति के लिए समाज अनिवार्यता है तो समाज के लिए भाषा अनिवार्यता है। समाज और संस्कृति के बिना भाषा की सत्ता नहीं है। प्रत्येक भाषा का अपना समाज होता है। जिसमें वह व्यवहृत होती है। समाज है तो उसकी संस्कृति भी है। भाषा और संस्कृति साथ-साथ जन्मती है, साथ-साथ पनपती है और साथ-साथ उदात्तता को प्राप्त होती है। दोनों एक दूसरे की अभिन्न हैं, अन्योन्याश्रित हैं, एक दूसरे की परिचायक हैं।

पर्व-त्यौहार संस्कृति की खिड़की होती हैं। इसका धार्मिक, सामाजिक और व्यक्तिक महत्व है। इसी के कारण इसका संबंध भाषा से है। ये पर्व भाषा को मुहावरे देकर और लोकोक्तियों से सजाकर इसमें चार चांद लगाते हुए समृद्ध करते हैं।

प्रत्येक क्षेत्र के रीति रिवाज उस क्षेत्र की संस्कृति का अंग होते हैं। ये भाषिक अभिव्यक्ति के आधार हैं। गुनगुनाहट होटों से फूटकर कविता बन जाती है, तब साहित्य देवता का जन्म होता है। इस साहित्य का पिता भाव है और माताश्री भाषा है। इस तरह भाषा और साहित्य का अटूट संबंध है। साहित्य की सत्ता भाषा के बिना संभव नहीं और भाषा का सौंदर्य और उसकी सृजनात्मकता साहित्य बिना संभव नहीं।

संस्कृत भारत की मौलिक भाषा है—इसके संचार की दिशा पश्चिम से भारत की ओर नहीं बल्कि भारत से पश्चिम की ओर है। संस्कृत देश तथा अन्य भाषाओं की जननी है तथा हिन्दी इसकी मानस पुत्री है।

भारतीय संस्कृति का वाहन आज भारतीय राष्ट्रीय भाषाएं हैं। इसका रथ किसी भी तरह विदेशी भाषा नहीं हो सकती है। भारतीय संस्कृति को विदेशी आक्रांताओं से नहीं देशी प्रशासनिक तंत्र और श्रेष्ठ वर्ग से खतरा पैदा हो गया है। आज भारतीय संस्कृति का वाहन विदेशी भाषा जो देश को परतंत्र बनाकर लादी गई थी आजादी के वर्षों-वर्षों के बाद आगे बढ़कर बन गई है। भारतीय संस्कृति के तथाकथित नेतृत्व प्रदान करने वाले इस अंग्रेजी के साहित्य में पाश्चात्य संस्कृति को अपना समझने का भ्रम पाले हैं और यही भ्रम पालने के लिए दूसरों को भी बाध्य कर रहे हैं।

देश को राष्ट्रीय एकता, अखण्डता को जहां तहां चुनौती देने का प्रयास होता है और आज अनेक राज्यों को राजभाषा हिन्दी, जो संविधान की भाषा है, स्वीकार्य नहीं बल्कि अंग्रेजी स्वीकार्य है। प्रशासन, शासन, व्यापार, चिकित्सा, औद्योगिकी, प्रौद्योगिकी आदि की भाषा मात्र अंग्रेजी ही है। देश के भीतर और बाहर अपना कोई स्वतंत्र परिचय नहीं है। आश्चर्य है कि विदेशों में भारत सरकार ने यह घोषणा भी नहीं की है कि भारत की, संविधान की, भारत के गौरव की राजभाषा हिन्दी है। राजनेता, अधिकारी की देश एवं विदेश की भाषा मात्र अंग्रेजी है। भाषा ही नहीं, परिवेश, पोशाक आदि भी अंग्रेजी है।

देश में दो तिहाई आबादी राजभाषा हिन्दी को समझने में समर्थ है। संपूर्ण देश ग्रामीण अंचल तक हिन्दी सिनेमा देखता है, समझता है और गाना भी गुनगुनाता है। मात्र दो प्रतिशत की जानकारी वाले लोगों की भाषा संस्कृति 73 प्रतिशत भारतीयों पर लाद कर जोर से कहा जाता है कि राजभाषा हिन्दी लादी नहीं जा सकती।

स्वतंत्र भारत में अंग्रेजी माध्यम के स्कूल धड़ल्ले से खुलते जा रहे हैं जहां राम, रामा और कृष्ण, कृष्णा बनकर अर्थ का अनर्थ हो रहा है। क्या देश अपनी भाषा, अपनी संस्कृति को बिगड़ते देखता रहेगा?

देश की परम्परा, आचार व्यवहार जहां आचरण में प्रगट होता है उसकी वाणी उसको भाषा देती है। उसके इतिहास को जोड़ने का कार्य—उनके भाव को प्रगट करने का, सुख-दुख, आमोद-प्रमोद को मूर्त रूप देने का कार्य भाषा करती है।

अपनी भाषा के वाहन पर समाज, प्रदेश, देश की परंपरा तथा संस्कृति पुष्पित तथा पल्लवित होती है। भाषा वहां की नदियों, नालों, वनों, खेतों, पक्षियों, पशुओं, आबो-हवा की कहानी सरसता के साथ कहती हैं।

विश्व में 16 काम आने वाली भाषाएं हैं जिनके बोलने वाले 5 करोड़ से कुछ अधिक हैं। उनमें भारत ही ऐसा देश है जिसकी पांच भाषाएं ऐसी हैं जो विश्व की 16 भाषाओं में हैं। भारतीय भाषाएं बोलने वाले व्यक्ति भारत सहित 131 देशों में फैले हैं। भाषा के साथ भारतीयता और भारतीय संस्कृति भी यात्रा करती हुई उन देशों में पहुंची है।

हिन्दी ऐतिहासिक और सामाजिक कारणों से हमारी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनी। आँदोलन की भाषा के रूप में संघर्ष के बीच इसका विकास और विशिष्ट नैसर्गिक गुणों के कारण राजभाषा के लिए संविधान में स्वीकृत हुई, पर पदस्थापना अभी बाकी है। हिन्दी को भारत के हर क्षेत्र के मनीषा ने संवारा है और हर प्रदेश की भाषा ने इसे समृद्ध किया है। भाषा वहीं जीवित रह सकती है जो जनता द्वारा प्रयुक्त होती है। यह न तो विद्वानों द्वारा गढ़ी-मढ़ी जाती है, न कोशों द्वारा सिखाई जाती है। हिन्दी गतिशील और शुद्धिशील प्रकृति की है जिसका विस्तार होता रहा है। यह जनता की भाषा है, जड़ता की नहीं। हिंन्दी राजकाज की ही भाषा नहीं हमारी सांस्कृतिक संदेशवाहिका भी है। वैसे संस्कृति महिमा की दृष्टि से हमारी सभी भाषाएं समान हैं। राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय और राजकीय प्रयोजन के लिए इन भाषाओं के बीच अनेक विदित कारण से हिन्दी को अपने देश की प्रयोजनमूलक भाषा के रूप में स्वीकार करना पड़ा।

सत्ता के प्रभाव के माध्यम से इस सतह पर संगठित होने वाले वर्ग अपनी स्थिति बनाए रखने, अधिक सुदृढ़ करने, चलने के लिए साधारण जन समाज को अनेक प्रकार से भ्रमित करते रहते हैं। यह भ्रम पैदा किया जाता है कि हिन्दी अंग्रेजी का स्थान ले रही है। इस तरह के लोगों के पास पर्याप्त पैसा और सुविधाएं हैं। वे अपने बच्चों को अंग्रेजी अपेक्षतया अधिक सिखा सकते हैं जो सामान्यजन नहीं कर सकते।

विगत 35 वर्षों का इतिहास बताता है कि संविधान का पालन जिस पद्धति से हुआ है और हो रहा है वह अंग्रेजी और अंग्रेजियत को हमारे देश से दूर करने में समर्थ नहीं हो सका। राजभाषा और राष्ट्रीय स्मिता को वह स्थान नहीं दिया जा सका जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद मिलना चाहिए। अंग्रेजी के प्रचार के साथ अंग्रेजियत का भी प्रचार हुआ। अंग्रेजियत एक संस्कृति है, एक संस्कार है जो भारतीय जनता को बड़े आकर्षण के साथ आधुनिकता और विज्ञान के नाम पर सिखाया जा रहा है। अंग्रेज, अंग्रेजी और अंग्रेजियत—इनमें अंग्रेजियत सबसे घातक है, भारतीयों के लिए क्योंकि यह हमारे जातीय संस्कारों और राष्ट्रीय गौरव को ठेस पहुंचाकर उन्हें भुलवाने में सक्रिय है। म० गांधी जी इसीलिए अंग्रेजियत और अंग्रेजी को बहिष्कृत करना चाहते थे। इसके कारण हमारे देश में स्वभाषा, स्वसंस्कृति और स्वदेशाभिमान कभी उत्पन्न नहीं हो सकेगा।

यह ठीक है कि हिन्दी अपनी आभ्यांतरिक शक्ति से, अपनी सार्वभौम लोकप्रियता से, स्नेह से विकास के पथ पर निरन्तर प्रगति कर रही है। क्या भारत की भावात्मक एकता, अखण्डता के लिए इतना ही काफी है? आवश्यकता है कि संपूर्ण भारतीयों के आचार-विचार, रीति-नीति और साहित्य-संस्कृति को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली भाषा के रूप में राजभाषा को दुर्लभ सिद्धि प्राप्त हो।

वन देवियों की आराधना से ही मानव कल्याण

गिरिजा शंकर द्विवेदी

जिसे विश्व के वैज्ञानिकों ने बहुत बाद में समझा, भारत के प्राचीन तत्व दर्शियों ने वनस्पतियों में विद्यमान उस चेतना का बहुत पहले ही दर्शन कर लिया था। जिसे हम चेतना कहते हैं उसकी पृथक् पृथक जातियां नहीं होतीं। अतः मानव, मानवेतर प्राणियों और पेड़ पौधों के सुख-दुख में कोई तात्विक अन्तर नहीं है। अन्तर होता है उनकी मुखर और मौन अभिव्यक्तियों में। सुदूर अतीत से ही हमारे देश में संवेदनशील तथा आस्थावान् मनीषियों में वृक्षों व अन्य जन्तुओं के प्रति आत्मीयता स्वाभाविक रूप में रही है।

वनस्पति जगत की चेतना को हमारे ऋषियों-मुनियों ने जो सुकुमार मान्यता दी है उसे वन देवता या वन देवी कहा गया। ऋग्वेद के ऋषि ने बिना हल जुती, किन्तु विविध प्रकार की सुगन्धमयी, पोषण सामग्रियों से सम्पन्न वन देवी (अरण्यानी) की प्रशंसा की है वस्तुतः वन चेतना का मानवीकरण ही वनदेवी का व्यावहारिक व्यक्तित्व है। वनस्थली अपनी सघनता दुर्गमता और पोषक समृद्धियों के कारण वन्य जन्तुओं को पालती पोसती है। इसी को लक्ष्य करके विश्व के इस प्राचीनतम ग्रन्थ ने वन देवी को वन्य जन्तुओं की मां (मृगणां मातरम्) कहा है।

आदि कवि वाल्मीकि ने वन वृक्षों में स्पन्दित इस चेतना को और भी सजीव रूप प्रदान किया। उन्होंने उसे एक मानवपात्र जैसा रूप दे दिया है। मुनि विश्वामित्र आश्रम से प्रस्थान करते समय वन देवताओं से अनुमति लेते हैं (आमन्त्रय वनदेवताः), परिणाम यह होता है कि अपने अन्तरंग मानव के प्रति प्रेम-विह्वल सिद्धाश्रमवासी पशु पक्षी उनके पीछे पीछे चलने लगते हैं।

मृगपक्षिगणाश्चैव सिद्धाश्रम निवासिनः ।
अनुजग्मुर्महात्मानं विश्वामित्रं तपोधनम् ।।

रामा० 1–31–18

वाल्मीकि ने वनदेवियों में सुकुमारता, शालीनता और करुणा वृति आदि रमणी–जनों चित गुणों का संनिवेश किया है। मानव का उग्र रूप उनको काम्य नहीं है। राम ने जब खर नामक राक्षस की सेना का संहार करते हुए प्रलयकालीन अग्नि के समान विकराल रूप प्रकट किया उस समय उनको देखकर वनदेवियां व्यथित हो उठीं——

तं दृष्ट्वा तेजसाविष्टं प्राव्यथन् वनदेवताः।

रामा० 3–24–35

जब भद्र पुरुष के उग्र रूप से भी वे विकल हो उठीं तब ईतियों-भीतियों के प्रतिनिधि और अकाल रूप रावण की नृशंसता पर बेचारी वनदेवियों का भाग खड़ा होना नितांत स्वाभाविक था (प्राद्रवन् मृत्यु संकाशं भयार्ता वन देवताः)।

मनीषी और मनस्वी के हृदय में वन की अधिष्ठात्री देवियों के लिए प्रगाढ़ श्रद्धा, प्रेम और विश्वास होता है। मारीच द्वारा कपट मृग बनने के प्रसंग में राम पर विपत्ति की संभावना करके लक्ष्मण जब जाने लगे उस समय उन्होंने वन देवियों से जानकी की रक्षा की कामना की——

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः।

रामा० 3–46–7

लक्ष्मण और सीता सहित राम जब अयोध्या छोड़कर वन के लिए चले उस समय वहां की नारी के मन में बड़ी व्यथा हुई थी। किन्तु उनसे भी कहीं अधिक शोकाकुल हो उठीं थीं वनदेवियां जब उन्होंने रावण द्वारा हरण की गई सीता को तड़पते और बिलखते हुए देखा था। अपनी विलक्षण आखों से उस क्रूर दृश्य को बार-बार निहारकर वे इतनी भयभीत हो गईं कि उनके अंग-अंग कांपने लगे——

उद्वीक्ष्योद्वीक्ष्य नयनैर्भयादिव विलक्षणैः ।
सुप्रवेपितगात्राश्च बभूवुर्वनदेवताः ।।

रामा० 3–52–18

मानव के प्रति वनस्पति जगत की कारुणिकता और संवेदना ही है जिसे कवियों ने अपनी तरह से उजागर किया है। कालिदास ने इस वन चेतना को और भी चटख रूप––रंगों में अंकित किया। पशु-आराधना अर्थात् जीव-संरक्षण मानव को अभीष्ट सिद्धि प्रदान करता है। दिलीप द्वारा गोचारण का यही तात्विक अर्थ है। राजा के इस आचरण को देखकर वन प्रमुदित हो उठा, छिद्रयुक्त बांस हवा से भरकर बाँसुरी का काम करने लगे और तब कुजों के बीच से वन देवियां उच्च स्वर में दिलीप का यशोगान करने लगीं–

स कीचकैं र्मारुतपूर्णरन्ध्रैः
कूजद्भिरापादितवंशकृत्यम ।
शुश्राव कुञ्जेषु यशः स्वमुच्चैरु-
द्गीयमानं वनदेवताभिः ।।रघु० 2-12

महाकवि ने वन देवियों को एक ललित रूप प्रदान किया है जिसके अनुसार कोमल लताएं उनके शरीर हैं और भ्रमरावली नेत्र।

नगाधिराज हिमालय की निर्दोष सुषमा का उदात्तीकृत रूप पार्वती है। उनकी दो सहेलियां थीं मालिनी और विजया। कदाचित् कालिदास ने इन दोनों को वनदेवी माना है। ये वन-देवियां पार्वती के साथ विचरण करती

थीं (अनुप्रयाता बनदेवताभ्याम) । जब गिरिराज कन्या इन दोनों के साथ चलती थी तब उसकी कमनीय कान्ति को देखकर शिव से डरे हुए कामदेव की खोई हुई शक्ति फिर जाग उठती थी।

कालिदास ने अपने 'कुमार संभवम्' महाकाव्य का आरम्भ देवतात्मा हिमालय के उल्लेख से किया है। वे हिमालय के मात्र स्थावर रूप से सन्तुष्ट नहीं रह सके, इसलिए उन्होंने उसे निसर्ग-कन्या पार्वती के पिता की प्रतिष्ठा प्रदान की। इसके अतिरिक्त हिमालय का स्थावर रूप भी रमणीय है। महाकवि ने हिमालय की राजधानी के रूप में ओषधिप्रस्थ नामक एक नगर का वर्णन किया है जहां की नारियां वनदेवियां कहीं गई है (योषितो वनदेवता:)। 'अभिज्ञान. शाकुन्तलम' की वनदेवियां वृक्षों में से कलाई तक अपने हाथ निकाल कर पतिगृह के लिए प्रस्थान करती शकुन्तला को वानाभरण देती हैं। यह सब है वनस्पति जगत का अपने प्रति अनुरक्त मानव के प्रति अपनापन।

करुणरस के महान कवि भवभूति की वनदेवियां श्रद्धाभिभूत होकर फल, फूल और पल्लव निर्मित अर्घ्य से तपस्विनियों की पूजा करती हैं। वे वन प्रेमियों को आमन्त्रित करतीं हैं कि वे आकर वृक्षों की छाया, निर्मल जल, फल और मूल जो भी वनोचित भोग्य पदार्थ हैं उनका इच्छानुसार आस्वादन करें। कुमारदास के 'जानकी हरणम' की अरण्यदेवियां भी तपस्विजनों को बलि अर्थात पूजा की सामग्री अर्पित करती हैं। 'कुन्दमाला' नाटक का लक्ष्मण सीता को वन में निर्वासित करके उसकी देखरेख के लिए वन देवताओं को प्रणाम करता है। प्रसिद्ध नाटक 'मृच्छकटिकम्' के प्रणेता शूद्रक का विश्वास है कि निर्जन उद्यान में वन देवियां ही पाप और पुण्य की साक्षी होतीं हैं।

'वन देवता' का शब्द देकर वनश्री के औदार्य तथा सौन्दर्य का मानवीकरण किया गया है। वनस्पति जगत की अधिष्ठात्री देवियों के विषय में यह मान्यता है कि जो लोग पेड़-पौधों को प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में क्षति पहुंचाते हैं उन पर वे क्रुद्ध हो जातीं हैं—'ये वनस्पतीन् हिंसन्ति परिगृहीतान प्रगृहीतान् वा, तेषां वनस्पति देवता: अभिक्रुद्धयन्ति—ता वै द्वादश वनस्पतीनां देवता:। एता एव वनस्पतीन् छनन्तं कमपि छनन्ति।'

ऋषियों की भूमि भारत में आज वनस्पति के साथ अन्याय हो रहा है, पर्वतों के वृक्ष—वसन उतार-उतार कर उन्हें आवरणहीन बनाया जा रहा है और वन के वन उजाड़े जा रहे हैं। जिसे ऋग्वेद ने वन्य प्राणियों की मां कहा है उस अरण्यानी के बेटे बेटियां पशु और पक्षी क्रूरता के साथ मिटाये जा रहे हैं। धन-लोलुप और चतुर आदमी यह भूल गया है कि वनस्पति देवता के आंसू ही बाढ़ है और उनके उच्छ्वास है आंधी तथा तूफान। क्रुद्ध वनदेवियां वृक्ष-ध्वंस और वन-विनाश के कारण प्रति वर्ष तरह-तरह की विभीषिकाएं पैदा कर रहीं हैं। प्रश्न यह है कि क्या इन वन देवताओं की आराधना करके मानव अब भी आत्मकल्याण चाहेगा?
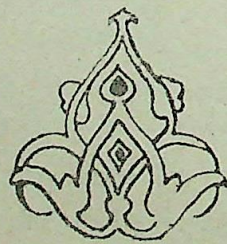
मंगल कल्याण करने वाले जंगल। अपने अंग-अंग से मानव जाति का उपकार करने वाले जीवन के शृंगार जंगल हमारी भूमि पर बचे ही कितने हैं? नगण्यमात्र! इस प्रसंग में राजा भर्तृहरि का एक मार्मिक श्लोक पठनीय है।

यथा पल्लव पुष्पाढ्या यथा पुष्पफलर्द्धय:
यथा फल द्विस्वारोहा हा मात:क्वागमन्
द्रुमा।

अर्थात् "पत्तों के समान ही जिनमें प्रचुर पुष्प होते थे और पुष्पों के समान ही जिनमें पर्याप्त फल लगते और प्रचुर फलों से लदे होने पर भी जो सरलता से चढ़ने योग्य होते थे, हे धरती माता! बता तो सही वे वृक्ष अब कहां हैं?"

अशोक की बेटी राजकुमारी संघमित्रा ने भारत से ले जाकर लगाया था।

प्राचीन काल में आर्यों की चार आश्रम पर आधारित जीवन प्रणाली थी जिसमें वे वानप्रस्थ आश्रम की जीवन अवधि (प्राय: 50 से 75 वर्ष की आयु के बीच की) वनों में रहकर तपस्या करते थे।

ग्रंथों में महाभारत का वनपर्व और रामचरित मानस का अरण्यकांड और वृहदारण्यक उपनिषद प्रसिद्ध है। ब्रह्मचर्य आश्रम में भी शिक्षा केन्द्र गुरुकुल या आश्रम वनों में ही स्थित होते थे। आर्यों के जीवन का आधे से अधिक भाग वनों में व्यतीत होता था।

पुराणों में कल्पवृक्ष के बारे में बतलाया गया है कि वह प्रत्येक कामना

हैं जैसे आम गांव, जाम गांव, पीपल गांव इत्यादि।

भारत में कई सुन्दर सघन अरण्य या जंगल थे। उनमें "बदरीकारण्य" (बेर के पेड़ों की बहुलता वाला वन) "अर्बुदारण्य", "धर्मारण्य", "पद्मारण्य", "कामकारण्य", द्वैतारण्य", "चम्पकारण्य" (चंपक पुष्पों से भरपूर वर्तमान में बिहार का चंपारन क्षेत्र), "नैमिषारण्य", दंडकारण्य" आदि प्रसिद्ध वन थे। दंडकारण्य की शोभा और सुन्दरता का वर्णन करते हुए तुलसीदास ने लिखा है:—

चंपक बकुल कंदब लमाला।
पाटल पनस परास रसाला॥
नव पल्लव कुसुमित तरुनाना।
चंचरीक पटली कर गाना॥

मंगल प्रदाता जंगल

—नरेन्द्र भट्ट

हमारा देश वनाच्छादित देश था। इसकी शस्य श्यामल धरा पर चहुं ओर हरियाली की सुहावनी छटा छाई हुई थी। वैदिक साहित्य के एक अंग के रूप में आरण्यक ग्रन्थों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। इन अरण्यकों की स्थापना ऋषियों ने वनों के एकान्त शान्त वातावरण में बैठकर की थी।

अनेक वृक्षों में देवताओं का निवास स्थान माना गया है। वट वृक्ष में महादेव, पीपल में विष्णु और पलाश में ब्रह्मा का निवास माना गया है। सिद्धार्थ या गौतम बुद्ध भी पीपल वृक्ष के नीचे समाधि लगाकर आत्मबोध प्राप्त करने में समर्थ हुए थे। श्रीलंका देश के अनुराधापुर में एक पीपल का प्रसिद्ध पेड़ है; इस वृक्ष के लिए कहा जाता है कि यह संसार का सबसे पुराना (2500 वर्ष से अधिक पूर्व समय का) पेड़ है। इसको सम्राट

को पूर्ण करने में समर्थ है। भारतीय शिलाचित्रों में वृक्षपूजा के दृश्य देखे जाते हैं। वृक्ष पूजा की परम्परा सिन्धु घाटी सभ्यता के समय भी कायम थी। सांची भारहुत तथा अमरावती आदि के स्तूपों में उत्कीर्ण और प्राचीन पंचमार्क तथा ताम्बे की मुद्राओं पर अंकित कल्पवृक्ष के चित्रों से हम वृक्षों के महत्व की प्राचीन परम्परा के स्वरूप को भलीभांति समझ सकते हैं।

संस्कृत काव्य में एक जगह कहा गया है कि "परोपकाराय फलन्ति वृक्षा:" अर्थात् "वृक्ष दूसरों की भलाई के लिए फूलते फलते हैं"। इस तथ्य की सूचक यह उक्ति "तरुवर फल नहीं खात है" लोकजीवन में वृक्षों की महत्ता सिद्ध करती है। प्राचीन लोगों ने अपनी कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिए वृक्ष विशेष को महत्व देते हुए पेड़ों के नाम पर अनेक गांवों के नाम रखे

शीतल मंद सुगन्ध सुभाक।
संतत बहद् मनोहर बाडव॥
कुहू कुहू कोकिल धुनि करहीं।
सुनिरव सरस ध्यान मुनि हरही।

आधुनिक सभ्यता के तेवर और वन विनाश के भयावह नतीजे

जलाऊ और इमारती काम के लिए तो बहुत प्राचीनकाल से वृक्षों की कटाई होती आई है, किन्तु औद्योगिक कार्यों, फर्नीचर, रेल उद्योग, कागज निर्माण आदि अनेक कार्यों के लिए वृक्षों की अन्धाधुन्ध कटाई हो रही है और जो असंख्य वृक्ष काटे गये हैं अनेक स्थान पर नवीन वृक्ष उतनी संख्या में नहीं उगाये गये हैं।

प्राणप्रद वायु या आक्सीजन के आगार वन मानव जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। एक विद्वान का

तो यहां तक कहना है कि सब महाद्वीपों में भयंकर वन विनाश होने से गिने चुने विशाल वन खंड बचे हैं और इन वन खंडों में से दक्षिण अमेरिका के आमेजन के बृहद वन खंड विश्व को वृक्षों द्वारा दी जाने वाली आक्सीजन का लगभग आधा भाग प्रदान करते हैं।

फूल और फल, पत्ते और छाल, यहां तक कि वृक्ष का प्रत्येक अंग मानव को दी गई मानव की अमूल्य निधि है। हरे-भरे लम्बे-चौड़े विशालकाय वृक्ष हो या छोटे-छोटे सुषमा सुगन्ध बिखेरते पौधे, उन्हें देखकर मानव का मन सहज मुग्ध हो जाता है।

मानव मन ही क्या शायद मेघ भी वृक्षों से परिपूर्ण धरा को देखकर मानो मुग्ध हो उठते हैं और वे रीझकर उन पर रिमझिम वृष्टि करने लगते हैं। मौसम विज्ञान के मर्मज्ञ कहते हैं कि जहां सघन वन होते हैं वहां वृष्टि अच्छी होती है। वृष्टि अच्छी क्यों नहीं होगी? जरूर होगी, क्योंकि वृक्ष वातावरण को नम बनाकर वर्षा में सहायक होते हैं।

जहां पृथ्वी पर वनों की कमी है वे भारतीय भूभाग अल्पवृष्टि और सूखे के शिकार बन जाते हैं। राजस्थान और कच्छ के मरूस्थल निरन्तर बढ़ रहे हैं। वे बढ़ते हुए उपजाऊ धरती को भी अपने भीतर निगलते जाते हैं। दक्षिण में नीलगिरि, बिहार में छोटा नागपुर, पश्चिमी बंगाल राज्य के भू-भाग वृक्षों के अभाव में नदियों की बाढ़ की भयंकर चपेट में आते रहते हैं।

खेतों की रक्षा के लिए वृक्ष बड़े सहायक हैं। रूस और कनाडा में खेत के चारों और वृक्षों की बाढ़ लगाई जाती है। रूस के कुछ भागों में; चीन में, जापान में तो खेती खुले मैदानों में नहीं बल्कि पेड़ों की कतारों के बीच भी की जाती है। पूर्वी और पश्चिमी अफ्रीका में कोको और मूंगफली की फसल की रक्षा के लिए खेतों के चारों ओर वृक्ष लगाए गए हैं। इसरायल देश में तो 'वृक्ष लगाओ" अभियान द्वारा वन लगाकर वहां की जनता ने राष्ट्र के भूभाग का कायाकल्प ही कर दिया है।

प्रदूषण को दूर करने में जंगलों का बहुत उपयोग है। वृक्षों की पत्तियां प्रदूषक पदार्थों के वायु में मिले सूक्ष्म कणों को रोक लेती हैं। अतएव प्रदूषक और विषैली गैसों के अधिकांश कण और अधिक आगे बढ़ने में असमर्थ होकर वहीं पत्तियों पर जम जाते हैं और उनके द्वारा सोख लिए जाते हैं। पत्तियों के वातरन्ध्रु इस प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। हमारे देश में औद्योगिक नगरों में कोयले के धुएं से बचने के लिए सफेद शहतूत, जंगल जलेबी आदि के वृक्ष लगाना उपयोगी सिद्ध होगा।

हमारे देश के मैदानों में सात प्रतिशत और पहाड़ी भागों में सैंतालीस प्रतिशत जंगल शेष बचे हैं, जबकि मैदानी भागों में बीस और पहाड़ी भागों में साठ प्रतिशत वन प्रदूषण और मिट्टी का अपरदन रोकने, अल्पवृष्टि और अतिवृष्टि के नुकसानों से बचने के लिए बहुमूल्य वनोपज प्राप्त करने के लिए अति आवश्यक है।

वातावरण का संरक्षण करने वाले वनों की महिमा से शायद हमारे पूर्वज परिचित हों या न हों, लेकिन वे वृक्षों के प्रति इतने अधिक निर्मम और क्रूर नहीं थे। हमारे यहां वन के लिए एक वन देवी और एक वनदेवता की कल्पना को मान्यता दी गई थी।

डा० जगदीशचन्द्र वसु ने पेड़-पौधों को एक अचल मूक परन्तु जीवित जाग्रत सप्राण प्राणी की संज्ञा दी थी। यदि वनों के प्रति अपने उचित कर्तव्य का निर्वाह आधुनिक सभ्यता के पक्षधर मानव ने नहीं किया तो वह मानव को उसकी संस्कृति के साथ ही उसकी विकासशील और विकसित सभ्यता को भयावह खतरे में डाल देगी। प्रकृति वन विनाश का बदला ले रही है और भविष्य में वह भयंकर होगा।

वैदिक कालीन देवता--रुद्र शिव

-डा० (कु०) कृष्णा गुप्ता

शैवमत हिन्दू धर्म का प्रमुख अंग है। शिव का चिन्तन, मनन और आराधना इस मत की विशेषता है। हिन्दू धर्म के त्रिदेवों में शिव का स्थान महत्वपूर्ण है। यद्यपि उनको संहारक तथा प्रलयकर्ता माना गया है, परन्तु शिव के अनन्य उपासक उन्हें ब्रह्मा एवं विष्णु से संबंधित कार्य-सृष्टि एवं स्थिति के कर्ता भी मानते हैं। उनको अनुग्रह, प्रसाद एवं तिरोभाव करने वाला भी माना गया है। ये सम्पूर्ण कृत्य उनके पंचकृत्य के परिचायक हैं।

वैदिक साहित्य में शिव का प्रतिरुप "रूद्र" नाम ही उल्लिखित हुआ है। वैदिक ग्रन्थों का अनुशीलन करने से रुद्र अथवा शिव के वैदिक देवता होने में तनिक भी संदेह नहीं रहता है। रुद्र की प्रशंसा में प्रत्येक संहिता में अनेक मंत्र उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद में "रुद्राध्याय" नामक एक महत्वपूर्ण तथा स्वतंत्र अध्याय है। ऋग्वेद में रुद्र के लिए "शिव" शब्द का प्रयोग मात्र एक स्थल पर हुआ है। वैदिक "रुद्र" ही 'शिव' नाम से अभिहित किए गए हैं, पौराणिक काल में तो स्पष्ट रूप से 'रूद्र' की परिणति 'शिव' में हो गई है।

वेदों में 'रुद्र' की उपासना, प्रार्थनाओं द्वारा की गई है। पौराणिक काल के 'शिव' के स्वरूपों का विकास ऋग्वेद में वर्णित 'रुद्र' के स्वरूप से ही प्रारम्भ हो जाता है। वैदिक रुद्र का स्वरूप भयंकर भी है और सौम्य भी है। ऋग्वेद में उन्हें बहुधा अभिष्ट देव के गुणों से ही अनुदेत किया गया है। अन्य वेदों में भी उन्हें रौद्र रूप में ही चित्रित किया गया है। वेदों ने रूद्र को बलवान, दृढ़, अजेय, अज्ञेय शक्तिबोल रूप का वर्णन करके उनके पोषक और हन्ता रूप का एक ही साथ समावेश कर दिया है। प्रकृति के भयंकर एवं विनाशक रूप को रुद्र के क्रोध की अभिव्यक्ति माना गया है। अतः प्रार्थना, अर्चना आदि द्वारा उन्हें प्रसन्न किया गया है।

रुद्र के विषय में ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि वे अपने वेणोमय बाणों को फेंकते हैं, जो स्वर्ग और पृथ्वी पर गिरते हैं (718613)। वे आयुध रखते हैं, जिनसे गायों और मनुष्यों को मारते हैं (1/114/10)। रूद्र से प्रार्थना की गई है कि वे अपने आयुधों को उनसे दूर रखें और उनके द्विपदों और चतुष्पदों की रक्षा करें (1/114/1) स्तुतियों द्वारा ही उन्हें पशुओं को रक्षक अथवा पशुप कहकर सम्बोधन किया गया है। उनको परमशक्ति के रूप में यहां पर माना गया है। (1/114/7)।

ऋग्वेद में "रुद्र" के अनेक पर्यायवाची शब्द उपलब्ध होते हैं। जिनमें अर्थ का एक विकास क्रम मिलता है। रुद्र को बलवान माना है। अतः उनको वृषभ कहा गया है।

एवं बभ्रो वृषभ येकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि।
हवन श्रुन्नो रुद्रेहि बोधि वृहद्वेम चिद्थे सुवीरा :॥ (ऋग्वेद 2/33/15)

रुद्र को आकाश में निवास करने वाला माना गया है, अतः वे दिवोवराह कहलाते हैं।

दिवो बराहम रुषं कपर्दिनं, त्वेषं रूप ममसा नि ह्वयामहो
हस्ते विभ्रद्भेषजा वार्याणि, शर्म वर्म छर्दिरस्भश्य यंसत्।
(ऋग्वेद 1/114/5)

अन्य वैदिक देवताओं के सदृश रुद्र की कल्पना भी प्राकृतिक तत्वों के मानवीकरण से ही की गई है। रुद्र को विद्युत् का प्रतीक माना गया है। डा० मेकडानल ने रुद्र को अग्नि के साम्य के कारण इसे विनाशकारी विद्युत रूप में, झंझावात के विध्वंसक स्वरूप का प्रतीक माना है (वैदिक माइथोलोजी, पृ० 78)। रुद्र और अग्नि के साम्य के कारण अग्नि को ही रूप विशेष का प्रतीक माना है।

त्वं अग्नेय रुद्रो असुरो महादिव :
(ऋग्वेद 2/1/6)

भयंकर अग्नि स्वरूप होने से ही ऋग्वेद में उन्हें कल्पलीकिन भी कहा गया है।
चु० बभ्रवे वृषभाप ग्वितीये, महो महीं सृष्टतिमीरयामि।
नमस्या कल्पलीकिनं नमोभिर्गुणीमसि त्वेषं रुद्रस्य नाम॥
(ऋग्वेद 2/33/8)

रुद्र को वर्षा करने वाला होने से मेघपति (1/43/4), शीतल एवं गुणकारी औषधियों के स्वामी होने के कारण औषधीश (5/42/11) कहा गया है। उनके वरणीय औषधि वाले हाथ को यशस्कर एवं पीयूषमय बतलाया गया है।
क्व स्य ते रुद्र मृल्याकुर्हस्तो, यो अस्ति शेषजो जलाष :।
अपभर्ता रपतो देव्यस्वा भी नु मा वषभ चक्षमीथा :।।

वज्र धारण करने वाला होने से रुद्र को वज्रधारी कहा गया है। (2/33/1)। उनके वज्रों के नाम गोहन और नृहन बतलाये गये हैं।
आरे ते गोहनमुत पुरूषहनं, क्षयहीर सुम्नंभस्में ते अस्तु।
मृला य नो अधि य बूहि देबाधा य नःशर्म पच्छ द्विवही।
(ऋग्वेद 1/114/10)

रुद्र को भीम उपहन्तु, जलाष और जलाषभेषण, स्वयशस, प्रचेतस, कवि और प्रभूत जमत का ईशान भी आख्यात किया गया है।

ऋग्वेद में शिव "शब्द" का प्रयोग मात्र विशेषण के रूप में हुआ है। एक स्थान

पर ही रुद्र के लिये "शिव" प्रयुक्त हुआ है।

स्तोम लो अध रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।

येभिः शिवः स्ववांएवयावभिर्दिवः
सिपकिस्वयशा निकामभिः।

(ऋग्वेद 10/72/7)

यजुर्वेद में तो रुद्र के लिये ऐसे अनेक विशेषणों का प्रयोग मिलता है जो लौकिक संस्कृत में "शिव" के विशेषण हैं। उनको यजुर्वेद में पिनाकी कहा है। क्योंकि वे पिनाक धारण करते हैं।

मीढुष्टम, शिवतम शिवोनः सुमनाभव/ परमेवृक्षत आयुधं निधाय कृत्तिंवसान आयर पिनाकं विभ्रदानीह।

(शु० य० 26/51)

यजुर्वेद में रुद्र के नामों का पर्याप्त विकास हो गया था। इसमें ऐसे अनेक नाम मिलते हैं जिनका संबंध लौकिक संस्कृत से ही रहा है। उनको नीलग्रीव (नीलकंठ) भी कहा गया है।

नमस्तो नीलग्रीवाय सहस्राध्याय मीढुषे। वा० सं०

(य० वे० 16/1/66/8)

अग्नि से अभिन्न होने के कारण उन्हें कपर्दिन कहा गया है। जिसकी ज्वालाएं कपर्दो की भांति दिखलायी देती हैं। उन्हें आततायी, विश्वकर्मा (लौहित वर्णवाले), त्रयम्बक, आदि नामों से उल्लिखित किया है। रुद्र को बलवान सुसज्जित योद्धा के रूप में भी यजुर्वेद में दर्शाया गया है। उनके हाथ में दिनांक नायक धनुष तथा बाण और तूणीर चित्रित किया गया है। उनके समीप सहस्त्रों प्रकार की खड्ग, आयुध और निरन्धी नामक तलवार बतायी गयी है। (शु० य० वे० 16/21)।

यजुर्वेद में रूद्र शिव के विकास क्रम का स्पष्ट चित्रण मिलता है। यहाँ पर उन्हें जटाधारी एवं अम्बिका सहित यज्ञ भाग को ग्रहण करने वाला बतलाया गया है।

एव ते रुद्रभाग; सहस्वस्त्राम्बिकया तं जुषजस्वस्वाहा एव ते रूद्रभाग आरबुरते पशुः।

(शु० य० वे० 3/57 से 63)

रुद्र को कल्याणकारी, मुक्तिदाता के रूप में पुण्य फल का दाता दर्शाया गया हैं। इस वेद के अनुसार उनकी ग्रीवा नीली है। अतः वे नीलकंठ है, सहस्त्रनेत्र है तथा मेघ स्वरूप भी हैं। वे वल्कल धारण करते हैं तथा वृषभ पर बैठने वाले लोहितवर्ण विश्वकर्मा भी है। वे भक्तों के हितार्थ उनके दुश्मनों को मारने के लिए अपने सिर पर बिलम (शिरस्त्राण) व शरीर पर कवच व वर्म धारण करते हैं।

परस्यूंत कापसिगर्म देहरक्षकं कवचम्।
लोहमयं शरीर रक्षाकम वर्म॥

(शु० य० वे० 15/35 पर महीधर भाष्य)

अथर्ववेद में रुद्र विषयक मान्यता का और अधिक विकास हुआ है तथा उन्हें और ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है। यहां कतिपय अन्य नाम भी दिये गये हैं, जो आगे चलकर उनके प्रसिद्ध नाम हुए। परन्तु इन नामों को धारण करने वालों का वर्णन विभिन्न देवों के रुप में किया गया है। भव एवं शर्व दो भिन्न देव हैं तथा द्विपद एवं चतुष्पद जीवों पर शासन करते (ईशोय) बतलाये गये है (4/28/1)। उनको समस्त धनुर्धरों में श्रेष्ठ बतलाया गया है।

अथर्ववेद में रुद्र के नामों की परम्परा और आगे बढ़ी है। उनको महादेव कहा गया है, जो उनके देवत्व के उत्कर्ष को दर्शाता है।

सो वर्धत स महानतमवत् स महादवो भवत्।

(अथ० वे० 15/1/4)

यहां पर रुद्र का स्वरूप और भी स्पष्ट हो गया है। यहां पर उनके मुख, चक्षु, त्वक, अंग, उदर, जिह्वा तथा दांतों का भी उल्लेख हुआ है। उनको सिर से जटाजूट से मुक्त बताया है, साथ ही व्युक्तकेश भी कहा गया है। रुद्र को अंतरिक्ष में निवास करने वाला भी बतलाया गया है।

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उतरादपरशदुत।
अभीवर्गात दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः।

(अथ० वे० 11/2/5, 7)

इस प्रकार वैदिक काल में रुद्र शिव अपने दो स्वरूप—सौम्य और रौद्र दोनों में मिलते हैं। रौद्र रूप में मनुष्यों और पशुओं का संहार करते है तथा सौम्य रूप में शिषक और औषधीष कहे गये हैं। वे आदि शक्तियों का मिश्रण हैं—जीवनदायिनी और जीवनहारिणी। सौम्य रूप में जीवनदायिनी शक्ति से सम्पन्न हैं तथा भयावह और विध्वंसक रूप में जीवनहारिणी शक्ति से युक्त हैं। उग्र और विनाशकारी रुद्र मनुष्यों द्वारा विभिन्न उपायों से प्रसन्न होकर कल्याणकारी बन जाते हैं और यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के काल तक ईश्वर की महिमा प्राप्त कर लेते हैं। जन साधारण की आस्था का केन्द्र बनकर रुद्र लोकप्रिय देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं तथा "महादेव" की उपाधि पा लेते हैं।

भारत के आधुनिक संदर्भ में मानस

—शम्सुद्दीन

कवि कुल शिरोमणि भक्त तुलसी का रामचरितमानस एक चिरन्तन महाकाव्य है। यह काल, स्थान एवं वर्गों से परे सर्वव्यापी, सर्वकालीन एवं सार्वजनीन है। इसे केवल धर्म तक सीमित करना भी इसके प्रति अन्याय करना होगा। वास्तव में यह एक ऐसा मानवीय महाकाव्य है जो मनुष्य मात्र को उच्च स्तरीय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है। तुलसी दृष्टा थे। उन्हें आगे आने वाले समय, परिस्थितियों तथा मानवीय मूल्यों के पतन का आभास था। वे कलियुग की यातनाओं और विभीषिकाओं से पूर्णतः परिचित थे, अतः मानवीय जीवन के विभिन्न पहलुओं का आदर्श चरित्र चित्रण करते हुए उन्होंने मानस के रुप में एक ऐसा प्रकाश स्तम्भ लोगों को दिया जो युग-युग तक उनका पथ प्रदर्शन करता रहेगा।

भारत एक विशाल देश है। इसमें अनेक धर्म, जाति एवं सम्प्रदाय के लोग रहते हैं। इनमें खान-पान, वेश भूषा, रीति-रिवाज एवं परंपराओं की विभिन्नता पाई जाती है, किंतु जहां तक मानस के प्रचार एवं प्रसार का प्रश्न है, यह सर्वत्र लोक-व्यापी है। मानस के दोहे और चौपाइयों का गायन गांव की चौपालों से लेकर शहर के अनेक उत्सवों और त्यौहारों में जिस लय और भावपूर्ण ढंग से किया जाता है और हर धर्म और सम्प्रदाय के लोग जिस तरह एकत्र होकर रुचि श्रद्धा एवं भक्ति से इसका श्रवण करते हैं, वह वास्तव में विविधता में एकता का प्रतीक है। मानस गायन भारतीय जन-जीवन में इतना घुल मिल गया है कि इसके सामने लोगों की जाति, धर्म एवं वर्ग भेद की समस्त दीवारें ढह जाती हैं। इस प्रकार मानस वह कड़ी है जो भारतीय संस्कृति और एकता को सुरक्षित और सुदृढ रखने में समर्थ है।

यही नहीं, पिछले कुछ दशकों से विदेशों में मानस का प्रचार और प्रसार जिस तीव्र गति से हो रहा है, वह इसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता को सिद्ध करती है। दक्षिण पूर्व एशिया में बाली द्वीप, थाईलैंड, कम्बोडिया, लाओस में तो रामचरित मानस जन-जीवन में प्रविष्ट कर ही चुका है किंतु मलेशिया और इंडोनेशिया जहां मुसलमानों की संख्या अधिक है, में भी यह बड़ी रुचि एवं लगाव के साथ सुना जाता है। पश्चिमी देशों में भारतवासियों के माध्यम से रामचरित मानस ने प्रवेश किया किंतु आज जिस तेजी से विभिन्न पश्चिमी भाषाओं में इसके अनुवाद हो रहे हैं तथा इस पर शोध कार्य की प्रगति हो रही है, इससे उसके लोकप्रिय होने के संकेत ही मिलते हैं। इधर कुछ वर्षों से विदेशों में 'हरे कृष्णा, हरे राम' आंदोलन तेजी से फैल रहा है। इसमें गैर-भारतीयों की संख्या ही अधिक है जो बिना किसी गोरे और काले के भेदभाव के सिर मुंड़ाकर और गेरुए वस्त्र धारण कर हरे कृष्ण, हरे राम का कीर्तन करते दिखाई देते हैं। इस प्रकार मानस आज मानव मात्र को एक सूत्र में बांधने का सशक्त साधन बन चुका है।

परिवार किसी भी समाज की महत्वपूर्ण कड़ी होती है। परिवार की स्थिरता और सुखशांति पर ही समाज की खुशहाली निर्भर करती है। दुर्भाग्यवश आज भारतीय परिवार की यह कड़ी टूट रही है। सामान्यतः परिवारों में संघर्ष एवं बिखराव की स्थिति देखने में आ रही है। संयुक्त परिवार व्यवस्था सदा से भारतीय संस्कृति और परंपरा की अपनी विशिष्टता रही है, किंतु आज यह तेजी से लुप्त हो रही है। आज पति-पत्नी, पिता-पुत्र, सास बहू, तथा भाई-भाई के बीच स्नेह, आत्मीयता और कर्त्तव्यों के बंधन जिस तरह से टूट रहे हैं, उससे औसत परिवार में सुख शांति का अभाव दिखाई देता है। आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति, पाश्चात्य सभ्यता अथवा बढ़ता हुआ जीवन-संघर्ष, इनमें से कारण जो भी हो किन्तु यह निश्चित है कि टूटते परिवारों ने लोगों को गहन निराशा, अशांति एवं दुख की काली छाया तले धकेल दिया है।

समाज के ऐसे दुखी, हताश और निराश लोगों के लिए तुलसी का मानस डूबते को सहारा देता है। मानस में वर्णित आदर्श परिवार की कल्पना उन्हें ढाढ़स देती है, निराशा के बीच उनमें आशा की किरण फैलाती है, जीने के लिए एक आधार देती है। पति-पत्नी के सुख शांति एवं प्रेम परक तथा परस्पर सम्मान युक्त संबंध ही एक अच्छे खुशहाल परिवार की आधारशिला रखते हैं। वनगमन से पहले राम जब सीता से मिलते हैं तो वे उनके साथ वन जाने का आग्रह करतीं है। राम पहले उन्हें समझाते हैं किंतु फिर भी जब वे नहीं मानतीं तो उन्हें वनवास के कष्टों और दुखों से अवगत कराते हैं। इस पर सीता जी उत्तर देती हैं कि जब आप वन के कष्टों का सामना करेंगे तो मैं यहां महल में आराम से कैसे रह सकती हूं। आपकी अर्धांगिनी होने के नाते मैं आपके सुख दुख की सहभागिनी हूं। फिर जिस प्रकार प्राणों के बिना शरीर तथा जल के बिना नदी की स्थिति होती है, उसी प्रकार पुरुष के बिना नारी का जीवन व्यर्थ है। राम सीता के वनगमन से सहमत नहीं थे किंतु उन्होंने

उनसे एक भी कटु शब्द नहीं कहा। यह राम के आदर्श पति का रूप है।

पति-पत्नी के संबंधों में जहां स्वार्थ एवं अहं की टकराहट होती है वहां परिवार किस तरह से विनष्ट होते हैं इसका उदाहरण राजा दशरथ और कैकैयी है। राजा दशरथ यद्यपि अपनी सभी रानियों को समान स्नेह और सम्मान देते थे किंतु अपनी सौंदर्यासक्ति के कारण कैकेयी को कुछ ज्यादा ही चाहते थे। मंथरा से प्रेरित होकर जब कैकेयी ने अपने पुत्र भरत के लिए राजगद्दी और राम के लिए वनवास मांगकर अपने स्वार्थ का परिचय दिया तो पति वियोग के साथ-साथ स्वयं अपने पुत्र द्वारा धिक्कारे जाने का दुष्परिणाम भी उसे भोगना पड़ा। दूसरी ओर आदर्श पत्नी कौशल्या का उदाहरण है। राम वनगमन के बाद राजा दशरथ कैकेयी का भवन छोड़ रानी कौशल्या के पास आ गए। उस समय कोई दूसरी स्त्री होती तो पति को धिक्कारती कि मेरे प्रिय पुत्र राम को वनवास भेजकर अब यहां क्या करने आए हो? किंतु रानी कौशल्या राजा दशरथ को विलाप करते देख उन्हें धीरज बंधाती है और कहती है कि अब, आप ही रघुकुल के रक्षक और आधार हैं। यदि आप धैर्य नहीं रखेंगे तो हम और हमारी प्रजा किसके सहारे जिएगी? इस प्रकार पत्नी के संबंध किस प्रकार परिवार को बनाते और मिटाते हैं, मानस में इसका चित्रण ग्राम परिवारों के लिए मार्गदर्शन का कार्य करता है।

मानस में ही वर्णित पिता पुत्र तथा माता पुत्र के संबंध देखिए। राम का राजतिलक होने वाला था किंतु इसके विपरीत उन्हें पिता ने कैकेयी के वर मांगने के फलस्वरूप 14 वर्ष का वनवास दिया। राजा दशरथ विकल है किन्तु राम पिता के आदेश का सहर्ष पालन करते हुए माता कौशल्या से विदा लेने जाते हैं। एक मां का हृदय रखने वाली माता कौशल्या को राम वनवास से क्या आंतरिक पीड़ा नहीं हुई होगी, किंतु उन्होंने सोचा कि राम को रोकने से न केवल धर्म नष्ट होगा वरन भाइयों में विरोध की संभावना बढ़ जाएगी अतः वे राम को सहर्ष बिदा देते हुए कहती है कि पिता की आज्ञा का पालन करना ही तुम्हारा सर्वोत्कृष्ट धर्म है। राम वन चले गए। भरत ननिहाल से लौटे तो राम के लिए विकल हो गए। वे समस्त अयोध्या को लेकर राम को लौटाने जाते हैं। माताएं भी साथ हैं। यहां राम के आदर्श पुत्र का रूप देखिए। वे सर्वप्रथम माता कैकेयी से मिलते हैं ताकि उनके मन में किसी प्रकार की आत्मग्लानि न रह जाए। यही नहीं वन से लौटने पर भी वे सर्वप्रथम कैकेयी से मिलने जाते हैं।

मानस में वर्णित भाई-भाई का आदर्श प्रेम देखिए। राम वनवास की सूचना पाते ही लक्ष्मण राम के साथ वन जाने की तैयारी करने लगते हैं। वे तो राम को अपना आराध्य देव मानते हैं। राम के समझाने पर कि वे अयोध्या में रहकर गुरु, पिता-माता की सेवा करें, वे कहते हैं, मै यह सब कुछ नहीं जानता। मेरे तो सर्वस्व आप ही हैं। मै तो आपके स्नेह से पलित एक शिशु की तरह हूं मुझे अपनी सेवा से वंचित न कीजिए। उधर भरत के आने पर जब गुरु वशिष्ठ उन्हें राजतिलक के लिए कहते है कि पिता के बाद वे अयोध्या का राज भार संभाल लें तो वे इससे सहमत नहीं होते। सभी पुरवासियों को लेकर वे वन में जाकर पहले तो राम को लौटाने का प्रयास करते हैं किंतु जब वे सहमत नहीं होते तो वहां राम का राज्याभिषेक कर उनकी चरण पादुकाएं लेकर अयोध्या लौटते हैं। वे उन्हें राजसिंहासन पर रख उन्हीं से आदेश ले लेकर चौदह वर्ष तक अयोध्या का राज्य भार संभालते हैं। इस अवधि में वे स्वयं तपस्वी जैसा जीवन व्यतीत करते है। भाई-भाई के इस त्याग, तप, स्नेह एवं आत्मीयता को देख किस भाई का मन उद्वेलित न हो उठेगा।

लक्ष्मण की अपनी भाभी सीता के प्रति श्रद्धा, स्नेह और सुरक्षा की भावना देखिए। वन जाते समय सेवक भावना प्रधान आदर्श माता सुमित्रा ने अपने पुत्र को निर्देश दिया था कि वे राम सीता की वन में सदा सेवा करें। विशेषकर वे इस बात का ध्यान रखें कि सीता को किसी प्रकार का कष्ट न हो। लक्ष्मण ने वनवास की संपूर्ण अवधि में इसका ध्यान रखा। वे तो सीता को मातृ तुल्य मानते थे। वन में चलते समय आगे-आगे राम चलते बीच में सीता जी हैं और पीछे लक्ष्मण उनकी सुरक्षा का ध्यान रखते हुए चलते है। चलते समय वे सीता के चरण चिह्नों को बचाकर आजू-बाजू अपने पैर रखते हुए चलते है। देवर का भाभी के प्रति इससे बढ़कर आदर भाव और क्या हो सकता है। आधुनिक छिन्न-भिन्न होते और टूटते परिवारों के लिये मानस की आदर्श परिवार प्रणाली कितना बड़ा संबल है।

तुलसी प्रमुख रूप से समाज सुधार-वादी थे अतः उन्होंने उसकी इकाई परिवार को सुदृढ़ करने का विशेष प्रयास किया किंतु राजनीति पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया, ऐसी बात नहीं। उनके काल में देश में राजतंत्र था जहां एक राजा होता था तथा उसके बाद उसका उत्तराधिकारी राज्य संभालता था। आज राजतंत्र के लिये कोई स्थान नहीं है। कारण उसमें राजा के निरंकुश होने का भय रहता है। यह बात तुलसी के युग में लागू नहीं होती थी। कारण उस समय दशरथ और राम सरीखे राजा हुए जिन्होंने सदा प्रजा पालन का ध्यान रखा। तुलसी ने मानस में स्पष्ट कहा है कि जिस राजा के राज्य में प्रजा दुखित हो, वह राजा नरक का अधिकारी है। वस्तुतः उन्होंने मानस में राम-राज्य की कल्पना की। इस राम राज्य की विशेषतायें बताते हुए वे कहते हैं कि इसमें कोई किसी से दुश्मनी नहीं करता, कोई दरिद्र, दीन और दुखी नहीं रहते, सभी पूर्ण स्वस्थ और निरोग रहते हैं, सभी ओर सत्य का बोलबाला रहता है तथा कोई झूठ, कपट एवं अभिमान का सहारा नहीं लेता, सभी अपनी योग्यतानुसार कार्य करते तथा उचित पारिश्रमिक पाते हैं अतः कहीं बेरोजगारी नहीं दीखती, पृथ्वी सदा धनधान्य से परिपूर्ण रहती है सभी नियम और संयम में रहते हुए सामाजिक

मर्यादाओं का पालन करते है अतः कहीं भ्रष्टाचार व्यभिचार दिखाई नहीं देता आदि।

शासन तंत्र कोई भी हो किंतु उसमें राम-राज्य की कल्पना तुलसी की अपनी अनूठी देन थी। भारत में आज यद्यपि समाजतंत्र पर आधारित रामराज्य का लक्ष्य सामने रख शासन तंत्र चलाने की बात कही जाती है किंतु लक्ष्य बहुत दूर है—आज आवश्यकता इस बात की है कि देश का प्रशासन रामराज्य की दिशा में कदम बढ़ाए तथा प्रजा को सुखी और संतुष्ट करने का प्रयास करे।

जहां तक समाजवाद का प्रश्न है तुलसी ने अपने मानस में कई प्रसंगों पर इसका प्रतिपादन किया है। रामराज्य में सभी समान हैं, उनमें कोई भेदभाव नहीं है और न ही आपस में बैर है। यहां तक कि पशु-पक्षी भी इसका अनुसरण करते हैं तभी तो सिंह और हिरण एक ही घाट पर पानी पीते हैं। वहां सभी स्वतंत्र हैं किंतु धर्म और मर्यादा के भीतर रहते हुए वे इसका उपभोग करते हैं। विभीषण इसलिए दुष्ट रावण का साथ छोड़ राम के अनुयायी हो जाते हैं। राम राज्य में बंधुत्व भाव सर्वत्र व्याप्त है। वहां कहीं जाति, धर्म अथवा ऊंच-नीच का भेद नहीं। यही कारण है कि राम निषाद राज केवट को गले लगाते तथा उसे बंधु और सखा कहकर संबोधित करते हैं। रामराज्य में हर जगह न्याय का बोलबाला है। जनता ही नहीं, वरन राजा भी इसका पालन करते है। यही कारण है कि दुष्टों का दमन तथा मुनियों की रक्षा के लिए राजा दशरथ अपनी वृद्धावस्था के परमप्रिय पुत्रों को विश्वामित्र को सौंप देते है, एक सामान्य धोबी के शंका करने पर राम अपनी पवित्र पत्नी सीता की अग्नि परीक्षा कराते है, रावण की मृत्यु पर उसके भाई विभीषण को लंका का राज्य देते है आदि। यह सब जनतंत्र ही तो है। भारत के आधुनिक संदर्भ में तुलसी की राम राज्य की कल्पना वास्तव में इस देश के लिए मल्लाह का काम कर सकती है बशर्ते निष्ठापूर्वक इस ओर प्रयास किया जाए।

आज के भौतिकतावादी युग में भारत के संदर्भ में सर्वाधिक चिन्ता का विषय इसमें बढ़ती हुई अधर्म की भावना है। आज देश में धार्मिक मतभेद, सांप्रदायिक वैमनस्य तथा जाति एवं वर्ग संघर्ष बहुत बढ़ रहा है। पहले तो धर्म और अधर्म के बीच झगड़ा था जिसमें धर्म की अधर्म पर जीत तथा रामत्व की रावणत्व पर विजय प्राप्त की जा सकती थी, किन्तु आज तो धर्म और अधर्म के बीच लड़ाई है। एक ही धर्म के अनुयायी आपसी मतभेद और गुट संघर्ष में उलझे नजर आते हैं। पहले तो केवल एक ही दुष्ट रावण अथवा मेघनाथ कुंभकर्ण आदि कुछ राक्षस थे जिन पर विजय प्राप्त कर राम ने धर्म की रक्षा की, किन्तु आज तो स्थिति यह है कि जाने कितने वेश और रूपों में असंख्य रावण रुपी अत्याचारी और भ्रष्टाचारी समाज में विचरण कर रहे हैं। कुछ तो बाहर से बड़े सज्जन दिखते हैं, अन्दर से दुराचारी सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में निश्चित ही भारत के सामने धर्म और नैतिकता की रक्षा का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है।

ऐसे समय में तुलसी का मानस ही ऐसा एकमात्र साधन है जिससे लोगों में वैचारिक क्रांति लाकर देश की रक्षा की जा सकती है। वास्तव में आज, समस्त मतभेद, फूट और संघर्ष की जड़ हैं मानव मष्तिष्क का रोगी होना। तुलसीदास जी संभवतः इस स्थिति से पूर्व परिचित थे, अतः मानस के अंत में उत्तर-कांड के अन्तर्गत उन्होंने कई मानस रोगों की वृहत चर्चा की है। उन्होंने इनके कारणों पर प्रकाश डालते हुए उनके निदान के उपाय भी प्रस्तुत किए हैं। उदाहरण के लिए उन्होंने कहा कि मोह अथवा अज्ञान जन्य आसक्ति समस्त मानसिक रोगों की जड़ हैं। इसी से काम, क्रोध, लोभ आदि अन्य रोग उत्पन्न होते हैं। उन्होने अत्यन्त रोचक ढंग से शारीरिक रोगों पर आरोपित करते हुए काम को वात, लोभ को कफ तथा क्रोध को पित्त का विकार बताया है। आगे वे लिखते हैं कि अलग अलग तो ये विकार लोगों को कष्ट देते ही हैं किन्तु यदि तीनों मिल जाएं तो सन्निपात का रोग अर्थात मनुष्य की मरणांतक स्थिति आ सकती है।

इन्हीं मानस रोगों के अन्तर्गत आगे तुलसी कहते हैं कि ममता दाद की तरह है तथा ईर्ष्या खुजली है। हर्ष और विषाद गले के रोग हैं तथा पराए सुख को देख जो जलन होती है वह क्षय रोग की तरह है। दुष्टता और मन की कुटिलता कोढ़ की तरह है। मनुष्य का अंहकार अत्यन्त दुख देने वाला गांठ का रोग है। दम्भ, कपट, मद, और मान नसों का रोग है। तृष्णा पेट के जलोदर की तरह है तथा पुत्र धन और मान की प्रबल इच्छाएं तिजोरी ज्वर की तरह हैं। इस प्रकार और भी कई प्रकार के मानस रोग है जिनसे आज जन-जन पीड़ित है। तुलसी आगे कहते हैं कि एक ही रोग के वश होकर मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है फिर ये तो अनेक असाध्य रोग हैं। इनसे मनुष्य आजीवन दुख पाता रहता है तथा उसे कभी भी मानसिक शांति और सुख प्राप्त नहीं होता है। इससे उबारने के लिए वे जिस निदान को प्रस्तुत करते हैं वह बहुत ही सीधा और सरल है। इसके लिए मनुष्य यदि राम नाम का स्मरण अर्थात ईश्वर भक्ति और सदगुरु वैद्य के वचनों में विश्वास अर्थात सतसंग करे तो वह इन विभिन्न व्याधियों से सहज ही मुक्ति पा सकता है।

आज जो लोग हताश और निराश हो चुके हैं तथा जीवन से ऊब गए हैं, उनके लिए मानस आशा का प्रकाश दीप दिखाता है। जब हम देखते हैं कि भगवान राम एक व्यक्ति के रूप में धरती पर जन्म लेते हैं, सामान्य गृहस्थ का जीवन जीते हैं तथा हमारी अनेक समस्याओं को हमारी दृष्टि से देखते हुए हमारी पद्धति से हमारी समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करते हैं, तो हममें भी एक नई शक्ति, उत्साह एवं स्फूर्ति पैदा होती है। जब हम देखते हैं कि राम सामान्य व्यक्ति की तरह जीते हुए भी अपने आदर्श गुणों से नर से नारायणत्व को प्राप्त होते हैं, तो हमें भी कुछ करने और ऊंचे उठने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार मानस भारत के आधुनिक संदर्भ में न केवल जीवन आधार एवं प्रेरणा स्रोत हैं, वरन भवसागर को पार करने का एक सशक्त माध्यम भी।

———o———

भगवान कृष्ण की पुरालेख प्रशस्तियाँ

—प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

प्राचीन साहित्य के समान अनेक शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति और उनकी महत्ता का गुणगान मिलता है। पुरालेखों के प्रारम्भ में प्रायः इष्टदेव का ध्यान या स्तुति का विधान था। वैष्णव शासक तथा अन्य दानदाता जन भगवान विष्णु, लक्ष्मी, कृष्ण, आदि की स्तुति से अभिलेखों का आरम्भ कराते थे। ध्यानपरक मंगलाचरणों के अतिरिक्त अनेक अभिलेखों में श्रीकृष्ण की मूर्तियों अथवा मन्दिरों के निर्माण के विषय में अथवा उनकी लोकोत्तर शक्ति या उदारता के बारे में भी विवरण उपलब्ध हैं। अभिलेखों में उनके नाम कृष्ण, वासुदेव, माधव, जनार्दन, पदमनाभ, पुरुषोत्तम, कंसनिषूदन, अहिमदर्दी आदि मिले हैं।

प्रारम्भ में वासुदेव या कृष्ण की पूजा के तीन मुख्य केन्द्र भारत में मिले हैं। वे थे—मध्यमिका, विदिशा, और मथुरा। राजस्थान में चित्तोड़ के समीप मध्यमिका नगरी बहुत प्रसिद्ध थी। इसे अब तांबावती नगरी (या नगरी) कहा जाता है। ईसवी पूर्व तीसरी शती के अन्त का एक ब्राह्मी शिलालेख यहां के हाथीबाड़ा नामक स्थान में मिला है। उसमें वासुदेव कृष्ण की पूज्य पाषाण मूर्ति का, उसके चारों ओर बनायी गयी रक्षा वेदिका का तथा 'नारायणवाटिका' का उल्लेख है। यह लेख बड़े महत्व का है और इस बात का एक पुष्ट प्रमाण है कि ईसवी पूर्व तीसरी शती में देव रूप में श्रीकृष्ण की मूर्ति पूजा होने लगी थी। डा० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर द्वारा नगरी में उत्खनन कार्य कराया गया, जिसमें उन्हें पूजा-स्थल तथा नारायणवाटिका (वर्तमान हाथीवाड़ा) के अवशेष मिले।

मिश्रित संस्कृति भाषा में लिखा हुआ एक अन्य मौर्यकालीन ब्राह्मी-लेख घोसुंडी नामक स्थान से मिला है। घोसुंडी नगरी (मध्यमिका) के समीप है। सौभाग्य से तीन पंक्तियों का यह लेख पूर्ण है। लेख इस प्रकार पढ़ा जा सकता है —

1—कारितो अयं राज्ञा भागवतेन गाजायनेन पाराशरी- पुत्रेण स —

2—वतातेन अश्वमेधयाजिना भगवद्भ्यां संकर्षण—वासुदेवाभ्यां

3—अनिहताभ्यां सर्वेश्वराभ्यां पूजा-शिला प्राकारो नारायणवाटिका।

उक्त घोसुंडी लेख तथा हाथीवाड़ा के लेख को मिलाकर देखने से ज्ञात होता है कि भगवान् संकर्षण—वासुदेव के सम्मान में वृष्णियों की राजधानी नगरी में तीन निर्माण-कार्य किए गए :—

(क) पूजा-शिला-अर्चा के लिए बलराम तथा कृष्ण की पाषाण-मूर्तियां,

(ख) प्राकार—रक्षा के लिए वेदिका या बाड़ा, और

(ग) नारायण के नाम पर वाटिका या फुलवाड़ी— (इसे अब हाथीबाड़ा कहते हैं)।

यह निर्माण-कार्य श्रीकृष्ण के भक्त (भागवत) राजा सर्वतात (सर्वत्रात) के द्वारा कराया गया। हमारा विचार है कि यह राजा मध्यमिका के स्थानीय वृष्णि-वंश का था।

मध्यमिका नगरी की चर्चा पंतजलि के महाभाष्य में मिलती है। यवनों (यूनानियों) के द्वारा मध्यमिका नगरी पर भी आक्रमण किया गया, ऐसा उल्लेख महाभाष्य में मिलता है : "अरूणदयवनों मध्यमिकाम्।"

'मध्यमिका' का महत्व बहुत समय तक कृष्ण-पूजा के केन्द्र रुप में अक्षुण्ण रहा। बड़ली (जिला अजमेर) से ई० पूर्व दूसरी शती का एक भग्न ब्राह्मी लेख मिला है। उससे ज्ञात हुआ है कि मध्यमिका के किसी निवासी द्वारा बड़ली में श्रीकृष्ण के मन्दिर का निर्माण कराया गया।

मध्यप्रदेश की विदिशा नगरी की गणना भारत के प्रमुख प्राचीन सांस्कृतिक नगरों में की जाती है। ईसवी पूर्व तीसरी शती में वहां वासुदेव-विष्णु का मन्दिर विद्यमान था। इसका पता हाल में केन्द्रीय पुरातत्व विभाग द्वारा वहां कराए गए उत्खनन से चला है। उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि मौर्यकालीन मंदिर का आकार अण्डाकार था। श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य प्रमुख वृष्णियों के प्रतीक ध्वजस्तम्भ वहां लगाए गए।

शुंग-शासकों के राज्यकाल में ईसवीं पूर्व दूसरी शती के उत्तरार्ध में उक्त मन्दिर के सामने एक ऊंचा गरुड़-स्तम्भ बनवाया गया। इस स्तम्भ (जिसे अब 'खामबाबा' कहते हैं), पर खुदे हुए ब्रहमी- लेख से पता चला है कि उसे तक्षशिला के यूनामी राजा ऐंटिअल्काइडीज (अन्तलिकित) के राजदूत हेलिओदोर ने बनवाया था। हेलियोदोर ने अपने लेख के प्रारम्भ में देवताओं के देव वासुदेव का नाम दिया है, जिनके प्रति भक्ति-भाव व्यक्त करने के लिए उसने विदिशा के मन्दिर के सामने गरुड़ध्वज स्थापित किया। हेलियोदोर ने लेख में स्वयं अपने को 'भागवत' (भगवान् वासुदेव का भक्त) कहा है। इस लेख से विदिशा नगरी की राजनीतिक महत्ता के साथ यह भी ज्ञात हुआ है कि ई०पू० दूसरी शती में वहां वासुदेव-पूजा का एक प्रधान केन्द्र था। यहीं वृष्णियों के अन्य चार प्रमुखों (बलराम, प्रद्युम्न, साम्ब और अनिरूद्ध)

की पूजा का भी केन्द्र बना । विदिशा में श्रीकृष्ण के गरूड़ध्वज के अतिरिक्त ताड़ध्वज (बलराम का) तथा मकरध्वज (प्रद्युम्न का) प्रतीक भी प्राप्त हो चुके हैं।

भगवान कृष्ण की उपासना का तीसरा बड़ा केन्द्र था —मथुरा नगर । वहाँ के कुछ प्राचीन अभिलेखों की यहां चर्चा पर्याप्त होगी। दो पाषाण लेख मथुरा जिला के मोरा नामक गांव से प्राप्त हुए हैं । लेख ब्राह्मी में हैं और मथुरा में राज्य करने वाले शक-वंशी शोडास के समय (ई० पूर्व प्रथम शती) के हैं । पहले लेख में भगवान श्रीकृष्ण के जन्मस्थान में भगवान वासुदेव के सम्मान में मूर्ति और तोरणद्वार के सहित वेदिका निर्माण का कथन है । लेख में मथुरा के श्रीकृष्ण जन्मस्थान को 'महास्थान' कहा गया है । उनकी मूर्ति पत्थर की थी, अतः उसकी संज्ञा शैल दी है। तोरण तथा वेदिका भी वहां स्पष्ट उल्लेख है ('शैल तोरण वेदिका च प्रतिष्ठापितों') ।

मोरा से प्राप्त दूसरे शिलालेख में मन्दिर के लिए "शैलदेवगृहे" शब्द आया है और उसमें वृष्णियों के पांच वीरों (प्रमुखों) की प्रतिमाएं प्रतिष्ठापित करने की चर्चा है ('भगवतां वृष्णीनां पंचवीराणां प्रतिमाः शैलदेवगृहे···' इस लेख से स्पष्ट है कि मन्दिर पत्थर का बना हुआ था और उसमें पांच वृष्णियों की मूर्तिया स्थापित की गई थी । मोरा से प्राप्त पाषाण निर्मित एक वृष्णि-मूर्ति मथुरा के पुरातत्व संग्रहालय में सुरक्षित है । उसमें ब्राह्मी लेख का कुछ अंश भी बचा है। संभवतः यह प्रतिमा उन पांच मूर्तियों में से एक थी, जिसकी प्रतिष्ठापना का उल्लेख मोरा अभिलेख में मिला है । मथुरा से हाल में प्राप्त एक अन्य शिलालेख में भगवान के मन्दिर के लिए 'देवकुल' नाम आया है । 'देवकुल' संज्ञा शिव के आरम्भिक मन्दिरों के लिए भी प्रयुक्त होती थी ।

वायुपुराण (अध्याय 79, 1-2) में वृष्णियों के पांच वीरों (व्यूहों) की चर्चा इस प्रकार मिलती है :

'संकर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नः साम्ब एव च।
अनिरुद्धश्च पंचैते वंशवीराः प्रकीर्तिता :।।

(अर्थात् वृष्णियों के पांच वीर इस प्रकार हैं :—संकर्षण (बलराम) वासुदेव (कृष्ण), प्रद्युम्न, साम्ब, और अनिरूद्ध) । विष्णु संहिता (67, 2), में केवल प्रथम चार व्यूह वर्णित है), वहां अनिरूद्ध का उल्लेख नहीं है ।

यहां यह दृष्टव्य है कि अवस्थानुसार बलराम को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है और उनके बाद क्रमशः प्रद्युम्न, साम्ब तथा अनिरुद्ध के नाम आये हैं । विदिशा के अतिरिक्त मध्यप्रदेश में एरण, बड़ोह-पठारी आदि स्थानों में गुप्तकालीन विशाल गरुड़ध्वज स्तम्भ विद्यमान हैं । इससे ज्ञात होता है कि वासुदेव-विष्णु के मंदिरों के सामने गरुड़ध्वज स्थापित करने की प्रथा शुंगकाल के बाद शताब्दियों तक जारी रही । वासुदेव के स्तम्भ पर गरुड़, बलराम के स्तम्भ पर तालवृक्ष और प्रद्युम्न के स्तम्भ पर मकर चिन्ह था । बलराम और प्रद्युम्न के ध्वजों के नाम क्रमशः तालध्वज और मकरध्वज प्रसिद्ध हुए। विदिशा तथा पद्मावती (ग्वालियर के समीप आधुनिक पवाया) से कलात्मक तालध्वज प्राप्त हुये हैं, जो वहां पर बलराम के मंदिरों के सूचक प्रतीत होते हैं ।

ईसवी पूर्व दूसरी शती के आरंभ से लेकर ई० तीसरी शती के आरंभ तक शासन करने वाले सातवाहन राजवंश के एक शिला लेख में इन्द्रादि देवों के साथ संकर्षण—वासुदेव का भी उल्लेख है । ई० पूर्व दूसरी शती का यह शिलालेख पूना के समीप नानाघाट नामक स्थान में मिला है और इसकी भाषा प्राकृत है । इसकी प्रथम पंक्ति में धर्म तथा इन्द्र को नमस्कार करने के बाद 'संकर्षण वासुदेवानं' शब्द आया है । इसके बाद चन्द्र, चारों लोकपाल, यम, वरुण, कुबेर तथा वासव के उल्लेख हैं । इससे वृष्णियों के वीरों का महत्व प्रतिपादित होता है ।

श्रीकृष्ण की देवसूचक 'भगवान' उपाधि को क्रमशः अन्य धर्मावलंबियों ने भी अपने शिलालेखों में ग्रहण किया । अनेक प्राचीन बौद्ध लेखों से यह बात प्रमाणित होती है ।

ईसवी चौथी शती के आरंभ से लेकर छठी शती के आरंभ तक शासन करने वाला गुप्त वंश भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है । इस वंश के अधिकांश शासक वैष्णव थे । उनका राजचिह्न गरुड़ था । उनके सिक्कों, मुहरों तथा अभिलेखों में लक्ष्मी, कमल, शंख, चक्र आदि चिह्न मिले हैं। इस वंश का प्रतापी सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य अपने को 'परमभागवत' कहने में गर्व का अनुभव करता था। उसके कई वंशजों को भी 'परमभागवत' कहा गया । यूनानी हेलियोदोर की 'भागवत' उपाधि की श्रीवृद्धि अब 'परमभागवत' रूप में हुई । चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने सोने का एक ऐसा सिक्का चलाया जिसके एक ओर चतुर्भुज भगवान प्रदर्शित हैं । दूसरी ओर सम्राट की उपाधि 'चक्रविक्रम' लिखी है । सांची से उसका तांबे का एक ऐसा सिक्का मिला है जिस पर भगवान् का नाम पद्मनाभ दिया है : "जितं भगवता पद्मनाभेन" । यह सिक्का पद्मनाभ विष्णु के नाम पर चलाया गया, जिनके प्रताप से सम्राट चन्द्रगुप्त ने मालवा के विदेशी शकों पर विजय प्राप्त की थी ।

गुप्तकालीन धातु तथा पकी मिट्टी की अनेक मुहरें मथुरा, राजघाट, विदिशा, कौशांबी, झूसी, पटना आदि से मिली है । उन पर पद्म, शंख, चक्र आदि चिह्न अंकित हैं । उन पर ब्राह्मी लेख भी मिले हैं , जो इस प्रकार हैं : 'माधव', 'हरिस्मरण,' 'नमोभगवतेवासुदेवाय' तथा 'जितं भगवता वासुदेवेन' ।

सागर जिला के एरण नामक स्थान से एक दुर्लभ शिलालेख मिला था जो अब कलकत्ता के इंडियन म्यूजियम में सुरक्षित है । यह लेख गुप्त सम्राट समुद्रगुप्त का माना जाता है। परंतु यह कतिपय प्रमाणों के आधार पर चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का प्रतीत होता है :। इस लेख के अनुसार एरण में गुप्त सम्राट ने एक स्तम्भ स्थापित कराया । संभवतः यह गरुड़ध्वज था, जो भगवान् वासुदेव के मंदिर के सामने बनवाया गया ।

गुप्त सम्राट स्कंदगुप्त के समय में हूणों और पुष्यमित्रों के आक्रमणों से गुप्त साम्राज्य की नींव हिल गयी । परम प्रतापी स्कंदगुप्त ने शत्रुओं पर विजय प्राप्त की । उस समय उसके पिता कुमारगुप्त दिवंगत हो चुके थे । दुर्दान्त शत्रुओं पर विजय के उपरांत स्कंदगुप्त अपनी दुखिया मां के पास तीव्रता से पहुंचे । भितरी (जिला गाजीपुर, उ० प्र०) में उनके राज्यकाल का एक शिलालेख मिला है। उसके लेखक ने स्कंदगुप्त की विजय का हृदयद्रावक वर्णन करते हुए लिखा है कि पिता कुमारगुप्त के दिवंगत हो जाने पर विचलित वंश लक्ष्मी को स्कंदगुप्त ने अपने भुजबल से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर, पुनः प्रतिष्ठापित किया । विजय के गौरव से तुष्ट होकर अश्रुपूरिता मां के पास

वे उसी प्रकार शीघ्र पहुंचे जिस प्रकार कंस का वध करने के बाद श्रीकृष्ण अपनी माता देवकी के पास पहुंचे थे ।

पितरिदिव मुपेते विप्लुंता वंशलक्ष्मी
भुजबलविजितारिर्थः प्रतिष्ठाप्यभूयः ।
जितमिति परितोशान्मातरं सास्रनेत्रां
हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः ।।

इस प्रसिद्ध छंद में श्रीकृष्ण का उल्लेख उनकी माता देवकी के साथ किया गया है ।

सतना जिले के खोह नामक स्थान से परिव्राजक-वंशी राजा संक्षोभ का एक ताम्रपत्र मिला है, जिस पर गुप्त संवत् 209 (528–529 ई०) का लेख खुदा है । इस लेख के आरंभ में "सिद्धं नमो भगवते वासुदेवाय" लिखा है । यह ध्यान भगवान् कृष्ण का है ।

मध्यप्रदेश के मंदसौर नगर से औलिकर-वंश के शासक नरवर्मा का एक पाषाण-स्तंभ-लेख मिला है ।

नरवर्मा गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के समकालीन बंधुवर्मा का पितामह था । लेख पर विक्रम संवत् 461 (404 ई०) अंकित है । लेख के आरंभ में श्रीकृष्ण के विश्वरूप का ध्यान किया गया है । वह इस प्रकार है ––

सहस्रशिरसे तस्मै पुरुषायामितात्मने
चतुस्समुद्र पर्यङ्कं– तोय निद्रालयेनमः ।।

अर्थात् हम सहस्र शीर्ष वाले, अमित तेजस्वी पुरुष को नमस्कार करते हैं जो चारों सीमाओं तक विस्तृत समुद्र के पर्यंक पर विश्राम करते हैं ।

लेख की 7वीं–8वीं पंक्तियों (श्लोक 10–11) में वासुदेव कृष्ण का अत्यंत मनोरम वर्णन किया गया है, जो इस प्रकार है :––

जीवलोकमिमं ज्ञात्वा शरण्यं शरणं गतः
त्रिदशोदारफलदं, स्वर्गस्त्राचारुपल्लवम् ।।
वासुदेवजगद्वा समप्रमेयमजं विभुम् ।
विमानानेकविटपं तोयदाम्बुमधुस्रवम् ।।

यहां श्रीकृष्ण को शरण्य (शरण देने वाला) कहा गया है । उनकी तुलना उदार कल्पवृक्ष से की गयी है । देवता उस कल्पवृक्ष के फल और अप्सरायें उसकी कोंपल हैं । यह वृक्ष अनेक विमानों अर्थात् दैवी अलंकरणों से मण्डित है । उससे सदा दूध, जल और मधु प्राप्त होते हैं ।

इस अभिलेख में श्री कृष्ण की उपमा कल्प-वृक्ष से देकर और उन्हें चारुता, स्निग्धता तथा प्राप्तव्य वस्तुओं का स्रोत बताकर कवि ने अत्यन्त रोचक रूपक प्रस्तुत किया है । कृष्ण का ऐसा कलात्मक वर्णन किसी अन्य शिलालेख या ताम्रपत्र में देखने को नहीं मिलता । काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से भारतीय इतिहास के स्वर्ण युग में उत्कीर्ण कतिपय उच्चस्तरीय शिलालेखों में इस अभिलेख की गणना की जाती है ।

मौखरिवंश के शासक अवंतिवर्मा का एक शिलालेख बिहार में गया के पास बराबर नामक पहाड़ी की एक गुफा में उत्कीर्ण है । उससे पता चलता है कि इस शासक ने प्रवर-गिरि में श्री कृष्ण की एक कलापूर्ण प्रतिमा बनवायी । लेख में कहा गया है कि यह प्रतिमा क्या थी मानों वह राजा अवंतिवर्मा के शुभ्रयश का संसार में मूर्तरूप में प्रतिनिधित्व कर रही हो––

कृष्णस्याकृष्णकीर्तिः प्रवरगिरिगुहा
सश्रितं बिम्बमेतत् ।
मूर्त लोके यशः स्वं, रचितमिवमुदस्वी
करत् कांतिमत्सः ।।

लगभग 400 ईस्वी का एक अन्य लेख बंगाल के तुसाम नामक स्थान से मिला है । श्री कृष्ण की स्तुति के साथ उसमें उनकी पटरानी जांबवती का भी उल्लेख है । मनोरम शैली में स्तुति इस प्रकार है––

जितममीक्षणमेव जाम्बवति–
वदनारविन्दोर्ज्जितालिना ।
दानवागनामुखाम्भोज–लक्ष्मी
तुषारेण विष्णुना ।।

(जाम्बवती के कमलमुख को प्रफुल्लित करने वाले लोभी भंवर श्रीकृष्ण की जय हो, जो दानव ललनाओं की मुखश्री (को मलिन करने) के लिए तुषार (पाला) के समान है) ।

मध्यकालीन अभिलेखों में भी श्रीकृष्ण विषयक कई रोचक वर्णन उपलब्ध है । खजुराहों में प्राप्त चंदेल–राजधंग के लेख का प्रारंभ "ऊ नमो भगवते वासुदेवाय" से होता है ।

रीवा से प्राप्त राजा त्रैलोक्यमल्ल का ताम्रपत्र विशेषरूप से उल्लेखनीय है । उसके प्रारंभ में 'ओम नमः शिवाय गणपतये नमः' लिखा है । उसके बाद श्रीकृष्ण क रोचक वर्णन है । तदनंतर क्रमशः शिव और सरस्वती की स्तुति की गयी है ।

मध्यप्रदेश में रायपुर जिले में सिरपुर (श्रीपुर) नामक स्थान में प्रसिद्ध लक्ष्मण–मंदिर है । इस मंदिर में रानी वासटा का लेख खुदा हुआ है । लेख का प्रारंभ 'ओम नमः पुरूषोत्तमाय' से होता है । फिर वामन और नृसिंह अवतारों की स्तुति है । छठे श्लोक में श्रीकृष्ण की चर्चा इस प्रकार है:

दुर्धर्षवैरिवरदारणदारुणेषु सीरायुधः स०
इव, कंसनिषूदनस्य ।
राजाधिकारधवलः सकलोवभूव यस्याग्रजोऽ-
यनुचरच्चरतोरणेषु ।।

इस लेख का तात्पर्य यह है कि रानी वासटा के मृत वैष्णव पति का नाम चन्द्रगुप्त था । इस शासक को अपने बड़ भ्राता से (जो प्रतापी विजेता था) उसी प्रकार सहायता प्राप्त होती थी जिस प्रकार श्रीकृष्ण को उनके बड़े भाई बलराम से मिलती थी ।

रानी वासटा का यह लेख उसी मंदिर में मिला है जिसे उसने अपने दिवंगत पति की स्मृति में बनवाया था ।

मथुरा में श्रीकृष्ण–जन्मस्थान पर ईसवी पूर्व प्रथम शती में उपर्युक्त मंदिर बनाने के पश्चात् उस पवित्र स्थल पर भगवान् कृष्ण के मंदिर बनाने की परंपरा जारी रही । वहां गुप्त–सम्राट परम भागवत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया । उसका जीर्णोद्धार परवर्तीकाल में हुआ । जन्म–स्थान से विक्रम संवत् 1207 (1150 ई०) का एक शिलालेख मिला है । उस पर गाहड़वाल वंश के सम्राट गोविन्द चन्द्र के पुत्र विजयचन्द्र का नाम 'विजयपाल–देव" लिखा है । लेख से ज्ञात होता है कि उस शासक द्वारा जन्मस्थान पर एक नये मंदिर का निर्माण कराया गया । मंदिर के दैनिक व्यय के लिये दो मकान, छह दुकानें और एक बगीची (वाटिका) लगा दी गयी । लेख में यह भी लिखा है कि मंदिर के प्रबंध को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए चौदह व्यक्तियों की एक समिति (गोष्ठी) नियुक्त की गयी । इसके प्रमुख का नाम जज्ज था

मुगल सम्राट जहांगीर के शासनकाल में ओरछा के बुंदेला शासक वीरसिंह देव प्रथम ने मथुरा के जन्मस्थान पर तैंतीस लाख रुपये व्यय करके श्रीकृष्ण (केशवराय) का विशाल मंदिर बनवाया। यह मंदिर अपने समय का अत्यंत आश्चर्यजनक देवालय माना जाता था। फ्रांसीसी यात्री तावर्ने (टैवर्नियर) ने 17वीं शती में इस मंदिर को देखा। उसने इस मंदिर का विस्तृत रोचक वर्णन लिखा है।

भारत में ही नहीं, देश के बाहर भी अनेक शिलालेख और ताम्रपत्र लेख मिले हैं जिनसे श्रीकृष्ण की लोकप्रियता का पता चलता है। यहां कंबोडिया (प्राचीन कंबुज) में प्राप्त कतिपय अभिलेखों की संक्षिप्त चर्चा की जाती है।

स्याम, कंबुज, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि देशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार व्यापक रूप में हुआ। इन देशों में बहुसंख्यक ब्राह्मी शिलालेख मिले हैं। अधिकांश लेखों की भाषा संस्कृत है। कुछ लेखों में संस्कृत के साथ स्थानीय भाषाओं का भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार भाषा के अध्ययन की दृष्टि से भी इन लेखों का महत्व है।

कबुंज (कंबोडिया) के राजा यशोवर्मा के मंत्री सत्याश्रय का एक लेख फिमानकस (अंकोर-थाम) में मिला है, जो शक संवत् 832 (910 ई०) का है। इसमें सत्याश्रय द्वारा श्रीकृष्ण की प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने का उल्लेख है। लेख में भगवान् माधव की मूर्ति को त्रैलोक्यनाथ-प्रतिमा कहा गया है :

तेनैव स्थापितो भक्त्या भगवानिह माधवः स श्री त्रैलोक्यनाथाख्यो भाति पश्चिमया भाति भूतले।

वहीं के शासक जयवर्मा चतुर्थ के समय में 922 ई० में प्राण नामक ब्राह्मण द्वारा श्रीकृष्ण की 'चंपेश्वर' संज्ञक मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी। मूर्ति तथा मंदिर की अर्चादि के लिए एक सौ पुरुष-स्त्री सेवक नियुक्त किये गये और भूमि दान में दी गयी।

कंबुज में प्रसत-नेअंग-रूमौन नामक एक अन्य स्थान पर शक सं० 850 (929 ई०) का एक लेख मिला है। लेख में वासुदेव कृष्ण की स्तुति है और दो मंदिरों के निर्माण की चर्चा है। इन मंदिरों की दीवालों पर गोवर्धन धारी कृष्ण, त्रिविक्रम आदि के सुन्दर चित्र विविध रंगों से बनाये गय थे। उनमें से अनेक चित्र आज भी सुरक्षित है।

कंबुज में ताव तथा प्रह-इन कोसी नामक स्थानों में दो अत्यंत महत्वपूर्ण लेख है। इन स्थलों के क्षेत्र का प्राचीन नाम द्वितेन्द्रपुर था। शिलालेख ईसवी दसवीं शती के हैं। इन लेखों से पता चलता है कि कंबुज के राजा राजेन्द्रवर्मा की पुत्री का नाम इन्द्रलक्ष्मी था। उसका पति ब्राह्मण दिवाकर भट्ट मूलतः भारत में मथुरा का निवासी था, जो कंबुज में बस गया था। लेखों से पता चलता है कि इन्द्र लक्ष्मी ने अपने पति के साथ अनेक धार्मिक कार्य निष्पन्न किये। इनमें मधुवन में त्रिदेवों के लिए मंदिर का निर्माण, चिकित्सालय-निर्माण तथा भारती (सरस्वती) प्रतिमा की प्रतिष्ठापना आदि कार्य सम्मिलित थे। उक्त त्रिमूर्ति की स्थापना भद्रेश्वर नामक मंदिर में की गयी, जिसे राजा राजेन्द्र वर्मा के पुत्र तथा दिवाकर भट्ट के साले जयवर्मा ने बनवाया था।

एक लेख में दिवाकर भट्ट ने अपने जन्मस्थान मथुरा तथा श्रीकृष्ण का उल्लेख बड़े गर्व के साथ किया है। इस लेख से यमुना नदी का, वेद ध्वनि से गुंजरित मथुरा नगर का तथा कालियनाग एवं असुरों के संहारक श्रीकृष्ण का ओजस्वी वर्णन मिलता है।

संबंधित अंश (श्लोक 30) इस प्रकार है :

**कालिन्दी यत्र रम्या ऋतुभ रिज्यं जैर्विजेन्द्रैः
षट्त्रिंशद्भिस्सहस्रैरनुसवन कृतैर्ऋज्यजुस्साम शब्दैः कृष्णः कृष्णाहिमर्दी क्षितिजकुलहरः क्रीडितो यत्र वाल्ये
तत्रैवाभूत स देवो दिवसेकर इति ख्यात भट्टस्सुकीर्तिः ॥30॥**

(जिस मथुरा में रम्य यमुना बहती है जिसके तट ऋक् यजुर्वेद तथा साम का गायन करने वाले सहस्त्रों ब्राह्मणों के स्वरों से निनादित है, जिस कालिंदी-तट पर बचपन में कालियनाग का मर्दन करने वाले तथा असुरवंश को नष्ट करने वाले कृष्ण ने अनेक लीलाएं कीं, उसी मथुरा नगरी में यशस्वी दिवाकर भट्ट देव ने जन्म ग्रहण किया।)

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत तथा उसके बाहर प्राप्त बहुसंख्यक शिलालेखों और ताम्रपत्रों में भगवान् कृष्ण के प्रति प्रचुर उल्लेख उपलब्ध हैं। उनसे श्रीकृष्ण-चरित की लोकप्रियता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है।

कालीदास और उसका नारी चित्रण

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री

भारतीय संस्कृति के अमर गायक महा कवि कालीदास के विषय में यह कोई नहीं जानता कि वे किस दिन जन्मे थे और किस दिन उन्होंने इस स्थूल शरीर का त्याग किया। उनके स्थान और समय के विषय में भी विद्वानों का मतभेद समाप्त नहीं हुआ है। वास्तव में देखा जाय तो उन का यशरुपी शरीर इतना विशाल और शाश्वत बन गया है कि स्थूल अस्तित्व उसके पीछे छिप गया है। कालीदास ने हृदय के अन्तर्भावों का जो चित्रण किया है वह कितने आकर्षण और चकाचौंध को लेकर हमारे सामने उपस्थित होता है, उतना उनका वास्तविक जीवन नहीं होता। उनकी रचनाओं में कल्पना जगत स्थूल जगत की अपेक्षा अधिक वास्तविक प्रतीत होता है।

अपनी अमर रचना मेघदूत में कालीदास ने एक विरही का सन्देश उसकी प्रेयसी के पास भेजा है। आषाढ़ के काले बादल आकाश में घिर आते हैं। उन्हें देख कर विरही का मन व्याकुल हो उठता है। कवि कहता है–बादलों ने आते ही उसके मन में हलचल पैदा कर दी। उनके सामने खड़ा रहना मुश्किल हो गया। किसी प्रकार अन्दर ही अन्दर आंसू रोक कर उसने प्रेयसी का ध्यान किया। विस्मृति का लेप हट जाने पर वियोग के घाव कितने पीड़ा-दायी होते हैं, कवि ने कुछ ही शब्दों में इनका मार्मिक चित्रण कर दिया है।

मन में दुखी होने पर भी विरही अपने कर्तव्य को नहीं भूलता। अपना सन्देश सुनाने से पहले वह नवविकसित कुसुमों से अतिथि की पूजा करता है और प्रसन्न शब्दों में उसका स्वागत करता है।

कवि कहता है––कहां तो बादल जो कि धुआं, आग, पानी और हवा के मेल के अतिरिक्त कुछ नहीं है और कहां विरही, का सन्देश जिसे पहुंचाने के लिए बड़ी कुशलता की आवश्यकता है। किन्तु विरही कामार्त था, इसलिए चेतन और अचेतन के विवेक को भूल गया।

संस्कृत साहित्य पर यह आक्षेप है कि उस ने नारी को श्रृंगार तक सीमित रखा है। उसके उदात्त रुप को चित्रित नहीं किया। यदि अलंकार शास्त्र में प्रतिपादित नायिका भेद को देखा जाए तो यह आक्षेप निराधार प्रतीत नहीं होता। वहां सर्वप्रथम तीन भेद किए गए हैं। स्वकीया––अर्थात् अपनी पत्नी : परकीया—अर्थात् दूसरे की पत्नी और सामान्यता––अर्थात् वेश्या। इस के पश्चात विभिन्न, अवस्थाओं के आधार पर पचासों भेद हैं–– 1. प्रोषितभतृका––अर्थात् पति प्रवास के कारण उदास बैठी हुई।

2. वासक-सज्जा––अर्थात् प्रेमी की प्रतीक्षा में।

3. खण्डिता-पति द्वारा पर स्त्री के प्रेम करने पर अपमान एवं कोप से भरी हुई, घर वालों की जागरूकता के कारण मन मसोस कर रहने वाली आदि।

सभी भेद वासना एवं श्रृंगार से सम्बन्ध रखते है। धार्मिक कथाओं में भी नारी का आदर्श, सतीत्व या पतिव्रत के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता। वहां उसी स्त्री की प्रशंसा की गई है जो पति के अंधे, लूले-लंगड़ तथा दुराचारी होने पर भी उस की सेवा में लगी रहती है और उसे अपना देवता मानती है। इन दोनों रूपों में नारी का अपना व्यक्तित्व कुछ नहीं है। जो कुछ है वह पुरुष के लिए है।

किन्तु संस्कृत के कवियों ने नारी का जो रुप उपस्थित किया है उसे पढ़ कर उपर्युक्त धारणा बदलनी पड़ती है। "किरातार्जुनीयम्" में द्रौपदी धर्मराज युधिष्ठिर को अपने अपमान का बदला लेने के लिए प्रेरणा देती है और डाँटती हुई कहती है––

"यदि तुम अन्य सभी उपायों को छोड़ कर क्षमा को ही सुख का साधन मानते हो तो इस धनुष को अलग रख दो, जटाएं बढ़ा लो और आग में आहुति देना प्रारम्भ कर दो। हम लोग स्वयं कौरवों से निपट लेंगे।"

भारतीय नारी के मुख से अपने पति को जटाएं बढा कर सन्यासी बन जाने की बात विचित्र सी प्रतीत होती है किन्तु यह मानना पड़ता है कि कविवर भारीव की इन उक्तियों में एक पंजाबी महिला का स्वाभिमान बोल रहा है।

शिव और सुन्दर का योग: संस्कृति

कवि कालिदास मानव हृदय एवं संस्कृति दोनों के मर्मज्ञ थे। वह जानते थे कि मनोवेगों से जीवन को प्रेरणा मिलती है। साथ ही यह भी जानते थे कि उन्हें किस सीमा से आगे नहीं बढ़ने देना चाहिए। वह सौन्दर्य के उपासक थ किन्तु शिव की उपेक्षा भी नहीं करना चाहते थे। उन की दृष्टि में सुन्दर और शिव दोनों मिल कर संस्कृति की रचना करते हैं। "रघुवंश" के मंगलाचरण में उन्होंने वाणी और अर्थ के समान मिले हुए "शिव-पार्वती" की वंदना की है जहां शिव और सौन्दर्य साकार रुप में चित्रित है, शिव मंगल का प्रतीक है और सौन्दर्य उस में आकर्षण उत्पन्न करता है।

कवि कालिदास के काव्यों में त्याग और भोग, क्रोध और क्षमा, निसर्ग और कृत्रिमता, सिंहासन और संन्यास, यौवन

और वार्द्धक्य--सभी का सुन्दर समन्वय मिलता है।

उन्होंने नारी को विविध रूपों में उपस्थित किया है जहां कभी सौन्दर्य मुखरित होता है और कभी शिवत्व। इन्हीं दोनों के चढ़ाव-उतार को कवि ने अपनी नायिकाओं के रूप में चित्रित किया है।

रति का मंगलमय रूप

"कुमारसम्भव" कालिदास की प्रथम कृति मानी जाती है। वहां नारी दो रूपों में उपस्थित होती है। प्रथम रुप कामदेव की सहचरी रति है जो चित की चंचलता है। महापुरुषों की दृष्टि में वह एक दुर्बलता है। दूसरा रुप पार्वती है जो सेवा, त्याग तथा तपस्या की ज्वलन्त प्रतिमा है। महादेव कामदेव को भस्म कर देते हैं और रति असहाय हो जाती है। किन्तु कवि कामदेव के साथ उसे भस्म नहीं करता। काम रति का बहुत बड़ा सहारा है और उस का उत्तेजक भी। किन्तु यदि रति का व्यक्तित्व काम तक सीमित रहे तो वह अमंगल भी हो सकती है। काम को भस्म कर देने पर रति सदा मंगलमय है और जीवन का आवश्यक तत्व है। माता और पुत्र, गुरु और शिष्य आदि में होने वाला सहज प्रेम भी रति ही है। इतना ही नहीं उच्चतम लक्ष्य को साधना रति के बिना नहीं हो सकती। महापुरुषों तथा वीरों की कथाओं में एक मात्र रति ही आकर्षक तत्व के रूप में पाई जाती है।

पुरुष शिव है तो नारी शक्ति

पार्वती नारी के उस रूप को उपस्थित करती है, जिस के द्वारा वह सर्वत्र विजय प्राप्त करती है। कालिदास ने उस रुप को अनेक उपमाओं द्वारा प्रकट किया है। उनका कहना है कि पुरुष अर्थ है तो नारी वाणी है। अर्थ के बिना वाणी का कोई आधार और महत्व नहीं होता। साथ ही वाणी के बिना अर्थ अप्रकट और निराधार ही रह जाता है। वाणी उसे रूप देती है, सौन्दर्य देती है। इसी प्रकार पुरुष के बिना स्त्री निराधार है। साथ ही यह भी ठीक है कि पुरुष के गुणों की अभिव्यक्ति नारी के बिना नहीं हो सकती। पुरुष शिव है तो नारी शक्ति है। हमारे सामने "अर्द्ध-नारीश्वर" का जो रूप मिलता है वह स्त्री और पुरुष के परस्पर सम्बन्धों का उच्चतम आदर्श है। उस रूप पर पहुंचने के लिए अति-मानव बनने की आवश्यकता है। मानव के लिए वहां तक पहुंचना सम्भव नहीं है।

नारी के मानवीय रूप का चित्रण "रघुवंश" में मिलता है। सर्वप्रथम हमारे सामने दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा आती है। कवि उसे यज्ञ में दी जाने वाली दक्षिणा से उपमा देता है। राजा यज्ञ है तो वह दक्षिणा है। इस के बिना यज्ञ पूरा नहीं होता। इतना ही नहीं, दक्षिणा अनुष्ठान से होने वाली थकावट को मिटा देती है। सुदक्षिणा दिलीप की सहधर्मी है। दोनों मिल कर फल-प्राप्ति के लिए साधना करते हैं और सफल होते हैं। सुदक्षिणा के कर्तव्य का निरूपण करते हुए कवि कहता है कि जिस प्रकार स्मृतियां, श्रुति आदि वेदों का अनुसरण करती है उसी प्रकार वह भी दिलीप का अनुसरण करती थीं। यहां हम उसे एक सहयोगिनी के रूप में पाते हैं, दोनों एक-दूसरे के बिना अधूरे हैं।

सामूहिक प्रगति में सहयोगी

दूसरा चित्र आज की पत्नी इन्दुमती का है जहां कर्तव्य-पालन की अपेक्षा भावना की अधिकता है। वहां शिव की उपासना थी और यहां दोनों मिल कर सौन्दर्य की उपासना करते हैं।

इन्दुमती का देहान्त हो जाने पर अज विलाप करते हुए कहता--है "तू मेरी गृहिणी थी, सचिव थी, सखी थी और ललित कलाएं सिखाने के लिए प्रिय शिष्या भी थी। क्रूर विधाता ने तुझे छीन कर मेरा सब कुछ छीन लिया। गृहिणी और सचिव का पद उत्तरदायित्व-पूर्ण है किन्तु इस में आज्ञाकारिता का प्रश्न नहीं है। दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में पूर्ण अधिकार है और सामूहिक प्रगति के लिए दोनों एक-दूसरे के सलाहकार तथा साथी हैं। सखी और प्रिया शिष्या का पद सौन्दर्य एवं आनन्द की अनुभूति से सम्बन्ध रखता है। दोनों जीवन में मधुरता की वृद्धि करते हैं। उस के चले जाने पर राजा की कर्तव्य-शक्ति को आघात लगा और माधुर्य का तो लोप ही हो गया।

सीता के दो स्वरूप

तीसरा रूप सीता का है। जब राम बनवास की आज्ञा देते हैं और लक्ष्मण उसे वन में ले जा कर उस आज्ञा को सुनाते हैं तो वह हतप्रभ-सी हो जाती है। होश आने पर वह प्रजाजन होने के नाते राजा राम से न्याय मांगती है और लक्ष्मण से कहती है--

"उस राजा से जा कर पूछना कि मेरे चरित्र की अग्नि-परीक्षा हो चुकी है। फिर भी उस ने लोक-निन्दा से बचने के लिए मेरा परित्याग कर दिया। क्या वह उस के ज्ञान एवं कुल-परम्परा के अनुरूप हैं?"

सीता मानती है कि जनश्रुति की अपेक्षा अग्नि-परीक्षा अधिक विश्वसनीय है। ऐसी स्थिति में एक न्यायप्रिय राजा को जनश्रुति पर ध्यान न दे कर सत्य पर दृढ़ रहना चाहिए। लोक-निन्दा के भय से किसी निरपराध को दण्ड देना उचित नहीं कहा जा सकता, किन्तु दूसरे ही क्षण उसे अपना भान हो जाता है और वह समझती है कि मैं प्रजाजन नहीं हूं। मैं तो राम के ही व्यक्तित्व का एक अंग हूं। उन की निन्दा में मेरी निन्दा है और उन के यश में मेरा यश है। उन के सुख-दुख एवं मानापमान ही मेरे सुख-दुख एवं मानापमान है। जब मैंने अपना व्यक्तित्व उन के व्यक्तित्व में मिला दिया तो मुझे न्याय मांगने का क्या अधिकार है? राम ने मुझे दण्डित कर के अपने आप को ही दण्डित किया है। और मैं केवल दण्डित नहीं हूं, दण्डदायी भी हूं। हम उस स्थिति में हैं जहां दण्डदाता और दण्डित भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जिस प्रकार भक्त अपना व्यक्तित्व खो कर भगवान बन जाता है उसी प्रकार सीता अपना व्यक्तित्व राम में मिला कर स्वयं राम बन जाती है।

नारी का नया स्वरूप

"मेघदूत" की नायिका यक्ष-पत्नी एक नया चित्र उपस्थित करती है। सुदक्षिणा में मुख्य तत्व कर्तव्य था और यक्ष-पत्नी में प्रेम हैं। यहां प्रेमी और प्रेमिका दोनों इस प्रकार मिल गए हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि कौन प्रेमी है और कौन प्रेमपात्र। दोनों एक-दूसरे के बिना व्याकुल है। दोनों प्रेमी हैं और दोनों प्रेम-पात्र। उन में यह भेद नहीं किया जा सकता है कि कौन किस के लिए है। यक्ष यक्षिणी के लिए है और यक्षिणी यक्ष के लिए। यक्ष को अपने विरह की जितनी चिन्ता है उतनी ही यक्षिणी के विरह की भी है। अपने संदेश में उसे सम्बोधित करते हुए वह कहता है--"हे गुणवती देवदारु की सुगन्ध को ले कर तुम्हारी ओर से जो हवा बहती हुई मेरे पास आती है उस का आलिंगन कर के मुझे बड़ा सुख मिलता है। इस सम्भावना से कि शायद वह तुम्हें छू कर आ रही हो। मैं तुम से चित्र में मिलना चाहता हूँ, और शिला-तल पर तुम्हारा चित्र बनाता हूँ किन्तु उस के साथ जब अपना बनाने लगता हूँ तो आंखों से अश्रुधारा बहने लगती है। क्रूर विधाता हमें चित्र में भी नहीं मिलने देता। दूसरी ओर यक्षिणी का वर्णन करते हुए वह कहता है--वह घर की देहली पर फूल रख कर गिनती रही होगी कि इतने दिन बीत गए और इतने शेष रह गए। कभी पिंजरे में बैठी हुई सारिका से पूछती होगी--"मधुरे", तू उन्हें बहुत अच्छी लगती थी। क्या वह तुझे कभी याद आते हैं? कभी वह मेरे वियोग में गीत की रचना करती है और उस वीणा पर गाने के लिये तैयार होती है किन्तु अपने अस्त-व्यस्त तथा मलिन आंचलन में वीणा उठा कर ज्यों ही गाना चाहती है आंखों से आंसू बहने लगते हैं, और वीणा के तार गीले हो जाते हैं और उसका बजना बन्द हो जाता है। अपने आंचल के पल्ले से तारों को पोंछ कर वह उसे फिर बजाना चाहती है तो गीत की कड़ी भूल जाती है।

उपर्युक्त वर्णन को पढ़ कर यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि नारी पुरुष के लिए है या पुरुष नारी के लिए। यक्ष उसे लक्ष्य कर के फिर कहता है-- मुझे इन थिरकती हुई लताओं में तुम्हारा अंग-सौन्दर्य, भयभीत हरिणी की तरल दृष्टि से चितवन, चन्द्रमा में तुम्हारे मुख की आभा, मयूर के पंखों में तुम्हारे बाल तथा झरनों की तरंगों में तुम्हारे भ्रू-विलास की झलक मिलती है। किन्तु सारा सौन्दर्य कहीं एकत्र नहीं दिखाई देता। प्रेमी अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य को चारों ओर प्रकृति में बिखरा हुआ देख रहा है। साथ ही समग्र दर्शन के लिए तड़प रहा है। यहां प्रेमिका दिव्य रूप ले लेती है और भगवान के विरह में तड़पने वाले भक्त का रूप सामने आ जाता है। भक्त भी अपने उपास्य की झलक सर्वत्र देखता है। किन्तु समग्र दर्शन अर्थात् साक्षात्कार के लिए व्याकुल रहता है।

नारी के स्वाभिमान पर प्रहार

कवि कालीदास के तीन नाटक हैं। उनमें नारी का जो रूप है वह अधिकतर पुरुष के प्रभुत्व को अधिक मात्रा में प्रकट करता है। सर्वप्रथम "मालविकाग्निमित्र" लीजिए। उस से तीन चित्र मिलते हैं--"धारिणी" उदारमना राजमहिषी है। उस पर अन्तःपुर की व्यवस्था का उत्तरदायित्व तो है ही, राजा पर नियन्त्रण रखना भी उसी का काम है। एक समझदार गृहणी के समान वह इस बात को भी जानती है कि किस बात को सीमा से आगे बढ़ने देना चाहिए और उस सीमा पर पहुंच जाने के बाद वह प्रतिबन्ध को शिथिल कर देती है। उसे यह पसन्द नहीं है कि राजा का झुकाव मालविका की ओर हो और इस प्रयत्न में रहती है कि मालविका उस की दृष्टि में न पड़े फिर भी विदूषक की चालाकी के कारण मालविका नृत्य करने के लिए राजा के सामने उपस्थित होती है और धारिणी दोनों के परस्पर अनुराग को समझ जाती है। परिणामस्वरूप वह मालविका को कैद में डाल देती है। अन्त में उसे पता चलता है कि मालविका राजकुमारी है और पुत्र विजय की खुशी में राजा के साथ उसका विवाह कर देती है। अन्त में वह कहती है जिस प्रकार बड़ी नदी छोटी-छोटी नदियों को समुद्र तक पहुंचा देती है उसी प्रकार पति-व्रताओं का कर्तव्य है कि वे भी अन्य स्त्रियों को पति तक पहुंचा दें। निस्सन्देह यह चित्र नारी के स्वाभिमान पर आघात करता है। नैतिकता की दृष्टि से भी किसी उच्च आदर्श को उपस्थित नहीं करता। दूसरी पत्नी इरावती है। मालविका के आगमन से पहले राजा उसी पर आसक्त था किन्तु मालविका को देखने के बाद उधर झुक गया। परिणाम-स्वरूप इरावती के मन में ईर्ष्या उत्पन्न होती है किन्तु वह धारिणी से शिकायत करने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाती।

मालविका राजकुमारी होने पर भी विपत्ति में फंस गई। अग्निमित्र के सेनापति ने उसका उद्धार किया और अपनी बहन धारिणी को सौंप दिया। वह दासी के रूप में रहने लगी। स्वयं निर्दोष होने पर भी उसे कारावास का दण्ड मिला। उस का चित्र नारी के अबला रूप को प्रकट करता है। उपर्युक्त तीनों चरित्र नारी के सर्वसाधारण रूप को उपस्थित करते हैं। धारिणी केवल गृहिणी है। इरावती और मालविका केवल विलास का साधन हैं। इरावती को विवाहिता होने के कारण ईर्ष्या करने एवं शिकायत करने का थोड़ा-सा अधिकार प्राप्त है। मालविका को वह भी नहीं।

नारी का अबला रूप

"अभिज्ञान शाकुन्तलम" की नायिका नारी के सरल, सुन्दर एवं अबला रूप को प्रकट करती है। शकुन्तला तथा उस की सखियां व्यस्क हो जाने पर भी वासना से अपरिचित हैं। वे निर्दोष प्रकृति की गोद में पलती हैं। वृक्ष-लताएं तथा हरिण उन के बन्धुजन हैं और वे स्वयं प्रकृति का उपहार-सा प्रतीत होती हैं। दुष्यन्त तपोवन में आकर एक नए भाव का संचार करता है। कवि उस के लिए पृष्ठभूमिका के रूप में दो चित्र उपस्थित करता है। पहले चित्र में राजा धनुष पर बाण चढ़ाए हुए एक हरिण का पीछा कर रहा है। और ऋषिकुमार उसे मना करते हुए कह रहे हैं--"राजन्! हरिण के इस कोमल शरीर पर बाण प्रहार मत करो। रूई के समान उस कोमल शरीर पर आग क्यों फेंक रहे हो। कहां तो हरिणी की निर्दोष चपलता और कहां तुम्हारे बज्र के समान कठोर तीखे बाण।" वास्तव में कवि हरिण के रूप में शकुन्तला की ओर संकेत कर रहा है। उसके सरल एवं सहज चपल जीवन में राजा ने तीक्ष्ण प्रहार किया और वासना की अग्नि प्रज्जवलित कर दी और उसका जीवन बदल गया। दूसरा चित्र एक मतवाले हाथी का है जो वृक्षों की शाखाओं को तोड़ता हुआ भागा चला जा रहा है।

बेलें टूट-टूट कर उस के पैरों में उलझ गई हैं किन्तु वह अपने नशे में चूर है। उस के कारण शान्त तपोवन में कोलाहल एवं उद्विग्नता छा जाती हैं। कवि का लक्ष्य राजा की ओर है जो अपनी उद्दास वासना को तृप्त करने के लिए सभी मर्यादाओं को तोड़ डालता है और तपोवन को क्षुब्ध कर देता है।

शकुन्तला राजा की मीठी बातों में आ गई। उस के कपट को नहीं समझ सकी। नगर में पहुंचते ही वह अपने सब वायदों को भूल गया। जब गौतमी और तापसकुमार शकुन्तला को लेकर राजदरबार में पहुंचे तब दुष्यन्त ने पहचानने से इन्कार कर दिया। उधर ऋषिकुमारों ने क्रुद्ध हो कर शकुन्तला से कहा--"राजा तुझे रखे या न रखे, हिन्दू पत्नी के नाते तुझे प्रत्येक परिस्थिति में पति के घर रहना होगा। वहीं रह कर अपनी चपलता का फल भोग।"

इन शब्दों के साथ हमारे सामने नारी का अबला रूप उपस्थित हो जाता है। इस का अर्थ है कि वह पिता या पति के आश्रम के बिना कुछ भी नहीं है। अन्त में सन्तान के कारण उसे राजरानी का पद मिलता है। किन्तु यहां भी वही प्रश्न उठता है यदि सन्तान न हो तो? शकुन्तला एक हिन्दू नारी का सजीव चित्र है। वह पिता के घर में हंसती-खेलती अबोध बालिका है जो अकस्मात पत्नी बन जाती है किन्तु अपने आप को तदनुरूप नहीं बना पाती। परिणाम-स्वरूप पति की कठोरता का शिकार बनती है और पुत्र के कारण अपने गौरव को पुनः प्राप्त करती है।

भक्त का भगवान से प्रेम

अन्तिम चित्र "विक्रमोर्वशीय" की नायिका उर्वशी का है। राजा पुरुरवा दानवों द्वारा अपहृत उर्वशी को छुड़ा कर लाता है और दोनों में परस्पर प्रेम हो जाता है। उर्वशी स्वर्ग की अप्सरा है और उसे वहां बुला लिया जाता है। राजा उस के वियोग में इधर-उधर भटकता रहता है। पुनः प्राप्त करता है किन्तु फिर वियोग हो जाता है। इस प्रेम की व्याख्या आत्मा और परमात्मा के रूप में की जाती है। वास्तव में यह प्रेम चित्रण सूफियों की प्रेम-साधना को उपस्थित करता है जहां भक्त ईश्वर की उपासना प्रेमिका के रूप में करता है। भारतीय परम्परा में पुरुष के वियोग में स्त्री के विरह का वर्णन अधिक मिलता है। अरबी तथा फारसी साहित्य में इस के विपरीत है। वहां प्रेमी प्रेमिका के विरह में तड़फता है। "विक्रमोर्वशीय" भी इसी प्रकार चित्र उपस्थित करता है जो कि संस्कृत साहित्य में अपने ढंग का एक ही है। यहां नायिका एक तरल, क्षणभंगुर लक्ष्य है। साधक उसे प्राप्त करता है और वह फिर छूट जाता है। "अभिज्ञान शाकुन्तलम" में पुत्र दोनों के पुर्नमिलन का कारण है किन्तु यहां वही दोनों के सदा के लिए बिछुड़ने का। यह उसी प्रकार है जैसे विभूतियों के आकर्षण में पड़ कर योगी अपने चरम लक्ष्य को भूल जाए। यह चित्र रहस्यवाद से परिपूर्ण है।

ज्ञान-विज्ञान के आदिदेव : विश्वकर्मा

--डा० परमानन्द पांचाल

"विश्वकर्मा" शब्द बड़ा व्यापक है। भारतीय वाङ्मय में इसका अनेक अर्थों में प्रयोग मिलता है। "विश्वं कृत्स्नं कर्म व्यापारो वा यस्य सः", अर्थात् संपूर्ण जगत् और कर्म अर्थात् क्रिया-व्यापार जिसका है, वह विश्वकर्मा है। इस बहुव्रीहि समास से सृष्टि के रचयिता परमेश्वर के रूप में विश्वकर्मा का बोध होता है। यजुर्वेद (अध्याय 31, मंत्र 17) में ईश्वर को ही विश्वकर्मा कहा गया है। और महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उसका इस प्रकार भाष्य किया है:--"विश्वं सर्वं कर्म क्रियमाणं यस्य स विश्वकर्मा" अर्थात् विश्व के सभी कर्म जिनके अपने किए हुए होते हैं, वही विश्वकर्मा हैं।

स्वर्गीय वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसी अर्थ को विशद करते हुए लिखा है--"समस्त विश्व जिसका कर्म है, यह विराट जगत् जिसकी रचना है, उस देवाधिदेव के वेदों में "विश्वकर्मा" यह सुन्दर संज्ञा प्रयुक्त हुई है। काव्य, संगीत, कला, नृत्य, चित्र, शिल्प, वास्तु आदि समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का जो एकमात्र छंदोमय स्रोत है, वही विश्वकर्मा का विधान है"।

भारतीय साहित्य में वायु, भविष्य, ब्रह्मांड, मत्स्य, अग्नि, वराह, ब्रह्मवैवर्त, पद्म, स्कन्द, लिंग तथा शिव आदि पुराणों में विश्वकर्मा की महिमा का गान किया गया है। भागवत पुराण में कहा गया है कि विश्व में जहां-कहीं शिल्प-नैपुण्य है, उसे विश्वकर्मा का प्रताप समझना चाहिए। लंका पर चढ़ाई के समय सागर पर पुल बांधने वाले नल एवं नील को भगवान राम ने "तनयौ विश्वकर्मण" कहकर संबोधित किया था।

प्राचीन धर्म ग्रंथों में विश्वकर्मा को प्रजापति, आदित्य, देवशिल्पी, त्रिदशाचार्य, तथा भौवन आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। इससे पता चलता है कि विश्वकर्मा शिल्प एवं वास्तुविद्या के अधिष्ठाता तथा निर्माण के देवता थे।

पुराणों के अनुसार देवासुर संग्राम के अवसर पर विश्वकर्मा ने ही देवताओं की रक्षा की थी। समुद्र से प्राप्त अमृत घट के ये ही रक्षक थे। इन्होंने ही सुदर्शन चक्र बनाकर विष्णु को दिया। इन्द्र की अलकापुरी और शिव के कैलाशपुरी के ये ही निर्माता थे। पुष्पक विमान इन्हीं के द्वारा निर्मित था। कल्कि पुराण में इनके द्वारा बनाए गये दो विमानों का उल्लेख मिलता है। वाल्मीकि रामायण में वर्णन मिलता है कि विश्वकर्मा द्वारा निर्मित रत्न जड़ित पुष्पक की विशेषता यह है कि यह कभी भूमि, कभी गगन, कभी उत्तुंग शिखर और कभी जल में चलता है।

चारण व्यूह, खंड 4 में बताया गया है कि अथर्ववेद (जिसमें स्थापत्य कला भी सम्मिलित है), जो विश्वकर्मा कृत शिल्पशास्त्र कहलाता है, वही अथर्ववेद का उपवेद है। यहां "अथर्ववेद से किसी एक पुस्तक से अभिप्राय नहीं है; अपितु समस्त विज्ञान मूलक शिल्पविद्या अथर्ववेद कही गई है।

शिल्प संहिता के अठाहरवें अध्याय में ऐसा वर्णन है कि मनु के आग्रह पर विश्वकर्मा ने एक "दूरदर्शन" (दूरबीन) का निर्माण किया था--'मनोर्वाक्यं समाधाय · · · यंत्र चकार सहसा दृष्टच्यर्थे दूरदर्शनम्।' माना जाता है कि विश्वकर्मा का विवाह प्रह्लाद की कन्या रचना से हुआ था। रचना से उन्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई, जिसका नाम था त्रिशिरा। वह बड़ा विद्वान था। उसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी, तो इन्द्र को यह असह्य हो गया। उसे लगा कि त्रिशिरा उसके लिए एक चुनौती है। इसलिए इन्द्र ने उसकी हत्या कर दी। पुत्रहत्या से क्रुद्ध विश्वकर्मा नें इन्द्र से बदला लेने का निर्णय किया। उन्होंने दूसरे पुत्र की प्राप्ति के लिए कठोर साधना की। परिणामस्वरूप दूसरे पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम वृत्र रखा गया। वृत्र एक महान योद्धा के रूप में सर्वविख्यात हो गया। सभी देवता उससे भयभीत हो उठे। वृत्र किन्हीं कारणों से देवों का कट्टर विरोधी हो गया और देवों के शत्रुओं का सेनापति भी बन गया।

वृत्र से आतंकित देवताओं ने भगवान को प्रसन्न करके यह वर प्राप्त कर लिया कि किसी महर्षि की अस्थियों से बनाए गए व्रज से वृत्र का संहार हो सकेगा। उन्होंने दधिचि से प्रार्थना की कि वे देवताओं की सहायतार्थ अपनी हड्डियां उन्हें दे दें। दधीचि ने सहर्ष अस्थियां दे दीं।

अस्थियों से अमोघ व्रज बनाना था, जिससे वृत्र का वध होकर ही रहे। स्वयं वृत्र के पिता विश्वकर्मा के सिवा कोई इस कुशल कार्य को नहीं कर सकता था। महान् विश्वकर्मा ने देवताओं के अनुरोध को स्वीकार करके वृत्र वध के लिए वज्र बनाकर दिया, क्योंकि उन्होंने अपनी संतान से बढ़कर अपना राष्ट्र प्रिय था।

राजा भोज ने, जो स्वयं संस्कृत और शिल्पशास्त्र के पंडित थे, अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "समरांगणसूत्रधार" में विश्वकर्मा की वंदना इन शब्दों में की है:--

तदीशस्त्रिदशाचार्यः
सर्वसिद्धीप्रवर्तकः।
सुतः प्रभासस्य विभोः
स्वस्त्रीयश्च वृहस्पतेः।

अर्थात् वह ईश (विश्वकर्मा) देवताओं का आचार्य है, संपूर्ण ऋद्धि-सिद्धियों का प्रवर्तक है, प्रभास नामक ऋषि का सुत देवगुरू वृहस्पति का भानजा है।

पुराणों तथा प्राचीन ग्रंथों के अध्ययन से यह संशय होना स्वाभाविक ही है कि क्या विश्वकर्मा एक ही व्यक्ति था, या अनेक व्यक्ति विश्वकर्मा नाम से विभिन्न कालों में हुए हैं? ऐसा प्रतीत

होता है कि आदि शिल्पाधिपति विश्वकर्मा के पश्चात् अनेक विश्वकर्मा हुए हैं। महाभारत काल तक हमें अनेक विश्वकर्माओं के दर्शन होते हैं। बाद में सर्वश्रेष्ठ शिल्पाचार्य को विश्वकर्मा की उपाधि से विभूषित किया जाने लगा होगा। "मयमतम्" से भी इस धारणा की पुष्टि होती है।

भारतीय सभ्यता के साथ विश्व-कर्मा शब्द भी बृहत्तर भारत पहुंचा। थाई देश में आज भी इंजीनियर को फिस्वकम्य (विश्वकर्मा) ही कहते है। प्रत्येक वर्ष दीपावली से अगले दिन विश्वकर्मा पूजा होती है और हर वर्ष सारे देश में 17 सितम्बर को विश्वकर्मा जयन्ती मनाई जाती है। इस अवसर पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों में शिल्पकार तथा श्रमिक विश्वकर्मा की अर्चना करके अपने औजारों की पूजा करते हैं और यन्त्र-चालन और शिल्प में कौशल की प्रार्थना करते हैं।

भावात्मक एकता के संदर्भ में राष्ट्रकवि गुप्त जी की याद

--विनोद कुमार सिन्हा

राष्ट्रीय एकता के दो पक्ष होते हैं सांस्कृतिक और भावात्मक। सांस्कृतिक एकता के अन्तर्गत भाषागत एकता आती है। सांस्कृतिक एकता के माध्यम हैं धर्म, कला, दर्शन, साहित्य और भाषा। भावात्मक एकता राष्ट्र निर्माण का एक सुदृढ़ तत्व है। सांस्कृतिक एकता कुछ अर्थों में एक वर्ग विशेष या अवस्था विशेष तक सीमित रह सकती है-- परन्तु भावात्मक एकता में देश का बच्चा-बच्चा, जन-जन एक राष्ट्रीय भावना के साथ तादातम्य स्थापित कर लेता है। हमारा देश भारत वर्ष विविधताओं का देश है। विभिन्न रीति-रिवाज, धर्म, भाषा, पोशाक आदि के बावजूद भी भारत में एक भावात्मक एकता की झलक मिलती है। इसीलिए कवीन्द्र रवीन्द्र ने इसे "महामानवेर समुद्र" कहा था। उन्होंने कहा था :-

"हेथाय आर्य, हेथा अनार्य, हेथाय द्राविड़ चीन।

शक ,हुण दल, पाठान, मोगल एक देह हलोलीन।"

यहां आर्य है, यहां अनार्य है, यह द्रविड़ और चीनी है, शक, हून, पठान, मुगल ये सब इस देश रुपी शरीर में समाकर एकाकार हो गये है :--

इतना ही नहीं, आर्यों के मूल ग्रंथ ऋग्वेद में भी लिखा गया है।

"संन्छध्वं, संवदंध्वं, सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सं जानाना उपासते।"

सामाजिक सौमनस्य एवं भावात्मक एकता के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि साथ मिलकर आगे बढ़ो, वाणी में संयम रखते हुए एक स्वर में बोलो और विचारों में सहमति का यत्न कर ज्ञान की प्राप्ति करों।

हमारे प्रथम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने भी कहा था :--

"भारत की विभिन्नताओं की तह में एक ऐसी समता और एकता फैली हुई है जो अन्य विभिन्नताओं को ठीक उसी तरह पिरो लेती है और पिरोकर एक सुन्दर समूह बना देती है जैसे रेशमी धागा भिन्न-भिन्न प्रकार के और विभिन्न रंग के सुन्दर मणियों अथवा फूलों को पिरोकर एक सुन्दर हार तैयार कर देता है। जिसका प्रत्येक मणि या फूल एक दूसरे से न तो अलग है और न हो सकता है और केवल अपनी ही सुन्दरता से लोगों को मोहता नहीं बल्कि दूसरों की सुन्दरता से वह स्वयं सुशोभित होता है। उसी तरह अपनी सुन्दरता से दूसरों को भी सुशोभित करता है। यह केवल एक काव्य की भावना नहीं है बल्कि एक ऐतिहासिक सत्य है।"

भारत की भावात्मक एकता एवं साँस्कृतिक एकता को सुदृढ़ बनाने में हमारे साहित्यकारों का बहुत बड़ा योगदान रहा है। साहित्यकारों की दृष्टि में भौगोलिक दूरियां कम हो जाती हैं, देश एक भावात्मक ढ़ांचे में ढ़ल जाता है और देश की भावगत एकता अटूट धागे के रूप में विभिन्न मनकों को जोड़कर एक ऐश्वर्यपूर्ण माला का निर्माण करती है। उसी भावात्मक एकता के कारण विभिन्न कंठों से निकली हुई ध्वनियों के अतःकरण में एक ही संगीत गूंजित होता है।

आज से एक शतक पूर्व 6 अगस्त, 1886 के दिन भारत में एक संत कवि का प्रादुर्भाव हुआ था। भारत-वासियों ने उन्हें "राष्ट्र कवि" की उपाधि दी थी। उन्होंने खड़ी बोली को एक नया प्राण दिया था। उन्होंने लोकभाषा और साहित्यिक भाषा में सामंजस्य स्थापित किया था। उन्होंने भारतीय संस्कृति को ही अपने काव्य का मूल आधार माना था।

राष्ट्रीयता की भावना से ओत-प्रोत होकर उन्होंने भारत-भारती की रचना की थी। उन्होंने दर्जनों ग्रंथों की रचना की थी जिसके फलस्वरूप उन्हें हिन्दी साहित्य के कवियों में उच्चतम स्थान दिया गया।

उनकी रचनाओं में सौन्दर्य, कला, आध्यात्म का नवीनीकरण और सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक प्रवृत्तियां कूट-कूट कर भरी हैं। ऐसे महान राष्ट्रकवि की विस्तृत रचनाओं की सूक्ष्म काव्यगत विशेषताओं का विस्तृत वर्णन करना भी बड़े विद्वानों का श्रमसाध्य कार्य होगा। मैं हिन्दी साहित्य का एक अदना सा चाकर हूं--कोई विद्वान नहीं। यहां पर मैं आप लोगों को केवल भावात्मक एकता के संदर्भ में राष्ट्र-कवि गुप्त जी की याद दिलाने का प्रयास कर रहा हूं।

सबसे पहले उनके शब्दों में भारतवर्ष की सांस्कृतिक एवं पौराणिक महानता की झलक देखें :—

हां, वृद्ध भारतवर्ष ही संसार का सिरमौर है,
ऐसा पुरातन देश कोई, विश्व में क्या और है?
भगवान की भवभूतियों का यह प्रथम भंडार है, विधि ने किया नर-सृष्टि का पहले यहीं विस्तार है।

(भारत-भारती)

हमारा देश भारत विभिन्न धर्मों एवं भाषाओं के रहते हुए भी एक फूलों के उस गुच्छ के समान है जिसके सभी फूल भांति-भांति के रंग रुप वाले हैं परन्तु भीतरी सुगन्धि बिल्कुल एक समान है। राष्ट्र कवि गुप्त जी ने "साकेत" के प्रथम सर्ग में ही अपने देश को भावात्मक एकता का बड़ा सजीव वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है :—

एक तरू के विविध सुमनों से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।
स्वस्थ शिक्षित, शिष्ट उद्योगी सभी।
वाह्यभोगी, आन्तरिय योगी सभी।।

यहां पर हमारे भारत का कितना सजीव वर्णन है। हमारे भारतवासी स्वस्थ हैं, शिक्षित हैं, शिष्ट हैं, उद्योगी हैं, वाह्यभोगी हैं परन्तु भीतर से सभी योगी हैं।

आज भारत के कुछ लोग भाषा के नाम पर, धर्म के नाम पर डेढ़ चावल की खिचड़ी पकाना चाहते हैं। वे चाहते हैं धर्म और भाषा के नाम पर देश को तोड़ दिया जाए।

राष्ट्रकवि गुप्त जी ने लोगों को बहुत दिन पूर्व ही एक भविष्य वक्ता की तरह चेतावनी दी है कि बहुत तारों के रहने के बावजूद भी तम का नाश नहीं होता—तम का नाश मात्र एक सूर्य के उदय से ही संभव है। जब देश का विकास होगा तब ही राज्यों का विकास संभव है।

एक राज्य न हों, बहुत से हों जहां,
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां।
बहुत तारे थे, अंधेरा कब मिटा?
सूर्य का आना सुना जब, तब मिटा।।

धर्म और जाति में विभिन्न रहते हुए हमारे तन में एक ही रुधिर का संचार होता है। हमारे संस्कार एक हैं और हम एक देश के निवासी हैं।

एक हमारे हैं संस्कार,
इसमें एक रुधिर संचार ।।
एक हमारा देश उदार;
गूंजे एक गर्व का गान।।

राष्ट्रकवि गुप्त जी की रचना "वनवैभव" में युधिष्ठिर के चरित्र की महत्ता प्रदर्शित की गई है। गंधर्वों द्वारा कौरवों को बंदी बना दिया गया है। पांडव कौरवों के भले ही आपसी दुश्मन हों परन्तु जब वाह्य आक्रमण की बात होती है तो वे एक हो जाते हैं। गंधर्वों द्वारा कौरवों को बंदी बना लेने पर अर्जुन, भीम आदि कौरवों की ओर से लड़ते हैं। चित्ररथ ऐसे मित्र से भी अर्जुन को लड़ना पड़ता है। गुप्त जी के शब्दों में युधिष्ठिर ने कहा है :—

जहां तक आपस की आंच
वहां तक वे सौ हैं, हम पांच।
किन्तु यदि करे दूसरा जांच
गिने तो हमें एक सौ पांच।।

ईश्वर के संबंध में गुप्त जी का चिन्तन देखें। गुप्त जी के राम सर्वव्यापी राम हैं। उन्होंने राम को ईश्वर का विश्व व्यापी रूप देकर अपना आराध्य माना है। राम चराचर व्यापी हैं परन्तु इस युग में राम के ईश्वरत्व की भावनाओं में उनकी विश्व व्यापकता पर अधिक बल दिया गया है और इस प्रकार राम से प्रेम करना—समस्त विश्व से प्रेम करना है। विश्व बन्धुत्व की भावना से ओत प्रोत होकर गुप्त जी ने राम को भी अपने ही दृष्टिकोण से देखा है। इतना ही नहीं, बल्कि विश्व बन्धुत्व में रमे हुए कवि राम को भी उसी रंग में देखना चाहते हैं—अगर इसमें सफल न हुए तो वे ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने वाले "निरीश्वर" भी बन सकते हैं परन्तु राम को सर्वव्यापी रूप में देखना चाहते हैं।

राम तुम मानव हो? ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तब मैं निरीश्वर हूं, ईश्वर क्षमा करें,
तुम न रमों तो मन तुम में रमा करें।

विभिन्न धर्म समुदाय के लोग ईश्वर को विभिन्न नाम देते हैं। दार्शनिक एवं विद्वान कहते हैं कि ईश्वर एक है—रूप अनेक हैं। परन्तु गुप्त जी ने ईश्वर को सर्वव्यापी मानकर एक अलग सिद्धांत का निरूपण किया है। उनका कहना है कि परमात्मा का निवास स्थान आत्मा में है। भारत में जितने लोग हैं उन सबों की आत्मा में ईश्वर का निवास है। अतः किसी भी व्यक्ति की पारस्परिक घृणा ईश्वर से घृणा है। पारस्परिक एकता ही सद्भाव एवं धर्म की प्रेरक शक्ति है। अगर भारतवासी हर जन की आत्मा में ईश्वर के निवास को मानकर आपसी एकता, सद्भाव एवं अखंडता का पाठ अपना लें तो देश सुख-सम्पन्न हो जाए—धरा स्वर्ग हो जाये।

प्रत्येक जन प्रत्येक जन को बन्धु अपना जान लो,

सुख-दुःख अपने बन्धुओं का आप अपना मान लो।

अनुदारता दर्शक हमारे, दूर सब अविवेक हों,

जितने अधिक हों तन, भले हैं;
मन हमारे एक हों।।

आचार में कुछ भेद हो, पर प्रेम हो व्यवहार में;

देखें हमें फिर कौन सुख मिलता नहीं संसार में।

गुप्त जी के समय भारत की जनसंख्या तीस कोटि थी—उन्होंने तीस कोटि भगवान की कल्पना की थी :—

करते हों किस इष्टदेव का आंख मूंदकर ध्यान,
तीस कोटि लोगों में देखो, तीस कोटि भगवान।

गुप्त जी भारतीय संस्कृति के प्रसिद्ध कवि थे। उनकी प्रत्येक रचना भारतीय जीवन के बीच प्राचीन आर्य संस्कृति के दर्शन कराती है। हिन्दू जीवन का आदर्श और राम का चरित्र उनका अधिकांश विषय है। उन्होंने जातीयता और छूआछूत आदि बुराईयों पर भी चोट की है।

जातीयता और छुआछूत हमारी भावात्मक एकता की विरोधी शक्तियां हैं, इसका नाश अवश्य होना चाहिए :–

इन्हें समाज नीच कहता है, पर
हैं ये भी तो प्राणी।
इनमें भी तो मन और भाव है,
किन्तु नहीं वैसी वाणी॥

इतना ही नहीं जिस समय हिन्दू और मुसलमान का आपसी झगड़ा चल रहा था तब आपसी सौहार्द्र कायम करने के लिए भी उन्होंने एक भी कसर बाकी न छोड़ी :––

हिन्दू मुसलमान दोनों अब,
छोड़ें, वह विग्रह की नीति।

बारह वर्षों तक गुप्त जी ने भारतीय संसद की भी सेवा की। वहां भी भावात्मक एकता के धर्म का ही उन्होंने पालन किया। उन्होंने संसद में भी पद्यमय शैली में राष्ट्रभाषा हिन्दी के संबंध में कहा था :–

बिना एक व्यापक वाणी के, एक राष्ट्र
की सत्ता क्या?
किसी देश में निजता का पद पाती
है परवत्ता क्या;

इस बहुभाषी भारत को एक करने के लिए उसकी भावात्मक एकता को बलवती बनाने के लिए, देश में एकरूपता लाने के लिए उन्होंने "व्यापक वाणी" की आवश्यकता पर बल दिया और "बिना वाणी के राष्ट्र की सत्ता कैसी?" का विकट प्रश्न संसद में उठाकर सभी सांसदों को अपने भावात्मक विचार से अवगत कराया।

भारत को अविभाज्य बनाने के लिए, भारत की भावात्मक एकता को सुदृढ़ करने के लिए उन्होंने कहा था :– हिन्दी का उद्देश्य यही है, भारत एक रहे अविभाज्य। आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी ने गुप्त जी को "दीन-दरिद्र भारत के विनीत, विनयी और नतशिर कवि" कहा है। उन्होंने कहा है कि गुप्त जी ने भारत की जनता को अपना संदेश भी दिया है परन्तु महापुरुषों की भांति आज्ञा देकर नहीं भिक्षार्थी की भांति आंचल पसारकर–इसी में उनकी तृप्ति रही है।

महादेवी जी ने कहा है :–"मैथिली शरणगुप्त जी के काव्य में हमें अतीत की गरिमा, वर्तमान की दयनीयता तथा भविष्य की विजय का संकेत मिलता है, इसके अतिरिक्त उनके काव्य में भारत की सम्पूर्ण संस्कृति की वाणी मिलती है।" किसी भी साहित्य के सार्वभौम एवं सर्वकालिक प्रतिमानों में विश्वास की उत्पत्ति ही उस साहित्य को अमर बनाती है। साहित्य को अपने युग का दर्पण कहा गया है। परन्तु अमर साहित्य हर युग का दर्पण होता है। जिस साहित्य का उद्देश्य जन, समाज एवं देश हित में होता है, जिस साहित्य में भावात्मक एकता को आधारशिला बनाया जाता है वह साहित्य कभी भी एक देशीय या एक युगीन नहीं हो सकता। यूनानी काव्य शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान "दि औन्युसियस लोंगिनुस" ने कहा है :–

"वास्तव में महान रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसे जाने पर भी सदा खरी उतरे, जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं लगभग असंभव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाए न मिटे।" तुलसीदास जी भी ऐसे ही समन्वयवादी लोकनायक थे। उनका "रामचरित मानस" सर्वकालिक एवं सर्वदेशीय है। लोक नायक तुलसी की तरह गुप्त जी की रचना भी सर्वयुगीन है, सर्वकालिक है। उनका संदेश भी सर्वकालिक है। उनकी रचना का उद्देश्य देश की भावात्मक एकता के हित में है। अतः उनकी रचना सदैव अमर रहेगी। हर युग में उनकी रचना से प्रभावित न होना असंभव है। उनकी रचना के प्रभाव को कभी भी मिटाया नहीं जा सकता है।

आज उस राष्ट्रकवि का शताब्दी वर्ष है जिन्होंने एक हृदय एक वाणी और एक भाषा वाले देश की परिकल्पना की थी, आज उस राष्ट्रकवि का जन्म शताब्दी वर्ष है, जिन्होंने जन-जन की आत्मा-में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया था, आज उस राष्ट्रकवि का जन्म शताब्दी वर्ष है, जिन्होंने भारत की विविधता को एकरूपता के सूत्र में बांधने के लिए आजीवन प्रयास किया था।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि राष्ट्रकवि की जन्मशती पर सारे भारत में केवल साहित्यकारों, कवियों और विद्वानों की तरफ से ही नहीं, सरकार की तरफ से भी साहित्यिक सभा एवं श्रद्धांजलि सभा का आयोजन किया जा रहा है। सरकार का राष्ट्रकवि एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी की तरफ यह अटूट प्रेम एवं श्रद्धा भी भावात्मक एकता के प्रयास का द्योतक है। प्रतिभायुक्त सरकार की दृष्टि सदा ऊंचाई की ओर रहती है––यह एक अकाट्य सत्य है।

अंग्रेजी के एक विद्वान ने कहा है :– "दि लाइट व्हिच नेवर ऑन लैन्ड और सी, दी कौन्सेक्रेसन ऐन्ड दी पोयेट्स ड्रीम।"

वह रोशनी जो कहीं भी नहीं है–संस्कृत एवं पवित्र होकर केवल कवि के स्वप्न में है। आज राष्ट्रकवि की जन्मशती के अवसर पर हम सभी एक जुट होकर राष्ट्र और राष्ट्रभाषा के उत्थान एवं विकास के लिए प्रतिज्ञा करें, राष्ट्र की सांस्कृतिक एवं भावात्मक एकता के लिए अपनी आहुती देने को तैयार हो जायें और राष्ट्रकवि के उस पवित्र प्रकाश को चहुँदिशि आलोकित करने का संकल्प लें जो पवित्र प्रकाश कवि के स्वप्न के अतिरिक्त कहीं भी प्राप्त नहीं हो सकता। जन्मशती के अवसर पर यही मेरी कामना है, श्रद्धांजलि है और तमाम राष्ट्रवासियों से प्रार्थना भी।

सांस्कृतिक यात्री ह्वेनसांग की नालन्दा के लिए 8,000 कि० मी० पैदल यात्रा

—श्रीमती मीनाक्षी

भारत तथा चीन की सभ्यताओं के मध्य प्रकृति ने हिमालय की विशाल दीवार खड़ी कर रखी थी––ऐसी विराट बाधा जो सदा हिम से आच्छादित रहने के कारण अनुलूलंघनीय थी। इसलिए दोनों देशों के लोग पर्याप्त समय तक एक-दूसरे से अपरिचित रहे। आवागमन के आजकल जैसे सुविधा-जनक साधन न थे। फिर भी भारत तथा मध्यएशिया के सार्थवाह दोनों देशों के बीच वाणिज्य-संबंध बनाये हुए थे। सागर के माध्यम से भी वस्तुओं का व्यापार चल रहा था।

साँस्कृतिक विनिमय भी हो रहा था। भारतीय ऋषि असंख्य असुविधाओं को पदाक्रान्त करते, बीहड़ मार्गों से ऐसे देशों में जाते रहे। उनके मनोबल के समक्ष विन्ध्य ऐसे पर्वत ने भी नमित हो जैसे प्रणमन पूर्वक पथ दिया था। ईसा से भी पूर्व न जाने कितने बौद्ध भिक्षु धर्म–प्रचार के लिये चीन एवं अन्य देशों में गये। आज भी स्थान-स्थान पर प्राप्त बौद्ध-प्रतिमाएं एवं धर्म का प्रसार इसका प्रमाण है।

ईसा के समय से ही चीन में बौद्ध धर्म का प्रवेश तथा प्रसार हो चुका था। दूसरी शती में उसे राज्याश्रय भी मिल चुका था। बौद्ध भिक्षु प्रचारक के रूप में चीन जा रहे थे। इसके साथ ही चीनी यात्री भी कष्ट सहकर भारत के बौद्ध तीर्थों की यात्रा करने एवं धर्म ग्रंथों का संकलन करने की लालसा से भारत भूमि में आने लगे थे।

बाद के समय में तो चीनी यायावर अपने धर्म के मूल स्रोत तक और भी उत्साह तथा उल्लास से आते रहे। आते समय उनमें धर्म के प्रति नवीन प्राणमयता रहती। लौटने पर अन्य लोग उस यात्री को बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते, तथा अतिशय सम्मान देते थे। वह अनुभवी धर्म-गुरू के रूप में मान्य होता था। वह अन्वेषक और भूगोलविद् भविष्य के यात्रियों और विद्यार्थियों हेतु प्रेरणा बन जाता था। ऐसे ही धुनी और धैर्य के धनी गुनी जनों में ह्वेनसांग भी थे। उनकी सहनशीलता, उनका श्रम, उनकी लगन अदभुत थी। उनकी यात्रा-गाथा में इतिहास तथा किंवदन्तियों का ऐसा अपूर्व मिश्रण हो गया है जिसे सरलता से विलग नहीं किया जा सकता। उस जिज्ञासु के लिए नालन्दा किशोरावस्था का ऐसा अनोखा सपना था जिसके लिए उन्होंने आठ हजार किलोमीटर की असह्य दुर्गम यात्रा की थी। वह इतिहास के अनोखे सांस्कृतिक यात्री थे।

602 में जन्में ह्वेनसांग की शिक्षा पुरातन चीनी परंपरा के अनुसार कनफ्यूशियस मत के अंतर्गत हुई थी। उनका संबंध आत्मिक संसार की अपेक्षा भौतिक जगत् से अधिक था। बीस वर्ष की अवस्था के पूर्व ही वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये थे। भिक्षु बन कर उन्होंने एक विद्वान्, सदाचारी तथा अदम्य साधक के रूप में प्रसिद्धि पाई थी। उन्होंने चीनी में अनूदित बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। उन्हें लगा कि ये तो संख्या में अत्यल्प हैं, उनमें परस्पर विरोध भी है। उनकी आत्मा कचोटने लगी। उन्होंने भारत की यात्रा का निश्चय किया। भारत पहुंच कर वे बौद्ध धर्म के केन्द्रों का भ्रमण करना चाहते थे। उन्होंने अपने सफर-नामे में लिखा भी है कि मैं वहां पहुंच कर विद्दजनों से उन प्रश्नों का समाधान चाहता था जो मेरे मन में व्याकुलता उत्पन्न कर रहे थे।

629 में उन्होंने अपनी यात्रा के लिए शासकीय अनुमति प्राप्त करने हेतु आवेदन किया। उस समय वे छब्बीस वर्ष के थे। उन दिनों में अनुमति मिलने में बहुत विलम्ब हो जाता था। यदि दो देशों में मधुर संबंध न हों तो आदेश और भी कठिनाई से मिलता था। ज्यों-ज्यों देर होने लगी आतुर ह्वेनसांग अधीर होने लगे। उन्होंने आदेश मिलने तक न रुकने का निश्चय किया। यद्यपि ऐसा करने से वे शासकीय कोप के भाजन बनते, परंतु उन्होंने शासकीय शास्ति की चिन्ता न की। उनके मन में अधीरता थी। भारत की धरती उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर रही थी। यद्यपि लौटने के बाद उन्हें सर्वोच्च

सम्मानित भिक्षु होने के साथ चीन के सम्राट से इसके लिए क्षमा याचना भी करनी पड़ी थी। जलते रेगिस्तानों तथा बर्फीले पहाड़ों से होकर उन्होंने अपनी यात्रा प्रारंभ कर दी। वह अभियान ऐसा था जिसमें अनेक अनुभवी यात्री दल पहले प्राण गंवा चुके थे। फिर वे तो अकेले थे।

उस निर्भीक यात्री ने जो मार्ग चुना था, उससे भी अधिक कोई डरावना तथा आपत्तिपूर्ण पथ होगा इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वे लम्बे, आकर्षक मुखाकृति, भव्य रूप-रंग, सौम्यता एवं सद्व्यवहार के साकार रूप थे। वे उत्कृष्ट रुचि के थे। रंगीन वस्त्र उन्हें अच्छे लगते थे। उनके समकालीन ने उनकी चमकती आंखों के सम्मोहन तथा मुग्ध करने वाली वाणी की चर्चा की है। घुटनों तक का ढीला-ढाला चोगा, कानों में कुण्डल और पैरों में विशिष्ट पट्टियों वाली चम्पल पहले वह शिष्ट यात्री अपनी मातृ-भूमि से आठ हजार किलोमीटर दूर का बीहड़ सफर करने में तनिक भी न हिचका।

उन्हें उत्तरी चीन से होकर पश्चिमाभिमुख गौबी नामक तप्त मरु भूमि पार करनी पड़ी और आगे पश्चिम की तरफ बढ़ने पर समरकन्द से गुजरना पड़ा जो अब दक्षिणी साइबेरिया कहलाता है। बीच में तियेन शान की हिमानी श्रेणियां तथा दर्रे से होकर चलना पड़ा। फिर वे दक्षिण होकर काबुल पहुंचे। वहां से भारतीय उप-महाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी भाग को पार किया। फिर भी इस आग और बर्फ की परीक्षा के बाद भी, मंजिल कोसों दूर थी, लक्ष्य मीलों परे था। उनकी आंखों का सपना बौद्ध धर्म का पूर्वी विद्या-केन्द्र नालन्दा था। हर संकट आंखों में झूलते उस सपने का ध्यान करके कट जाता था।

विधि-वेत्ता की उपाधि पाने वाले इस साहसी यात्री के सोलह वर्ष बड़े रोमांचक अनुभवों वाले बीते। न जाने कितनी लोम-हर्षक घटनाएं उनके जीवन में आईं। मध्येशिया के गौबी के रेगिस्तान के पल ही क्या भयानक थे। हवा से नाचते बालू के बगूलों के कारण उसे नाचती रेत वाला रेगिस्तान कहा जाता है। इसीलिए उसे भुतहा माना जाता रहा। उस मरु की मरीचिका में वे मर ही गए थे। चार दिन, पांच रात तक तड़पाने वाली तृषा से वे बिना पानी के बिलबिलाते रहे। दिन में उन्हें भयानक घुड़सवारों की टोलियों के भ्रामक दृश्य भयभीत करते रहे।

पांवों में छाले लिये वे आगे बढ़े। एक हिम-स्खलन में उनका जीवन फिर समाप्ति की सीमा पर पहुंच गया था। बर्फीले तूफानों के बीच तो अनेक बार गुजरना पड़ा। कभी अकेले, कभी किसी सार्थवाह के साथ वे अडिग भाव से बढ़ते ही रहे। गंगा नदी की लहरों पर जल-दस्युओं ने भी उनके प्राण कई बार संकट में डाले। प्रारम्भ में तो उन्होंने अकेले ही यात्रा की। पर उनका चरित्र ऐसा आकर्षक तथा व्यवहार अपूर्व था। इस कारण स्थान-स्थान पर स्वभावतः सह-यात्री उसके साथ स्वतः हो लेते थे।

उनका अपरूप रूप सदा सहायक या आकर्षण का केन्द्र ही न रहा। उस रूप के कारण ही एक बार गंगा की गोद में वे गत-प्राण होते बचे। एक बार एक सार्थवाह के साथ यात्रा करते हुए उन्हें जल-दस्युओं ने पकड़ लिया, वे दस्यु मां दुर्गा के उपासक थे। जब कभी कोई स्वरूपवान् मनुष्य उनके हाथ पड़ जाता तो वे अपनी आराध्या को प्रसन्न करने के लिए उस मानव की बलि देते थे। ह्वेनसांग आकर्षक व्यक्तित्व वाले थे। अतः वे उन्हें बलि के लिये सर्वथा उपयुक्त पात्र प्रतीत हुए। उनके सह-यात्रियों ने दस्युओं को नम्रता से समझाने का प्रयास किया। पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। वे ह्वेनसांग को गंगा के किनारे बनी मिट्टी की अनगढ़ सी वेदी पर घसीट ले गये। तलवार की नोक पर उन्हें वहां लेट जाने के लिये बाध्य कर दिया गया। उन्हें लगा, अब अन्तिम घड़ी आ गई। नालन्दा, मेरे सपने, तुझसे दूर से ही विदा। महात्मा-बुद्ध के उपदेशों का मनन करते हुए वे समाधि में लीन हो गए।

भगवत्कृपा कहें या तात्कालिक न्याय। संयोग से उसी पल एक महावात प्रवाहित हुआ, सनसनाते उस तूफान से ऐसी भयानक लहरें उठीं कि सभी जल-दस्युओं की नौकाएं किनारे पर ही डूब गईं। वे उस तूफान को ईश्वरीय कोप मान कर कांप उठे। यह क्या अप-शकुन हो रहा है? यह कैसी लीला?

"यह मनुष्य कहां से, तथा क्यों आया है? दस्युओं ने ह्वेनसांग के सह-यात्रियों से पूछा।

"यह चीन से आया प्रसिद्ध भिक्षु है। नालन्दा में बौद्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने की कामना लिए भारत की धरती पर आया है। इसे मारना महापाप होगा। यह तूफान देखा? यह ईश्वरीय कोप की पूर्व चेतावनी है।

भीत दस्युओं ने तत्काल उस भिक्षु को छोड़ दिया। उन्होंने उसे क्षमा याचना ही न की, अपना जीवन सुधारने का आश्वासन भी दिया।

अत्यन्त धार्मिक प्रवृत्ति तथा ज्ञान-पिपासु होने के साथ ह्वेनसांग सच्चे अर्थों में पर्यटक थे। वे स्थानीय रीति-रिवाजों तथा विशेषताओं में रुचि लेते थे। किन्तु इसके साथ ही आलोच्य बातों की कड़ी आलोचना भी निर्भीकता से करते थे। जो बात उन्हें अनुचित लगीं, उसकी निन्दा करने से वे कभी न चूके। कपाल-धारी, गन्दे या भस्म लगाये नंगे साधुओं की बिना भय उन्होंने कुत्सा की। उन सबकी तुलना उन्होंने चूल्हे में सोते बिलाव, सूखे पेड़, कब्रिस्तान के वासी चमगादड़, खोबार में लौटते शूकर से की। उन्हें भी पंचाग्नि-तप या तन को कष्ट देने वाले आडम्बर न भाये थे। वे ज्ञानी यायावर आत्मोन्मति हेतु ज्ञान-पिपासा की तुष्टि के लिये आए थे। पराये देश में इस प्रकार की कटु आलोचना उनकी निर्भीकता व्यक्त करती है। जो उचित माना, उसे साफ बखाना।

अंत में, एक लम्बे अरसे तक बौद्ध ज्ञान पीठ नालन्दा में गहन अध्ययन करने के पश्चात् ह्वेन सांग अपने देश चीन को लौटे। 645 में पूरे सोलह वर्षों के बाद देश की राजधानी में उन्होंने

पदार्पण किया। पर वे इस बार अकेले न आए थे। उनके साथ बीस घोड़े थे। उन घोड़ों पर संस्कृत के अनेक बौद्ध तथा अन्य विषयों के ग्रन्थ लदे थे। ये ग्रन्थ नालन्दा के विद्वानों ने उन्हें उपहार में दिए थे। इतना ही नहीं, वे दूर तक उन्हें अश्रु भरे नयनों से विदा देने भी आये थे। ह्वेनसांग के स्वभाव के कारण ही, उनके मन में उनके प्रति इतना अनुराग हो गया था। वैसे भी इस भारत-सागर के तट पर जो भी आया, उसने सदा स्नेह-रस पाया।

ह्वेनसांग का गृह-परावर्तन एक प्रकार से उनकी विजय यात्रा थी। वे विदेश में भी ज्ञान-प्राप्त कर विद्वानों की श्रेणी में सम्मान पाकर लौटे थे। भारत तो ज्ञान-भूमि रही। नालन्दा की तीर्थ-यात्रा वैसे भी उन्हें आदर्श बना चुकी थी। सम्राट स्वयं उनसे उनके यात्रा-वृत्तान्त तथा अनुभव सुनने के लिये व्यग्र थे। ह्वेनसांग ने उन्हें इतना प्रभावित किया कि सम्राट ने उनको शासकीय पद देने का प्रस्ताव रखा। पर ह्वेनसांग के मन में अब सांसारिक वैभव से वितृष्णा हो चुकी थी। शायद भारत की धरती के स्पर्श का यह प्रभाव रहा हो। उन्होंने उस प्रलोभन को ठुकरा दिया। जीवन के शेष दिनों में उन्होंने अपने संस्मरण लिखने का निश्चय किया। उसके साथ ही साथ लाई दुर्लभ संस्कृत की कृतियों को चीनी में अनूदित करने की प्रबल कामना भी उनके मन में थी।

हवेनसांग की कथा का अन्त उनके जीवन के अन्त से नहीं हो जाता। उनका देहावसान 664 में हुआ था। उनके परिणाम ने इतिहास के पन्नों में उन्हें अद्वितीय बना दिया। मृत्यु के पश्चात् लोक-कथाओं, लोक गीतों में वे छा गये। कितने संसार-विजेता यह अमर सम्मान पा सके? उनकी यात्रा-कथाओं तथा जीवन से जुड़ी गाथाओं तथा लोक-गीतों को सोलहवीं सदी में एकत्र किया गया। उनके आधार पर एक वीर-कथात्मक उपन्यास "शी-यू-ची" पश्चिम की यात्रा, लिखा गया। यह जादू-भरा रोमांचक उपन्यास चीनी-साहित्य में विशिष्ट स्थान रखता है। उसमें आत्मिक पिपासा के साथ मानवीय दुर्बलताओं पर व्यंग्य भी है। यह एक ऐसे मानव की प्रशस्ति है, भावनामयी श्रद्धांजलि है, जिसने ज्ञान की खोज में अपना सारा जीवन ही अर्पित कर दिया था।

इण्डोनेशिया-इतिहास और संस्कृति पर भारतीय संस्कृति का प्रभाव

—रामदेव भारद्वाज

प्रचुर खनिज सम्पदा एवं विशिष्ट भू-राजनीतिक स्थिति के कारण इंडोनेशिया प्राचीन काल से ही आकर्षण का केन्द्र रहा है तथा साथ ही भारत एवं चीन के समुद्री मार्गों के मध्य स्थित होने के कारण भारत और चीन के सतत् सम्पर्क में रहा। पहली और दूसरी शताब्दी से ही भारतीय व्यापारी इस क्षेत्र में व्यापार के लिए जाते रहे हैं। इस क्षेत्र के जनजीवन को भारतीय संस्कृति, धर्म, दार्शनिक मान्यताओं ने काफी प्रभावित किया है। इण्डोनेशिया में प्रचलित धर्म एवं प्रमुख मान्यताओं में हिंदू धर्म, बौद्ध धर्म तथा इस्लाम धर्म भारत से ही गए जो भारत इण्डोनेशिया के सांस्कृतिक सम्बन्धों की प्रगाढ़ता को दर्शाती है। इण्डोनेशिया में प्राचीन काल में हिन्दू राज्यों का उदय जावा एवं सुमात्रा द्वीप में दिखाई देता है। जावा, सुमात्रा, बाली द्वीप में अनेक हिन्दू मन्दिर, केन्द्रीय जावा, जोगजाकाती में बोरोबुदुर स्तूप (जो विश्व में सबसे बड़ा बुद्ध का स्तूप है), प्रान्वानन मन्दिर (जो हिन्दू मन्दिर है, जिसकी दीवारों पर चारों ओर रामायण के प्रसंग खुदे हुए हैं), प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं धार्मिक जीवन की पारस्परिक निकटता को दर्शाते हैं।

7वीं शताब्दी में वाणिज्यिक नेतृत्व एवं राजनीतिक प्रभुत्व लिए हुए बड़े समुद्री बन्दरगाह की शक्ति के रूप में दक्षिण सुमात्रा में, श्री विजय साम्राज्य का अभ्युदय इण्डोनेशिया मे भारतीय संस्कृति के प्रभाव के विस्तार की ऐतिहासिक घटना है। श्रीविजय साम्राज्य में भारतीय धर्म ग्रन्थ रामायण, महाभारत, पुराण न केवल प्रेरणा स्रोत थे, बल्कि वहां के जनजीवन, साहित्य एवं दर्शन के आधार स्तम्भ भी थे। श्रीविजय साम्राज्य महायान बौद्ध धर्म के अध्ययन का सबसे बड़ा केन्द्र था।

श्रीविजय साम्राज्य की शक्ति सम्पन्नता आज भी इण्डोनेशिया की राष्ट्रीय आदर्श बनी हुई है। इण्डोनेशिया, स्वाधीनता संघर्ष काल में श्रीविजय से प्रेरणा लेता रहा और अब स्वाधीनता के बाद अपने उस शक्ति-सम्पन्न एवं गरिमामय काल की पुनः प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील है। यहां हम देख सकते हैं कि धर्म और संस्कृति का राजनीतिकरण इण्डोनेशिया ने प्राचीन काल में किस तरह किया और शक्ति सम्पन्नता एवं सौहार्दता की किस तरह स्थापना की जो आज तक इण्डोनेशियाई जनजीवन की प्रेरणा स्रोत बनी हुई है।

श्रीविजय साम्राज्य के पतन के बाद 1293 में जावा में माजापाहित साम्राज्य का उदय हुआ। नगाराकर्त्ता गामा नामक ग्रन्थ में माजापाहित साम्राज्य का व्यापक वर्णन मिलता है। माजापाहित एक शक्तिशाली जावीय हिंदू साम्राज्य था। माजापाहित साम्राज्य में तंत्र-मंत्र का जोर था। अर्द्धनारीश्वर की मूर्तियां आज भी इण्डोनेशिया के संग्रहालयों में मौजूद हैं। माजापाहित साम्राज्य में समाज के लोगों को हिंदू वर्ण व्यवस्था के आधार पर ही चार वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र में वर्गीकृत किया गया था। सभी हिंदू धर्म ग्रन्थों को आदर्श स्थान प्राप्त था। माजापाहित साम्राज्य की व्यवस्था मनु के कानून एवं चाणक्य के अर्थशास्त्र पर आधारित थी। गजाभड़ा ने अपने शासन काल में सर्व प्रथम बाली द्वीप, बोनियों, सुलोवेसी, मलुकु, सुमात्रा, मलाका जलडमरूमध्य के राज्यों तथा अनेक छोटे-छोटे द्वीपों को माजापाहित साम्राज्य के क्षेत्राधिकार में लिया और इण्डोनेशिया के द्वीपों की एकता एवं अखण्डता के सपने को साकार किया। माजापाहित मूल रूप से कृषि प्रधान राज्य था। माजापाहित के व्यापारिक एवं सांस्कृतिक संबंध विभिन्न द्वीप समूहों तक ही नहीं, अपितु भारत, स्याम (कामबोया), अन्नाम (वियतनाम), यहां तक कि चीन के साथ भी थे। 1364 में प्रधानमंत्री गजाभड़ा की मृत्यु के बाद से ही माजापाहित साम्राज्य का पतन आरम्भ हुआ। माजापाहित साम्राज्य के पतन के साथ मध्य युग की समाप्ति एवं औपनिवेशिक युग का आरम्भ होता है। माजापाहित साम्राज्य के सभी द्वीपों की एकता एवं अखण्डता के सपने और उनकी प्राप्ति आज इण्डोनेशिया जनजीवन में अनेकता में एकता के आदर्श का संचालन किए हुए है। यहां तक कि इण्डोनेशिया के राष्ट्रीय प्रतीक गरुड़ पर लिखा रहता है कि "बिनेका तुन्गास एका" अर्थात् अनेकता में एकता; यह दृष्टिकोण सर्वप्रथम हिन्दू साम्राज्य माजापाहित की देन है।

इण्डोनेशिया में इस्लाम धर्म को भारतीय गुजराती मुसलमान व्यापारियों द्वारा ले जाया गया। वे धर्म प्रचारक व्यापारी थे; बंदरगाहों पर इनका विशेष प्रभाव था। 14वीं शताब्दी तक कुछ राज्यों में इस्लाम धर्म स्वीकार किया जाने लगा और धीरे-धीरे इस्लाम सुमात्रा द्वीप में स्थापित हो गया। सन् 1478 में माजापाहित के पतन के समय तक जावा के तटवर्तीय भागों का इस्लामीकरण हो चुका था। 15वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मलाका बंदरगाह पूर्व और पश्चिम के मध्य, चीन एवं जावा द्वीप के मध्य, तथा भारत एवं अरब के मध्य व्यापार का केन्द्र बन चुका था। माजापाहित साम्राज्य के परमेश्वर नामक राजकुमार द्वारा 1400 में इस मलाका बन्दरगाह की स्थापना की गई थी। इसी कालान्तर में इस्लाम धर्म के उदय के साथ यूरोपीय शक्तियों के प्रवेश की प्रक्रिया आरम्भ हुई और सोलहवीं शताब्दी से इण्डोनेशिया का इतिहास एक नई दिशा की ओर बढ़ा।

सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों के आगमन से दक्षिण-पूर्व एशिया यूरोपीय शक्तियों के लिए प्रतिस्पर्धा का स्थल बना। पुर्तगालियों द्वारा मलाका पर आधिपत्य के बाद उनकी नीति का मुख्य उद्देश्य केन्द्रीय एवं पूर्वी जावा द्वीप के मसाले के व्यापार पर और भारतीय कपड़ों पर अपना अधिकार स्थापित करना था। पुर्तगालियों ने 130 वर्षों तक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक एकाधिकार बनाए रखा। पुर्तगालियों के इस एकाधिकार ने डचों एवं ब्रिटिश व्यापारियों को आकर्षित किया। 1602 में डच ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना से इस क्षेत्र में साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विस्तार आरम्भ हुआ। 1614 में डचों ने मलाका बन्दरगाह पर पुर्तगालियों को हटाकर अपना अधिकार स्थापित किया। 18वीं शताब्दी के मध्य तक डचों की शक्ति का पूर्ण रूप से विस्तार हो चुका था और जावा, सुमात्रा एवं अन्य द्वीपों में आर्थिक शोषण इथिकल पालिसी के माध्यम से पराकाष्ठा पर था। भारतीय एवं यूरोपीय इतिहासकारों की मान्यता है कि औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा अपने क्षेत्राधिकार में वृद्धि के लिए, व्यापार पर एकाधिकार के लिए सभी द्वीपों को प्रशासनिक एकता में बांधने एवं उन पर संचालन में वे भी श्रीविजय और माजापाहित साम्राज्य की महानता और शक्तिसम्पन्नता से सदैव प्रेरणा लेते रहे।

इण्डोनेशियाई राष्ट्रवाद के प्रेरणा स्रोत

कालान्तर में इण्डोनेशियाई जन-मानस के अंतःकरण में औपनिवेशिक साम्राज्यवादी व्यवस्था से मुक्त एवं स्वतंत्र इण्डोनेशियाई राष्ट्र के विचार उद्भूत हुए। राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्रवादी भावना की समय-समय पर अभिव्यक्ति होती रही। डच उपनिवेशवादी वर्चस्व के विरुद्ध संघर्ष डचों के आगमन के साथ ही होता रहा। स्थानीय राजाओं के विद्रोह और उनके संघर्षों ने डच साम्राज्यवाद को न पनपने देने के लिए कुर्बानियां दीं। 1629 में सुल्तान अगुंग का डच विरोधी संघर्ष, 1750-53 में बान्ताम राज्य द्वारा विद्रोह, 1825-30 में दीपोनगोरो युद्ध, 1875-1904 में अचेह युद्ध—ये सब डच आधिपत्य के विरोध में एवं स्वाधीनता के लिए किए गए संघर्ष की भावना दर्शाते हैं। राजाओं के संघर्ष एवं विद्रोह इंडोनेशियाई राष्ट्रवाद की बुनियाद हैं। ये विद्रोह एक ओर तो राष्ट्रीय स्वाभिमान और स्वाधीनता के लिए बलिदान की प्रेरणा देते हैं तथा दूसरी ओर संगठित रहने और राष्ट्रीय एकता का पाठ भी सिखलाते हैं। प्रो० सायनडीर लूइ ने कहा है कि "सभी ऐतिहासिक आंदोलनों की भांति राष्ट्रवाद की जड़ भी उसके अतीत में निहित रहती है।" इण्डोनेशियाई राष्ट्रवाद की जड़ें भी उसके अतीत में ही निहित हैं। इण्डोनेशिया के लोगों को इण्डोनेशिया के अतीत ने एकता के सूत्र में बंधे रहने का सबक सिखलाया। राष्ट्रवाद के उदय में इण्डोनेशिया के लोग अपने शानदार अतीत को भूले नहीं थे। इण्डोनेशियाई राष्ट्रीय एकता की भावना में श्रीविजय और माजापाहित साम्राज्य की शक्ति-सम्पन्नता और गौरवपूर्ण अतीत ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। श्रीविजय और माजापाहित साम्राज्यों की महानता इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादियों के लिए प्रेरणा स्रोत तथा इण्डोनेशियाई राष्ट्रवाद की आधार शिला रही है। स्वाधीनता संग्राम के दिनों में इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादियों के मस्तिष्क में दोनों ही साम्राज्यों की शक्तिसम्पन्नता एवं महानता राष्ट्रीय आदर्श एवं लक्ष्य के रूप में सदैव उपस्थित रही। प्राचीन मान्यताओं की दृष्टि से इण्डोनेशिया में भारतीय प्रभाव ने इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादी भावना को विकसित और सुदृढ़ किया है।

भारत और इण्डोनेशियाई राष्ट्रवाद

इण्डोनेशिया के इतिहास में सन् उन्नीस सौ को एक ऐतिहासिक विभाजक रेखा के रूप में माना जा सकता है जहां से इण्डोनेशिया के लोगों में एक नई राजनीतिक जागरूकता एवं चेतना का आरम्भ होता है। रादेन कार्तिनी ने अपनी किशोर अवस्था में जो कुछ भी लिखा उसमें देशभक्ति, राष्ट्रीयता, संस्कृति एवं सभ्यता के प्रति स्वाभिमान झलकता है। कार्तिनी जावा की संस्कृति से प्रभावित थी जो मूलतः भारतीय संस्कृति है। कार्तिनी आश्चर्य प्रकट करती रही कि डच लोग जावावासियों को छोटा क्यों समझते हैं? कार्तिनी ने जावावासियों में संस्कृति की विशालता और अतीत के गौरव से प्रेरणा लेते हुए राष्ट्रवादी भावों एवं राष्ट्रीय मनोबल का विकास किया। इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादी भावना समाज के विविध स्तरों पर सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं राष्ट्रवादी स्वरूपों में अभिव्यक्त होती रही है। सांस्कृतिक धरोहर एवं अतीत के गौरव से प्रेरणा लेते हुए राष्ट्रवादी भावना के उदय एवं विकास में बुद्धि-उत्तोमो, 1908 (अर्थात् उत्तम बुद्धि) नामक सांस्कृतिक संगठन सर्वोपरी है। बुद्धिउत्तोमो के सदस्य भारतीय संस्कृति एवं विचारों से प्रभावित थे। उन्हें आशा थी कि रवीन्द्रनाथ टैगोर और महात्मा गांधी से उन्हें मार्गदर्शन मिलेगा। बुद्धीउत्तोमों के सदस्यों को टैगोर के स्वशासित एवं शक्तिसंपन्न एशिया के विचारों ने बहुत अधिक प्रभावित किया था। बुद्धिउत्तोमो ने सांस्कृतिक मान्यताओं के माध्यम से व्यक्तियों को एकता के सूत्र में बांधकर शैक्षणिक विकास कर राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सक्रिय योगदान दिया। आज इण्डोनेशिया के लोग बुद्धिउत्तोमों के जन्म दिवस 20 मई को राष्ट्रीय जागरण दिवस के रूप में मनाते हैं।

भारतीय संस्कृति, सुकार्नो और आधुनिक इंडोनेशिया

राष्ट्रीय नवोत्थान और सामाजिक चेतना की दृष्टि से इण्डोनेशिया के निर्माण में सुकार्नो का स्थान सर्वोच्च है। सुकार्नो बहुत बड़े देशभक्त, बुद्धिमान राष्ट्रवादी एवं न केवल इण्डोनेशिया, अपितु एशियाई एवं अफ्रीकीय राष्ट्रवाद के प्रभावशाली नेता तथा अपने युग के महान् प्रतिनिधि थे। सुकार्नो बचपन से ही वायांगकूलित (छाया नाट्यों) में भाग लिया करते थे। इन्हीं के द्वारा सुकार्नो ने रामायण और महाभारत को अपने अन्तःकरण की गहराइयों तक उतारा था। महाभारत युद्ध ने सुकार्नो को बहुत प्रभावित किया था, विशेषकर

महाभारत में पाण्डवों की छवि उनके अन्तःमन पर पूर्ण रूप से अंकित हो चुकी थी जिसने आगे चलकर उन्हें डच उपनिवेशवाद के विरुद्ध एक नए महाभारत के सृजन की प्रेरणा दी। सुकार्नो यह मानते थे कि डच उपनिवेशवादी उनकी पांडव नीति और सेवा के समक्ष कौरवों की तरह नतमस्तक हो जाएंगे और अंतिम विजय पांडव रूपी इण्डोनेशिया की होगी। सुकार्नो का सोचने का यह तरीका अन्य राष्ट्रवादियों से अलग था जिसमें भारतीय संस्कृति की सुकार्नो के विचारों एवं कार्यों में (फलतः इण्डोनेशिया की स्वाधीनता एवं उसके निर्माण में) भूमिका को समझा जा सकता है। सुकार्नो बचपन से ही डचों को कौरवों के रूप में देखते थे, उनसे नफरत करते थे और महाभारत के पात्र कर्ण की वीर पुरूष के रूप में पूजा करते थे एवं अपने अंदर कर्ण की जीती-जागती छवि को जाग्रत रखते थे। सुकार्नो के अन्तःमन में राष्ट्रवादी भावना के अंकुरण में पारिवारिक संस्कारों, रामायण महाभारत की कथाओं और जावा की संस्कृति ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

भारत के महान् कर्मयोगी स्वामी विवेकानन्द का सुकार्नो की विचारधारा पर बहुत प्रभाव था। स्वामी विवेकानन्द सुकार्नो के प्रेरणा स्रोत थे। वे स्वामी विवेकानन्द के विचारों का प्रायः अध्ययन करते रहते थे; वे विवेकानन्द के भक्त थे। सुकार्नो ने "सुआरा विवेकानन्दा" (अर्थात् विवेकानन्द की आवाज) नामक पुस्तक की प्रस्तावना में लिखा है कि विवेकानन्द उन कुछ व्यक्तियों में से थे जिन्होंने मुझे बहुत ज्यादा प्रेरणा दी, शक्तिशाली बनने की प्रेरणा, खुदा का भक्त, अपने राष्ट्र एवं गरीबों का सच्चा सेवक बनने की प्रेरणा दी, और स्वामी जी की यही प्रेरणा मुझे सम्पूर्ण मानवता की सेवा करने के लिए प्रेरित करती थी। सुकार्नो ने लिखा है कि स्वामी विवेकानन्द से प्रेरणा लेकर मैं उसे अपने जीवन में अपनाता गया, मैंने धीरे-धीरे अपने आपको एक पक्के इरादे के राष्ट्रवादी के रूप में परिवर्तित होता पाया। मैंने इस बात को समझा कि स्वप्न लोक में उभरते हुए इण्डोनेशिया को यथार्थ में अवतरित करना कठिन कार्य होगा, परंतु विवेकानन्द के इस उद्बोधन ने मुझे विचारों एवं कर्मों की एकरूपता का सबक सिखलाया कि "विचारों को पुस्तकों में अंकित करते रहने का कोई लाभ नहीं जब तक कि इन विचारों को अपने कार्यों में नहीं अपनाया जाता"। इसी बात से प्रभावित होकर सुकार्नो ने इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादी पार्टी के प्रथम सम्मेलन में कहा कि "हमारे भाग्य की रेखाएं हमारे हाथों में निहित हैं, हमारे भविष्य का निर्माण हमें स्वयं करना है।"

स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए सुकार्नो ने भारतीय संस्कृति एवं महात्मा गांधी के असहयोग आंदोलन से प्रभावित हो असहयोग आंदोलन द्वारा औपनिवेशिक सरकार पर दबाव डालकर स्वाधीनता प्राप्त करनी चाही। सुकार्नो ने कहा कि स्वाधीनता के लिए हमारी पार्टी क्रान्तिकारी मार्ग भी अपना सकती है, परंतु उन्होंने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के नेता सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के विचारों से प्रेरणा लेने के लिए कहा-बनर्जी ने कहा था कि स्वाधीनता उस देवी के समान है जिसे अपनी उपासना में अनन्य भक्ति, अत्यधिक श्रम एवं अपनी इच्छाओं से स्वप्रेरित पूर्ण समर्पित राष्ट्रभक्तों की आवश्यकता है। सुकार्नो ने कहा कि हम इण्डोनेशियाई पवित्र भागवत् गीता की शक्ति को भूले नहीं हैं। हमारे पास यह आध्यात्मिक शक्ति है जिसे आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता, गर्म हवाएं झुलसा नहीं सकती, यह वह शक्ति है जो अपराजित, संपूर्ण सर्वव्यापी एवं सनातन है। सुकार्नो ने कहा कि बमों और डायनामाइटो की बनावटी क्षणिक शक्ति प्राप्त करना हमारा उद्देश्य नहीं है; हम तो व्यक्तियों की आत्मिक शक्ति का संगठन चाहते हैं। सुकार्नो ने जोरदार शब्दों में कहा कि एक बार आत्मिक शक्ति अनुशासन से अनुबंधित हो जाए तो उसकी उठी ज्वालाओं को कोई ताकत बुझा नहीं सकती। सुकार्नो, सरोजनी नायडू द्वारा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के भाषण के उस कथन से भी प्रभावित हुए जिसमें उन्होंने कहा था कि "कौन उन लोगों को बन्दी बना सकता है जिनकी आत्माओं को जंजीरों से जकड़ा नहीं जा सकता; कौन उन लोगों को मार सकता है जिनकी आत्मा अमर हो।" सुकार्नो ने कहा कि आगे बढ़ने के लिए वर्ग संघर्ष और आंदोलनों की आवश्यकता नहीं, राष्ट्रीय जागृति और राष्ट्रीयता की भावना की आवश्यकता है। राष्ट्रीय जागृति में ही राष्ट्रशक्ति निहित है। सुकार्नो की धारणा थी कि त्याग और बलिदान पर आधारित इण्डोनेशियाई राष्ट्रवाद सकारात्मक राष्ट्रवाद होगा जिसके माध्यम से इण्डोनेशिया के लोग ऐसी स्वतंत्रता का सृजन करेंगे जिसमें भौतिक विकास और अध्यात्मिकता से पूर्ण रूप से सामन्जस्य स्थापित होगा। महर्षि अरविन्द घोष द्वारा दी गई राष्ट्रवादी व्याख्या के समकक्ष नजर आती हैं। ये सब घटनाएं भारतीय संस्कृति, धर्म, दर्शन, भारतीय राष्ट्रवादी नेताओं, दार्शनिकों एवं विचारकों के आधुनिक इण्डोनेशिया के निर्माण में सतत् एवं सक्रिय योगदान को दर्शाती हैं।

भारतीय संस्कृति और पंचशील

1 जून, 1945 को सुकार्नो ने इण्डोनेशिया राज्य के लिए पांच आधारभूत सिद्धांतों की रूपरेखा प्रस्तुत की जिसे पंचशील के नाम से जाना गया। पंचशील में संस्कृति, सभ्यता और मान्यताओं का सम्मिश्रण व स्वाधीनता के संघर्षकालीन सामाजिक व्यवस्था एवं अंतर्द्वन्द्व व्यक्त होता है। पंचशील एक लोकतांत्रिक सिद्धांत है, वह स्वतंत्र इण्डोनेशिया की बुनियाद एवं समन्वय की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। पंचशील का पहला सिद्धांत राष्ट्रवाद, दूसरा अंतर्राष्ट्रीयतावाद अथवा मानवतावाद, तीसरा प्रजातंत्र, चौथा सामाजिक न्याय तथा पांचवां सिद्धांत ईश्वर में विश्वास है। ये पांचों सिद्धांत स्वतंत्र इण्डोनेशिया की बुनियाद हैं।

इण्डोनेशिया में 80 प्रतिशत व्यक्तियों ने इस्लाम धर्म को अपनाया है। मस्जिदों का जाल पूरे देश में फैला हुआ है।

नमाज़ के समय (दिन में पांच बार) पूरे देश में कुरान गूंज उठती है, आप कहीं भी खड़े हैं, चल रहे हैं, नमाज़ के वक्त आपके कानों में यह आवाज जाएगी। सरकारी एवं गैर-सरकारी कार्यालयों में, विश्वविद्यालयों में, दुकानों में, बड़े-बड़े क्रय-विक्रय केन्द्रों में, नमाज़ पढ़ने के लिए अलग से स्थान की व्यवस्था है, नमाज़ के वक्त प्रायः सभी कामकाज बंद हो जाते हैं और सभी लोग नमाज़ पढ़ते हैं। पर इतना होने के बावजूद इण्डोनेशिया इस्लामी देश नहीं है। इतना ही नहीं इसके साथ-साथ अपनी संस्कृति एवं अतीत की धरोहरों को इण्डोनेशियाई सरकार ने जिस तरह बनाए रखा है यह सब आश्चर्य की बात है। विश्वविद्यालयों, सरकारी कार्यालयों, पुस्तकालयों के मुख्य द्वार पर हमें श्री गणेश भगवान की प्रतिमा देखने को मिलती है, लोग इन्हें गनेशा देवा के नाम से पुकारते हैं तथा इन्हें ज्ञान का प्रतीक मानते हैं। इसके साथ ही साथ रामायण एवं महाभारत से प्रेरणादायक प्रसंगों को दूरदर्शन पर नित्य राष्ट्रीय कार्यक्रमों के अंतर्गत दिखाया जाता है। आकाशवाणी से रामायण, प्रसारित की जाती है। ये सब बातें यह प्रमाणित करती हैं कि भारतीय संस्कृति की जड़ें इण्डोनेशियाई जन-जीवन में कितनी गहराई तक पैठी हुई हैं। बाली द्वीप, जहां पर ८० प्रतिशत हिन्दू निवास करते हैं वहाँ की तो बात ही कुछ और है; दिन में तीन बार पूजा और ध्यान उनके दैनिक जीवन का ही अंग बन चुका है। गायत्री मंत्र का जाप और संध्या बाली वासियों का नित्य कर्म है; हर घर में मंदिर है। हिन्दू धर्मा विश्वविद्यालय के बीचों-बीच "वेद" की पुस्तक रखी है। लोग पुस्तकालय में प्रवेश करने पर वेद को प्रणाम करते हैं और फिर अध्ययन। इण्डोनेशिया वह देश है जहां हम हिन्दू और मुस्लिम संस्कृति का सम्मिश्रण देख सकते हैं और राष्ट्र के पुनर्निर्माण में धर्म और संस्कृति की सक्रिय एवं गत्यात्मक शक्ति का उपयोग कर सकते हैं।

पशुपतिनाथ का देश काठमांडू-नेपाल

—डॉ० शिवानंद नौटियाल
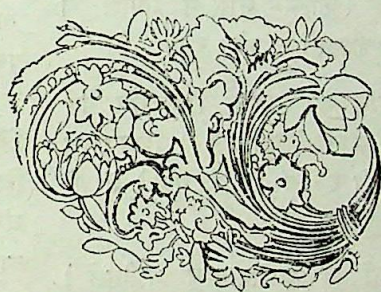
हिन्दू शास्त्रों में स्पष्ट लिखा है कि व्रतोपासनादि से आत्मशुद्धि होती है। आत्मशुद्धि से शुभकर्म होते हैं और शुभ कर्मों की प्राप्ति से शुभगति होती है। शुभगति का तात्पर्य उर्ध्वलोकगमन और शिवलोक (मोक्ष) की प्राप्ति है।

व्रत-उपवास के लिए अनेक पर्व हैं। परन्तु शिवपुराण (कोटि सं०-41 अध्याय) में लिखा है :—

विचार्य सर्वशास्त्राणि धर्मांश्चैवात्यनेकशः।
शिवरात्रि व्रत मिदाम सर्वोत्कृष्टं प्रकीर्तितम्।
शिवरात्रि व्रतं दिव्यं भुक्ति-मुक्ति प्रदं सदा।

—सभी शास्त्रों का विचार करने पर शिवरात्रि से उत्तम पुण्यदायक व्रत नहीं मिलता।

महाशिवरात्रि व्रत फाल्गुन माह की प्रथम (कृष्ण) त्रियोदशी तिथि को सम्पूर्ण हिन्दू जगत मनाता है। इस तिथि के महत्व के विषय में पौराणिक कथा इस प्रकार बतायी जाती है। बहुत पहले देव और दानवों ने मिलकर विंध्याचल पर्वत की मथनी और शेष-नाग की "डोरी," बनाकर समुद्र-मंथन किया था। समुद्र से चौदह रत्न निकले जिनमें अमृत और विष भी थे। अमृत बांटने के प्रश्न पर देव-दानवों के मध्य विवाद छिड़ गया। अंत में, निश्चय हुआ कि जो दल विष पियेगा, उसी दल से अमृत बांटा जायेगा। देवों की ओर से सम्पूर्ण विष घट को शिव जी ने पी लिया तथा अपने गले पर ही विष को समा लिया। विष के तीव्र प्रहार से शिव का गला नीला पड़ गया। उसी दिन से शिव देवों के देव, महादेव हुए—"नीलकंठ" नाम भी उन्हें उसी दिन से मिला और उसी दिन से "शिवरात्रि" का माहात्मय वाला दिन निश्चित हुआ।

महादेव शिव के दर्शनों की प्यास धर्म-परायण हिन्दू नर-नारी के मन की कभी न बुझने वाली प्यास है—जिसकी पूर्ति करने हेतु वह महाशिवरात्रि के दिन व्रत-उपवास करता है। रात्रिभर जागरण का शिवार्चन करता है। बलपत्रों से शिव की पूजा महारुद्र के पाठ के साथ शिवलिंग पर निरन्तर पानी चढ़ाकर की जाती है।

सोमनाथ (सौराष्ट्र) शिव, श्री शैल (दक्षिण) में ल्लिकार्जुन शिव, उज्जयनी में महाकालेश्वर शिव, हिमालय (गढ़वाल) में केदारनाथ शिव, डाकिनी क्षेत्र आसाम में भीमशंकर शिव, वाराणसी में विश्वनाथ शिव, द्वारिका में नागेश शिव, बिहार में वैद्यनाथ शिव, गोमती नदी के किनारे (गोला-गोकरण नाथ) त्रयंबक शिव, सेतुबंध में रामश्वर शिव, प्रयाग में ब्रह्मेश्वर शिव, साकेत में नागेश्वर शिव, और चित्रकूट में मत्तगजेन्द्र शिव, देवप्रयाग गढ़वाल में ललितेश्वर शिव, आबू में चन्द्रेश्वर शिव और कश्मीर में अमरनाथ शिव की पूजा बड़े मनोयोग से की जाती है। इन स्थानों के अतिरिक्त भी कई दिव्य स्थल हैं जहां शिव के बारह व्रतों के अवसर पर शिव जी का पूर्ण मनोयोग से पूजन होता है।

परन्तु, महा शिवरात्रि का व्रत-पर्व नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर में बड़े उल्लास के साथ मनाया जाता है। सम्पूर्ण विश्व के धर्मपरायण हिन्दू—नरनारी फाल्गुन मास की वसन्त पंचमी से ही नेपाल के काठमांडू नगर में एकत्र होने लगते हैं। फाल्गुन मास में नेपाल का काठमांडू शिवभक्तों से भरा रहता है।

पशुपतिनाथ की महत्ता शिवरात्रि पर्व पर अधिक मानी जाती है। शिवपुराण (शि० पु० की रु० सं० 123 पृष्ठ) में भी वर्णन आया है :—

नयपलाख्यपुर्यां तुं प्रसिद्वायाम् महीतले।
लिंग पशुपतीशाख्यं सर्वकाम फल पदम्॥
शिरोभागें स्वरूपेण शिवलिंगत दस्ति हि।
तत्वयां वर्णमिययामि केदारेश्वर वर्णने॥

नेपाल में शिवलिंग सिर रूप में पशुपति-नाथ के नाम से स्थित है—जो महापुण्य फल-दायक है।

पुराण कथा है: द्वापर में जब पांडव राजपाट छोड़ कर हिमालय गढ़वाल स्थित केदार-क्षेत्र में शिवजी के दर्शन करने गये तो महादेव शिव जी ने उन्हें गोत्रहत्या का दोषी समझकर दर्शन देने से इन्कार कर दिया। पांडवों ने शिव जी का पीछा किया। पांडवों से पीछा छुड़ाने के लिए शिव जी ने महिष (भैंसे) का रूप धारण किया। जब पांडव अति समीप आ गये तो वर्तमान केदारनाथमन्दिर (गढ़वाल में) वाले स्थान पर शिवजी पृथ्वी के अन्दर प्रवेश करने लग। जैसे ही उनका अग्रभाग पृथ्वी के अन्दर प्रविष्ट हुआ। भीम ने उन्हें पहचान लिया और पूंछ, की तरफ से शिवजी को पकड़ लिया। उन्होंने शिवजी की पूजा की। प्रसन्न होकर शिवजी ने पांडवों को दर्शन दिए और गोत्रहत्या के दोष से मुक्त किया। शिवजी का पृथ्वी में प्रवेश करने के पश्चात् मुख रुद्रनाथ में, बाहें तुंगनाथ में, नाभि मद्महेश्वर में और जटा कल्पेश्वर में प्रकट हुए। केदारनाथ सहित चारों स्थान "पंचकेदार" नाम से विख्यात हैं और गढ़वाल जिले की बदरी—केदारघाटी में स्थित हैं। शिवजी का सिर वाला भाग (जो पृथ्वी में धंस गया था) नेपाल के काठमांडू (कान्तिपुर) नामक नगर में बागमती नदी के किनारे प्रकट हुआ था, वहीं "पशुपतिनाथ" नाम से शिव का प्रसिद्ध पुण्यदायक तीर्थस्थल बन गया है।

"पशुपतिनाथ" का महत्व इसलिए भी है कि यह वही स्थल है जहां पर देवों ने शिव जी को देवाधिदेव महादेव स्वीकार किया था। किवदन्ती है, एक बार ब्रह्मा और विष्णु में इस बात पर विवाद छिड़ गया कि दोनों में श्रेष्ठ कौन है। इस का निर्णय करने के लिए यही स्थल (पशुपति नाथ मन्दिर का) चुना गया था। शिवजी ने अपने अद्भुत प्रकाश से तीनों लोकों को प्रकाशित कर ब्रह्मा और विष्णु को भी अपनी शक्ति से प्रभावित किया था। कहते हैं—"पशुपतिनाथ (शिव) की ब्रह्मा—विष्णु ने प्रथम पूजा यहीं (पशुपतिनाथ के लिंग स्थल पर) की थीं।" किवदन्ती यह भी है कि "नीलकंठ" शिव की प्रथम पूजा यहीं हुई थी। बात जो भी हो, समस्त धर्मपरायण हिन्दू "पशुपतिनाथ" के दर्शन करना अपने जीवन का सबसे बड़ा पुण्यलाभ समझता है।

काठमांडू नेपाल की राजधानी है। इस नगर का नाम पहले कान्तिपुर था जिसे सन् 723 ई० में मल्ल राजा गुण कामदेव ने बागमती और विष्णुमती नदियों के संगम पर बसाया था। एक ही लकड़ी का एक बहुत बड़ा "काष्टमंडप" शहर के मध्य होने के कारण "काठमांडू" हो गया जो अब इस नाम से प्रसिद्ध हो गया है।

काठमांडू शहर से बागमती नदी के तट पर 3 मील चलने के बाद पहले गुहवेश्वरी का कलापूर्ण मन्दिर आता है जिसके शिखर पर सोने का सुन्दर काम हुआ है। इस मन्दिर के द्वार पर राजा-रानी की सुन्दर स्वर्ण-मूर्तियां स्थापित हैं। जिनकी बगल में राजा प्रतापमल्ल की अत्यन्त सुन्दर मूर्ति भी है। लोगों का कहना है कि तीन सौ से अधिक वर्ष पहले इन्हीं मल्ल राजा प्रतापमल्ल ने इस मन्दिर, को बनवाया था। गुह्वेश्वरी मन्दिर की सीढ़ियों को चढ़कर एक सुन्दर चबूतरे के दर्शन होते हैं जिसके बीच में गुह्वेश्वरी (पार्वती) का मन्दिर है। मन्दिर के चारों ओर परिक्रमा करने का मार्ग बना हुआ है। इस मन्दिर में गुह्वेश्वरी की "योनि" की पूजा आसाम की कामाख्या देवी की तरह की जाती है। पूजा-स्थल, मुख्यद्वार पर पहुंचने के बाद—कुछ सीढ़ियों से नीचे उतरने के बाद आता है। पूजा का स्थान अत्यन्त प्रभावपूर्ण और बहुत माहात्म्य वाला है। पहली पूजा इसी मन्दिर में होती है अर्थात् इस मन्दिर में पहले पूजा गुह्वेश्वरी (पार्वती) की करनी होती है तभी पशुपतिनाथ की पूजा होती है।

गुह्वेश्वरी मन्दिर से कुछ सीढ़ियों पर चढ़ने के बाद उतार आता है—फिर विश्व-विख्यात "पगोड़ा" शैली का पशुपतिनाथ मन्दिर का विस्तृत क्षेत्र आरम्भ हो जाता है। बागमती के पूर्वी तट पर स्थित पशुपतिनाथ का मन्दिर विश्व के सर्वोत्तम मन्दिरों में से एक है। इस मन्दिर में नेपाली स्थापत्य कला की अद्भुत छाप दृष्टिगोचर होती है।

पशुपति मन्दिर में प्रवेश करते ही विशाल प्रांगण के दर्शन होते हैं। द्वार चांदी के हैं। इस अहाते में कई सुन्दर-सुन्दर मन्दिर हैं। मन्दिर में कई हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियां हैं। मन्दिर के बाहर तथा इधर-उधर भी कई मूर्तियां और कहीं-कहीं त्रिशूलों की भव्य आकृतियां स्थापित हैं।

मुख्य मन्दिर के प्रांगण में नंदी की विशाल प्रतिमा स्थित है। मन्दिर के सीमा-क्षेत्र में ही राम मन्दिर, गोरखा मन्दिर आदि कई मन्दिर हैं। मन्दिर के शिखर सोने के हैं। सूर्य के प्रकाश में इनकी शोभा देखते ही बनती है। मन्दिर की सीमा के अन्तर्गत एक ओर नेपाल के राजाओं के चित्र हैं और दूसरी ओर "व्यासपीठ" है जिस पर बैठकर नित्य वेद एवं शास्त्रों का विधिवत पाठ होता है।

मुख्य मन्दिर की आकृति कला की अनुपम देन है। मन्दिर के चारों ओर चार विशाल द्वार हैं। परिक्रमा करने के लिए पर्याप्त स्थान है। मुख्य मन्दिर के भीतर शिवजी की अलौकिक मूर्ति है। मूर्ति की विशेषता यह है कि चारों दिशाओं में शिव की "त्रिमूर्ति" एक ही शिला पर है। अर्थात् हर दिशा से देखने पर शिव की त्रिमूर्ति (तीन मुख वाली मूर्ति) दिखाई देती है।

मन्दिर में पूजा कर्नाटक के ब्राह्मणों के द्वारा सम्पन्न की जाती है। रुद्राक्ष की भेंट इस मन्दिर की सर्वश्रेष्ठ भेंट मानी जाती है। बेलपत्र, रुद्राक्ष और कमल चढ़ाये जाते हैं। नेपाल में शिवरात्रि के दिन इस मन्दिर में पशुपतिनाथ की विशिष्ट पूजा होती है।

बागमती के किनारे-किनारे चबूतरे बने हैं। बागमती की शोभा इनसे बढ़ती है। परन्तु नेपाल में मृतकों को इन चबूतरों पर जला देने की प्रथा है। मृतक की भस्मी को बागमती के स्वच्छ जल में बहा देते हैं। बाहर से आए लोगों को यह दृश्य अजीब सा लगता है।

नेपाल की काठमांडू घाटी जहां पशुपतिनाथ के लिए विख्यात है—वहां इस घाटी में अनेक प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक स्थल हैं, जो मनुष्य को स्वतः अपनी ओर खींच लेते हैं। धार्मिक भावना के लोगों को भी इस घाटी में अनेक देव स्थान और मन्दिर मिलते हैं। जिन्हें देखकर अलौकिक चेतना जाग पड़ती है।

काठमांडू शहर में जैसे ही प्रवेश करते हैं—वैसे ही विश्व के विशाल मैदानों में से एक मैदान—"तुंडीखेल" आंखों के सामने आ जाता। नेपाल राज्य के प्रायः सभी उत्सव इसी मैदान में सम्पन्न किए जाते हैं। नेपाली सेना की परेड़ भी "तुंडीखेल" मैदान में होती है।

"तुंडीखेल" मैदान में "भीमसेन की मीनार" है, यह मीनार 165 फुट ऊंची है। काठमांडू का यह आकर्षण भारत के कुतुब-मीनार की तरह है।

"तुंडीखेल" के दक्षिणी कोने पर संगमरमर का सुन्दर शहीद द्वार बना है। इसमें अन्य शहीदों की तरह महाराजा त्रिभुवनवीर विक्रम शाह की प्रतिमा स्थापित है जिन्होंने 1950–51 में राणाओं के विरुद्ध संघर्ष का नेतृत्व किया था।

"तुंडीखेल" के दक्षिणी छोर और मुख्य मार्ग के पूर्वी कोने पर नेपाल का सबसे प्रसिद्ध "सिंह दरबार" है। "सिंह दरबार" के चारों ओर सुन्दर बाग व झरने हैं। इस दरबार में 800 कमरे हैं जिनकी सजावट देखते ही बनती है। "सिंह दरबार" पहले राणा प्रधान मंत्रियों का निवास स्थान था। अब महाराजा नेपाल ने इसे अपने अधिकार में ले लिया है। आजकल इस "सिंह दरबार" में केन्द्रीय सचिवालय के कार्यालय हैं।

"सिंह दरबार" के निकट ही नेपाली स्थापत्य कला का सर्वोच्च नमूना "संसद भवन" हैं। "कुमारी देवी" का मन्दिर भी इसके निकट ही है।

"तुंडीखेल" के उत्तरी कोने पर "रानी पोखरी" नामक सुन्दरताल है जिसको राजा प्रतापमल्ल की महारानी ने अपने पुत्र चक्रयतीन्द्र की यादगार में बनवाया था। ताल के चारों ओर सुन्दर बाग हैं। यहां एक शिवमन्दिर है।

काठमांडू वास्तव में महादेव शिव की भूमि के नाम से भी विख्यात है। इसका प्रमाण "काल भैरव" जो शिव का प्रलयंकारी रूप है, की विशाल प्रतिमा है। यह प्रतिमा "हनुमान ढोका" के दरबार चौक के अन्दर (प्रांगण के मध्य में) स्थित है।

"हनुमान ढोका"—मल्ल राजाओं का पुरातन निवास स्थान "दरबार चौक" है जिसको नेपाली "लायकू" के नाम से पुकारते

है। "दरबार चौक" (हनुमान ढोका) शहर के बीचों-बीच स्थित है। यह राजा का मुख्य शासन स्थल है।

"दरबार चौक" के पूर्वी छोर पर विशाल राजमहल है। राजमहल के मुख्य द्वार पर "हनुमान" की विशाल मूर्ति है। दूर से ऐसा लगता है मानों स्वयं वीरता के अवतार "हनुमान" जी इस राजप्रासाद की रक्षा करने खड़े हैं। मुख्य द्वार पर पत्थर के दो शेर दोनों ओर से महल की शोभा बढ़ाते हैं।

"दरबार चौक" (हनुमान ढोका) के इस राजमहल की आकृति "पैगोड़ा" ढंग की बनी हुई है। महल में कई मंजिले है। यह महल नेपाली स्थापत्य कला का अद्भुत चमत्कार है। इसके द्वार पर हनुमान और दरबार चौक के अन्दर "काल भैरव" की विशाल प्रतिमा हैं। इस महल की हर मंजिल सुन्दरता की एक नयी ज्योति प्रकट करती है। बाहर के दृश्य यहां से बड़े आकर्षक लगते हैं। पूरा महल नेपाल की पुरानी कारीगरी का अद्भुत नमूना है। लकड़ी तथा पत्थरों पर बारीक कारीगरी इस महल का मुख्य आकर्षण है। प्रवेश-द्वार के समीप नेपाल के राजाओं के बड़े-बड़े चित्र क्रमानुसार लगे हुए हैं। महल में राजा-रानी के बैठने के स्थान भी बने हुए हैं। राजा का राज्याभिषेक आज भी इस महल के प्रांगण में होता है। आज भी इस महल में पाटन (ललितपुर), कीर्तिपुर (काठमांडू) और भक्तिपुर के राजाओं के बैठने के अलग-अलग कमरे हैं। इस महल में एक सुन्दर नृत्य चौक है जहां सांस्कृतिक कार्य सम्पन्न होते हैं।

महल से लगे कई मन्दिर है जिसमें कुमारी देवी का प्रसिद्ध मन्दिर है। लकड़ी की कारीगरी इस मन्दिर की विशेषता है। कन्याओं को "मनवांछित" फल देने वाली यह देवी सम्पूर्ण नेपाल में प्रसिद्ध है।

"तुलजाभवानी" का सिद्धिदायक मन्दिर भी इसी महल के पास है। प्रति अष्टमी के दिन एक भैंसा, 6 बकरों और सात हंसों की बलि दी जाती है। दुर्गाष्टमी को विशेष मेला लगता है जिसमें 154 भसों की बलि दी जाती है।

महल के समीप मछेन्द्रनाथ, नरदेवी, कटक नारायण, अन्नपूर्णा और इंद्राणी और कई मन्दिर हैं जिनमें "पंचमुखी हनुमान" का मन्दिर भी प्रसिद्ध है।

"इन्द्र चौक" नामक मुख्य बाजार के चौक में स्थित—"आकाश भैरव" का मन्दिर भी बहुत आकर्षक है। नेपाल में इन्द्र की यात्रा निकलती है जिसमें कुमारी देवी, भैरव व गणेश का रथ निकलता है और इस मन्दिर में पहुंचता है। वर्षा के लिए हर वर्ष (अगस्त–सितम्बर में) यह रथ यात्रा उत्सव मनाया जाता है।

वर्तमान महाराजा का निवास "नारायण हिटी दरबार" भी दर्शनीय है। प्रसिद्ध "नारायण हिटी" जलधार दरबार के पश्चिमी भाग में है। दरबार में जाने के लिए आवश्यक आज्ञा लेनी होती है।

काठमांडू की शोभा वहां का राष्ट्रीय संग्रहालय भी है। दरबार चौक से पश्चिम की तरफ करीब दो किलोमीटर दूरी पर स्थित है। संग्रहालय के एक कक्ष में देवी-देवताओं की मूर्तियां है। एक कक्ष में बर्तन और चर्खे हैं तो दूसरे कक्ष में तोपें और तलवारें हैं। नेपोलियन बोनापार्ट ने राणा जंगबहादुर को उनकी वीरता पर प्रसन्न होकर जो तलवार भेंट की थी—वह तलवार इसी कक्ष में है। दूसरे कक्ष में सन् 1856 में तिब्बतियों से छीनी गई चमड़े की तोप को बड़े अच्छे ढंग से रखा गया है। दूसरी मंजिल में शस्त्रों का संग्रह है जिनमें अलग-अलग राजाओं द्वारा प्रयुक्त हथियार हैं। तीसरी मंजिल में हस्त-लिपियों का संग्रह है। पोशाकें, तमगें, मरे हुए (पक्षी, शेर, मगर) जीव-जन्तु और प्रसिद्ध सेनापतियों की टोपियां यहां सुरक्षित हैं। एक सम्पूर्ण खंड में बौद्ध-प्रतिमाएं हैं।

काठमांडू अर्थात् नेपाल घाटी 209 वर्ग-मील के क्षेत्रफल में फैली है जिसके चारों तरफ सीढ़ीनुमा पर्वत श्रृंखलाएं हैं। मानो विधाता ने इस घाटी की सुरक्षा के लिए एक के पीछे दूसरे और फिर तीसरे-चौथे सुदृढ़ पर्वतों को जानबूझकर निर्मित किया हो। किंवदन्ती है कि हजारों वर्ष पहले इस घाटी में एक विशाल झील थी जो भूकम्प के प्रभाव से टूट गई और वहां पर एक सुन्दरघाटी ने अपना सुन्दर स्वरूप बना लिया। कहते हैं कि इस घाटी में ईसा से 6 सौ वर्ष पूर्व गौतम बुद्ध आए थे। ऐसा भी कहा जाता है कि ईसा से 250 वर्ष पहले महाराजा अशोक भी इस घाटी में आये थे। आज भी इस घाटी में उनके स्मृति-चिह्न सुरक्षित हैं। कई शताब्दियों तक नेपाल का इतिहास, यों ही चलता रहा कि राजपूत राजा अमसू बर्मा का (सन् 595–640 ई०) गौरवपूर्ण इतिहास मिलता है जिसने नेपाल में सबसे प्रथम सुनियोजित राज्य चलाया। अमसू बर्मा की मृत्यु के बाद नेपाल राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। इसी समय भारत से कई राजपूत राजा नेपाल गये जहां उन्होंने कई राज्य स्थापित किए। काठमांडू उपत्यका के अन्तर्गत आज भी कई नगर हैं जो किसी न किसी राजा की राजधानियां रही हैं।

14वीं शताब्दि में प्रथम मल्ल राजा जयस्थिति ने अपने पराक्रम से सम्पूर्ण नेपाल को अपने अधीन कर एक सुदृढ़ राज्य बनाया। राजा जयस्थिति के पोते यक्षमल्ल ने नेपाल राज्य का काफी विस्तार किया था। नेपाल के इतिहास में मल्ल राजाओं के पराक्रम की सुन्दर गाथाएं हैं। महाराजा यक्ष मल्ल ने 40 वर्षों तक शासन किया था। उनका युग नेपाली इतिहास में स्वर्णयुग के नाम से जाना जाता है। मल्ल शासकों के समय कई मन्दिरों का निर्माण हुआ। नेपाली कला का विकास इन्हीं मल्ल शासकों के समय हुआ माना जाता है।

नेपाल की सुन्दरता ने भारतीय हिन्दू राजपूत राजाओं को अपनी ओर आकर्षित किया। सन् 1723 ई० में महाराजा पृथ्वी नारायण शाह ने नेपाल पर विजय प्राप्त की और सम्पूर्ण नेपाल को एक सूत्र में बांधकर शासन किया। नये नेपाल के निर्माता महाराजा पृथ्वीनारायण शाह को ही माना जाता है। उसके बाद राजा-रानी मंत्रियों के इशारों पर चलने लगे। राना जंगबहादुर ने अपनी प्रतिभा और बहादुरी से शासन अपने हाथ में ले लिया और सदैव के लिए प्रधानमंत्री पद राणाओं के लिये सुरक्षित कर राजा को उंगलियों पर नाचने वाला बना दिया। 104 वर्ष के बाद 1950–51 में महाराजा वीरविक्रम शाह राणाओं से भारत की मदद से, अपने हाथ में शासन ले लिया। महाराजा महेन्द्र वीर विक्रम शाह ने भारत की सहायता से नेपाल को बाहरी दुनियाँ से जोड़ने का संकल्प

किया जिसे वर्तमान महाराजा आगे बढ़ा रहे हैं।

नये नेपाल की झलक देखने से पूर्व काठमांडू उपत्यका के कुछ दर्शनीय स्थलों, मन्दिरों और प्राकृतिक स्थलों की जानकारी करनी भी आवश्यक है।

बुद्धमन्दिर--काठमांडू से 8 किलोमीटर उत्तर-पूर्व की ओर धान और मक्का के सुन्दर खेतों के मध्य विशाल बुद्ध का मन्दिर है। इसे बूढानाथ का मन्दिर भी कहते हैं। यहां का बौद्ध स्तूप संसार के स्तूपों में सबसे बड़ा है।

स्वयंभूनाथ का मन्दिर--संसार के प्राचीनतम बुद्ध मन्दिरों में है। यह बौद्ध मन्दिर काठमांडू शहर से पश्चिमी क्षेत्र में लगभग तीन किलोमीटर दूरी पर घाटी से करीब 250 फीट की ऊंचाई पर स्थित है। स्वयंभूनाथ के मन्दिर में चढ़ने के लिए 300 सीढ़ियों का चढ़ना होता है। इसमें मुख्य स्तूप हैं। इसके चारों ओर भिन्न-भिन्न मुद्राओं में बुद्ध की सुन्दर मूर्तियां हैं। मन्दिर के चारों ओर परिक्रमा स्थल के पास 209 घंटे लगे हैं जिनपर "ऊं मनी पद्म हूं" उकेरा गया है। स्तूप के अति निकट बुद्ध की विशाल और बहुत ही आकर्षक मूर्ति है। इस मन्दिर का शीर्ष भाग नोकीला है जिस पर सोने का काम किया गया है। स्वयंभूनाथ का मन्दिर अत्यन्त रमणीय स्थान पर बना है। मन्दिर के पीछे शीतला देवी का सुन्दर मन्दिर है।

बालाजू जल धारा उद्यान--काठमांडू से उत्तर पश्चिम की ओर 5 किलोमीटर की दूरी पर नेपाल का औद्योगिक क्षेत्र बालाजू है जहां अनेक उद्योग-धन्धे चलाये जा रहे हैं। कुछ ही दूर "बाईसधारा" नामक विशाल उद्यान है। इसके बीच में जलाशय तथा झरने बनाये गये हैं। भांति-भांति के फूलों से भरा यह उद्यान आकर्षण का केन्द्र है। उद्यान में प्रवेश करते ही अजिमादेवी का मन्दिर (बच्चों की देवी) आता है। मन्दिर के सामने शिला पर शिव जी की मूर्ति अति आकर्षक मूर्ति है--जिसके इधर-उधर छोटी-छोटी कई मूर्तियां हैं।

उद्यान की दायीं ओर ऊंचे-ऊंचे पहाड़ हैं। उन हरे-भरे पहाड़ों में से इस स्थान पर पहाड़ से गिरते हुए एक झरने के पानी को रोका गया है जिससे "बाईस" झरने बनाये गये हैं। इनका पानी जब प्रपात की तरह धरती पर गिरता है तो उस स्थल का सौन्दर्य देखते ही बनता है। बाईस प्रपातों के होने के कारण इस स्थान का नाम "बाईसधारा उद्यान" पड़ा। इस उद्यान में छठी शताब्दि में बनी हुई एक "नीलकंठ" की शेषशायी मूर्ति है जिसके दर्शन करने दूर-दूर से धार्मिक यात्री आते हैं।

काठमांडू से 15 किलोमीटर दूर भतगांव (भक्तपुर) नेपाल की प्राचीन संस्कृति और अद्भुत स्थापत्य कला का दर्शनीय नगर है। शंख की आकृति में बना यह नगर सन् 865 ई० में मल्ल राजा आनन्द ने इसकी स्थापना की थी। 4600 फीट की ऊंचाई पर स्थित यह नगर--4 वर्गमील में फैला है।

भक्तपुर का सबसे बड़ा आकर्षण "दरबार चौक" है। लकड़ी पर की गई सुन्दर कारीगरी देखने योग्य है। इस चौक के चारों तरफ महल और प्राचीन मन्दिर है। यहां के कुछ आकर्षण इस प्रकार हैं:--

"सिंहद्वार की "सिंह" प्रतिमा अति सुन्दर है। सिंह द्वार के भवन में नरसिंह नारायण और भैरव की सुन्दर मूर्तियां हैं।

स्वर्णद्वार कला का अद्भुत नमूना है। राजा रणजीत मल्ल ने इस स्वर्णद्वार को सन् 1756 में बनवाया था। द्वार पर लकड़ी की सुन्दर कला है। काली और गरुड़ की सुन्दर प्रतिमायें स्वर्णद्वार की शोभा बढ़ाती है। यहीं द्वार मुख्य महल का प्रवेशद्वार है। महल में 55 खिड़कियां और कला का बेहतरीन नमूना--यह महल सन् 1727 ई० में राजा यक्ष मल्ल ने बनवाया था। यह महल मल्ल राजाओं का निवास था। लकड़ी की अलौकिक नक्काशी, सुन्दर बालकनी और 55 खिड़कियों के लिए यह महल संसार में प्रसिद्ध है।

महल के अन्दर एक सुन्दर गैलरी है जिसमें हिन्दू तथा बौद्ध कला की सुन्दर-सुन्दर तस्वीरें हैं।

महल के अन्दर एक चौक में अष्टादश भैरव और तुलजा भवानी की अति भव्य मूर्तियां हैं जिन्हें देखकर श्रद्धा से मस्तिष्क झुक जाता है। वहीं द्वार पर राजा भूपतेन्द्र मल्ल की विशाल और आकर्षक मूर्ति है।

महल के अन्दर कुमारी चौक आकर्षण का मुख्य केन्द्र है। यहां पर दुर्गा की अनेकों मूर्तियां हैं। माहेश्वरी, पंचमुखी हनुमान, सिद्धि विनायक, कालन्दी और उग्रचंडी की सुन्दर मूर्तियां हैं। वत्सला मन्दिर में लकड़ी और पत्थरों पर उकेरी गई कला आश्चर्य में डाल देती है। वंशी की ध्वनि करने वाले "घंटे" के दर्शन यहीं होते हैं।

भक्तपुर का नयातपोला पंचमंजिला मन्दिर अलौकिक कला का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इस मन्दिर की पांचों मंजिलों की कला दर्शनीय है। आकार की दृष्टि से यह मन्दिर "पैगोड़ा" शैली में बना हुआ सबसे ऊंचा मन्दिर है। इस मन्दिर की विशेषता यह है कि पहली मंजिल की मूर्तियों से दूसरी मंजिल की मूर्तियां दस गुनी, तीसरी की दूसरी से दसगुनी, तीसरी से चौथी की दस गुनी और चौथी से पांचवीं मंजिल की दसगुनी भारी हैं। हर मंजिल में कला का अनोखा बांकपन है। सबसे ऊपर की मूर्तियां सर्वश्रेष्ठ और कला की दृष्टि से अधिक लोकप्रिय है। सन् 1708 में राजा भूपतेन्द्र मल्ल ने शिवजी की आराधना करने के लिए इस मन्दिर (नयातपोला) की स्थापना करवायी थी।

यहां एक पशुपतिनाथ का मन्दिर भी है जिसे राजा भूपतेन्द्र मल्ल के पिता राजा सुमति जयजीतमित्र मल्ल ने सन् 1682 ई० में शिव की विशिष्ट पूजा हेतु बनवाया था। यह मन्दिर लकड़ी की भव्य कलाकारी के लिए विख्यात है।

यहां तीन मंजिला एक सुन्दर शिव मन्दिर--भैरवनाथ का है। यह मन्दिर राजा जगतज्योति मल्ल ने शिव की "भैरवरूप" में विशेष आराधना हेतु बनवाया था। इस मन्दिर में विलक्षण कला के नमूने देखने में आते हैं। पत्थर की "भैरव मूर्ति" यहां का मुख्य आकर्षण है।

दत्तात्रेय—शिव का अद्भुत और आकर्षण से भरा हुआ दर्शनीय मन्दिर भी शिव-भक्तों का विशेष रुचि का मन्दिर है। इसमें ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर की सुन्दर मूर्तियां हैं। सन् 1727 ई० में राजा यक्षमल्ल ने इसका निर्माण करवाया था। कहते हैं दत्तात्रेय शिव का यह मन्दिर एक ही वृक्ष की लकड़ी से बनवाया गया था।

"सिद्धपोखरी" यहां का एक और आकर्षण है। तीन सौ गज लम्बे और एक सौ गज चौड़े ताल में नहाना उत्तम समझा जाता है। पोखराघाटी का बिन्दु-वासिनी का मन्दिर, भक्तपुर के समीप के सूर्यमन्दिर व चांगू नारायण का मन्दिर सदा आकर्षण के केन्द्र हैं। पाटन के पास बागरा बरही का सुन्दर मन्दिर भी सुन्दरता का प्रतीक है।

तीर्थों, मन्दिरों का देश नेपाल, कला के लिए भी बहुत प्रसिद्ध है। कला की, संस्कृति की और इतिहास की काठमांडू (कान्तिपुर), पाटन (ललितपुर) व भडगांव (भक्तपुर) में ही इतनी वस्तुएं हैं कि यदि सूक्ष्म दृष्टि से उन्हें देखें तो वर्षों का समय चाहिए। परन्तु, नेपाली कला और भारतीय हिन्दू धर्म के लिए नेपाल के प्रायः सभी मन्दिरों व स्थानों का अवलोकन ही नहीं अपितु इनपर विशेषरूप से शोध कार्य होना चाहिए।

नेपाल अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के लिए भी विख्यात है। नेपाल में कई स्थल ऐसे हैं जिन्हें देखने विश्व के कई पर्यटक आते हैं।

सागर माथा (एवरेस्ट 29028"), अन्नपूर्णा (26,545"), धौलागिरि (26,795"), गौरीशंकर (23,440"), फुल चोकी चोग्रू (26,750"), मकालू (27,820"), मनसालू (26,638") और लांगतांग हिमालय (14,000") आदि ऊंची-ऊंची पर्वत मालाएं पर्वतारोहियों को आकर्षित करती रहती हैं।

पोखरा की सुन्दरघाटी, धुलीखेल का रमणीय वातावरण, नामचे बाजार की सुन्दरता, हेलाम्बू—गोसाईकुण्ड—लांगतांग की घाटी का आकर्षण, कुम्भू क्षेत्र तथा उसके सुन्दर कुम्भू ग्लेशियर का आनन्द, गुसाई-गुण्ड ताल, फेवाताल, वेगनसताल, रूपाताल का अद्भुत सौन्दर्य, पाटन के समीप गोदावरी पिकनिक स्थल का मोहक वातावरण और लुम्बनी का बुद्ध भगवान वाला आकर्षण नेपाल की भूमि में आने के लिए हर पर्यटक को आमंत्रित करता रहता है।
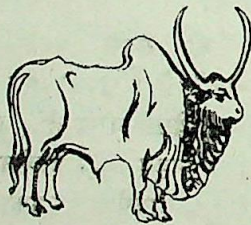
भारत की गौरव गरिमा

--चंदन

भारत की गौरव-गरिमा
है एकता पर निर्भर,
विघटन की परिधि तोड़ो
रह एकता पर निर्भर ।

उस रीति को तिलांजलि
तुम सब अभी से दे दो,
जिसकी हो नीति केवल
एक स्वार्थ पर ही निर्भर ।

पथ लक्ष्य एक सबका
गंतव्य एक ही हों,
मंतव्य हो सभी का
समभाव पर ही निर्भर ।

सौजन्य से सभी के
कल्याण राष्ट्र का है,
हर नागरिक हो जिसका
बंधुत्व पर ही निर्भर ।

छल-छिप्त, चक्रव्यूह रच
मत द्वेष को उभारो,
सब धर्म-जाति शाश्वत
एक शक्ति पर है निर्भर ।

हृदय के द्वार खोलो,
भ्रम में पड़े रहो मत,
"चन्दन" स्वतंत्रता भी
ऐक्य की धुरी पर निर्भर ।

लोक संस्कृति में सूर्य

--डा० अशोक जेरथ

लगभग हर सभ्यता के साथ सूर्य का इतिहास जिन्दा है चाहे लैटिन अमरीका की इनकी सभ्यता हो, यूनान और रोम की सभ्यताएं हों, हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की वैदिक सभ्यताए हों--सूर्य का इतिहास इनके साथ-साथ चला, बिल्कुल अपने रथ की तरह जो कभी स्थिर नहीं हुआ, सदा विकासमान रहा है। सूर्य मन्दिर इन सभी सभ्यताओं के मुख्य पूजा स्थल रहे हैं और सूर्य मुख्य ईश्वरीय शक्ति के रूप में पूजा जाता रहा है। ऊर्जा और प्रकाश के स्रोत के रूप में इनका और दूसरे छः रेड इंडियन कबीलों में कोई भी अनुष्ठान सूर्य पूजा के लिए सम्पन्न नहीं होता था। आज भी इनका सभ्यता के भग्नावशेषों में सूर्य मंदिर की अट्टालिकाएं मैक्सिको के आस-पास बिखरी पड़ी हैं। यूनानी सभ्यता में "अपोलो"--सूर्य देव का बहुत महत्व रहा है और यूनानी सभ्यता, संस्कृति और धार्मिक ग्रन्थों में सूर्य का उल्लेख "अपोलो" के रूप में होता आया है। सूर्य-संस्कृति कांस्य युग में भी प्रचलित थी। क्रीट और माइसीन द्वीपों पर एइगित संस्कृति की कुछेक कांस्य तश्तरियां मिली हैं जिन पर सूर्य खुदा हुआ था एक प्रतीक के रूप में।

हिन्दू संस्कृति में सूर्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वैदिक काल में प्रातःकालीन उपासना का अधिकतर अंश सूर्य के बखान में जाता था। वेदों में प्रमुख ऋग्वेद सूर्य की सूक्तियों से भरा पड़ा है।

अग्नि जो सूर्य की किरणों की उपलब्धि है भिन्न-भिन्न रूप से व्यक्ति की मानसिकता से जुड़ी है और सभी रिश्तों में श्रेष्ठतम है--

अग्निः मन्ये पितरम् अग्निम् आथिम्
अग्नि भ्रतरं सदमित सखायम्।
अग्नेतर अनीकं बृहतः सर्वयं
दिवि शुक्रं यजतं सूर्यस्थ।।

प्रातःकालीन शारीरिक क्रियाओं में सूर्यासन भारतीय जनमानस की दैनिक प्रक्रियाओं से जुड़ा नित्य कर्म था जो आज भी थोड़े से परिवर्तन के साथ योगाभ्यास के साथ जुड़ा है। प्रत्येक शारीरिक क्रिया से पहले सूर्य वन्दना की जाती है-- "ओं सूर्यय नमः, ओं मानवें नमः, ओं भास्कराय नमः, ओं रविए नमः, ओं आदित्याय नमः", आदि के उच्चारण के साथ सूर्यासन शुरू होते हैं। भारत वर्ष में सूर्य पूजा स्थलों का निर्माण भी सहस्रों वर्षों से होता रहा है। जिस तरह शिव सनातन देव के रूप में प्रचलित है और नाग दिव्य शक्तियों के स्वामी के रूप में पूज्य रहा है वहां सूर्य ऊर्जा और प्रकाश के देव के रूप में पूज्य रहा है। चलायमान सूर्य का मानवीकरण स्वरूप इन देवस्थानों में प्रतिष्ठापित किया गया। दौड़ते रथ को नियंत्रित करती हुई शौर्यपूर्ण मानवीय आकृति। इन्हीं दौड़ते रथों के रूप में दशा, दिशा और स्वरूप का निर्धारण किया गया। प्राचीनकाल में पूरे भारत वर्ष की दिशाओं को लेकर चार सूर्य मंदिर स्थापित किए गए जिनमें कश्मीर का मार्त्तण्ड और पूर्व भारत का कोणार्क आज भी अपनी स्थापत्य कला और रचना के लिए प्रसिद्ध एवं चर्चित है। जम्मू तथा उसके आसपास अनेक ऐसे पुरातन मंदिर मिले हैं जो सूर्य देवता की मूर्तियों को अपने आप में समोए हुए हैं। सैंकड़ों वर्षों से प्रकृति के दामन में खड़े किरमची और कबीर के मंदिर जहां एक ओर पूर्वी स्थापत्य कला के उत्कृष्ट नमूने कहे जा सकते हैं वहां इन मंदिरों के कलशों पर शीर्ष पुष्प सूर्य के प्रतीक हैं। आठ और सोलह पत्तियों वाले ये कमल आकार के पाषाण फूल सूर्य का बिम्ब देते हैं। जम्मू से लगभग 100 किलोमीटर उत्तर-पूर्व की ओर स्थित एक पहाड़ी पर सूर्य देव की एक मूर्ति खुदाई में मिली है जिसके एक हाथ में कलश है तो दूसरे हाथ में सूर्य का प्रतीक कमल--इसे वहां के स्थानीय लोगों ने विष्णु की मूर्ति मानकर मंदिर में स्थापित कर दी है। वस्तुतः यह सूर्यदेव की मूर्ति है। बहुत से क्षत्रीय तथा राजपूत घराने अपने आपको सूर्यवंशी कहते हैं। अनेक राजपूताना वंश सूर्यवंशी रहे हैं और उन्होंने अपनी राज्य पताका और राज्य चिह्न भी सूर्य ही रखे हैं। अक्सर ये लोग अपने धार्मिक और वंश परंपरा से जुड़े अनुष्ठानों का शुभारम्भ सूर्य उपासना और सूर्य अर्चना से ही करते हैं।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुमित्रस्य वरूणस्याग्नेः।

आप्रा धावा पृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्यस्थुषश्च।।

--ऋग्वेद--1-152-1

यह सूर्य प्राण, अपना और यज्ञाग्नि का व्यापक है तथा इसने धुलोक, पृथ्वीलोक और अन्तरिक्ष लोक तीनों को अपनी रश्मियों द्वारा आलोकित किया है।

यह सूर्य उपासना राज्य घरानों से यात्रा कर जनसाधारण की मानसिकता को भी प्रवाहित करती रही है। अक्सर सूर्य की पूजा तथा वन्दना स्नान के बाद तुरन्त शुरू हो जाती है। सूर्य को जल अर्पण करना तो स्नानागारों से शुरू हो जाता है। पहाड़ों में बने हुए जलकुण्ड तथा बावड़ियों की सीढ़ियां अथवा चौगांठों पर सूर्य चिह्न से खुदे रेतीले पत्थर सजे होते हैं जो इस ओर संकेत करते हैं। अक्सर चमकता हुआ सूर्य या फिर कमल के आकार का पंखुड़ियों से सजा हुआ प्रतीक इन चश्मों की सीढ़ियों पर सजा होता है। ऐसे कई घंटे पत्थर, पंचैरी, उधमपुर और चन्हैनी के स्थानों पर पाए जाते हैं और ऐसा ही एक पत्थर सूर्य चिह्न के साथ मीर के एक चश्मे पर भी सजा पड़ा है। इनके अलावा घरों के किवाड़ों पर भी लकड़ी को काटकर सूर्य चिह्न बनाए जाते हैं-- खलिहानों को गोबर से लीपकर सफेद मिट्टी से सूर्य चिह्न बनाए जाते हैं ताकि सुरक्षित अन्न की रक्षा सूर्य वर्षा से करे। जम्मू के महलों में पाए जाने वाले एक लकड़ी के किवाड़ पर ऐसे सूर्य का एक चिह्न खुदा है जो कालान्तर से पानी और धूप के कारण खराब हो गया है। सूर्य से जुड़ी हुई अनेक लोक कथाएं, लोकगीत और लोक आख्यान इस बात की ओर संकेत करते हैं कि सूर्य लोक संस्कृति की केन्द्रीय इकाई रहा है।

भारतीय चित्रकला के इतिहास में दक्षिणी भारतीय चित्रकला का स्थान

—विमला गोयल

भारतीय चित्रकला के इतिहास में भारत के दक्षिणी राज्यों की चित्रकला का एक विशेष स्थान है। 14वीं शताब्दी से 16 वीं शताब्दी तक दक्षिण में विजय-नगर के राजाओं के समसामयिक बहमनी सुल्तानों का शासन था। सुल्तान अहमद-शाह वली कला प्रेमी था। उसने बीदर दुर्ग के रंग महल के कक्षों में सुन्दर ईरानी ढंग के फूल-पत्तों के चित्र बनवाए। परन्तु बहमनी शासकों के कला-प्रेमी होते हुए भी दक्षिण में कला का विकास न हो सका। बहमनी राज्य के पतन के पश्चात् दक्षिण में यों तो पांच राज्य स्थापित हुए, परन्तु केवल तीन राज्यों-बीजापुर, गोलकुण्डा तथा अहमदनगर ने ही चित्रकला की परंपरा को बनाए रखा। दक्षिण के कुछ राज्यों, जैसे-पूना, हैदराबाद, कुडप्पा, कुर्नल और शेरापुर आदि नगरों में चित्रशालाएं विकसित हुईं। जिस प्रकार मुगल राज्य में चित्र-कला को राजकीय सम्मान प्राप्त था, उसी प्रकार दक्षिण के राज्यों में भी चित्रकारों को सम्मान प्राप्त था।

बीजापुर में आदिलशाही राजवंश कला का प्रेमी था। इस्माइल अली आदिल-शाह और उसकी पत्नी चांद सुल्ताना कला के महान पारखी और संरक्षक थे। इनके राज्य में ही "नजम अल उलूम" नामक ग्रंथ तैयार हुआ था, जिसमें भारतीय फारसी चित्र शैली के चित्र हैं। इनमें फारसी, ईरानी तथा भारतीय अपभ्रंश शैली का सम्मिश्रण है। आदिल शाही राजवंश के समय व्यक्तिक चित्र भित्ती चित्र बनाए गए। इस समय राजपूत, बुन्देला तथा पश्चिम कला शैलियों का भी बीजापुर की कला पर प्रभाव पड़ा और "रागमाला" चित्रा-वली बनाई गई।

गोलकुण्डा में मुहम्मद कुली कुतुबशाह के समय कलाओं का विकास हुआ। इस बादशाह ने ही हैदराबाद नगर बसाया और प्रसिद्ध चारमीनार बनवाई। इसी समय का एक चित्र "नारी और मैना" चेस्टर बेटरी संग्रह में है। इस चित्र की पृष्ठभूमि सुनहरी है। पर्वतों का चित्रण ईरानी शैली में दरारदार और गुलाबी रंग में हुआ है; आगे की ओर पुष्पित पौधे हैं बीच में चीनी ढंग के वृक्ष हैं, नारी का रंग सावला, बाल लम्बे, लाल रंग का जामा और बैंजनी रंग का पाजामा तथा सुनहरा दुपट्टा है। नारी के शरीर को कीमती आभूषण से चित्रित कर अति सुन्दर बना दिया है। गोलकुंडा में "दीवान-ए-हाफिज" की सचित्र पोथी भी चित्रित की गई है।

अहमदनगर के शासकों के संरक्षण में तारीकहुसैन शाही की सचित्र पांडुलिपि तैयार की गई। यह पूना में तैयार हुई। इसके चित्र आलंकारिक तथा भव्य हैं। इन चित्रों की शैली फारसी है। इस समय यहां रंगमाला पर चित्र भी बने हैं। इन चित्रों की पृष्ठभूमि सुनहरी है। विधान आलंकारिक है। दक्षिण शैली के चित्रों का संग्रह हैदराबाद संग्रहालय में है। अनेक चित्र गोलकुंडा तथा हैदराबाद के सालारंजग संग्रहालय में सुरक्षित हैं। उस समय दक्षिण के चित्रकारी में मीर-हाशिम तथा रहीम का नाम महत्वपूर्ण है। बम्बई के प्रिंस आफ वेल्स म्यूजियम में कपड़े पर बना बीजापुर के सुल्तानों का विशाल पटचित्र है।

दक्षिण शैली के चित्र दृष्टांत चित्र तथा स्फुट चित्र दोनों रूपों में प्राप्त हैं। इन चित्रों में अत्यधिक परंपरागत फारसी ढंग की आकृतियां बनाई गई हैं। चमक-दार लाल और नीले तथा पीले और सफेद रंग की अधिकता है। सोने चांदी के रंग की भी प्रधानता है।

बाद में दक्षिण के इन राज्यों में कला का पतन होने लगा क्योंकि मुगल बाद-शाह औरंगजेब ने इन राज्यों को हरा कर हैदराबाद में मुगल सूबेदार नियुक्त कर दिया गया था। हैदराबाद का शासक आसफशाह कला का प्रेमी था। वह अधिकतर औरंगाबाद में रहता था, इस-लिए हैदराबाद और औरंगाबाद दोनों स्थानों पर चित्रकला का विकास हुआ। औरंगजेब के डर के कारण कुछ चित्रकार दिल्ली दरबार से हैदराबाद आ गए थे। इसलिए हैदराबाद की कला में मुगल प्रभाव की विशेषताएं, स्थानीय

कला तथा गोलकुंडा का प्रभाव आ मिला। आसफ शाह का पुत्र नासिरजंग स्वयं चित्रकार था; उसके बाद उसके वंशजों ने चित्रकला को बढ़ावा दिया। निजाम अलीखां आसफशाह द्वितीय भी स्वयं चित्रकार था। वेंकटचलम उसके दरबार का प्रसिद्ध चित्रकार था जिसे निजाम ने जागीर दे रखी थी।

हैदराबाद की चित्रकला में चित्र विषय वस्त्र, आभूषण वर्ण विधान, आकृति रचना, पुष्प तथा पशु मौलिक हैं।

आश्रयदाताओं, स्त्रियों, सामन्तों, दरवेशों तथा राग रागनियों के चित्र इस कला के प्रधान विषय हैं।

कुछ चित्र चटकीले व सुनहरे हैं, परन्तु हैदराबाद के परवर्ती चित्र फीके बेजान रंगों में बने हैं। संयोजक रूढ़िवादी हैं। चित्रों में आम, नारियल, चंपा आदि के वृक्ष पृष्ठभूमि में अंकित हैं। मयूर पक्षी का अधिक चित्रण है। चमकदार नीले आकाश में सुनहरी रेखाएं तथा उड़ते हुए पक्षी हैं। आलेखनयुक्त कालीन वस्त्र तथा तकिए आदि दक्षिण की आलंकारिक प्रकृति के परिचायक हैं। रागमाला के चित्र उत्तम हैं, परन्तु सन्तों और दरवेशों के चित्र भद्दे हैं।

हैदराबाद की शैली में दरबारी दृश्य रनिवास, रागमाला, चकई क्रीडा, "दूती-दारा वधू का मार्गदर्शन" आदि के चित्र बनाए गए हैं। चित्रों में हल्की पीली या नीली पृष्ठभूमि पर आकृतियां बनाई गई हैं, आकाश में रंग-बिरंगे बादल और अग्रभूमि में पुष्पों की क्यारियां हैं। जनजीवन के चित्रों पर स्थानीय प्रभाव है। बाद में कपड़े पर भी बड़े-बड़े चित्र बनाए गए हैं।

हैदराबाद शैली में संयोजन व्यवस्था परंपरागत और एक ही तरह की है। मानव आकृतियां लम्बेतार हैं। स्त्रियों के पीछे की ओर ढलवां तथा छोटे माथे, एक चश्म प्रफुल्ल चेहरे बनाए हैं। केश लंबे हैं। स्त्रियों का पहनावा लम्बी चोली, सूथन दुपट्टा तथा पेशवाज है। मोती के आभूषण हैं। पुरूषों को घेरदार जामा, पगड़ी, कमर बन्द, सरपेंच और गहने माला आदि पहनाई है।

श्वेत मीनारों में बारीक पच्चीकारी है। भवनों में विलास सामग्री जैसे कालीन, चीनी, पुष्प पात्र, आदि दिखाए हैं।

पृष्ठभूमि में दक्षिणी शैली के भवन या मुगल शैली की पृष्ठभूमि है। 18वीं शताब्दी के बाद यहां की चित्रकला का ह्रास प्रारंभ हो गया था।

उड़े गुलाल—अबीर प्रेम रस बरसे जमकर !

—चन्द्रकान्ता शर्मा

राजस्थान की सम्पूर्ण संस्कृति अनूठी और लोकातुरंजनों से व्याप्त है। यहां का इतिहास जहां वीर योद्धाओं की बहादुरी की हजारों गाथाओं से भरा पड़ा है—वहां यहां की सरस लोक सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्व भी कम नहीं है। तीज त्यौहारों की अनोखी भाव प्रधान परम्पराएं आज भी कायम हैं। फिर इन त्यौहारों में तो प्राणों का संचार तब और प्रखर हो उठता है जब महिलाओं का उनमें खुला हस्तक्षेप हो जाता है। राजस्थान के तीज त्यौहार वास्तव में यहां की रमणियों के गीत कला और ग्राम्य परिवेश से भारतीय मूल संस्कृति के अत्यन्त करीब जा पहुंचते हैं। होली भी एक ऐसा महान सांस्कृतिक भारतीय लोकपर्व है—जो राजस्थान में भी अपनी लोक परम्पराओं के निर्वहन के साथ भव्य स्वरूप के साथ मनाया जाता है। विभिन्न अंचलों में हमें होली आयोजन के विभिन्न दिलचस्प पहलू मिलते हैं—जिससे यहां की संस्कृति के दर्शन कर मानव मन एक प्राचीन यथार्थ से साक्षात्कार कर उसमें डूब जाता है।

कोडा मारे भाभी देवर हंस—हंस डाले रंग

वैसे तो सर्वत्र ही पुरूष महिलायें होली पर रंग डालकर प्रेम की अभिव्यक्ति करते हैं—लेकिन राजस्थान के ब्यावर नगर में शहर के बीचों बीच पाली बाजार में जो होली का रंग जमता है—वह सचमुच दर्शनीय है। इस होली को देखने जहां लोग दूर दूर से वहां पहुंचते है वहीं मोची समाज के इन परिवारों का कोई व्यक्ति बाहर है तो वह इस अवसर पर होली खेलने के लिये अपने घर अवश्य पहुंचता है। ब्यावर के इस मोची समाज की होली को कोडामारी कहा जाता है जिसे देखने के लिये पूरा नगर उमड़ पड़ता है।

इस समय ब्यावर में इस मोची समाज के चालीस घर हैं—जो सैंकड़ा वर्षों से चली आयी अपने बुजुर्गों की इस परम्परा का निर्वाह करते आये हैं। इस होली के लिये महिलायें होली के दस पन्द्रह दिन पहले ही कोडा बनाना प्रारम्भ कर देती हैं। इस कोड़े के लिये महिलायें पुराने फटे पुराने कपड़ों का प्रयोग करती हैं।

कपड़ों को पानी अथवा तेल में भिगोकर फिर उसे बटा जाता है और मजबूत कोड़े का रूप प्रदान किया जाता है। पन्द्रह दिन पूर्व ही महिलाओं के मन में इस त्यौहार के सम्पन्न करने के भाव झिलमिलाते हैं—जो इस त्यौहार के प्रति उनकी निष्ठा और प्रेम भाव को दर्शाता है।

इस होली में होता यह है कि एक तरफ तो पन्द्रह बीस भाभियां मोर्चा संभालती हैं, वहीं दूसरी ओर इतने ही देवर डटे रहते हैं। पानी के रंग भरे गुलाबी कढ़ावे पहले ही लबालब भरे रहते हैं। और फिर जमता है परस्पर रंग डालने का यह मनमौजी आलम, जिसमें मन आनन्द के सागर में डूबता उतराता रहता है। ये वह महिलायें होती हैं—जो वर्ष भर में कभी भी घर से बाहर नहीं निकलती—लेकिन होली के इस दिन तो वे सरे बाजार देवर को जमकर कोडा मारती हैं।

इस होली में देवर लगातार भाभी के मोटे भीगे हुए कोड़े से पिटता है और स्वयं कढ़ावे में से गुलाबी रंग ले-लेकर उस पर डालता है। जितनी ज्यादा पिटाई देवर की होती है—होली का प्रेमरंग उतना ही प्रगाढ़ हो जाता है। देवर की पीठ सूज जाती है यहां तक कि मांस तक निकल आता है लेकिन वह भाभी के कोड़ों का आनन्द लेता हुआ उसे रंगता रहता है। इस होली में सबसे बड़ी शालीनता यह रहती है कि अश्लील हरकत कदापि नहीं होती। इसे ज्येष्ठ ससुर—बहनोई व भाई सब देखते हैं—लेकिन कभी कोई किसी का पक्ष नहीं लेता और लम्बा घूंघट निकाले भाभियां देवरों पर कोड़े बरसाती रहती हैं।

गुलाबी रंग प्रेम का कुछ ज्यादा द्योतक है इसलिये वे यही रंग काम में लेते हैं। उनका कहना है कि हम वर्ष में एक बार यह होली खेलकर अपने पूर्वजों की परम्परा का निर्वाह कर प्रसन्न होते हैं। लोग तो बाहर प्रेम रंग डालकर दिखाने के लिये एक होते हैं तो भीतर मनमुटाव रखते हैं—लेकिन यह समाज बाहर कोडे बरसाता है तथा अन्दर एक रहता है। निश्चित ही देवर भाभी की यह कोड़ामार होली राजस्थान की सर्वाधिक चर्चित और प्रेम रंग में डूबी सच्ची होली है।

पहले होती जंग बाद में खेल होली

राजस्थान में ही एक होली ऐसी भी है—जिसमें पहले दो गुटों में जमकर कोडों से जंग होता है तथा बाद में रंग डालकर प्रेम से होली खेलते हैं। यह होली भीलवाड़ा, अजमेर मार्ग पर बांदनवाडा से कुछ दूर भिनाय कस्बे में होती है। भिनाय की होली भी देश की चर्चित होलियों में से है। आठ-दस हजार की आबादी वाले इस कस्बे के मुख्य बाजार को स्थाई रूप से दो भागों में बांटा हुआ है। इस बाजार के एक तरफ रहने वालों को 'कावडिया' तथा दूसरी तरफ रहने वालों को 'चौक' कहा जाता है। बच्चा जिस ओर जन्मता है उसी क्षेत्र की सदस्यता

उसे नसीब होती है वह अपनी यह स्थाई सदस्यता नहीं बदल सकता है। बस पूरा गांव कावडिया और चौक दो गुटों में बिना किसी जाति भेदभाव के बंटा हुआ है। इस गांव के ईसाई-मुसलमान-हरिजन व अन्य अनुसूचित जाति के लोग बिना किसी भेदभाव के होली के पहले होनेवाली इस जंग में शरीक होते हैं तथा अपनी अपने भैरव से अपने-अपने गुटों की विजय की कामना करते हैं।

इस होली का शुभारम्भ बाकायदा मुहुर्त निकलवा कर किया जाता है। पण्डित बताता है कि होली किसी समय शुरू की जायेगी तथा वह कितने दिन तक चलेगी। आम तौर पर यह होली तीन दिनों तक तो चलती ही है। अपने अपने क्षेत्रों में नियत स्थल पर भैंरोजी की स्थापना इस युद्ध में विजयश्री प्राप्त करने के लिये की जाती है। पहले खूब भैंरोजी के पास बैठकर लोग अर्चना–गीत व धमाल गाते हैं और घण्टों तक चंग बजाते हैं। फिर होता है इस कोडामार युद्ध का आह्वान। पहले यह जंग पत्थरों तथा ढेलों से खेली जाती थी––लेकिन लोगों की जान चले जाने के कारण यह परम्परा बन्द कर दी गई है तथा पत्थरों का स्थान कोडों ने ले लिया है।

एक तरफ नगाडे का जोश तो दूसरी ओर ढ़ोलों का घोष जंग का वातावरण बनाकर लोग परस्पर बढ़ने लगते हैं। पहले दोनों दल बच्चों को कोडामार जंग के लिये प्रस्थान कराते हैं। जिस दल के बच्चे पिछड़ने लगते हैं उस दल के लोग फिर आगे आते हैं यह देखकर विजयी दल के लोग भी बच्चों की सहायता के लिये गीतों की हुंकार तथा कोडों के शस्त्र लेकर बढ़ते हैं और फिर मचता है घण्टे डेढ़ घण्टे का घमासान जमकर कोडामार। इस जंग में जो भी दल, विरोधी दल के भैरोजी के स्थान तक उसे खदेड़ देता है वही विजयश्री का वरण करता है। और फिर होता है वास्तविक रंगों की होली का स्वरूप प्रारम्भ।

पहले जमकर भंग—ठण्डाई और मिठाई का दौर चलता है–और–उसके बाद जैसे भी होली खेली जाती है, उसी तरह स्त्री पुरूष रंग डालते हैं। वास्तव में भिनाय की यह होली आज भी प्राचीन पूर्वज परम्परा को अक्षुण्ण बनाये हुए हैं––इसी लिये यह दर्शनीय भी है।

उड़े गुलाल अबीर हवेली में वैभव का

राजस्थान की यह होली बहुत ही न्यून लोगों को देखने को नसीब होती है इस होली में उच्च वर्ग के श्री सम्पन्न लोग ही भाग ले पाते हैं अथवा वे लोग आते हैं जिन्हें ठाकुर आमंत्रित करते हैं। वे अनिंद्य रूप राशि वाली महिलायें जिनकी एक झलक पाने के लिये पुरुष कितनी अटकल बाजियां लगाता रहा हो––उस दिन यह रूप जमकर हवेलियों के चौक में हुड़दंग करता है। यह होली श्रीसम्पन्न वैभव शाली ठाकुरों अथवा जमींदारों की पारम्परिक होली है

ठाकुर अपने ही स्तर के अथवा अपनी जागीर के उच्च अधिकारियों को यह होली खेलने के लिये पहले आमंत्रित करता है। लोग शनैः शनैः हवेली के बैठकखाने में आकर इकट्ठे होते हैं। जब सब लोग आ चुकते हैं––तब उन्हें मेजबान ठाकुर भीतर चौक में ले जाते हैं जहां रंगों के कढ़ाहे पहले ही भरे रहते हैं। यहां भी ठकुरानियां ढोलचियों में रंग भरकर मनचाहे व्यक्तियों पर डालने को इस दिन आजाद होती हैं। महिलायें इस होली में गाढ़ा रंग ढ़ोलचियों में भरकर पुरूषों की पीठ पर इतना तेज मारती है कि वह ज्यों की त्यों उपड़ जाती है। रंगों की इस मार में ही परस्पर प्रेम की मूक भाषा की अभिव्यक्ति होती है। हवेलियों में यह अनोखा शालीन हुड़दंग करीब दो घण्टे तक चलता है।

इस रंगोत्सव में सबसे मजेदार बात यह होती है कि महिलायें एक तरफ हो जाती हैं तथा पुरूष एक तरफ हो जाते हैं। इन दोनों वर्गों की अनूठी रंग शैली का दृश्य वास्तव में देखते ही बनता है। ठकुरानी अथवा सेठानियों का लावण्यमय रूप इन रंगों की बौछारों से और भी द्विगुणित शोभित हो जाता है इस फागोत्सव के लिये भी पुरूष वर्ग को पूरे एक वर्ष तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है—अन्यथा जनानी डयोढ़ी का यह घूंघट में छिपा रूप देखने को ही नहीं मिले। केवल होली के दिन ही यह रूप जनानी डयोढ़ी से रंग उछालता हुआ चौक में जाता है। तब पुरूषों को केवल महिलाओं के द्वारा डाला जाने वाला रंग बहुत भला लगता है। कुछ पलों को वह यही भूल जाता है कि उसे जवाब में रंग भी डालना है। वे अपलक उस अनुपम सौन्दर्य रूप राशि को देखने का मोह नहीं छोड़ पाते। क्योंकि कुछ पल बाद ही यह दृश्य समाप्त हो जाता है और लोग ले जाते हैं मन में मीठे-मीठे दर्द का सैलाब जो पूरे वर्ष भर उन्हें गुदगुदाता रहता है।

होली के बाद फिर मेजबान के अनुचर खान-पान की सामग्री मेवा–मिष्ठान व पकवान ले आते हैं जिन्हें सब लोग छककर खाते हैं और परस्पर बधाइयों का तांता लगा देते हैं। तत्पश्चात् अपने-अपने घरों को लौट जाते हैं। इस तरह राजस्थान होली के त्यौहार पर अपनी अनूठी मनभावन होली की फुहारों से जीवन में सरसता का संचार करता है और पूरे वर्ष भर इसकी मधुर यादें मानस में बनी रहती हैं।